एम.ए.पी.एस.-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारतीय राजनीति-I

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारतीय राजनीति

खण्ड- I भारतीय राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य		
इकाई -1	प्राचीन भारतीय राजनीति-सामाजिक संदर्भ	5–17
इकाई -2	मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय संदर्भ	18–26
इकाई -3	आधुनिक भारतीय सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन के विविध प्रसंग	27–41
खण्ड- II सामाजिक सुधार आन्दोलन के प्रसंग		
इकाई -4	राजा राममोहन राय तथा ब्रम्ह समाज	42–55
इकाई -5	दयानन्द तथा आर्य समाज	56–73
खण्ड- III राष्ट्र, स्वराज्य तथा पुनरुत्थानवाद		
इकाई -6	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद एवं स्वराज्य के मूल स्तर	74–83
इकाई -7	श्री अरविन्द	84–97
इकाई -8	महादेव गोविन्द रानाडे	98–107
इकाई -9	गोपाल कृष्ण गोखले	108–120
इकाई -10	बाल गंगाधर तिलक	121–136
इकाई -11	लाला लाजपत राय	137–147
खण्ड- IV हिन्दू एवं मुस्लिम राजनीतिक विचार		
इकाई -12	मुस्लिम राजनीतिक चेतना के विविध वैचारिक संदर्भ	148–177
इकाई -13	विनायक दामोदर सावरकर	178–189
इकाई -14	रविन्द्र नाथ टैगोर	190–208
खण्ड- V महात्मा गांधी, कांग्रेसी तथा समाजवादी वैचारिक आग्रह		
इकाई -15	महात्मा गांधी का विश्व दृष्टिकोण	209–230
इकाई -16	पं. जवाहर लाल नेहरू	231–260
इकाई -17	डॉ. राममनोहर लोहिया : गांधीवादी समाजवाद के प्रणेता	261–276
इकाई -18	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में कांग्रेस समाजवादियों की दलगत सहभागिता (1934-1948)	277–295
इकाई -19	मानवेन्द्र नाथ राय	296–306
खण्ड- VI देशी राज्यों में राष्ट्रवाद व एकीकरण की अभिव्यंजनाएँ		
इकाई -20	राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन	307–322
इकाई -21	भारतीय संघ में राज्यों का अधिमिलन एवं एकीकरण	323–340

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति **MPS-03**

प्रो. वी.आर. मेहता
अध्यक्ष
पूर्व कुलपति
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(स्व.) प्रो. इकबाल नारायण	:	4क5, जवाहर नगर, जयपुर (राज.)
प्रो. ए.पी. राणा	:	से. नि. आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
प्रो. शांति स्वरूप	:	से.नि. आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
प्रो. थॉमस पेन्थम	:	आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
डॉ. अनाम जैतली	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (संयोजक)
डॉ. लीला राम गुर्जर	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

तदान्तर नियुक्त संकाय सदस्य- डॉ.अशोक वर्मा, डॉ. कर्ण सिंह

पाठ निर्माण दल

(स्व.)प्रो. द्वारिका बिहारी माथुर पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर	डॉ. (श्रीमती) चित्रा पुरोहित कनोडिया महिला महाविद्यालय जयपुर	डॉ. लीला राम गुर्जर कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा
प्रो. बी.आर. पुरोहित पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एल. सूखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर	डॉ.(श्रीमती) चंद्रा भरिल्ल मालवीय क्षेत्रीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, जयपुर	डॉ. के.एस. सक्सेना राजनीतिक विज्ञान विभाग जे.एन. व्यास विश्वविद्यालय जोधपुर
प्रो. पी.डी. कौशिक राजनीतिक विज्ञान विभाग बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी	डॉ.(श्रीमती) शशीलता पुरी कनोडिया महिला महाविद्यालय जयपुर	डॉ. अनाम जैतली कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा
प्रो. (श्रीमती) इन्दिरा रॉदरमुण्ड प्रख्यात गांधीवादी अध्येता एवं, लेखिका पुणे	डॉ. प्रकाश चन्द्र शास्त्री राजनीतिक विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर	डॉ. बी.एल. गौड़ पूर्व विभागाध्यक्ष राजनीतिक विज्ञान विभाग डूंगर कॉलेज, बीकानेर
	डॉ. अनूप श्रीवास्तव राजकीय महाविद्यालय ब्यावर	डॉ. वी.के. शर्मा डी.ए.वी. कॉलेज अजमेर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच कुलपति **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)**	**प्रो. एम.के. घड़ोलिया** निदेशक(**संकाय विभाग**) **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)**	**योगेन्द्र गोयल** प्रभारी अधिकारी **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

पुनः उत्पादन - अगस्त 2012 **ISBN-13/978-81-8496-347-2**

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इकाई–1

प्राचीन भारतीय राजनीतिक–सामाजिक संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

1. उद्धेश्य
2. प्रस्तावना एवं विषय–प्रवेश
3. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार
   - 3.1 प्रतिनिधि राजनीतिक विचार–स्रोत
   - 3.2 राजनीतिक विचारों का मूल स्वरूप एंव प्रकृति
4. राजनीतिक विचार तथा तत्कालीन भारतीय समाज
5. सारांश
6. उद्धरण एवं टिप्पणियां
7. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के निम्नलिखित उद्देश्य है–

1. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों की व्यापक भाव–भूमि एंव ऐतिहासिक विकास–यात्रा से परिचय
2. तत्कालीन विचारों के भारतीय सामाजिक विकास पर प्रभाव का आकलन
3. राजनीतिक विचारों की निरन्तरता व उनकी सामाजिक प्रासंगिकता के प्रति समझ का विकास; तथा
4. भारतीय राजनीतिक विचारों के संस्कृति–सापेक्ष स्वरूप के आधार पर पाश्चात्य राजनीतिक विचारों से उनके वेशिष्ट्म का प्रतिपादन ।

2. प्रस्तावना एवं विषय प्रवेश

प्रत्येक सुसंस्कृत समाज में विचार और समाज पारस्परिकता के परिवेश में पनपते है । विचारों का प्रवाह सामाजिक गतिशीलता को बल देता है और सामाजिक गतिशीलता से वैचारिक प्रवाह को गति प्राप्त होती है । परस्परिकता स्वयं सदैव यथावत् नहीं रहती । मानवीय संवेगनाओं, अभिप्ररेणाओं और क्रियाशीलता के घटते–बढ़ते दायरे में विचार–प्रवाह और समाज दोनों सिमटते–फैलते प्रकट होते है । इसलिए विचारों का विकास कभी सरल रेखीय आधार पर नहीं होता । उसका प्राकट्य और निकास तो वर्तुलाकार और श्रृंखलाबद्ध होता है । सामाजिक विकास की प्रक्रिया में कमजोर वर्तुल कभी टूट जाता है, विचार अश्रृंखलाकार हो जाते है तो नये मानवीय संवेग, अनुभव और सृजनशीलता विचारों को फिर से श्रृंखलाबद्ध कर देती है । इस प्रकार, टूटते–बनते विचारों की सतत नई विकास यात्राएं समायोजित होती है । इतिहास विचार और समाज दोनों को आधार देता है और उस आधार पर वह उन्हें वर्तमान से जुड़ने और भविष्य के प्रति आश्वस्त रहने का सम्बल भी प्रदान करता है । विचारों के कई स्तर होते है–

कुछ विचार के समय सापेक्ष होते है और कालचक्र के चलते वे कुछ समय बाद अप्रासंगिक हो जाते है; कुछ विचार समाज–संस्कृति सापेक्ष होते है और उस परिवेश में बदलते–पनपते रहते है जबकि कुछ अन्य विचार काल–निरपेक्ष संस्कृति निरपेक्ष बल्कि कालातीत होते हुए सर्वकालिक और सार्वभौमिक बन जाते है । विचारों के इस पदसोपान के प्रति समझ चिंतन और कर्म दोनों के लिए अति आवश्यक है ।

भारतीय चिंतन और समाज उपरोक्त वर्णित तथ्यों का अपवाद नहीं हैं । भारत में राजनीतिक विचार और समाज एक–दूसरे को ऐतिहासिक कम में हष्ट–पुष्ट करते आए हैं । इसलिए यहां भी विचार और सामजिक विकास प्रक्रियाओं को एक–दूसरे से अलग नहीं देखा जा सकता । यह पारस्परिक विकास सदैव समान–रूपी नहीं रहा है । ऐतिहासिक काल कम में सामाजिक विघटन और अवरोध तथा राजनीतिक अस्त–वयस्तता ने वैचारिक क्रम को भी अवरूद्ध किया है । इसके बावजूद वैकल्पिक विचार पनपे है जो काल–सापेक्ष होते हुए भी पूववर्ती विचारों की कड़ी को कमोबेश आगे बढ़ाते आए है । वैचारिक निरूतरता का एक वैचारिक कीर्ति–स्तम्भ यह रहा है कि भारत में राजनीतिक विचार एक परम्परा के रूप में अनासक्त विवेक (disinterested Wisdom) तथा प्रभावी राजनीतिक शक्ति (effective political power) के मध्य एक गठबंधन का आग्रह करते है। इस युग्म से ही मनन और कर्म के मध्य व्यवहार्य सेतु बन सकता है जो सांस्कृतिक विकास के साथ राजनीतिक–सामाजिक विकास की परिकल्पना करता है ।

प्रस्तुत इकाई में विभिन्न ऐतिहासिक काल–चरणों में राजनीतिक विचारों एवं भारतीय सामाजिक स्थितियों का समानुवर्ती लेखा–जोखा दिया जा रहा है । यह इकाई अतएवं प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक संदर्भ में उक्त विवेचना संयोजित करती है । यह विभाजन मात्र प्रचलित आधार पर ही है और केवल बोधगम्यता की दृष्टि से ही इसे स्वीकार किया जा रहा है। भारतीय मनीषा ऐसे किसी भी विभाजन को कतई स्वीकार नहीं करती । संस्कृति को बुद्धिमत्ता की एक चिरन्तन परम्परा माना जाता है । परम्परा सदैव पुनर्नवा है और अनुभवों की सामाजिक परम्परा से संस्कृति का विकास होता है । निस्संदेह, संस्कृति के विकास में राजनीतिक विचारों समेत समग्र विचारों का विकास समाहित है । ऐसी स्थिति में इतिहास–खण्ड कोई मूल्यवत्ता नहीं रख सकते । अखण्ड काल और उसकी अखण्डित चेतना समस्त विकास क्रमों का मूल आधार है । इस अर्थ में संस्कृति और विचार खण्डित सत्य की सत्ता स्वीकार ही नहीं कर सकते ।

3. प्राचीन भारत मे राजनीतिक विचार एवं सामाजिक स्थितियां

3.1 प्रतिनिधि राजनीतिक विचार–स्रोत

प्राचीन भारतीय विचार एवं चिंतन के स्रोत प्रामाणिक रूप से वैदिक वाड्डमय विशेषत: ऋगवेद में उपलब्ध हैं परवर्ती काल में मनु–स्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा भी उनका पर्याप्त संवर्द्धन होता है। महर्षि वाल्मीकि की रामायण तथा महर्षि व्यास कृत महाभारत अपने महाकाव्य रूप में भी राजनीतिक विचार क्रमों तथा मान्यताओं एवं व्यवहारों को सुसंगठित रूप

से अभिव्यक्ति देते है। जैन विचार परम्परा में राजनीतिक दार्शनिक मंतव्य विशेषत: नन्दीसूत्र यशास्तिलकचम्पू, नीतिवाकयामृतम् तथा कुमारपाल–प्रतिबोध: से प्रकट होते है । बोध चिंतन के राजनीतिक सूत्र मुख्यत: दिघ निकाय तथा जातक कथाओं, से संकलित किए जा सकते है । प्राचीन राजनीतिक विचार एवं प्रक्रियाओं की सुस्पष्ट व्याख्या के लिए मूलत निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है:–

अथॉरिटी एण्ड टेम्पोरल पॉवर इन दि रामायण तथा महाभारत विचार क्रमों तथा मान्यताओं एवं व्यवहारों को सुसगठित रूप से अभिव्यक्ति देते है । जैन विचार परम्परा में राजनीतिक - दार्शनिक मंतव्य विशेषत: नन्दीसूत्र, यशस्तिलकचम्पू, नीतिवाक्यामृतम् तथा कुमारपाल–प्रतिबोध: से प्रकट होते है। बौध चिंतन के राजनीतिक सूत्र मुख्यत: दिघ निकाय तथा जातक कथाओं, से संकलित किए जा सकते है। प्राचीन राजनीतिक विचार एवं प्रक्रियाओं की सुस्पष्ट व्याख्या के लिए मूलत: निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है:–

1. आनन्द कुमारस्वामी, स्पिरिचुअल अथॉरिटी एण्ड टेम्पोरल पॉवर इन दि इन्डियन थ्योरी ऑफ गवर्नमेन्ट (नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहर लाल, 1978)
2. बेनीप्रसाद, थ्योरी ऑफ गवर्नमेन्ट इन एन्शिसेन्ट इंडिया
3. यू. एन. घोषाल, ए हिस्टरी ऑफ इन्डियन पोलिटिकल आइडियाज (मद्रास, ऑक्सफोर्ड, 1966)
4. जी. सी. पान्डे, फाउन्डेशन्स ऑफ इन्डियन कल्चर–डाइमेनशन्स ऑफ एन्शिएन्ट इन्डियन सोशल हिस्टरी (दो खण्डों में), नई दिल्ली, बुक्स एण्ड बुक्स, (1984)
5. वी. पी. वर्मा, एन्शिएन्ट एण्ड मिडिवल इन्डियन थॉट (आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, 1986)
6. वी. आर. मेहता, फाउन्डेशन्स ऑफ इन्डियन पोलिटिकल थॉट (नई दिल्ली, मनोहर, 1992)

प्राचीन भारत में राजनीतिक विचारों की परम्परा का संगठित सुत्रपात वैदिक वाडमय द्वारा प्रस्तुत होता है। इस संदर्भ में ऋत एक मूलभूत विचार–योजना को चरितार्थ करता है। ऋत व्यवस्था के आदर्श नियामक सिद्धान्त के रूप में सृष्टि को अभिधारित, संरचित तथा परिपालित करता है। ऋत निर्मित व्यवस्था में सभी व्यक्ति अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और पूर्णता प्राप्त करते है। ऋग्वेद में ऋत के अतिरिक्त एक अन्य अवधारणा भी उपलब्ध है - स्वधा । इसका अर्थ है स्वयं की प्रकृति तथा उस प्रकृति की अनुपालना। समस्त चराचर जगत स्वधा से अभिप्रेरित तथा संचालित होता है। स्वधा वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यवस्था का आधार बनती है। भारत में जाति–व्यवस्था का मूल आधार स्वध रहा है।[2]

सामाजिक व्यवस्था का मौलिक संचालन ऋत द्वारा होता है यद्यपि विशिष्ट सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऋत से उत्पन्न व्रत का सूत्रपाल होता है। व्रत की व्यक्तिनिष्ठ तथा व्यापक समाजनिष्ठ अनुपालना वैय सामाजिक न्याय का सृजन करती है। इस अर्थ में स्वधा तथा व्रत वस्तुत: ऋत के ही सामाजिक पक्ष माने गए।

वैदिक वाडगमय के इन वैचारिक सूत्रों को संयोजित करते हुए प्रो. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने ऋत सम्प्रभुतावाद की अवधारणा प्रतिपादित की है। प्रो. वर्मा के अनुसार ऋत–सम्प्रभुता, जनसम्प्रभुता तथा संवैधानिक सम्प्रभुता में कार्य–कारण सम्बन्ध (Casual relationships) व्याप्त है।[3] "ऋत–सम्प्रभुता के नैतिक व एकीकरण भाव से जनसम्प्रभुता प्रबल चेतना प्राप्त करती है और नीतियुक्त–एकताकारी जन चेतना संवैधानिक सम्प्रभुता को समुचित प्रभाव व प्रवाह देती है।"[4] निस्संदेह, वैदिक वाडगमय राजनीतिक चेतना को सबसे पहले व्यक्त करता है और उससे राजनीतिक चेतना के नियामक पक्षों–ऋत, स्वधा, व्रत, न्याय आदि की पर्याप्त विवेचना भी प्रकट होती है ।

वेदों में निहित सृष्टि विषयक चेतना को व्यापक दृष्टि प्रदान करने का योगदान मनु द्वारा किया गया। इसीलिए मनु को "मानवता कहे प्रथम शिक्षक" तथा "प्रथम विधायक" (First Legislator) की संज्ञा दी गई है। उनकी कृति मनुस्मृति में उन नियमों आदि का विशद वर्णन है जो सदाचारी राजा से लेकर सदाचारी गृहस्थ के लिए ग्राहय है। अपनी संरचना में मनुस्मृति प्रगाढ़ आदर्शों और दैनंदिन जीवन की सामान्यताओं का अनूठा संगम है। सृष्टि के विराट सत्यों को उच्चतम स्थान देते हुए मनु का यह वैचारिक आग्रह है कि उनके प्रकट रूप–विधान आदि को ग्रहण करते हुए और उनसे अभिप्रेरित होते हुए चेतनाशील और सदाचारी व्यक्ति विराट सत्य के साक्षात्कार की क्षमता रखता है। समन्वित तर्क शक्ति और उससे उत्पन्न विवेक केवल व्यक्ति को ही इस योग्य बनाता है। इस योग्यता को पाने की बुनियादी शर्त है कि व्यक्ति मनुस्मृति में वर्णित विधान के करने योग्य तथा करने योग्य प्रावधानों का ईमानदारी से पूर्ण पालन करें।

सामाजिक–धार्मिक तथा राजनीतिक–संदर्भो को संकलित करते हुए मनु राजा को सामाजिक व्यवस्था (विशेषत: तत्कालीन वर्ण व्यवस्था) के परिपालन एवं अनुस्क्षण का दायित्व सौंपते है। साथ ही, उनका यह दृढ़ मत है कि राजा प्रत्येक सामाजिक स्तर पर स्वधर्म पालन की मूल सुविधा प्रदान करनी चाहिए और तत्सम्बन्धी अनुकूल वातावरण का निर्माण करना चाहिए। राजा को अपने कार्य–संचालन में बुद्धिमान व कार्यक्षम सभासदों का सहयोग लेना चाहिए और ब्राहमणों की राजकाज में पर्याप्त प्रधानता होनी चाहिए । राज्य–संगठन बहुस्तरीय होना चाहिए और उसमें ग्राम, नगर एवं प्रांतो के परस्पख्यापी वृहत्तर चक्र होने चाहिए। समस्याओं का निराकरण सम्बन्धित स्तर पर ही किया जाना चाहिए। मनुस्मृति इस प्रकार तत्कालीन परिवेश में विकेन्द्रीकरण पर पर्याप्त बल देती है। मनु ने कर–व्यवस्था के न्यायोचित आधार पर बल दिया और राजा के सम्मरण हेतु निश्चित भाग का स्पष्ट प्रावधान भी प्रस्तुत किया। मनु मजदूरी को कार्यकर्ताओं की विशिष्ट योग्यताओं से जोड़ते है। उनका मत है कि पद एवं सम्मान केवल वंशानुगत नहीं होने चाहिए यद्यपि स्वधा व वैयक्तिक क्षमता के संदर्भ में वंशानुगतता के प्राधान्य को नकारा भी नहीं जा सकता। इस प्रकार अपने विचारों में मनु आदर्श एवं व्यवहार का न्यायसंगत सम्मिश्रण प्रकट करते है। उनके विचार वास्तविकता की भावभूमि से जुड़े है यद्यपि उनकी उड़ान काफी उचीं होती हुई सृष्टि की वास्तविकताओं का संस्पर्श करती है।

भारतीय चिंतन सम्बन्धी इन धाराओं का उत्कृष्ट काव्यात्मक प्रतिनिधित्व महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण तथा महर्षि व्यास कृत महाभारत द्वारा होता है। ये दोनों महाकाव्य भारतीय जनमानस को पारम्परिक रूप से अत्यधिक प्रभावित करते आए है। राम और कृष्ण भारतीय भाव जगत में इतने गहरे पैठे हुए है कि उनकी भावात्मकता स्वयं एक सजीव तथ्य बन जाती है। उसे इतिहास से किसी साक्ष्य की कहीं कोई आवश्यकता ही नहीं है। ये दोनों महाकाव्य जीवन की विविधताओं को सरल मानवीय संवेग प्रदान करते है और अपने–अपने क्रम में धर्म की सम्प्रभुता स्थापित करते है। इस समय तक धर्म ने ऋत का स्थान ले लिया था ।

रामायण राम के जीवन–चरित्र को आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित करती है। मर्यादा पुरूषोत्तम' के रूप में रामायण में राम निरन्तर लोक–कल्याण और लोक सत्ता को समर्पित दिखाए गए है। सार यही है कि एक आदर्श राजा स्वधर्म और राजधर्म दोनों का निर्वाह करते हुए सदैव मर्यादित रहे और सबके हित को अपने हेत से ऊँचा माने । रामायण में धर्म के औचित्य, स्थान और प्रतिष्ठा पर पर्याप्त चर्चा की गई है। धर्म के प्राधान्य पर विशेषत: लक्ष्मण और जावालि द्वारा प्रश्नचिन्ह भी लगाए गए है। जीवन की बुनियादी विसंगतियों के बीच धर्म स्थापना की प्रक्रिया पर ज्ञानशास्त्रीय और नैतिक बहस भी की गई है लेकिन अंतत: धर्म की सत्ता को निर्णायक रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। राजनीतिक संदर्भ में सभा रामायण राज्य की उत्पत्ति को मानवीय आवश्यकताओं का प्रतिफल मानती है। लौकिक संदर्भ में राज्य का औचित्य इस आधार पर टिका हुआ माना गया कि राज्य के अभाव में अराजकता होगी और जीवन–निर्वाह दूभर हो जाएगा। राज्य–संचालन में राजा की भूमिका के प्रति रामायण आदर्श–प्रधान दृष्टि अपनाती है। राजा को विष्णु का अवतार मानते हुए उससे यह अपेक्षा की कि वह धर्म, वर्ण–व्यवस्था सामाजिक व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं तथा लोकमत को प्रतिष्ठित करें। रामायण अपनी संरचना व अभिव्यक्ति में जहां सरल, सौम्य व संगीतमय को अभिव्यक्ति देते हुए अपनी संगीतमय काव्यात्मकता के बावजूद कहीं–कहीं कर्णकटु प्रतीत होती है। रामायण शान्त स्थिर जलाशय है तो महाभारत उद्वेलित महासागर।

महाभारत का राजनीतिक दर्शन मुख्यत: शान्तिपर्व में निहित है। पितामह भीष्म द्वारा युद्ध के उपरान्त धर्मराज युधिष्ठिर को दिया गया उपदेश राज्यशिल्प के आख्यान का एक बेजोड़ उदाहरण है। राजधर्म की व्यापक अवधाराणा राजनीतिक–प्रशासनिक मामलों में प्रांसगिक कर्त्तव्यों एवं दायित्त्वों का सम्बोधन करती है। दण्डनीति राजधर्म से व्यूत्पत्त है और से क्रम में वह राज्य–सम्प्रभुत का एक व्यवहार्य पश्चिमेतर वैचारिक परिप्रेक्ष्य निर्मित करती है।[7] भगवद्गीता में चरितार्थ सर्वभूतहित दण्डनीति भी स्वीकृत मानक है। महाभारत में दण्डनीति को "शुभम् शास्त्रं" की संज्ञा गई है। निर्धारित मान्यता यह है कि यदि दण्डनीति का समुचित प्रचलन हो उसके फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता का मानकीय संस्थीकरण होता है और जनता को उससे पैतृक परितोष प्राप्त होता है। ऐरी दण्डनीति चारों सधर्म का विनिमेय ;पदजमत। बीन्दहमंसमद्ध प्रयोग हुआ है और दोनो के अनूठा किक संदर्भ प्रदान किया गया है।

महाभारत में राज्य के रूप–विधान के साथ–साथ व्यवहारशील राज्य–गतिविधियों की भी स्पष्ट चर्चा हुई है। सरकार के कार्यपरिवेश का निर्धारण करते हुए शांतिपूर्ण पांच कार्य क्षेत्रों

की विवेचना प्रस्तुत करता है: 1. रक्षाधिकरण; 2. युद्ध प्रबन्ध; 3. धर्मानुशासन; 4. मंत्रचिन्ता तथा 5. सर्वहित अथवा सर्व कल्याण का संसाधन। इन समस्त कार्य–कलापों को संसाधित करने के बावजूद राज्य स्वयं में साध्य नहीं बल्कि साधन माना गया है। राजा 'दण्डविद्' के रूप में दण्ड–विधान की कला व शास्त्र में निपुण चरितार्थ किया गया। उसे दण्ड प्रकरणों में सर्वाधिक सचेत और निष्पक्ष रहने की सलाह दी गई थी। राजशक्ति का प्रयोग राजा को ऐसे 'अमात्य वर्ग' के सहयोग से करने की मंत्रणा दी गई जो बौद्धिक और नैतिक सद्गुणों से सम्पन्न हो। अमात्य–वर्ग समाज की प्रतिनिधि वर्ण–व्यवस्था का समुचित प्रतिनिधित्व करने वाला होना चाहिए, महाभारत ऐसा स्पष्ट प्रावधान करती है। उसमें राज्य–कोष की व्यावहारिक महता का भी सुसंगत समावेश है। राजा से यह अपेक्षा की गई कि वह कर प्रणाली का ऐसा प्रचलन करे जो राहतकारी हो तथा न्यायसंगत भी। प्राकृतिक विपदाओं की स्थितियों में राजा को प्रजा से कर न लेने की भी सलाह दी गई। रक्षा–व्यवस्था के लिए व्यापक सेना और सैनिक विभागों का प्रावधान था। इन व्यावहारिक नीतिसूत्रों के व्यापक परिवेश के बावजूद महाभारत द्वारा मूलत+जीवन में आदर्श के द्वन्द्व और उनकी जटिलताओं का सटीक संयोजन हुआ है उतर सर्वत्र धर्म के प्राधवय को महिमामण्डित किया गया है। 'यतो धर्मस्ततो जय:' (जहां धर्म है वही विजय है) महाभारत का सार है।

राजनीतिक जीवन के लौकिकीकरण (Secularisation) का सर्वप्रेष्ठ उदाहरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र से उपलब्ध होती है।[9] कौटिल्य अपनी कृति में यह मत प्रतिपादित करते है कि सत्ता का दायित्व है कि वह स्वयं स्वधर्म का पालन करे और समाज में सभी को स्वधर्म पालन की प्रेरणा दे। साथ ही उसे स्वधर्म की उल्लंघक स्थितियों से समाज को बचाना भी चाहिए। इसी आधार पर वह समाज में व्यवस्था लागू कर सकता है और योगक्षेम का प्रवर्तन भी। प्रो. वी.पी. वर्मा के प्रवर्तन की दृष्टि से राजा के कार्य–कलापों को हॉब्स से शासक (लेवायथन) की अपेक्षा अधिक सारगर्भित और व्यापक मानने हैं। उनकी दृष्टि में योगक्षेम अरस्तु के इस भाव से तुलनीय है कि पोलिस (राजव्यवस्था) बनी तो है जीवन सम्भव बनाने के लिए लेकिन उसका सतत प्रयास यह होता है कि जीवन अधिकाधिक बेहतर बेहतर सदगुणसम्पन्न हो।'[10]

कौटिल्य राज्य की तर्क–संगति के रूप में मत्स्य–याय की प्रचलित मान्यता उल्लेख करते है। राज्य का तर्क–सार है अराजकता से व्यवस्था निर्माण उपक्रम । अतएवं, राजा और राज्य सामाजिक अनुबन्ध का प्रतिफल होते हुए जो अपनी–अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकृत रूप प्रस्तुत करते है। व्यवहार्यता की दृष्टि से लोकप्रिय सभा–परिषदों की अपेक्षा राजा की मंत्रि–परिषद पर अधिक दिया गया है ।

राजनीतिक व्यवस्था के सप्ताहडग सिद्धान्त के अन्तर्गत सात राज्य–तलों का अमावेश किया गया है–स्वामी, अमात्य, दुर्ग, कोप, दण्ड, मित्र तथा प्रकृति सम्पदा । ये सप्ताङ सम्प्रभुता की अभूर्त अवधारणा का उल्लेख नहीं करने यद्यपि उनमें सरकारी प्रक्रियाओं के कुछ प्रभुताशाली संवाहक अवश्य निहित जैसे राजा तथा मंत्री । प्रो. वी. पी. वर्मा का यह मत उल्लेखनीय है कि कौटिल्य का सप्ताङ सिद्धान्त बोदां, हॉब्स तथा ऑस्टिन सरीखी संप्रभुता के

न्यायिक अवधारणा पर बल नहीं देता । साथ ही, इससे हेगेल व बोसांके विषय आधुनिक राष्ट्र–राज्य की अमूर्त संकल्पना का भी बोध नहीं होता ।"

"वस्तुत: अर्थशास्त्र राजनीति और राज्यशिल्प की अपेक्षा प्रशासन विषयक ग्रन्थ अधिक है । प्रशासनिक सिद्धान्तों की (इसमें) इतनी सारगर्मित और सूक्ष्म विवेचना हुई है कि–हमें यह आश्चर्य सा होता है कि क्या उसके बाद से प्रशासनिक विज्ञान में कोई और प्रगति हुई भी है । (अर्थशास्त्र में) सकारात्मक राज्य का विचार अपनाया गया है और राजा के अधिकृत किया गया है कि वह सद्जीवन की स्थितियां निर्मित करे–न केवल कुंए और नहरें खोद कर, बांध बना कर, पेड़ लगा कर या जंगल बचा कर बल्कि सड़क बना कर और जलमार्ग को प्रोत्साहन देकर भी ताकि व्यापार, वाणिज्य और उद्योग सम्बन्धी अभिसंरचना उपलब्ध हो सके । (इस ग्रंथ में) उन पद्धतियों की विशद विवेचना हुई है जो इन क्रियाकलापों के लिए घातक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने में समर्थ है और साथ ही जिनसे उन क्रियाकलापों का अनुकूलतम साधन हो सकता है ।" (स्वतंत्र अनुवाद) ।[12]?

विचारों से संबन्धित कोई भी चर्चा जैन और बौद्ध राजनीतिक और धारणाओं के अभाव में अधूरी है । जैन राजनीतिक चिंतन को अत: दो धाराओं के संदर्भ में देखा जा सकना है । धर्म विधिक (Canoncal) या उत्तर–धर्म विधिक । पहली धारा के अन्तर्गत पारम्परिक वैदिक दृष्टिकोण का विकल्प प्रतिपादित किया गया जबकि दूसरी धारा के अन्तर्गत नीति विषयक ब्रह्मणवादी ग्रन्थों का प्रणयन किया गया ।[14] जैनधर्म वेद और अर्थशास्त्र दोनों को सही निर्देशन के स्रोतों के रूप में अस्वीकार करता है । नन्दीसूत्र में इन्हें 'मिथ्याश्रुत' की संज्ञा दी गई है और उन्हें मिथ्या ज्ञान कें रूप में संहित किया गया है । जैन दृष्टि तीन स्तम्भों पर केन्द्रित है– आत्मावाद, लोकावाद तथा क्रियावाद ।[15] जैन–आचार्यो और मुनियों की यह मान्यता थी कि व्यक्ति एक आध्यात्मिक प्राणी है यद्यपि वह पदार्थ और भौतिकताओं में लिप्त है और ऐसे भौतिक जगत से घिरा हुआ भी जहां पूर्णता और अपूर्णता के विभिन्न स्तरों की आत्माएं सतत क्रियाशील है । व्यक्ति का यह अभीष्ट नहीं है कि वह भौतिक जगत का स्वामी हो और कि वह उसके अपने आनन्द और सुख के लिए उपयोग करे क्योंकि ऐसी समस्त क्रियाएं आत्मा को घराती है । उनसे पदार्थ के जैविक तथा अजैविक रूपों से युक्त आत्माओं को क्षति पहुँचती है । विकल्पतः व्यक्ति को कार्य की स्वतंत्रता प्राप्त है और उसके ये कार्य नीति–व्यवस्थित विश्व में चरितार्थ होते है । अत: जैन मान्यता व्यक्ति के विकास के लिए कर्म के आत्म–उल्लंघक उत्कर्ष की अनुशंसा करती है यानि व्यक्ति अपनी चेतना के धरातल पर नित ऐसे कार्य करे जो चेतना के विकास के साथ उसे उसकी पूर्ववर्ती स्थिति से सतत आगे बढ़ाते जाएं । इसके लिए व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वायत्तता अपरिहार्य है । इस संदर्भ में राजनीतिक शक्ति और सामर्थ्य नैतिक और धार्मिक जीवन की अनेक शर्तों में से केवल एक शर्त ही है । अत जैन चिंतन परम्परा में यह स्पष्ट प्रतिपादन है कि "–राजा को सद् विश्वास का अनुसरण करना चाहिए बिना अपने आपको नैतिक दृष्टि से अशंषाधिकारी मानते हुए । जनता को राजा के (ऐसे) उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए । समाज और राज्य के नियम आध्यात्मिक विवेक के सिद्धान्तों के विपरीत ही होने चाहिए जो की अहिंसा, समानता तथा अनाकांक्षा (इच्छाओं के

अभाव की यति) का आदेश करते है । व्यक्तियों को सांसारिक आसक्तियों में अपने आप को ही गवां देना चाहिए जिसका निहितार्थ है कि सामाजिक नीति अधिकतम विर्द्धनकारी (maximist) नहीं होनी चाहिए । व्यापार ईमानदारी से संचालित होना चाहिए और राजनीति सत्यनिष्ठ रुप से । युद्ध उपेक्षणीय होने चाहिए । संक्षेप मे, यदि कोई सज्जन होने का उपक्रम करे तो उस स्थिति में समस्त गतिविधियां अच्छाई के उपक्रम का अनादर और केवल आत्म कल्याण और सफलता ही इच्छा करे तो समस्त गतिविधियां की उत्मुख होगी । सहायक रूप में कार्य करना बन्द कर दे तो उससे केवल बुराई को ही प्रोत्साहन मिलेगा ।"[16]

परवर्ती काल में सोमदेव ने नीतिवाक्यामृतम में स्मृति और अर्थशास्त्र परम्पराओं के समावेश का योगदान किया । कौटिल्य की भांति सोमदेव भी राजनीति के स्वायत्तशासी चरित्र की पर्याप्त चर्चा करने है । प्रो. मेहता इन दोनों के राजनीतिक विषयक चित्रण को इतना समान पाने है कि वे उन्हें लगभग अविभेद्य मानते है ।[17] जैन तत्वमीमांसक होते हुए भी सोमदेव ने नीतिवाक्य में राजनीतिक यथार्थवाद की नीति का प्रतिपादन किया । यह ग्रंथ सविस्तार राजनीति को अनिवार्य अत: समाज में संघर्ष–प्रबन्ध का कौशल मानना है । अत: इसमें सोमदेव ने राजाओं विशेषत: अरिकेसरी को ऐसे नुस्खे दिए है जो उन्हें अव्यवहारिकता तथा बुद्धिमत्ता में दीक्षित करने है । इसीलिए सोमदेव की विचार योजना में शिक्षा व प्रशिक्षण को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है । सोमदेव का आकलन करते हुए प्रो. वी. पी. वर्मा का यह मत है कि"..... प्रज्ञा, यथार्थवाद तथा मिताचार उवकमतंजपवदद्ध सोमदेव की (इस) कृति के निर्देशक उपदेश है..... (यद्यपि) सोमदेव को (यह) कृति अपने चरित्र में सूत्ररूपी है और इसका यथार्थवाद सामाजिक तात्कालिकता पर आधारित है ।[18]

बौद्ध धर्म (विशेषत: प्रारंम्भिक बौद्ध धर्म) ने राजनीति को एक आवश्यक बुराई के रूप में चरितार्थ किया । दिध निकाय तथा जातक कथाओं को छोड़ कर तत्कालीन बौद्धधर्म सुस्पष्ट राजनीतिक मत प्रतिपादन नहीं करना । अश्वघोष की कृतियों सौन्दरनन्द तथा बुद्धचरितम्, ललित विस्तर, महावस्तु अवदान, मूल–सर्वस्तिवाद–विनयवस्तु, महायात्रसूत्रसंग्रह, दिव्यदान, जातकमाला, लङकावरणसूत्रम् अष्टसहग्रिक प्रज्ञापरमिता, गण्डव्यूह सूत्रम्, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रम्, सुवर्ण प्रभाष सूत्रम्, अवदान शतकम्, अवदान कल्पलता, शिक्षा समुच्चय, बोधिचर्यावतार, अभिधर्मदयि तथा नागार्जुन की कृतियों में यंत्र–तंत्र राजनीतिक चिंतन के स्फुट तत्व उपलब्ध होते है । बौद्ध राजनीतिक मंतव्य तत्सम्बन्धी विश्व–दुष्टि में केवल माध्यमिक वैधता का ही संकेत देते है यद्यपि बौद्ध आदर्शवाद सर्वव्यापी नैतिक संवेगों से अभिप्रेरित प्रकट होता है और अपने इस रूप में वह ब्राहमण और सुद्रा दोनों के लिए सामाजिक, समानता का प्रावधान करना है । उस समय के हिसाब से सामाजिक समानता का यह आग्रह क्रांतिकारी नहीं तो उदार अवश्य है ।[19]

4. राजनीतिक विचार तथा तत्कालीन भारतीय समाज

राजनीतिक विचारों में निहित धर्म के विविध प्रसंग, सामाजिक दृष्टिकोण तथा राजा और प्रशासन सम्बन्ध धारणाओं का मूर्त लेकिन विविध रूपी प्रतिमान भारतीय समाज से प्राप्त होता है ।

भारतीय जीवन समग्रता को समर्पित था । यथार्थ की धारणा में विषय और वस्तु दोनों एक साथ समाहित थे । मान्यता यह थी कि "यथार्थ एक है लेकिन फिर भी वह अनेक रूपों में प्राकट्य की क्षमता रखता है; वह निराकार है फिर भी अनन्त रूपों में विद्यमान है; वह वैयक्तिक है लेकिन साथ ही अवैयक्तिक भी है ।" इसीलिए, सत्य भी एक है लेकिन उसके अनन्त रूप एक साथ सम्बोधित होने है '('एको सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति') । जैन धर्म में व्याप्त अनेकान्तवाद भी प्रकारान्तर से इस वृत्ति को पुष्ट करता है । परम्परा को 'नित गई' माना गया और इसीलिए 'पुराना' हमेशा 'नए' से जुड़ता रहा और जीवन तथा जीवन–दर्शन सदैव सनातनता की ओर बढ़ने को उद्यत रहे । इसीलिए धर्म कभी 'पुरावशेष' नहीं बना, वह सनातनता से पुष्ट होकर स्थितिजन्य प्रासंगिकता पाना रहा । प्राचीन भारतीय समाज में निरन्तरता के ये तत्त्व समाज को सदैव उसकी वैशेषिक स्थिरता प्रदान करते रहे ।

वैदिक राजव्यवस्था में प्रचलित जन राजा द्वारा समिति और सभा की सहायता से प्रशासित थे । के. पी. जायसवाल समेत अनेक विद्वान राजपद को निर्वाचित पद मानते थे यद्यपि यह निर्वाचन सभा अथवा समिति के तत्वावधान में चयन अथवा स्वीकृति के रूप में ही विद्यमान था । चाहे कुछ भी क्यों न हो, वैदिक राजा एक मर्यादित शासक था । वह निरंकुश या तानाशाह नहीं था । कानून परम्परा द्वारा अभिज्ञात था और अपने इस रूप में राजा की व्यक्तिगत अच्छा व अभिरूचि के ऊपर भी । बुद्ध और क्षत्र मिल कर कार्य करते थे । पुरोहित वर्ग धर्म व कानून की व्याख्या करता था जबकि राजा उसके आधार पर वास्तविक शासन–संचालन करते थे । उनके बीच एक अनूठी पदसोपानिक व्यवस्था कार्यशील थी ।[21]

उत्तर–वैदिक काल में यह सामाजिक संस्कृति कुछ फीकी पड़ी और सामाजिक वर्षों का सूत्रपात हुआ । राजा का पद निर्णायक रूप से वंशानुगत हो चला और साथ ही ब्रह्मा–क्षत्र संतुलन भी डगमगाया । राजा के इदगिर्द एक कुलीनतंत्र बना और उसमे पारस्परिक संघर्ष पनपने लगे जिनका वैशेषिक उल्लेख महाभारत से मिलता है ।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस काल में संघर्षो में लीन होते हुए भी विविध राजाओं ने दर्शन में पर्याप्त रूचि प्रदर्शित की और दार्शनिकों को अपना संरक्षणा प्रदान किया ।[22]

मौर्य साम्राज्य ने अपने वैभवशाली विस्तार से राज्य–सत्ता के अपूर्व महिमा मण्डित किया । कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने राज्य को एक व्यवहार्य संस्था का रूप दिया और प्रशासन की सूक्ष्मताओं का प्रासंगिक विश्लेषण प्रस्तुत किया । यूनानी मौर्य साम्राज्य के वैभव तथा सामाजिक स्थितियों से अत्यन्त प्रभावित थे । इसकी पुष्टि मेगस्थनीज के यात्रा–वृत्तान्त से होती है । उसने तत्कालीन भारत में गुलामी प्रथा को अनुपस्थित पाया । सम्पत्ति विषयक असमानता बावजूद तत्कालीन समाज में कानून के सम्मुख प्राय समानता का भाव मेगस्थनीज ने अनुभव किया । कानून आम जनता के जीवन में विशेष भूमिका ही रखता था और कानूनी

विवाद प्राय: अनुपस्थित थे । तत्कालीन राज्य विविध कार्य सम्पादित करना था । उसका ध्यान केवल कानून–व्यवस्था तक सीमित नहीं था बल्कि वह व्यापार, उद्योग, श्रम–व्यवस्थाओं नाम–तोल, नियमन आदि क्षेत्रों तक व्याप्त था । मेगस्थनीज भारतीय जीवन–दर्शन समग्रता से भी प्रभावित था यद्यपि दर्शन व जीवन के बीच पड़ती खाई ने सकी संवेदनशीलता को पर्याप्त प्रभावित किया । मेगस्थनीज वर्णित सामाजिक रीतियों के मध्य मौर्यकालीन राज–व्यवस्था एक ऐसे राज्य से सम्पन्न थी जो आध्यात्मिक जीवन के संसाधन की दृष्टि से व्यापक संस्थात्मक उपकरणों को समन्वित करता था ।[23] डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में, "(मौर्यकालीन) राज्य सामाविक प्रक्तियों, बौद्धिक प्रभावों, आर्थिक उद्यमों तथा, इन सबसे ऊपर, आध्यात्मिक परम्पराओं की (पास्परिक) अन्त: क्रियाओं का नियामक था..... संक्षेप में राज्य संरक्षण सद्जीवन की बाधाओं को बाधित करने तक ही सीमित नहीं था जैसा के जर्मन व ब्रिटिश आदर्शवादियों ने राज्य का उचित क्षेत्र माना बल्कि वह आध्यात्मिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक कल्याण के सर्वांगीण कार्यक्रम के लिए भी व्यवहार्यतः संरचित था ("स्वतंत्र अनुवाद) ।[24]

कालान्तर में गुप्तकाल और तत्कालीन राज–व्यवस्था ने प्राचीन भारतीय विचारों एवं व्यवस्थाओं को चरितार्थ किया । समुद्रगुप्त प्रतापी राजा होने के साथ–साथ कला एवं संस्कृति के भी संरक्षक थे । चंद्रगुप्त द्वितीय तो 'विक्रमादित्य' कहलाते थे । तत्कालीन शासन में धर्म एवं संस्कृति की नियामक भूमिका थी । गुप्तकाल में शासन का मानवीय मनभावनाओं, आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन पर अटूट विश्वास था । ग्रंथों के शब्दों की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभवों और अस्तित्व पर अधिक बल दिया जाता था । जीवन का कर्मक्षेत्र धर्मक्षेत्र बनने को तत्पर था ।

गुप्तकाल में कालिदास के कृतित्व (विशेषत: रघुवंशम्) में पारम्परिक राज्य मान्यताओं का उत्कृष्ट सम्मिश्रण हुआ । कालिदास को राजनीतिक विचारक तो नहीं माना जा सकता लेकिन उनका यहां उल्लेख इसलिए प्रासंगिक है कि उन्होंने, भारतीय मेधा को अपनी काव्यात्मक शैली से इतना अभिप्रेरित किया और भारतीय वैभव का ऐसा वृतान्त प्रस्तुत किया जैसा उस समय किसी अन्य ने नहीं किया । साथ ही, उन्होंने सद्राज्य विषयक ऐसी आदर्श स्थिति को सारात्मक अभिव्यक्ति दी जो अपनी गहनता व सूक्ष्मता में अनन्य है ।

5. सारांश

प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार व्यापक जीवन प्रसंगों से उत्पन्न हुए है । ऋत, स्वधा, व्रत आदि वैचारिक श्रेणियों ने परस्पर मिल कर राजनीतिक विचारों का ताना–बाना बुना। ऋत–सम्प्रभुतावाद एक विशिष्ट भारतीय विचार–श्रेणी हो जो पश्चिमेतर सम्प्रभुता का संदर्भ निर्मित करते हुए जन सम्प्रभुता तथा सवैधानिक सम्प्रभुता को चरितार्थ करती है । कालांतर में धर्म ने ऋत का स्थान ग्रहण कर लिया महाभारत, अर्थशास्त्र आदि ग्रंथ इसका साक्ष्य है ।

मनु, कौटिल्य, वाल्मीकि, व्यास तथा बौद्ध एवं जैन मीमांसाकार एवं विचारकों ने राजा और राज्य को धर्म से अनुप्राणित और निर्देशित माना । राज्य राजधर्म और दण्डनीति से संचालित होता था और ये दोनों विनिमेय रूप से राज्य की साधनात्मक सत्ता को संयोजित

करते हुए । उसे धर्म–प्रवर्तक राज्य बनाने का योगदान देते थे । राजा स्वयं धर्म से मर्यादित था और सर्वत्र स्वधर्म पालन का सामाजिक आचार प्रवर्तन उसका नैतिक दायित्व था । अपने इसी कार्यप्रसंगवश राज्य व्यवस्था का सूत्रपात कर सकता था । प्रत्येक विचारक राज्य से इसीलिए अपरिहार्य और राज्य–सत्ता के अभाव को अराजकता का पर्याय बनना था । राजा का राजकार्य मूलत: कल्याणकारी और न्यायसंगत था । इसीलिए जो अपने क्रियाकलापों में सामाजिक जीवन की विविध प्रक्रियाओं को सामाहित करते हुए नैतिक आधार पर जीवन के वैविध्य को संसाधित करता था । जीवन अन्तर्निहित सौन्दर्य का बोध और उसका सम्बोधन उसके शासन को तर्कसार प्रदान करते थे ।

सामाजिक व्यवस्था वर्ण–आधारित थी और उनका संगठन तर्क व्यक्ति की नैसर्गिक प्रतिभा और उनके स्वधर्मपालन पर केन्द्रित था । वैदिक काल में वर्ण मानवीय आधार प्राप्त थे। परवर्ती काल में वर्ण अनुदार और कट्टर हो गए, उनमें पारस्परिक विद्वेष और संघर्ष पनपने लगे और इस क्रम में ब्रह्म–क्षत्र संतुलन अस्त–व्यस्त प्राय हो गया । बौद्ध और जैन धर्मावलम्बी इसी संदर्भ में वेदों की सत्ता और ब्राह्मणों की महत्ता को अस्वीकार करने का बाध्य हुए यद्यपि तत्वमीमांसा के संदर्भ में जीवन का अर्थसार और व्यक्ति चेतना और कर्म यथावत अक्षुण्ण रहे ।

भारतीय वैचारिक परिप्रेक्ष्य का स्पष्ट सामाजिक रूपांतरण एक ऐतिहासिक सत्य रहा है। प्रसिद्ध राजा ने धर्म की सत्ता मानी, नैतिकता का राजकाज पर्याप्त समावेश किया और आत्मसंयम का परिचय देते हुए जीवन की विधताओं को परिमार्जित किया । फलत: प्राचीन भारतीय समाज स्थिरता से विविध परिवेशों में राज्यशिल्प के साथ–साथ कला, संस्कृति व साहित्य का विकास कर सका । मौर्य एवं गुप्त कालीन शासन प्रसंग विशेष रूप से वृत्तियों एवं सामाजिक प्रक्रियाओं को परिचायक है ।

6. उद्धरण एवं टिप्पणी

1. जी. सी. पांडे, फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर–डाइमेन्शन ऑफ एन्शिएन्ट इंडियन सोशल हिस्टरी (खण्ड–।।), नई दिल्ली, बुक्स एण्ड बुक्स, 1984
2. के. सच्चिदानन्द मूर्ति "एथिक्स एण्ड प्रॉलिटिक्स इन हिन्दू कल्चर", कृष्णा रॉय तथा छंदा गुप्ता (सं.) एसेज इन सोशल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसफी, नई दिल्ली, आई. सी. पी. आर. तथा एलाइड पब्लिशर्स द्वारा सह प्रकाशित, 1989, पृ. 561-62
3. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा "ऋत–सम्प्रभुतावाद–वेद का विराट् राजनीतिक दर्शन", वैदिक राजनीतिशास्त्र
4. अनाम जैतली तथा ब्रजमोहन शर्मा, राजनीतिक विज्ञान के मूल सिद्धान्त, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय–1982, पृ. 119

5. मनु के राज्य–संगठन की विस्तृत रूप रेखा एवं विवेचना के लिए देखें वी. आर. मेहता, फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन पोलिटिकल थॉट, नई दिल्ली, मनोहर, 1992, पृ. सं. 26–28

वही पृ. 41

अनाम जैतली तथा ब्रजमोहन शर्मा पूर्वोक्त, पृ. 115

विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, एन्शिएन्ट एण्ड मिडीएवल इंडियन पोलिटिकल थॉट, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 1986, पृ.40

लौकिकीकरण के स्पष्ट आभासों की चर्चा के लिए दृष्टव्य वी. आर. मेहता, पूवोक्त पृ. 91, प्रो. मेहता इस प्रक्रिया के साक्ष्य के रूप में संन्यासियों के पंजीयन का उल्लेख करते है।

वी. पी. वर्मा, एन.8, पृ.सं 62–63

वही, पृ. 62

वी. आर. मेहता, पूर्वोक्त, पृ. 87

जी.सी. पांडे, जैन पोलिटिकल थॉट, जयपुर, प्राकृत भारती संस्थान तथा जैन अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1984, पृ. 12

वही

वही, पृ. 28

वही, पृ. 48

वी. आर. मेहता, पूर्वोक्त पृ. 111

वी.पी. वर्मा, एन. 8, पृ. 177

वही, पृ. 173

जी.सी. पांडे, एन. 1, पृ.26

वही, पृ. 250

वही, पृ. 252

बेनी प्रसाद, "पोलिटिकल थ्योरी एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम", आर.सी. मजूमदार (सं), दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, भारतीय विद्याभवन, 1953, पृ. 308

वही, पृ. 308 & 309

वी. आर. मेहता, पूर्वोक्त, पृ. 95

7. अभ्यास प्रश्न

1. प्राचीन भारत में धर्म एवं राज्यशिल्प की विवेचना कीजिए। (500 शब्द)
2. महाभारत अथवा अर्थशास्त्र का राजनीतिक महत्व प्रतिपादित कीजिए।
3. ऋत क्या है ? व्रत व स्वधा उससे कैसे संयोजित है? स्पष्ट कीजिए (50 शब्द)

4. मनु के राजनीतिक विचार स्पष्ट कीजिए । (200 शब्द)
5. जैन व बौद्ध धर्म में राजनीतिक विचारों का क्या महत्व व स्थान है? स्पष्ट कीजिए। (200 शब्द)
6. सप्ताग्ङ सिद्धान्त क्या है? बताइए (50 शब्द)

इकाई–2
मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. मध्यकालीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समाजिक स्थितियां
3.1 विचारों के स्त्रोत
3.2 मध्यकालीन राजनीतिक विचारों का मूल स्वरूप एवं प्रकृति
3.3 सामाजिक प्रभाव
4. आधुनिक भारतीय सामाजिक– राजनीतिक विचार प्रसंग
4.1 उपनिवेशवादी ब्रिटिश आग्रह, प्रक्रियाएं तथा उनका प्रभाव
4.2 अंग्रेजी सम्पर्क का प्रभाव
4.3 उपनिवेशवाद का प्रतिकार
4.4 'स्वराज्य' का संकल्प
4.5 महात्मा गांधी की भूमिका तथा योगदान
5. निष्कर्ष
6. उद्धरण व संदर्भ ग्रन्थ
7. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य:

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक विचारों से परिचय;
2. उनके सामाजिक प्रभाव का आकलन;
3. आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनीतिक प्रसंगों से अन्तरंगता;
4. उपनिवेशवाद के विरूद्ध पनपी राष्ट्रीय चेतना तथा विकास–यात्रा का बोध; तथा
5. भारतीय चिन्तन की अखण्डता व कालातीत उपादेयता का आभास।

2. प्रस्तावना:

पिछली इकाई में आपने प्राचीन भारतीय संदर्भ में राजनीतिक विचार एवं सामाजिक स्थितियों का अध्ययन किया था। इस इकाई में आप मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय ऐतिहासिक संदर्भ में राजनीतिक विचारों एवं भारतीय समाज का अध्ययन करेंगे। पिछली इकाई में वर्णित संरचना के आधार पर ही यह इकाई संरचित है । इसमें दोनों इतिहास–क्रमों की प्रतिनिधि राजनीतिक–सामाजिक स्थितियों की विवेचना तो होगी ही, साथ में अंतत: समग्र इतिहास–क्रम में भारतीय राजनीतिक परम्परा मैं निहित निरन्तरता और परिवर्तनशीलता पर भी

प्रकाश डाला जाएगा। वास्तव में ये दोनों इकाईयां वस्तुत: एक विषय–क्रम (भारतीय राजनीतिक विचार एवं भारतीय समाज) को समर्पित है । इस अर्थ में ये दोनों मिल कर एक इकाई बनती है । केवल आकार ही दृष्टि से इनको दो इकाईयों में प्रस्तुत किया गया है ताकि लम्बा पाठ विद्यार्थियों के लिए बोझिल न हो और वे अधिक सुविधापूर्वक विषय को समझ सके ।

3. मध्यकालीन भारत में राजनीतिक विचार एवं सामाजिक स्थितियां

3.1 विचारों के स्रोत

मध्यकालीन ऐतिहासिक संदर्भ में प्राय: मुस्लिम विचार एवं सामाजिक–राजनीतिक प्रक्रियाओं को ही एकमात्र स्रोत माना जाता है । यह मान्यता असंगत है । यह सही है कि मुस्लिम वैचारिक परिप्रेक्ष्य मध्यकालीन भारत का सर्वाधिक प्रमुख पक्ष था लेकिन उस काल में मराठा एवं सिख राजनीतिक विचारों के भी पर्याप्त साक्ष्य उपस्थित है । उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती । मुस्लिम वैचारिक पक्ष प्रमुखत: बर्नी के कृतित्त्व से प्रकट होते है । इस दृष्टि से बर्नी की फतव–ए–जहांगीरी विशेष उल्लेखनीय है । इसके अतिरिक्त, अबुल फजल की आईने अकबरी ब्रजरत्न द्वारा अनुवादित जहांगीर नामा, बाबर नामा, फतवा–आलमगीरी आदि अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ है ।

मराठा राजनीतिक विचार चन्द्रेशवर की राजनीति रत्नाकर, समर्थ रामदास की दशाबोध, मल्हार राव चिटनिस की राजनीतिक, खाण्डो बल्ताल की शि दिग्विजय, रामचन्द्र पंद द्वारा रचित मानी गई साम्भाजी की कृति आज्ञापत्र, पं. गंगा मट्ट की शिवराज प्रशस्ति तथा रघुनाथ पंडित के राजा–व्यवहार कोप द्वारा प्रकट एवं विकसित होते है ।

सिख धर्म मे निहित राजनीतिक विचारों की दृष्टि से उसके धर्म ग्रन्थो आदि–ग्रन्थ व उसके विकसित/संवर्द्धित रूप ग्रन्थ साहिब के अतिरिक्त, गुरू गोविन्द सिंह के कृतित्व विशेष उल्लेखनीय है ।

पिछली इकाई में वी. पी. वर्मा तथा वी. आर. मेहता की पुस्तकों का उल्लेख किया जा चुका है । ये दोनों पुस्तकें इस इकाई में वर्णित चिंतन के लिए भी उपयोगी व्याख्यात्मक स्रोत है । इनके अतिरिक्त मोहम्मद हबीब तथा यू. एस. खान की दि पोलिटिकल थ्योरी ऑफ दि देहली सल्तनत, दि केंब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, खण्ड IV, ए. श्विट्जर की इन्डियन थॉट इट्स डेवलेपमेंट, जदुनाथ सरकार की दि मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पी. शरण की इस्लामिक पॉलिटी : दि प्रोविन्शियल गवर्नमेंट ऑफ दि मुगल्स, आर. पी. खोसला की मुगल किंगशिप एण्ड नोबिलिटी, फ्रेसर व एडवर्ड्स की लाईफ एण्ड टीचिंग्स ऑफ तुकाराम, जी. एस. सरदेसाई की हिस्टरी ऑफ दि मराठा पीपल्स, के. गोखले की साम्भाजी, विंसेन्ट स्मिथ की ऑक्सफोर्ड हिस्टरी ऑफ इंडिया, जे. डी. कनिघम की हिस्टरी ऑफ दि सिरवस, कर्तार सिंह की लाइफ ऑफ गुरू नानक तथा मोनियर विलियम्स की रेलिजस थॉट एण्ड लाइफ इन इंडिया भी अपने उत्कृष्ट योगदान के लिए उल्लेखनीय है ।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के मौलिक स्रोतों की दृष्टि से महर्षि अरविनन्द की दि रेनेसां ऑफ इंडिया तथा फाउडेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर, विवेकानंद के कम्प्लीट वर्क्स तथा उनको ही कास्ट, कल्चर एण्ड सोशलिज्म तथा इंडिया एण्ड हर प्रॉब्लम्स, स्वामी दयानन्द सरस्वती की सत्यार्थ प्रकाश, महादेव गोविन्द रानाडे की ऐसेज इन इंडियन इकॉनोमिक्स, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ तिलक, स्पीचेज ऑफ जी. के. गोखले, एम. एन. राय रचित बियॉन्ड कम्युनिज्म तथा पॉलिटिक्स, पॉवर एण्ड पालिटिक्स, नेहरू की ऑटोबायोग्राफी तथा डिसकवरी ऑफ इंडिया (इनके अतिरिक्त इम्पॉर्टेन्ट स्पीचेज ऑफ जवाहरलाल नेहरू भी), राममनोहर लोहिया की दि व्हील ऑफ हिस्टरी तथा गांधी, मार्क्स एण्ड सोशलिज़्म, स्वयं महात्मा गांधी की हिन्द स्वराज तथा दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी तथा रवीन्द्र नाथ टेगोर की नेशनलिज्म विशेष उल्लेखनीय है ।

इन मालिक स्रोतों के अतिरिक्त वी. पी. वर्मा की मॉडर्न इंडियन पोलिटिकल थॉट, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन की दृष्टि से एक विशेष उल्लेखनीय सामग्री है ।

3.2 मध्यकालीन राजनीतिक विचारों का मूल स्वरूप एवं प्रकृति

मध्यकालीन राजनीतिक विचारों के स्वरूप व प्रकृति की चर्चा से पूर्व स्वयं भारतीय मध्यकाल के स्वरूप और प्रकृति का संक्षिप्त उल्लेख प्रासंगिक है । भारतीय मध्यकाल की अवधि पाश्चात्य मध्यकाल की अपेक्षा कही अधिक लम्बी रही है ।[1] भारतीय मध्यकाल का प्रारम्भ प्राय: गुप्त साम्राज्य के पतन से शुरू होता है (सम्राट इर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त तो निश्चित ही और वह प्लासी के युद्ध की समाप्ति तक (1748 तक) व्याप्त रहा है । इस दृष्टि से जहां पश्चिम में 1453 में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद ही आधुनिक युग का सूत्रपात होने लगा था, वही भारत में उसके तीन सौ वर्षों के अन्तराल तक मध्यकाल प्रवर्तित रहा ।) कालक्रम के इस अन्दर के अतिरिक्त वैचारिक स्तर पर कामण्डक, सोमदेव, चण्डेश्वर तथा शुक्राचार्य सरीखे चिंतक मध्यकाल के होते हुए भी आनी विचार–संरचना में प्राचीन वाङगमय के सादृश है । उनके विचार के मूल स्वर कौटिल्य के अर्थशास्त्रा से अत्यधिक अभिप्रेरित रहे है ।

मध्यकालीन राजनीतिक विचारों के वी. पी. वर्मा के अनुसार पांच प्रमुख विचार–केन्द्र रहे है–(1) वीरगाथा काल के लेखकों के कृतित्व में प्रकट सामन्ती–राजतंत्रात्मक विचार; (2) भक्ति सम्प्रदाय के कृतिकारों की कृतियों में प्रकट धार्मिक परम्परावाद; (3) तुर्की–अफगान तथा मुगल काल में अभिव्यक्त इस्लामी धर्मतांत्रिक अवधारणाएं; (4) नानक तथा कबीर की वाणियों में अभिव्यक्त समन्वयात्मक समाजशास्त्र जिसने इस्लाम व हिन्दुधर्म के बीच पारस्परिक समन्वय को प्रोत्साहित किया तथा (5) मराठा संतों के सामाजिक–राजनीतिक मंतव्य जिन्होंने व्यक्तिवाद, सामाजिक समता तथा उन्नत । उत्कट नैतिक आचार–संहिता पर एक साथ बल दिया ।[2]

इन समस्त विचार–केन्द्रो, के विषय में एक बात समान रूप से लागु होती है । इन पांचों वैचारिक केन्द्रो में विकसित राजनीतिक विचार स्वतंत्र अथवा मौलिक रूप से 'राजनीतिक' नहीं है । वे प्रधानत: धार्मिक विचारों से उद्भूत है । धार्मिक मंतव्यों और नीति–वचनों से

'राजनीतिक निहितार्थ उद्घाटित किए गए है । दूसरे अर्थो में धर्म की यह प्रधानता वैचारिक स्वर प्राचीन एवं मध्यकालीन विचार–परम्पराओं में कोई बुनियादी अलगाव नहीं उपस्थित करती। विद्यानिवास मिश्र की यह लिए मान्यता है कि प्राचीन हिन्दू और मध्यकालीन इस्लामिक जीवनशैलियों में अन्तर बुनियादी कम और सतही अधिक थे । यही बात प्रकारान्तर से आनन्द कुमार स्वामी ने भी कही है । उनका मन है कि भारत के प्राच्य शासकों ने 'विभाजन और शासन' की युक्ति को नहीं अपनाया और न ही उन्होंने दूरस्थ अपने देशों से भारत का शासन ही चलाया। यह मन प्रमाणिक प्रतित होता है कि इस्लाम ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद की भांति 'भारत' सांस्कृतिक आक्रमण नही किया । इसी कारण हिन्दु–मुस्लिम समन्वय की स्पष्ट धारा प्रवाहित हुई । तथ्यत: पारम्परिक हिन्दू तथा इस्लामिक विश्व–दृष्टि में अनेक बुनियादी समानताएं विद्यमान थी । उनके सभ्यता संबंधी आदर्श भी पर्याप्त समान थे ।

इस समन्वयात्मक पृष्ठभूमि में मध्यकालीन राजनीतिक विचारों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है । मुख्यत: इस्लाम से अनुप्रेरित ये राजनीतिक विचार कुरान से प्राप्त शरियत पर आधारित है । राज्य का उद्देश्य शरियत के आधार शासन संचालन था । एक ग्रन्थ अथवा कानूनी–स्रोत निर्भरता की यह स्थिति विवेक की कम भूमिका निर्धारित करती थी । अत इसमें विश्वास के प्रति कट्टरपंथी आग्रह निहित था ।

बरनी इस काल का एक उल्लेखनीय राजनीतिक विचारक था । उसका यह वैचारिक आग्रह था कि राजा को इस्लाम की सदृढ़ स्थापना से अभिप्रेरित होकर राज्य की नींव डालनी चाहिए । यद्यपि बरनी पर अरस्तु के विचारों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है जो कि उसकी न्याय की अवधारणा तथा राज–काज में संयम व उदारता में प्रकट होना है लेकिन ये दोनों सरकारी विलक्षणताएं इस्लाम के अनुयायियों के लिए ही सुरक्षित थी । काफिर इनके हकदार नही थे ।

बरनी इस्लाम से स्वतन्त्रता किसी भी तर्कवाद के विरूद्ध था । स्वतन्त्रता तार्किकता का तो वह बिल्कुल पक्षधर नहीं था । यहां तक कि उसने शिक्षा में विज्ञान के शिक्षण तक का विरोध किया था । वह इस्लाम, पैगम्बरों की परम्पराओं तथा धार्मिक कानूनों का तालीम का जोरदार हिमायती था ।

न्याय के प्रति उसका आग्रह भी धर्म मे अनुप्राणित था । उसका मत था कि न्याय धर्म की एक आवश्यक शर्त है तथा स्वयं, धर्म न्याय की एक बुनियादी जरूरत है ।

बरनी ने सम्प्रभु के लिए तीन कार्य प्रतिपादित किए–(1) शरियत का प्रवर्तन; (2) अनैतिक तथा पापयुक्त आचरणों एवं क्रियाओं पर रोक तथा (3) न्याय का परिचालन और इसके लिए विविध नियुक्तियों का प्रबंध ।

सीमित संदर्भ में ही सही, बरनी को इस बात का श्रेय जाता है कि उसने भारतीय राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति की अवधारणा की पहली बार व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण किया । अधिकारों की व्यवहार्य व्यवस्था सम्बन्धी बरनी का आग्रह इसकी पुष्टि करता है । यहां यह उल्लेख आवश्यक होगा कि अधिकारों और न्याय की बरनी द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था आधुनिक वैचारिक संदर्भ की भांति समता के भाव पर नहीं टिकी थी । समानता वैयक्तिक गुणा, व

उत्क्रष्ताओं पर आधारित होते हुए वास्तव में व्यक्ति को खुदा की बख्शीश थी । इसके बढ़–घटे अनुपात के क्रम में ही राज्य–सम्मान, राज्य–प्रोत्साहन आदि मुकर्रर थे ।

कीमतों पर नियंत्रण बरनी का एक अन्य उल्लेखनीय योगदान था । उसने यह पुरजोर वकालत की कि यदि दुकानदार अपने श्रम से अधिक दाम ले और खरीददार को अपने गाढ़े पसीने की कमाई इस तरीके से गंवानी पडे तो यह एक बिलकुल नाजायज बात होगी । अगर कीमतों की अंधाधुंध रफ्तार गिरफ्तार न की जाए तो समाज में बदइंतजामी फैलेगी । यह एक क्रांतिकारी विचार लगता है परन्तु वास्तव में इसका तत्कालीन भारतीय कारण ही महत्वपूर्ण था। व्यापार और वाणिज्य पर हिन्दुओं का वर्चस्व था। इस वर्चस्व के विरूद्ध मुस्लिम हितों की रक्षा के उद्देश्य से ही बरनी ने मूल्य–नियंत्रण का विचार प्रतिपादित करना आवश्यक समझा होगा, ऐसा माना जा सकता है ।

परवर्ती काल में मुगल–समाज की स्थापना के बाद इस्लामी आग्रह भी बदलने लगे । विश्वास की कट्टरता शिथिल सी होने लगी तथा मेल–मिलाप के वातावरण के निर्माण पर बल दिया जाने लगा । यह उदारवाद अकबर के काल में सबसे ज्यादा फलता–फूलता दिखाई दिया । दीने इलाही इसका प्रमाण था । डॉ. ताराचन्द ने इस विकास को कोई अलगावी सनक (isolated freak) नहीं माना । उनकी यह मान्यता थी कि हिन्दु–मुस्लिम एकीकरण की सूफी और भक्तिकालीन परम्पराओं से उपजी शक्तियों कें सचेत क्रिया–कलापों से इस समन्वय को बल मिला ।

अबुल फजल की आईने अकबरी इस काल का एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है । राज–शिला की दृष्टि से आईने अकबरी तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में समानताएं विद्यमान थी। दोनों में राज्य का पदसोपानिक क्रम पर्याप्त रूप से प्रकट होना था । दोनों ही ग्रंथ राजकाज में राजा की व्यक्तिगत रूचि पर बल देते थे । हिन्दु चिन्तन के अनुरूप अबुल फजल ने भी समाज को चार भागों में बांटा । यद्यपि उसमें सर्वोच्च स्थान उसने विद्वानों को न देकर शासकों और योद्धाओं को दिया क्योंकि उनसे व्यवस्था का सूत्रपात और संचालन होता था । दूसरे स्थान पर इसमें विद्वान सम्मिलित थे । तीसरा व्यापारियों का और चौथा मजदूरों/कामगारों का था ।

अबुल फजल राजनीतिक संदर्भ में संप्रभुता के लक्षणों के लिए अत्यन्त प्रशंसात्मक भाषा का प्रयोग करता है । शासक को उसने 'ईश्वर की प्रतिच्छायाँ' (shadow of God) माना। ईश्वर कर्ता है और शासक उसका निमित्त । वह शासक को उदार, समर्पित, दैविक दया के लिए प्रार्थनाशील व विश्वासी तथा धर्म–प्रसंगों में निष्पक्ष और भेद–भाव के परे होने क़ी सलाह देता है।

मुगलकालीन भारत में राज्य तथा धार्मिक प्रतिष्ठान प्राय: अलग थे । सरकारी पदों पर केवल मुस्लिम वर्ग का ही एकाधिकार नहीं था । हिन्दू काफी संस्थापक प्रबन्ध नियत नहीं थे । वे केवल शासकों की इच्छा और प्रसाद के अधीन थे ।

यूरोपीय यात्रियों के यात्रा–वृत्तान्तों से भी हाल राजनीतिक व्यवस्था की जानकारी मिलती है । बर्नियर, टेवर्नियर, पीटर मुन्डी आदि ने हाल राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्निहित निरंकुशतावादी तत्वों की पर्याप्त आलोचना की है । उन्होंने यह पाया कि मुगल व्यवस्था में

कार्यशील वैधानिक कानूनों का अभाव था । तत्कालीन अवस्था में कोई ऐसी निर्धारित कानूनी सभा अथवा विधान–मंडल नहीं था जो कानून बनाता या जिससे प्रशासको को कार्य–निर्देश प्राप्त होते । ऐसी स्थिति में राजा को असीमित शासकीय अधिकार तथा शक्तियां प्राप्त हो जाते थे ।

3.3 सामाजिक प्रभाव

मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में समाज और संस्तुति के प्रसंगों को शासकों ने प्राय: शासकीय हस्तक्षेप की परिधि के परे रखा । इस अ–हस्तक्षेप का उद्देश्य उदारवाद का प्रवर्तन नहीं था क्योंकि मात्रा–भेद के बावजूद मुगलशासक मूलत: प्रबल इस्लामी अनुयायी थे और वें हिन्दुओं के धर्म, जीवन और संस्तुति के या तो विरोधी थे या उनके प्रति उदासीन । शासन–प्रबन्ध उनका अभीष्ट था । इसलिए शासन–प्रणाली के प्रति वे उत्साही व सचेत थे । काफिरों के लिए क्योंकि उनके मन में कोई लगाव नहीं था, इसलिए उनके जीवन–प्रसंगों से वे निर्लिप्त रहे ।

परवर्तीकाल में मेलजोल और समन्वय के जो बीज अंकुरित हुए उनके कोई प्रकट राजनीतिक निहितार्थ नहीं थे । इस मेलजोल के वातावरण से राजनीतिक औचित्य का कोई प्रवाह नहीं प्रकट होना। वास्तविकता तो यह है कि स्थाई आधार पर हिन्दुस्तान में आकर बसने के क्रम में दो महान सभ्यताओं और संस्कृतियों का जन–जीवन पर तथा जन–चेतना पर प्रभाव पड़ा जो कि एक स्वाभाविक सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया है । इस प्रभाव के फलस्वरूप राजनीति के अतिरिक्त जीवन के अन्य सभी प्रसंगों–स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत, साहित्य आदि पर हिन्दु–मुस्लिम समन्वय की छाप दिखाई दी । भक्तिकाल और सूफी परंपरा इसी समन्वयात्मक लोक चेतना के उदाहरण है ।

मुगल साम्राज्य के सुदृढ़ीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय समाज का जो संगठन प्रस्तुत हुआ उसमें राजा सर्वोच्च स्थान पर था । उसके बाद दरबारी वर्ग, तदुपरांत एक लघुतर मध्यम वर्ग तथा पदसोपान के निचले सिरे पर कृषक–वर्ग विद्यमान था । जब तक राजा सद्गुणी और गज–काज में विवेकी रहे, वे इस सामाजिक संरचना की विसंगतियों को प्रति–संतुलित करते रहे और अन्तवैयक्तिक तथा अन्तसमूह संघर्षो व तनावों को टालते रहे । एक बार जब राजा शासनकला और सद्गुणों दोनों से दूर हो गए और उनकी तथा दरबारी–वर्ग की जीवन–वृत्तियां नितान्त विलासी हो गई तो उनके विलास को बरकरार रखने के लिए संरचना के निम्नतम घटक को लगातार उत्पीड़ित किया जाने लगा । उससे यह अपेक्षा की गई कि वह केवल अपने श्रम से संरचना के उच्चतर लोगों की विलासी जीवन शैली को सुलभ करे, उसका मोल चुकाए । ऐसी स्थिति में संस्थात्मक–संरचनात्मक स्तर पर संयम का अभाव प्रस्तुत हुआ जिसने सामाजिक–अन्तर्विरोधों और संघर्षो को जन्म दिया ।10

धार्मिक धरातल पर अनिवार्यत: समरूपी इस्लाम का अत्यधिक स्तरित (stratified) हिन्दु सामाजिक संरचना से मिलाप हुआ । इसने कालांतर में काफी मशीनी लय पा ली थी जिसके फलस्वरूप यह मिलन विकृत सा हो चला । सब तो यह भी है कि इस मिलन के फलस्वरूप अक्सर दोनों विश्वासों व धर्म–पद्धतियों में आत्म–शुद्धिकारक संकलप पैदा हुए और एक दूसरे के प्रति कट्टरवादी विकर्षण का भाव भी परिपुष्ट हुआ । इन वास्तविकताओं के प्रबल

आग्रहों के बावजूद दोनों धर्मों व सम्प्रदायों ने इस स्थिति की अपरिहार्यता का पूर्वाभास कर लिया था । इसलिए विरोध, विद्वेष व तनाव के साथ–साथ सांस्कृतिक सहयोग की व्यापक छटा का भी स्पष्ट दिग्दर्शन सम्भव हो सका ।11

4. आधुनिक भारतीय सामाजिक–राजनीतिक विचार प्रसंग

इस विषय पर यद्यपि आप विस्तार से अगली इकाई में पढ़ेगे, इस स्थल पर कुछ साररूपी प्रसंग उठाए जा रहे है जो पिछली व इस इकाई के कथ्यों और प्रसंगों से या तो संगत है या उनके सम्बन्ध में प्रासंगिक ।

4.1 उपनिवेशवादी ब्रिटिश आग्रह, प्रक्रियाएं व उनका प्रभाव

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने पहली बार भारत के सम्पूर्ण सामाजिक सांस्कृतिक परिदृश्य को बुनियादी तौर पर विचलित किया। उससे समाज में हर स्तर पर ऐसी उथल–पुथल हुई कि 'पुरानी सामाजिक संरचना अपनी जड़ों तक चरमरा गई और उसके साथ ही उसके साथ पनपी समान संस्कृति भी (अस्त–व्यस्त हो गई) । पुरोहित वर्गीय, कुलीनतंत्रीय, कृषक, व्यापारिक तथा औद्योगिक वर्गों में व्याप्त वे सभी पुराने सांमजस्य भी यकायक शिथिल पड़ गये थे । जिनके इदगिर्द नियंत्रण के कुछ समान केन्द्र बुने गए थे । औद्योगिक क्रांति के प्रभावों ने ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था तथा कुटीर उद्योगों को विघटित करना शुरू कर दिया" (स्वतंत्र अनुवाद) ।12

यह स्वाभाविक ही था क्योंकि मुगल शासकों की भांति अंग्रेज भारतीयों के साथ लोकाचार बढ़ाने और समन्वय–प्रवर्तन की इच्छा और रणनीतियां नहीं विकसित करना चाहते थे। उनका कुल उद्देश्य तो भारत से अधिकतम मुनाफा कमाना था । मुनाफे की व्यवस्था को अधिकतम प्रभावी बनाने के जिए भारतीयों को दिमागी और आत्मिक पंगुता का अहसास कराना उनके लिए और भी अधिक जरूरी था जो उन्होंने किया भी । इसीलिए उन्होंने सुनियोजित 'सांस्कृतिक आक्रमण' के अन्तर्गत भारतीय धर्म, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, कला, लोकजीवन के प्रसंगों आदि सब पक्षों पर निर्णायक आघात किया । भारत उनके लिए न कोई सभ्यता थी, न समाज, वह तो सिर्फ एक उपनिवेश था जो केवल भोग्य होता है ।

4.2 अंग्रेजी सम्पर्क का प्रभाव

अंग्रेजी व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण से यातायात के साधन बड़े जिससे स्वयं भारतीय भी एक–दूसरे से जुड़े है । अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव ने जहां भारतीयता की जड़े कमजोर की, वही उसने भारतीयों के मानसिक क्षितिज का भी विस्तार किया । यूरोपीय सभ्यता, पुनर्जागरण, कला, संस्कृति साहित्य आदि के ज्ञान ने भारतीयों को ज्ञानोदय का अवसर सुलभ कराया । भारतीय पुनर्जागरण के ये स्वर धर्म एवं समाज–सुधारों से सम्बन्धित विविध आन्दोलनों में परिलक्षित होते है । राजा राममोहन राय तथा ब्रहम समाज, दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज, रानाडे तथा प्रार्थना समाज, ऐनि बेसेन्ट तथा थियोसोफिकल सोसाइटी आन्दोलन आदि इसी सामाजिक संदर्भ के सटीक उदाहरण है ।

4.3 उपनिवेशवाद का प्रतिकार

आरम्भिक राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीयता के स्वर–संयोजन की दृष्टि स उपनिवेशवाद के प्रतिकारी कथानक को अंगीकार किया । आर्थिक शोषण से मुक्ति, आर्थिक स्वावलम्बन, कुटीर उद्योगों को संरक्षण, हस्तकलाओं के ह्रास का प्रतिकार आदि ऐसे मंतव्य थे जिन्होने दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे सरीखे विचारकों को वैचारिक दृष्टि से पर्याप्त अभिप्रेरित किया । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस राष्ट्रीय चेतना की वाहक संस्था के रूप में स्थापित की गई जिसने उदारवादी कार्यक्रमों को संस्थात्मक आधार उपलब्ध कराया ।

4.4 'स्वराज्य' का संकल्प

स्वराज्य एक नैतिक–राजनीतिक संवेग ही नहीं बल्कि स्पष्ट: रचनात्मक कार्यक्रम के रूप में भी उभरा । लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय तथा बिपिन चंद्र पाल जैसे उग्र राष्ट्रवादी नेताओं व विचारकों ने अपने–अपने ढंग से स्वराज्य को संकल्पित किया; उसे भारतीयता का सामाजिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया; इस दृष्टि से संस्तुति व सांस्कृतिक प्रतीकों आदि की पुनर्व्याख्या की तथा विदेशी उत्पादों के बहिष्कार का प्रवर्तन किया । स्वराज्य और 'स्वाधीनता' सहचर हो गए । यह राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष था ।

4.5 महात्मा गांधी की भूमिका तथा योगदान

महात्मा गांधी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में भारतीयता की पुन: खोज सम्पूर्ण विस्तार पारी है । दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा रचनात्मक कार्यक्रमों के विविध स्तरों पर महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक समग्र दृष्टि तथा व्यापक जनाधार प्रदान किया ।

इस प्रकार आधुनिक सामाजिक–राजनीतिक विचारों का विकास–क्रम जहां एक ओर भारतीयता से अलगाव की विवशता दर्शाता है तो दूसरी ओर उसकी परिपक्वता स्वयं भारतीयता के आत्मसात से सिद्ध होती है । ज्यों–ज्यों यह आत्मसातीकरण बढ़ता गया, राष्ट्रीय चेतना के स्वर प्रबल से प्रबलतर होते चले गए । भारतीय विश्व–दृष्टिकोण की निरन्तरतर तथा प्रासंगिकता का इससे अधिक प्रभावी और कोई न्यायोचित आधार नहीं हो सकता ।

5. निष्कर्ष

पिछली दोनो इकाइयों के अध्ययन से आप यह भली भांति जान सके है कि भारतीय चिन्तन के मूल स्वर प्राचीन व मध्यकालीन संदर्भ में प्राय: अक्षुषण रहे। राजनीति के संदर्भ में अध्यात्मवादी आग्रह, राजधर्म की प्रासंगिकता, शासन का हित–सुखवादी आधार आदि ऐसे प्रसंग थे जो हिन्दू व इस्लामी परिप्रेक्ष्यों को कमोबेश प्रभावित करते रहे । राज्य का साधनात्मक स्वरूप व शासकों की धर्म–साधना इस प्रकार एक अनवरत राजनीतिक चेतना को प्रवाहित करती दिखाई देती है । ब्रिटिश शासन ने इस निरन्तरता को आघात दिया परन्तु राष्ट्रीय चेतना के स्वर–संयोजन के दौरान उन्हीं खोए सूत्रों को फिर से पाने का क्रम शुरू दिया जो उत्तरोत्तर पनपता हुआ महात्मा गांधी में सम्पूर्णत: परिलक्षित हुआ।

6. उद्धरण एवं संदर्भ ग्रन्थ

1. वी. पी. वर्मा, एन्शिएन्ट एण्ड मिडीएवल इंडियन पोलिटिकल थॉट (आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 1986) पृ. 193
2. वही
3. विद्यानिवास मिश्र, 'हिन्दूधर्म की नई पहचान", परंपरा बन्धन नहीं (दिल्ली, राजपाल एण्ड सं., 1976), पृ. 44
4. आनन्द के. कुमारस्वामी, एसेज इन नेशनल आइडिएलिज़्म (नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहर लाल, 1981), पृ. 11
5. अनाम जैतली, इंडियाज पोलिटिकल कल्चर–इन सर्च ऑफ ए फ्रेमवर्क (जयपुर, आलेख पब्लिशर्स, 1991), पृ.45–46
6. वी. आर. मेहता, फाउन्डेशनस ऑफ इंडियन पोलिटिकल थॉट (नई दिल्ली, मनोहर, 1992), पृ. 130
7. वही, पृ. 134
8. वी.पी. वर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 22
9. वही, पृ. 230
10. अनाम जैतसी, पूर्वोक्त, पृ. 42
11. वही, पृ. 44
12. बेनीप्रसाद, दि हिन्दू–मुस्लिम क्वेश्चन (इलाहबाद, किताबिस्तान, 1941) पृ. 16

7. अभ्यास–प्रश्न

1. मध्यकालीन राजनीतिक विचारों के स्वरूप व प्रकृति की चर्चा कीजिए ।
2. बरनी तथा अबुल फजूल के विचारों की तुलना कीजिए । उन्होंने मध्यकालीन भारतीय वैचारिक चरित्र को किस प्रकार प्रभावित किया?
3. मध्यकालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था ने भारतीय समाज को किस प्रकार प्रभावित किया? स्पष्ट कीजिए ।
4. 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचार प्रसंग' विषय पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए ।

इकाई–3
आधुनिक भारतीय सामाजिक–राजनीतिक चिंतन के विविध प्रसंग

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. 'आधुनिक' क्या?
4. 'भारतीयता' का तत्व–विवेचन
5. विषय–क्षेत्र
6. बहुल चिंतन धाराओं का संगम
7. निष्कर्ष
8. संदर्भ–ग्रन्थ
9. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन की व्यापक भावभूमि से अन्तंरगता;
2. 'आधुनिक' एवं 'भारतीय' वैचारिक अस्मिता का तत्व–विवेचन; तथा
3. आधुनिक काल में व्याप्त बहुल प्रभावों एवं चिंतन धाराओं की पारस्परिकता पर बल ।

2. प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन अपेक्षाकृत ऐसा विषय कहा जा सकता है जिसके प्रति विद्वानों की उपेक्षा रही है उपेक्षा इस करण नहीं कि विषय–तत्व अधिकृत रूप में शिथिल रहा हो, बल्कि साम्राज्यवादी वातावरण में, स्वतन्त्रता पूर्व युग में विशेषकर, राष्ट्रीय दृष्टिकोण एवं वस्तुगत विश्लेषण को अनदेखा किया गया। पश्चिमी विद्वानो ने, स्वभाविक था, संवेदना, सहिष्णुता एवं वैचारिक आग्रह की उपेक्षा कर भारतीय चिन्तन के किसी भी परिवेश को हेय माना। फलस्वरूप, जो भी अध्ययन इस संदर्भ में हुए, वे राष्ट्रीय आन्दोलन की धाराओं के सकारात्मक अथवा नकारात्मक दृष्टिकोण चाहे रहे हो, उनमें मूल्यांकन एवं मुक्त विश्लेषण के आधार अनुपस्थित रहे । समय–समय पर जीवन वृत्त प्रधान कृतियाँ लिखी गई; राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल्यांकन किये गये; ऐतिहासिक वृतान्त प्रस्तुत किये गये । परन्तु इन सभी प्रयासों में चिन्तन एवं वैचारिक आधारों को प्राथमिकता नहीं दी गई । विभिन्न शोध–ग्रन्थों के महत्व के बावजूद विषय के सम्बन्ध में विद्यार्थी भी यह निर्णय नहीं ले पाये कि भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन का आधुनिक स्वरूप क्या है?

भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् अवश्य ही इस विषय के प्रति अध्ययन–जिज्ञासा बड़ी एवं अधिकाधिक विद्वानों ने अपने विश्लेषण प्रस्तुत किये । कोई अध्ययन सामयिक संदर्भ से वंचित रह कर उपादेयता–स्तरों को नहीं पा सकता; कोई विश्लेषण वैचारिक–शून्य में जन्म नहीं लेता; कोई मूल्यांकन सामाजिक–आर्थिक राजनैतिक वातावरण से परे नहीं किया जा सकता है । यही कारण है कि भारतीय चिन्तन का जो अध्ययन हम 'आधुनिक' स्तर पर करना चाहते है, उसको समय भारतीय चिन्तन के वृत्त में देखना होगा । प्राचीन, मध्य–युगीन चिन्तन धाराओं को चाहे हम इस समय गहराई से न देखें, परन्तु आधुनिक चिन्तन की भूमिका उन्हीं धाराओं से सम्बद्ध है । आधुनिक भारतीय चिन्तन इस भूमिका से प्रेरित रहा है; परन्तु सामयिक आवश्यकताओं एवं चुनौतियों के समुचित उत्तर एवं निदान खोजते हुए, जो भी चिन्तन–धारायें व्यक्त होती है, उनके व्यवस्थित अध्ययन को ही हम आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन की संज्ञा देते है । तो, यह कथन उपयुक्त होगा कि यह विषय भारतीय चिन्तन की निरन्तरता एवं परिवर्तन का प्रतीक है । निरन्तरता उस वैचारिक प्रक्रिया की जो भारतीय सांस्कृतिक गौरव से प्रेरित होकर बड़ी एवं सम्पूर्ण भारतीय इतिहास के युगों के विकास–क्रम के समानन्तर चलती रही, और वैचारिक प्रक्रिया को आधुनिक युग तक ले आई । इस निरन्तरता में भारतीय चिन्तन की आत्मा विद्यमान है एवं इसकी शक्ति परिवर्तन में देखी जा सकती है । परिवर्तन से तात्पर्य यह है कि युग चाहे कोई भी रहा हो–प्राचीन, मध्य अथवा आधुनिक, वैचारिक प्रक्रिया ने सामयिक संदर्भ के अनुरूप धारा–प्रवाह को जीवित, रचनात्मक एवं अर्थ पूर्ण रखा; किन्हीं पूर्ण–निर्णयों के बंदी न होकर, भारतीय चिन्तन ने परिवर्तन को अनदेखा नहीं किया; समय के परिवर्तनों द्वारा प्रस्तुत परिवर्तित स्थितियों में, भारतीय चिन्तन प्रक्रिया को विकासोन्मुख देखा गया । यही इस विषय में आवश्यक भी था एवं अनिवार्य भी ।

3. 'आधुनिक' क्या?

'आधुनिक शब्द अनेक दृष्टियों से स्वस्पष्ट कहा जा सकता है । फिर भी, आधुनिक कहाँ, कब से आरम्भ होता है, इस विषय में मत–मतान्तर रहे है । वैसे, इतिहास–क्रम को किन्ही कृत्रिम वर्गों में विभक्त नहीं किया जा सकता है । केवल सहज, सुलभ अध्ययन विधि हेतु ही इतिहास का वर्गीकरण करना उपयुक्त होता है; हम कुछ रेखायें खींचकर युगों को इंगित करते है जिससे अध्ययन में सुविधा हो सके । इस प्रकार के कोई वर्गीकरण इतिहास में स्वयमेव नहीं होते; किये जाते है कि । हम भारतीय संदर्भ में 'आधुनिक' कहाँ से माने? इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये गये है । वैसे, सत्रहवीं शताब्दी से भारत में विदेशियों के आगमन एवं भारतीय प्रशासकों के नियन्त्रण की शिथिलता से आरम्भ कर, यदि हम आगे बढ़ें तो स्पष्ट होता है कि भारत में एक युग की समाप्ति एवं एक अन्य युग का आरम्भ होने जा रहा था । शनैः शनैः, ब्रिटिश कम्पनी की प्रभाव–वृद्धि एवं हस्तक्षेपवादी विस्तार योजनाओं की सफलता से, यदि 1857 की राज्य–क्रान्ति तक के इतिहास का अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि भारतीय इतिहास के नवीन युग का प्रारम्भ हो चुका था । तो, अनेक विद्वान सत्रहवीं शताब्दी से भारतीय इतिहास में ही नहीं, शेष विश्व के संदर्भ में भी, नवीन युग का प्रारम्भ मानते है ।

औद्योगिक क्रान्ति, वैचारिक देन एवं राष्ट्रीयता के नये अभियानों ने विश्व को नये मोड़ पर खड़ा कर दिया था एवं व्यापक रूप से इन चुनौतियों ने मध्य–युगीन धाराओं के स्थान पर 'आधुनिक' के विकल्प स्थापित किये ।

दूसरी ओर, एक कीर्तिमान के रूप में, यह भी माना जाता है कि भारतीय संदर्भ में 'आधुनिक' के प्रेरणा–स्रोत राजा राम मोहन राय के विचार–दर्शन में देखे गये । भारत में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के प्रयासों में नव–चिनतन का प्रारम्भ माना गया । यूरोप के पुर्नजागरण एवं पुर्न–स्थापना आन्दोलनों के अनुरूप भारतीय सुधारवादी आयोजनों में 'आधुनिक' का प्रारम्भ माना गया । यूरोपीय संपर्क एवं ब्रिटिश अधिपत्य के सन्दर्भ में जो वैचारिक प्रतिक्रिया हुई उसे समग्र रूप से 'आधुनिक' कहा गया । स्मरणीय है कि इस 'आधुनिक' में भी वैचारिक निरन्तरता एवं परिवर्तन की गरिमा वर्तमान है क्योंकि इसी आधार पर कोई भी चिन्तन, विचार जीवित रह पाता है ।

4. 'भारतीयता' का तत्त्व–विवेचन

'भारतीयता' शब्द यहाँ राष्ट्र का प्रतीक है । सांस्कृतिक तारतम्य एवं भावनात्मक एकता से समीकृत इस शब्द में राष्ट्रीय–स्थायित्व वर्तमान है । हम इस विषय में किसी एक समुदाय, प्रान्त, जाति अथवा इकाई की विचारधारा का अध्ययन नहीं करते । हमारा अध्ययन क्षेत्र उतना ही विस्तृत है जितना हमारा राष्ट्र । हम सम्पूर्ण भारतीय संदर्भ में चिन्तन के विभिन्न प्रकरणों को अवलोन करते है । हम राष्ट्रवाद के समूचे दर्शन का विश्लेषण करना चाहते है न कि उप–राष्ट्रवादी विभक्तियों का यही कारण है कि इस विषय में न केवल भारत के अनेक प्रदेशों में रहने वाले अंग्रेजों, वैचारिक प्रतिक्रियाओं, संस्थाओं एवं विकल्पों को स्थान दिया जाता है, बल्कि सर्वोपरि रूप से केवल वे ही सन्दर्भ उचित माने गये है जो व्यापक रूप से सम्पूर्ण भारत के वैचारिक विकास से सम्बद्ध है । इसी कारण, हम पंजाब, उत्तर–प्रदेश, बंगाल अथवा महाराष्ट्र का चिन्तन न पढ़कर, समूचे भारत के अंग्रजों के चिन्तन का अवलोकन करते है । निर्माणक–इकाइयाँ आवश्यक है; विभिन्न प्रदेशों के वैचारिक प्रकरण मान्य है; विभिन्न संस्थाओं के योगदान को अनदेखा नहीं किया गया; परन्तु इन सभी का औचित्य केवल राष्ट्रीय समग्र संदर्भ में है ।

इस विषय में वैसे तो हम राजनैतिक धाराओं को प्राथमिकता देते है, परन्तु स्वस्थ मूल्यांकन हेतु सामाजिक–आर्थिक परिवेश को हम अनदेखा नहीं करते । हमारे राष्ट्रीय चिन्तन को एवं कर्मठ, अंग्रजों ने जो भी विचार अभिव्यक्त किये है वे मौलिक रूप से चाहे 'राजनीतिक' से प्रेरित ही, उनके 'सामाजिक' एवं 'आर्थिक' सन्दर्भ को भी अनिवार्य माना गया । क्योंकि राजनीतिक अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हो सकता । भारतीय 'व्यवस्था' के सन्दर्भ में हमारा चिन्तन विकसित हुआ है तथा इसी समीकरण का विश्लेषण हमको करना आवश्यक है । राष्ट्रवाद के दर्शन के स्तर पर, आधुनिक भारतीय चिन्तन का औचित्य यही है कि उसमें व्यापक राष्ट्रवादी मूल्यों, आग्रहों, आस्थाओं, विकल्पों एवं रचनात्मकता का अवलोकन किया जाये। इस विषय के व्यवस्थित अध्ययन में हम पायेंगे कि भारतीय अंग्रेजों ने यदि एक ओर

राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं स्वावलम्बन के मूल्य प्रस्तुत किये है तो समाज–धर्म सुधार एवं आर्थिक औद्योगिक प्रगति एवं स्वायत्तता के भी मानक दिये है । यह ठीक है कि प्राथमिकता के क्रम में 'राजनीतिक' सर्वप्रथम रहा परन्तु स्वस्थ, व्यापक एवं समग्र राष्ट्रीय उन्नति हेतु सम्बद्ध क्षेत्रों को समान महत्व दिया गया ।

भारतीय चिन्तन के आधुनिक संदर्भ को हम दर्शन, सिद्धान्तवाद, विचार–धारा–क्या कहें, यह प्रश्न अनेक बार उठाया जाता है । दर्शन तो प्रत्येक विषय का होता है; जीवन का भी होता है । क्योंकि दर्शन में स्रोत वर्तमान होते है । दर्शन व्यापक विचार–चिन्तन, गहन–गूढ़ मीमांसा, सर्वसृष्टि समयबद्ध समस्याओं की मूल खोज है । दर्शन में लौकिक–अलौकिक के अनेक परिवेशों को देखा जाता है; दर्शन में मौलिक, आधारभूत प्रश्नों के निदान की खोज व्याप्त होती है; परन्तु दर्शन में भविष्यवाणी भी हो, आवश्यक नहीं होता । दर्शन मानव–जीवन के विभिन्न पहलुओं के अर्थ एवं औचित्य को व्यक्त करता है । यथासंभव तार्किक विश्लेषण द्वारा, दर्शन में अनुभवों को महत्ता तो दी जाती है परन्तु, प्राथमिक दृष्टि से दर्शन सामान्यीकरण की दिशा में मौलिक प्रयास है । राजनैतिक दर्शन में राजनैतिक संभवानओं, सिद्धान्तों एवं परिकल्पनाओं के विवेकी समन्वय का प्रयास किया जाता है, जिसे आधार बनाकर मर्यादाओं, सम्मतियों एवं ज्ञान का सामान्यीकरण, व्यवस्थित तौर–तरीके से किया जा सके । वास्तव में राजनीतिकदर्शन एक व्यापक अध्ययन है ।

दर्शन के संदर्भ में आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से हमें विशेष उत्साह नहीं प्राप्त होगा । क्योंकि एक परतन्त्रता के वातावरण में यह चिन्तन जनम लेता है एवं दार्शनिक स्तर सदैव पहुँच नहीं पाता । अपवाद स्वरूप कहा जा सकता है कि दयानन्द सरस्वती के विश्लेषणों में; ऐनी–बेसेन्ट की कृतियों में. तिलक के विचारों एवं आदर्शों में एवं अरविन्द घोष की विचार प्रक्रिया में, हम यदा–कदा राजनीति शास्त्र की 'दार्शनिकता' को देख सकते है । सम्पूर्ण रूप से राजनीति–दर्शन की मर्यादाओं का पालन इस विषय में व्यापक नहीं दीखता । दूसरी ओर यदि देखें तो पाते है कि भारतीय चिन्तन राष्ट्रवाद का ही तो दर्शन है । एवं सम्माननीय स्तर पर राष्ट्रवाद के दर्शन से कोई दर्शन महत्वपूर्ण कैसे हो सकता है । राष्ट्रवाद के प्रति चेतना, जागरूकता, प्रयास एवं विशलेषण, अनेक दृष्टिकोणों से, दर्शन के अनुरूप कहे जा सकते है यद्यपि दर्शन की प्रचलित परिभाषा में चाहे उनका अवतरण सम्पूर्ण न हो ।

साथ ही, राजनीतिक दर्शन में प्रथम, राजनीतिक विचारों, विचार धाराओं का व्यवस्थित इतिहास भी विद्यमान होता है; द्वितीय, राजनीतिक मूल्यों मर्यादाओं एवं आदर्शों का समन्वय होता है; तृतीय, राजनीतिक विचारों, सिद्धान्तों एवं सिद्धान्तों के आधार परिलक्षित होते है । इस स्तर पर आधुनिक भारतीय चिन्तन में प्रयास उपलब्ध है । इस चिन्तन की विभिन्न, प्रमुख धाराओं में राजनीतिक दर्शन के इन मानकों को देखा जा सकता है । इन प्रयासों में, हमारे अग्रज चिन्तकों का राष्ट्रवाद एवं स्वावलम्बी–संवेदना वर्तमान है ।

राजनीति: सिद्धान्त में वे कथन व्यवस्थित होते है जिनकी सहायता से तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट किया जा सके । इससे भी व्यापक दृष्टि से, राजनीति–सिद्धान्त

द्वारा राजनीति मूल्यों की विवेचना सम्भव होती है । नियमबद्धता, स्पष्टीकरण, कथन, विकल्प–निर्धारण एवं सुझावों के व्यवस्थापन को भी राजनैतिक चिन्तन में 'सिद्धान्त' स्थापना के प्रयास उजागर नहीं दीखते है परन्तु, उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि सभी अंग्रजों की आकांक्षा तत्कालीन भारत के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की थी । वे चाहे प्रचलित परिभाषा के अनुरूप सिद्धान्त–कथन न दे सके हों, परन्तु परतंत्र भारत में, फिर एक बार कहा जा सकता है, कि राष्ट्रवाद प्रथम संलग्नता थी । स्वतन्त्रता की परिकल्पना को यथार्थ में परिणित करने के सारे प्रयास, त्याग एवं बलिदान औपचारिकताओं से परे सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल थे ।

यही कारण है कि भारतीय चिन्तन में चाहे व्यवस्थित, क्रमबद्ध सिद्धान्त न मिले, अनेक अंग्रेजों ने जो कथन प्रस्तुत किये वे तत्कालीक परिस्थितियों में तो उचित थे ही, आधुनिक संक्रमण में भी उनके औचित्य के प्रति संशय नहीं हो सकता । अस्तु, भारतीय उदारवादियों, मितवादियों ने असीमित प्रगति एवं विकास हेतु संभववादी–संविधानवादी साधनों की राजनीति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया दादा भाई नौरोजी ने भारत में भौतिक एवं नैतिक शोषण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया; विनायक सावरकर ने हिन्दुत्व सिद्धान्त को राजदर्शन का आधार माना; मोहम्मदअली जिन्ना ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त की व्याख्या की; मानवेन्द्रनाथ रॉय ने नवमानववाद सिद्धान्त द्वारा "व्यवस्था खोज" जारी रखी ।

हो सकता है कि पश्चिम के विचारक उपरोक्त वर्गीकरण एवं व्याख्या को अपूर्ण अथवा अमान्य कहें । परन्तु, पश्चिम के चिन्तन में भी वर्क, स्पेन्सर, लास्की आदि अनेक ऐसे विचारक है जिनके विश्लेषण न तो दार्शनिक आधारों पर पूर्ण रूप से खरे उतरते है एवं न ही उनमें राजनैतिक कथन–सिद्धान्त की मर्यादा व्यापक है । फिर भी इन विचारकों के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता । कारण यह है कि उन्होंने जो वैचारिक विश्लेषण किये है उनमें मानवीयता है । ठीक इसी प्रकार इस वाद–विवाद से परे कि आधुनिक भारतीय चिन्तन दर्शन है अथवा सिद्धान्त एवं किस मात्रा में, हम कह सकते है कि सभी भारतीय विचारक निर्धारित प्राथमिकताओं से जूझ रहे थे जो किसी भी परतन्त्र देश के लिए मूल चुनौतियाँ होती है । उन अंग्रेजों का एक–मात्र एवं स्पष्ट गंतव्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता था । इस दिशा में उनकी चुनौती दर्शन अथवा सिद्धान्त कथन न होकर विकल्पों को निर्धारित करती थी, जिनके फलस्वरूप राष्ट्रीय मुक्ति अभियान को सम्बल प्राप्त हो सके । हमारे चिन्तन मौलिक रूप से दर्शन शास्त्री, दार्शनिक अथवा सिद्धान्तवेत्ता नहीं थे । वे कर्मठता के भागीरथ थे जिनके सारे प्रयास नवीन राष्ट्रीय संकल्पों के अर्जन को ही मूल–दायित्व मानते थे । उनके लिये राजनीतिशास्त्र के दर्शन एवं सिद्धान्त के कथन एवं शोध से बढ़कर कार्य यह था कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन में साधन गंतव्य एवं व्यवस्था की स्थापना कैसे हो । भारत में व्याप्त शोषध एवं एकाधिकार की समाप्ति एवं जनजागरण की समान्तर ही उनका लक्ष्य था । हमें भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रीय आवश्यकता केवल ग्रंथ–रचना अथवा सिद्धान्त–निर्वाह में न होकर, विकल्प रूप में भारत के समग्र विकास से सम्बद्ध थी । इसी कारण हमारे विचारक, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिज्ञ

अधिक दीखते हैं, राजनेता अधिक प्रतीत होते है न कि दर्शनशास्त्री अथवा सिद्धान्तविद । हमारी आवश्यकताओं के संदर्भ में ऐसा होना अवश्य ही एक शुभ एवं दूरगामी तथ्य कहा जा सकता है। फलस्वरूप, भारतीय, चिन्तन के आधुनिक युग में हम चाहे व्यापक दृष्टि से दर्शन एवं सिद्धान्त–कथन न पायें, हम इस विषय में सामयिक प्राथमिकताओं के अनुरूप प्रतिक्रियाओं, सुझावों, योजनाओं विकल्पों एवं राष्ट्रीय योगदानों को महत्वपूर्ण समन्वय देख सकते है । यही आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन की आत्मा है ।

5. षय क्षेत्र

ऐतिहासिक परिवेश में देखा जाये तो स्पष्ट होता है कि साम्राज्यवादी प्रशासक के एकाधिकार को इसी चिन्तन ने संलग्न चुनौती दी । शतरंज के मोहरों की बदल ने किसी भी समय भारतीय राजनैतिक स्थिति को यथा–स्थान नहीं रहने दिया । 1958 से ही यदि हम देखें, तो परिवर्तनों से क्रम की गति आश्चर्यजनक कही जा सकती है । इस सन्दर्भ में, किसी भी व्यवस्थित दर्शन अथवा सिद्धान्त–कथन में 'भारतीय समस्याओं के पथ्यउपचार संभव नहीं थे। जैसे–जैसे चुनौतियां उभरी, भारतीय अंग्रेजों ने उनसे मुकाबला किया; जैसे–जैसे चुनौतियों के स्वरूप में परिवर्तन हुए, हमारे अग्रज वैचारिक आपचारिकताओं के बंदी बने न रहकर, कर्मठता के धनी बनने में सफल हुए, जैसे–जैसे प्रशासक की एकाधिकारी कुप्रवृत्तियों में घनत्व आता गया, भारतीय विचारकों के पूर्वाग्रहो में भी मौलिक परिवर्तन हुए । आधुनिक भारतीय चिन्तन प्रतिक्रियाओं को प्राप्त हुआ । परतन्त्रता के वातावरण में एक प्लेटो, एक रूसो, एक मार्क्स मान्य हो सकते है; सार्थकता का तकाजा था कि हमारे चिन्तक सीमाओं को लांघकर वास्तविकता एवं व्यावहारिकता के वातावरण को समझें । उनको यह श्रेय दिया गया है कि उन्होंने चाहे मौलिक सिद्धान्तों की रचना में, दर्शन की व्यापकता में, तात्विक योगदान न भी दिया हो–परन्तु राष्ट्रियता के प्रागंण में उनका प्रत्येक प्रयास उपलब्धि से पूर्ण था ।

हमें आवश्यकता यह नहीं थी कि राज्य सरकार विषयक परिकल्पनायें लिखी जायें; आदर्श सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था का निर्माण किसी ग्रंथ में सम्मान पाये, संप्रभुता, दायित्व, कानून, न्याय, अधिकार, संविधान आदि के सैद्धान्तिक ब्यौरे अधिकृत माननीयता प्राप्त करें– हमारी आवश्यकता यह थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन को जागरूक नेतृत्व, प्रोत्साहन, गति एवं रचनात्मकता प्राप्त हो । वैसा तभी हो सका जब हमारे चिन्तक क्षणिक उपलब्धियों के जाल को भंयकर वास्तविकता एवं व्यावहारिकता से जूझे एवं आगामी संभावनाओं के विकल्प प्रस्तुत कर सके । आत्म–बोझ, मुक्ति, स्वायत्तता समाजधर्म सुधार, आत्म–सम्मान, आत्म–विश्वास, आत्म–निर्भरता एवं कर्मठ राष्ट्रवाद की चुनौतियों का अन्य कोई विकल्प हो भी नहीं सकता था।

"हमारे चिन्तकों को केवल राष्ट्रीय प्रगति के राजनैतिक परिवेश को ही नहीं सुलझाना था । व्याप्त रूढ़िवादिता, धर्मान्धता, प्रतिक्रियावाद, एवं हीनभावना के वातावरण में उनका प्रत्येक प्रयास सम्पूर्ण समाज को, जिज्ञासा, जागरूकता एवं संलग्नता की दृष्टि से, गतिशील, सजीव बनाना था । अध्ययन से स्वत; स्पष्ट हो जाता है कि हमारे अंग्रेजों ने कितने सहज, सुचारू ढंग से इस दायित्व को निभाया । उनका संघर्ष एक सकारात्मक, रचनात्मक विरोध बना;

उन्होंने एकाकी राष्ट्रवाद को हेय मानकर, वास्तविकता एवं यथार्थ सम्बद्ध राष्ट्रवादी दायित्वों के निदान खोजे । तथा; इसी में आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन के वृहत् वृत्त को समझा जा सकता है ।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय को क्षेत्र व्यापक है । सुविधा हेतु कहा जा सकता है कि भारतीय धर्म–समाज सुधार क्रान्ति के प्रयासों से जो पुर्नजागरण एवं पुर्नस्थापना का युग प्रारम्भ हुआ, वही से हम इस विषय का प्रारम्भ मान सकते है । भारत में विदेशियों के आगमन, सम्पर्क एवं प्रभावी से शुरू कर हम वर्तमान तक आते है तो इस विषय की विभिन्न धारायें अवतरित होती दीखती है । पश्चिमी सम्पर्क ने हमें मध्य–युगीन तन्द्रा से निकाला, विकास एवं प्रगति के नये मोड़ हमें दिख सके, वैचारिक, सैद्धान्तिक, संस्थागत प्रकरण हमें सुषुप्तावस्था से निकाल सकने में सफल हुए, एक नवीन युग इस देश की अगवानी कर रहा था । यदि हमारा उत्तर यथोचित बन सका, यह श्रेय इन्ही भारतीय अंग्रेजों को है । सम्पूर्ण ब्रिटिश–युग एवं स्वतन्त्रता के ये वर्ष, इस विषय का क्षेत्र है, पाठय–सामग्री है । यथा–संभव वस्तुगत अध्ययन से कहा जा सकता है कि जो भी विश्लेषण उपलब्ध है वे आवश्यक अवश्य है, परन्तु विषय की पर्याप्तता अब भी हम से कोसों दूर हैं । कारण स्पष्ट है कि लगभग तीन शताब्दियों के प्रयासों का चिन्तन यद्यपि अत्यन्त महत्व का तो है परन्तु शायद विश्लेषक अभी भी उसके इतने निकट है कि पूर्ण–संतोषप्रद व्याख्या संभव नहीं हो पाई है । आगामी वर्ष, आशा की जा सकती है, अवश्य ही इस दिशा में अपेक्षाकृत अर्जित कर पायेंगे ।

इस विषय के क्षेत्र एवं अध्ययन–वृत्त निर्धारण करते समय एक अन्य पहलू भी आवश्यक है । भारतीय चिन्तन के अध्ययन को मात्र राष्ट्रीय मुक्ति–आन्दोलन का इतिहास अथवा संवैधानिक विकास की व्याख्या मानना अवश्य ही घातक हो सकता है । राष्ट्रीय आन्दोलन का अपना स्थान एवं महत्व है, संवैधानिक विकास इन्ही प्रयासों की उपलब्धि एवं प्रमाण है । दोनों प्रक्रियायें परिपूरक समीकरण बनाती चली । परन्तु यही भारतीय चिन्तन नहीं। भारतीय चिन्तन से दोनों प्रक्रियाओं को प्रेरणा प्राप्त हुई, गंतव्य निर्धारण हो सका, पथ्य–विकल्प स्पष्ट हुए–यह तो कहा जा सकता है । इससे भी आवश्यक तत्व यह था कि भारतीय चिन्तन राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक–विकास के वातावरण में तो हुआ परन्तु उसकी निहित प्रतिक्रिया में हम भारतीय अंग्रेजों की सृजनात्मकता, दूरदर्शिता एवं साहस को फलीभूत होते देखते है । सफलता–असफलता से परे, भारतीय चिन्तन में राष्ट्रीय प्रयासों की इस अनुपम खोज को अनेक स्वरूपों में देखा जा सकता है ।

6. बहुल चिंतन धाराओं का संगम

इस विविध स्वरूपों को इस विषय की विभिन्न धाराओं से परखा जा सकता है । स्पष्टीकरण आवश्यक है कि मौलिक रूप से हमारे देश में किसी चिन्तन संकाय का निर्माण नहीं किया गया । किसी धारा के अनुगामियों ने चिन्तन–क्रिया विशेष का स्वयंमेव वर्गीकरण नहीं किया । केवल विश्लेषण की सुविधा हेतु समस्त चिन्तकों के वैचारिक योगदान को यथा संभव इंगित धाराओं में रखा जाता है । यह केवल सुविधामात्र है न कि चिन्तकों को प्रस्तुत विचार–

प्रक्रिया से इंगित तो किया जा सकता है, परन्तु विचारकों की प्रतिक्रिया–स्वायत्तता को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता । उदाहरणार्थ रानाडे, दादाभाई नौरोजी, गोखले सुरेन्द्रनाथ, फीरोजशाह, श्रीनिवास शास्त्री –यद्पि सभी भारतीय उदारवादी मितवादी धारा में तो आते हैं, परन्तु इन सभी के अनेक विचारों में मौलिक अन्तर भी देखे जा सकते है । अस्तु मितवादियों में अतिमितवादी फीरोजशाह मेहता कहे जा सकते है, रानाडे एक संयत विवेकी उदारवादी थे, दादाभाई नौरोजी उदारवादी होने के बावजूद, स्वराज, स्वदेशी एवं धर्मनिरपेक्षता के जनक थे, सुरेन्द्रनाथ उदारवादी थे परन्तु 1905 के बंग–विभाजन आन्दोलन के दौरान उनके विचारों में उग्रता देखी जा सकती है, इसी प्रकार गोखले ने 1905 में, सीमित रूप से एवं विशेष परिस्थितियों के कारण, बंगाल में उग्रविरोध का समर्थन किया, इसी प्रकार, उन्होंने काफी हद तक मोहनदास करमचन्द गांधी के दक्षिण–अफ्रीका आन्दोलन का पूर्ण–समर्थन किया, यद्पि यह आन्दोलन सविनय–अवज्ञा, उग्र–विरोध तथा बहिष्कार से परिपूरित था । ठीक इसी प्रकार, उग्रवादी धारा । अमितवादी चिन्तन की त्रिमूर्ति: लाजपतराय, बालगंगाधर विपितिलिक एवं पनचन्द्र पाल, के सभी दशाओं में समान विचार नहीं रहा लाजपतराय का निकट सम्बन्ध एवं सौजन्य उदारवादियों को सदा प्राप्त रहा । वे अपने जीवनकाल में इतनी संस्थाओं एवं विचार–प्रक्रियाओं से सबद्ध दीखते है कि कई बार सामान्य विश्लेषक उनके बारे में असंयत निर्णय दे सकते है । अस्तु, अमितवादी के रूप में भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रेरक बनकर, आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्ता के स्तर पर, हिन्दू महासभा के समर्थन के रूप में, समाजवादी धारा के संलग्न प्रशंसक की हैसियत से उदाहरणार्थ कुछ ऐसे परिवेश है जिनसे लाजपतराय के व्यक्तित्व की विलक्षण विविधता को परखा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार अनेक उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करने हेतु दिये जा सकते है कि हमारे चिन्तक, मात्र विचार धारा के बंदी न होकर, सामयिक अवसरों एवं चुनौतियों को अनदेखा नहीं करते थे । राष्ट्रीय सेवा के प्रत्येक अवसर को प्रत्येक मंच को, प्रत्येक आग्रह को–वे अपनी सम्मति के अनुरूप मुखरित करना चाहते थे–करना जानते थे । इसी कारण इन सभी चिन्तकों को नीर–क्षी विवेकी विचारक कहा गया है ।

उपरोक्त संदर्भ में आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन की विभिन्न धाराओं का अवलोकन सार्थक होगा । सर्वप्रथम–हम धर्म–समाज सुधार के चिन्तकों को लेते हैं । इस धारा के प्रमुख चिन्तक ब्रह्म–समाज के राममोहनरॉय, आर्य–समाज के दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण मिशन के विवेकानन्द, एवं, थियोसॉफिकल सभा की डा. ऐनी बेसेन्ट हैं । इनका चिन्तन भारतीय पुर्नजागरण एवं सुधारवाद का प्रतीक एवं प्रमाण है । आवश्यक तत्व है कि भारत में राजनैतिक मुक्ति से पूर्व, धर्म एवं समाज के मौलिक कायाकल्प की परिकल्पना को इन विचारकों–एवं उनके समर्थकों ने–व्यवहारिकता में परिणित किया । स्मरणीय है कि वैचारिक क्षमता एवं प्रभाववृद्धि हेतु इन सभी विचारकों ने संस्थाओं के माध्यम को अपनाया । यह सिद्ध करता है कि न केवल यह विचारक अपने मूल्यों एवं सिद्धान्तों के धनी थे, प्राथमिक रूप से वे संस्थागत प्रयासों की गहराई से भी परिचित थे । यह कथन भ्रान्तिवर्धक हैं कि इनमें से किसी

ने भी किसी नवीन धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थापना का प्रतिपादन किया । उनका प्रयास केवल धर्म के नाम पर प्रचलित आडम्बर, रूढ़िवादिता, संकीर्णता एवं विघटन को समाप्त कर एक सहज पुर्नकथन मात्र देना था जिससे धर्म की औपचारिक जटिलताओं से परे धर्म व्यक्ति के निकट लाया जा सके । इसी प्रकार समाज में व्याप्त अव्यवस्था, शिथिलता एवं विशेषाधिकारो के प्रपंच से मुक्ति पाकर वे सुधारक एक सजग, जिज्ञासु एवं रचनात्मक समाज की स्थापना करना चाहते थे । उनके चिन्तन की विभिन्नता के बावजूद, उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था । अस्तु प्रथम धारा में हम धर्म–समाज सुधार के उन प्रवर्तकों को चिन्तन देखते है जो सुधार के माध्यम से एक मौलिक क्रान्ति की अपेक्षा करते थे, जो इतने दूरगामी थे कि राजनैतिक मुक्ति से पूर्व धर्म–समाज स्वायत्ता को कही अधिक महत्व देते थे । वे चाहे स्वयं राजनैतिक विषयों पर अधिक न बोले हो अधिक व्याख्या न की हो–परन्तु स्पष्ट है कि उनकी सम्मति में व्यावहारिकता का तकाजा यह था कि प्रथम, राष्ट्रीय जनजागरण समाज धर्म के स्तर पर किया जाये, द्वितीय, यदि यह सम्भव हो सके तो अवश्य ही राजनैतिक आन्दोलन के सभी प्रयासों को नव–शक्ति एवं प्रेरणा दी जा सकती है । धर्म एवं समाज के मुक्त कीर्तिमानों को व्यक्त कर इन सुधारवादियों ने भारतीय चिन्तन के राजनैतिक परिवेश को सम्पूर्णतया प्रदान की । इस समीकरण में इस विचारधारा को दूरगामी कहा जा सकता है क्योंकि हमारे अपने भारत में हम कहां तक समाज धर्म के शुद्ध कीर्तिमान उपलब्ध कर पाये है, वादविवाद का विषय हो सकता है, परन्तु निर्णायक तत्व कितने प्राप्त होते है, इसमें संशय है । इस विचार धारा के सामयिक औचित्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता एवं यही कारण है कि प्रमुख रूप से "राजनैतिक" न होते हुए भी, यह धारा भारतीय राजनैतिक चिन्तन की कसौटी कही गई है । राजनैतिक उत्तरदायित्वों की उपलब्धि से पूर्व, इस धारा के चिन्तकों की अपेक्षा थी कि भारतीय, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में सक्षम बनें, लोकतन्त्र एवं न्यायिक–समानता के समग्र स्तर पर व्यक्ति की गरिमा को पुर्नस्थापित करें ।

अस्तु, संक्षेप में इस धारा के प्रमुख निर्माणको के विश्लेषण से कहा जा सकता है कि विविधता के बावजूद सभी चिन्तक राष्ट्रीय उन्नति के वृहत् संदर्भ में अपने औचित्य प्रस्तुत कर रहे थे । उदाहरणार्थ: राममोहन राय ने एकेश्वरवाद, मानववाद, व्यापक सामाजिक अवसर उपलब्धि, सामाजिक न्याय एवं संतुलित प्रशासनिक व्यवस्था को अपने चिन्तन का आधार बनाया । उन्होंने ब्रहम–समाज के माध्यम से एक गतिशील समाज एवं व्यवस्था के प्रयास किये। उनका विरोधवाद न केवल अभय का प्रतिक था, उसमें उनकी शुद्ध, विवेकी संवेदना जीवित थी।

इसी प्रकार, दयानन्द सरस्वती ने व्याप्त सांस्कृतिक हीनभावना का विरोध करते हुए, भारतीय पुरातन गौरव एवं गरिमा का शुद्धिकरण एवं सरलीकरण किया । धर्म की परित्यक्त को उन्होंने विवेक द्वारा प्रतिष्ठित किया । राष्ट्रीय व्यक्तित्व में, उनके प्रयासों द्वारा, स्वाभिमानी मूल्यों की स्थापना संभव हो सकी । यदि उन्होंने 'वेदों को लौट चलो' आवाहन दिया तो एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की संरचना भी प्रस्तुत की जिसमें समानता, मुक्ति, न्याय एवं संतुलन

का प्राघान्य था । पार्थक्य के विघटन के स्थान पर, दयानन्द सरस्वती ने एक सबल, सक्षम समाज की प्राथमिकता दी । पुरतन की उपलब्धियों एवं संकुचित प्रतिक्रियावाद के अन्तर को स्पष्ट कर दयानन्द ने आत्म–विश्वास एवं राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के अनुकूल जो प्रयास किये उनका प्रसार आर्य–समाज की उपलब्धियों से आंका जा सकता है ।

इसी प्रकार विवेकानन्द ने भी आध्यात्मिक एवं वेदान्त की जटिलताओं का सरलीकरण कर उनके राष्ट्रीय संदर्भ को उभारा । एकाकी रूप से भारतीय अथवा विदेशी सांस्कृतिक उपलब्धियों की हिमायत न कर, उन्होंने व्यापक विशिष्टताओं एवं योगदान के समन्वय में ही, व्यावहारिक राष्ट्रीय विकास एवं उन्नति को सम्बल दिया । उन्होंने दयानन्द की ही भांति अभयपूर्ण निर्भीक राष्ट्रवाद को स्थापित किया जिसके अन्तराल में स्वाभिमान, त्याग विवेक एवं न्याय के व्यापक आधार देख जा सकते है । विवेकानन्द ने जिस सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व की स्थापना का आहवान किया वह समन्वय एवं रचनात्मकता का प्रतीक एवं प्रमाण है । उनके चिन्तन में कर्मठ–संलग्नता बसी हुई है । वे न केवल एक सशक्त राष्ट्रवाद के सर्जक है बल्कि उनके चिन्तन में प्रत्येक व्यक्ति, मानव–समाज के स्तर पर, की असीमित उन्नति का भी बोध होता है । इसी कारण, विश्व–बंधुत्व से साकार मानकर उन्होंने अपने चिन्तन को राष्ट्रवादी संकीर्णता की परिधियों से मुक्त किया । विवेकानन्द के चिन्तन में किसी भी प्रकार का प्रति–क्रियावाद असह्य है । रामकृष्ण मिशन के विविध सेवा–एवं कल्याणकारी योजनाओं में विवेकानन्द के चिन्तन एवं संस्थागत प्रस्तावों की ऊर्जा को देखा जा सकता है ।

ऐसे ही, थियोसॉफिकल–सभा के माध्यम से ऐनी बेसेन्ट ने, विदेशी होने के बावजूद, भारतीय संस्कृति के गौरव एवं क्षमता में विश्व–कल्याण एवं न्याय के स्रोत देखे । वे एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना में रुचि रखती थी जो शोषण, प्रतिशोध, एकाधिकार एवं आडम्बर से मुक्त हो । अनेक पहलुओं से विस्मयपूर्ण एवं गोपनीय होने पर भी, थियोसॉफिकल–सभा के सिद्धान्तों द्वारा, वे सजग राष्ट्रवाद की प्रेरक बन सकीं । उनकी सम्मति में समाज, धर्म एवं प्रशासन के कायाकल्प द्वारा अभिनव राष्ट्रवाद की सक्षम गरिमा को पुर्नस्थापित करना संभव था ।

इस प्रकार, विविधता के बावजूद, भारतीय चिन्तन की प्रथम धारा में हम वृहद एवं व्यापक सामाजिक–धार्मिक सुधार योजनाओं को परिलक्षित होते तो देखते ही है, उन प्रयासों में गंतव्यनिर्धारण भी स्पष्ट है ।

दूसरी विचार–धारा में भारतीय मितवादी/उदारवादी आते है । प्रमुख रूप से, महादेव गोविन्द रानाडे, दादाभाई नौरेजी, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले एवं श्रीनिवास शास्त्री आदि इस धारा के प्रमुख सर्जक रहे है । जैसा हम पूर्व–विश्लेषण में देख चुके है, इस वर्गीकरण के बावजूद, वे सभी चिन्तक कर्मठता से प्रेरित थे कि नितान्त दार्शनिक अथवा सैद्धान्तिकता के प्रहरी हो । उनमें से प्रत्येक विचारक नीर–क्षीर विवेकावाद का समर्थक था । वैसे, आधार–रूप से, उदारवादी चिन्तन' धारा ने विरोधवाद को, संभववाद, संविधानवाद, प्रयासों की असीमितता एवं जनकल्याण की व्यापकता, सर्व–क्षेत्र मुक्ति, सहिष्णुता, धर्म–निरपेक्षता, व्यक्तिगत महत्ता एवं आगामी प्रगती की स्वचालित क्षमता से जोड़ कर, भारतीय

चिन्तन को रचनात्मक विकल्प दिये । प्रशासनिक एवं संवैधानिक विकास मत–मतान्तर के प्रति संवेदना, आर्थिक–औद्योगिक प्रगति, रचनात्मक सामुदायिक व्यवस्था निर्माण एवं द्ररिद्र–नारायण की सार्वभौमिकता–वे मूल्य है जो भारतीय उदारवादी चिन्तन को मौलिकता एवं प्रतिष्ठा दे सके।

भारतीय उदारवाद, राजनैतिक दृष्टि से, स्वशासन एवं स्वालम्बन, स्वप्रयास, स्वनिर्णय, प्रशासनिक सुधार एवं संवैधानिक विकास एवं भारतीयकरण की वास्तविक उपलब्धियों का हामी था । सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टि से, समन्वय–सहिष्णुता, न्याय, अवसर–निर्धारण, विविधता में एकता, प्रयास संबद्धता एवं सजग राष्ट्रीय चेतना का हामी था । आर्थिक–औद्योगिक दृष्टि से, स्वावलम्बन, उत्पादन क्षमता वृद्धि एवं व्यवाहारिक योजनाओं की हामी था । अवसवाद, पलायनवाद, भिक्षावृत्ति एवं अकर्मण्यता के जो आरोप, भारतीय उदारवादी चिन्तकों पर लगाये जाने है वे उचित है अथवा अनुचित, इस निर्णय को लेने से पूर्ण सम्पूर्ण विचार–धारा की वस्तुगत व्याख्या आवश्यक है । उदारवादी चिन्तन के विकल्प एवं विरोधवास रचनात्मकता से संबद्ध न कि असंभव, भावना–प्रवाह के प्रति फल । व्यवस्था की अनवरत खोज में, भारतीय उत्तरवादी चिन्तकों ने प्राथमिक गरिमा को सराहा तथा किन्हीं भी परिस्थितियों में स्वस्थ, सृजनात्मक आशावाद को अनदेखा नहीं किया । सामयिक संदर्भ में यह विचारधारा अवश्य ही विरोधवाद का एक नव–विकल्प प्रस्तुत करने में सफल हुई ।

तीसरी विचारधारा भारतीय उग्रवादियों की मानी जाती है । भारतीय उदारवादियों के प्रयासों से अपेक्षाकृत असंतुष्ट होने के कारण, एवं ब्रिटिश प्रशासक की तथाकथित न्याय–प्रियता को प्रवन्चन मात्र मानकर, भारतीय उग्रवादी/अमितवादी चिन्तकों ने विकल्प दिये उनमें राष्ट्रवादी–संलग्नता को मुखरित होते देखा । इस धारा के प्रमुख स्तम्भ, लाजपतरॉय, बालगंगाधर तिलक एवं विपिनचन्द्र पाल कहे जाते है । कई विचारक अरविन्द घोष को भी इसी धारा के प्रवर्तक के रूप में मानते है । राजनीतिक जीवन के कुछ वर्षों तक तो यह सत्य था, परन्तु 1911 के पश्चात् अरविन्द घोष में जो वैचारिक परिवर्तन देखे गये, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे प्रारम्भ में चाहे अमितवादी । उग्रवादी धारा से प्रेरित रहे हो, परन्तु अन्ततोगत्वा वे समन्वयवादी–विवेकी धारा के अग्रज थे । अस्तु, भारतीय उग्रवादी चिन्तन धारा में हम राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक आधारों में विश्वास देखते है । स्वावलम्बन, स्वाभिमान एवं स्वचालित सामुदायिक व्यक्तिक के मूल्यों को स्वराज, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार एवं निरन्तर विरोध में पारिणित होते देखा जा सकता है । नौकरशाही एवं साम्राज्यवादी अतिक्रमण के सतत् विरोध में जन्म लेकर, भारतीय उग्रवाद की आस्थायें अनुशासित राष्ट्रीय विकास के अनवरत यर्थाथा में थी; उग्रवादी चिन्तन गंतव्य बनाम साधन के प्रपन्च में न बन्धकर, गंतव्य प्राप्ति को प्राथमिक मानता था । ऐसा नहीं की इस धारा में साधनों एवं माध्यमों का निर्धारण न किया गया हो: बहिष्कार, अनवरत विरोध, अवज्ञा सभी मान्य साधन थे, परन्तु अमितवादी उग्रवादी चिन्तक इन साधनों से मर्यादित रहे हो ऐसा नहीं था । उनकी सम्मति में गंतव्य प्राप्ति हेतु सभी प्रयास उचित थे यद्यपि प्रमुख विचारकों ने हिंसा एवं प्रतिशोध का प्रत्यक्ष, आवाहन नहीं किया । हाँ उनकी निर्भीकता एवं व्यय–विचारधारा ने अवश्य ही भारतीय

क्रान्तिकारियों एवं अतिउग्रवादी–राष्ट्रवादीयो को प्रेरणा प्रदान की । ब्रिटिश अनुकम्पा, संरक्षण एवं सौजन्य को हेय मानकर, उग्रवादी चिन्तकों ने राष्ट्रीय प्रयासों को नीवन आयाम दिये । स्मरणीय है कि अधिकांश उग्रवादी समाज सुधार बनाम राजनैतिक विकास के संवाद को राजनैतिक सुधार एवं, स्वायत्तता की कसौटी पर खरा उतारना चाहते थे वे अंग्रेजी के संरक्षण में निर्धारित समाज–सुधार को अपमान समझते थे एवं इसी धारणा को लेकर अनेक बार उन पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप भी लगाया जाता है । वैसे, यह आरोप उचित नहीं । यदि भारतीय उदारवादी चिन्तकों ने संभववाद–संविधानवाद में राष्ट्रीय उत्कर्ष को परिलक्षित करना चाहा तो उग्रवादी चिन्तकों ने वयग्र, तत्काल राजनीति तथा स्वावलम्बन को सम्बल दे, भारतीय चिन्तन में एक नव–विकल्प प्रस्तुत किया । स्मरणीय है कि आगामी युग में किस व्यवहारिक–परिपक्वता से, मोहनदास करमचन्द गाँधी ने इन दोनों ही कि चिन्तन–धाराओं में सामयिक तत्वों का समन्वय कर, भारतीय क्रान्ति को मर्यादित दिशा प्रदान की ।

भारतीय चिन्तन की चौथी धारा में हम राजनीति एवं धर्म को समाहित पाते है । उदारवाद की अपर्याप्तता एवं उग्रवाद की धीमी प्रगति से अनेक विचारक असन्तुष्ट थे । वे ऐसा माने थे कि ब्रिटिश एकाधिकार की समाप्ति हेतु केवल राजनैतिक प्रयासों से काम नहीं चल सकता; फल प्राप्ति हेतु सांस्कृतिक आधारों का स्पष्टीकरण आवश्यक है एवं पुरातन की गरिमा को प्रतिष्ठित कर, धर्म एवं आध्यात्मिकता के प्राधिकार के सौजन्य से राष्ट्रीय व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण होना चाहिये । दो प्रमुख धर्म एवं जातियाँ होने के नाते, हिन्दू एवं मुसलमान, दोनों ही ब्रिटिश शोषण के विकल्प खोजने लगे । फलस्वरूप, हिन्दू ने अपने सांस्कृतिक वृत्त में, एवं मुसलमान ने अपने सांस्कृतिक आधारों पर, राष्ट्रीय समस्याओं के निदान एवं पथ्योचार प्रस्तुत किये । राजनीति एवं धर्म विषयक संवाद, विवाद, अनिश्चय–जो भी कहें, उनसे परे, दोनों ही उपधाराओं में हम देखते है कि राजनीति को धर्म, जाति, संस्कृति, सम्प्रदाय के नजरिये से परखा जाने लगा । औचित्य अनौचित्य निर्धारण से परे, आवश्यक तत्व वह है कि इस प्रकार के चिन्तन में सुषुप्त शुद्धि एवं संवेदना चाहे जो भी रही हो, व्यावहारिक स्तर पर साम्प्रदायिक राजनीतिक को बढ़ावा मिला । विदेशी प्रशासक के "राष्ट्रवादियों का विघटन करो–फूट डालो एवं साम्राज्य की नींव पक्की करो", सिद्धान्त को स्वत: ही बल मिला । भावनात्मक एकता, राष्ट्रीय संगठन एवं सहिष्णुता के पराभव में पार्थक्य, अविश्वास एवं अस्तित्व–संरक्षण के प्रयासों को बढ़ावा मिला । कालान्तर में राष्ट्रीय–समग्रता का स्थान द्वि–राष्ट्र' योजना ने लिया एवं भारतीय उपमहाद्वीप की समस्या का चाहे निपटारा हो गया हो–आरोपित किया गया हो कोई स्थाई, औचित्यपूर्ण हल नहीं प्राप्त किया जा सका । अस्तु, हिन्दू चिन्तकों में विनायक दामोदर सारवकर के 'हिन्दुत्व' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया । इसी प्रकार, इस्लाम के संरक्षण की औपचारिकता में सैयद अहमदखाँ, मोहम्मद इकबाल एवं मोहम्मद अली जिन्ना ने राष्ट्रीय–समग्रता को तिलांजलि दे, मुस्लिम अस्तिव संरक्षण के निदान प्रस्तुत किये ।

भारतीय चिन्तन की पांचवी धारा में राष्ट्रवादियों के समन्वय एवं विवेकी सामन्जस्य को देखा जा सकता है । जागरूक राष्ट्रवाद, संगठित सामाजिक शक्ति एवं सुक्षम विरोध के इन

प्रहरियों में अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू एवं गाँधी के योगदान बहुचर्चित है । वैसे, इन चिन्तकों ने जो विचार–प्रक्रिया प्रस्तुत की उसके आधार पर उन्हें अन्य धाराओं में भी रखा जा सकता है । अरविन्द घोष के विषय में हम देख चुके है । रवीद्रनाथ ठाकुर तो विवेकानन्द की भांति एक मुक्ति, स्वचालित समाज के हामी थे । एकाकी राष्ट्रवाद की उनकी सम्मति में कोई महत्व नहीं था । वृहत् मानव–प्रगति एवं विश्व–बंधुत्व को उन्होंने प्राथमिक कहा । एक कलाकार, सर्जक होने के नाते उन्होने 'व्यक्ति' की गरिमा को साध्य माना । पूर्व एवं पश्चिम के कृत्रिम पार्थक्य अथवा अलगाव में नहीं, वरन् प्रभाव वर्धक समन्वय में, उन्होंने भारतीय आन्दोलन की पूर्वाकांक्षाओं की सम्पूर्ति माना । इसी प्रकार, जवाहरलाल नेहरू के चिन्तन में आधुनिकीकरण, श्रेष्ठताओं के समन्वय, अनवरत राष्ट्रीय प्रगति, धर्म–निरपेक्षवाद, लोकतांत्रिक–समाजवाद, सहिष्णु राष्ट्रवाद एवं विश्व–बंधुत्व, जिज्ञासु जागरूक नागरिकता तथा संगठन के विशिष्ठ मूल्यों को देखा जा सकता है । ये सभी विचारक पैसे तो राष्ट्रीय प्रगति के संरक्षक थे, परन्तु उनके दूरगामी मूल्यों में सकीर्णता, आडम्बर, आवरणयुक्त औपचारिकता, दुराग्रह पार्थक्य का कोई स्थान नहीं था ।

भारतीय चिन्तन की छठी धारा के अन्तर्गत हम अभिनव विचार प्रक्रिया को देखते है । यथामानववाद, समाजवाद एवं सर्वोदय के संरक्षकों के चिन्तन का अवलोकन किया जाता है । जैसे मानवेन्द्रनाथ रॉय का नवमानववाद अभिनव मानववाद वैज्ञानिक मानववाद, गाँधी, विनोबा एवं जयप्रकाशनाराण का सर्वोदयवाद एवं तत्सम्बन्धी वैज्ञानिक प्रभावों की परिणति । यह ठीक है कि इस धारा में एक अनुपम समन्वय को देखा जा सकता है तथापि सभी उपधारायें किसी भी विदेशी प्रतिधारा की प्रतिलिपि मात्र नहीं है । वैचारिक मौलिकता चाहे शत–प्रतिशत न हो, परन्तु व्याख्या एवं विश्लेषण का उक्त स्वरूप अवश्य ही इस धारा में देखा जा सकता है । मानवेन्द्र रॉय प्राथमिक वर्षों में संलग्न मार्क्सवादी थे परन्तु किसी कृत्रिम औपचारिकता के बंदी बने रहना उनके लिये असह्य हो गया । फलस्वरूप उनका वैचारिक संक्रमण पनपा जिसमें वे मार्क्सवाद की भौतिकता के कटु आलोचक बने एवं भारतीय परिवेश में वैचारिक आग्रह प्रस्तुत कर सके । ठीक इसी प्रकार मार्क्सवाद से प्रभावित होने के बावजूद, भारतीय समाजवादी धारा के अग्रज होने के बावजूद, जयप्रकाश नारायण एक अनन्य मानववादी के रूप में संक्रमण कर सके। गाँधी के प्रभाव एवं विनोबा के सौजन्य से, वे उपयोगितावादी मात्रात्मकता को हेय मानकर, सर्वजनकल्याण हेतु सर्वोदय चिन्तन के हामी बन सके । गाँधी के अनुगामी होने के नाते विनोबा ने एक नवीन वैचारिक एवं व्यावहारिक विकल्प प्रस्तुत किया है जो, मत–मतान्तर के बावजूद, अपने आप में व्यक्ति की गरिमा के प्रति आमुख है ।

इस प्रकार, केवल सहज अध्ययन हेतु हम भारतीय चिन्तन के आधुनिक प्रकरण का वर्गीकरण तो कर सकते है, परन्तु स्मरणीय तथ्य यह है कि कोई भी धारा उपधारा एकांकी रूप से पर्याप्त अथवा स्वावलम्बी नहीं हो सकती । व्यापक राष्ट्रीय संदर्भ में, सभी धाराओं उप–धाराओं के प्रयास निदान एवं विकल्प आवश्यक हो जाते है । अन्तर यह है कि सभी धाराओं की समग्रता में ही आधुनिक भारतीय चिन्तन को पहचाना जा सकता है । भारतीय राष्ट्रवादी चिन्तन में, परिपूरक स्तर पर, सभी धाराओं उपधाराओं के योगदान का मूल्यांकन आवश्यक है ।

प्रेरणा–स्रोत के स्तर पर, विकल्पों की स्वस्थ योजना के रूप में, निर्माण एवं प्रगति के प्रसाधनों की दृष्टि से, अनेक शिथिलताओं के बावजूद, सभी धाराओं ने प्रयासों की संलग्नता को प्रमाणित किया ।

7. निष्कर्ष

भारतीय चिन्तन के विकास क्रम के अध्ययन से हम देखते हैं कि पश्चिमी सम्पर्क एवं सम्बन्ध के फलस्वरूप अनेक प्रकार के प्रभाव इसकी विपिन धाराओं उपधाराओं पर पड़े । सर्वप्रथम हमें संदर्भ को देखना चाहिये । इस देश में प्रशासनिक एवं राजनैतिक दृष्टि से साम्राज्यवादी जड़ता व्याप्त थी, सांस्कृतिक, आर्थिक–औद्योगिक एवं विकास क्षेत्रों में पराभव के लक्षण स्पष्ट थे । इस परिस्थिति में पश्चिमी सम्पर्क एवं सम्बन्ध से जो परिचय भारत का हो सका, उसके फलस्वरूप नवीन विकल्पों को जन्म मिला, भारतीय पुरातन गौरव एवं गरिमा की भूमिका में हमारे चिन्तकों ने पश्चिम की प्रभावधारा में से विवेदी चुनाव–संकलन किये । आधुनिकीकरण एवं प्रगति के आधार पर, हमारे चिन्तकों ने वैचारिक, सैद्धान्तिक एवं संस्थागत से, पश्चिमी प्रभावों की व्याख्या की । पुरातन एवं अभिनव के साथ–साथ, कहीं पुरातन पर आधिक्य दिया गया एवं कहीं पश्चिमीकरण की आवाज भी उठी । जो भी रहा हो एक नवीन जिज्ञासा का जन्म हुआ जिसके कारण भारतीय चिन्तन को अनेक सकारात्मक तत्वों की उपलब्धि हो सकी ।

स्मरणीय है कि कोई भी चिन्तन शून्य में जन्म नहीं लेता । यह ठीक है कि प्राचीन भारत से प्रारम्भ कर वैचारिक संक्रमण के चरणों में, हम वैचारिक आधार एवं प्रेरणायें देख सकते है । पश्चिमी प्रभावों को विशिष्ट रूप से इसी पृष्ठभूमि में देखना होगा । वैचारिक दृष्टि से भारतीय चिन्तन को व्यक्तिवाद, उदारवाद, संसदतंत्र, राष्ट्रवाद, स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय, विचारवाद, विवेकवाद एवं वैज्ञानिक–दृष्टिकोण एवं धर्म निरपेक्षता–कुछ प्रमुख विचार है जो आधुनिक भारतीय चिन्तन में अनवरत रूप से देखे जा सकते है । इसी प्रकार, संकल्पना अवधारणा के स्तर पर, प्रतिनिधितत्व उत्तरदायी संसदतंत्र, विधि–प्राथमिकता, विकेन्द्रीकरण, संघवाद, स्वतन्त्रता, समानता, अवसर की व्यावहारिक उपलब्धियां एवं आधुनिकीकरण विषयक प्रभाव देखे जा सकते है । साथ ही–संस्थागत प्रभावों में हम, विशेष रूप से, ब्रिटिश संसदतंत्र, प्रतिनिधित्व के मूल्य एवं संस्थागत प्रयासों में आत्म–निर्भरता के प्रयासों को देखते है । प्रत्येक चिन्तक ने अपने संदर्भ में इस प्रभावधारा के किन तत्वों को अपनाया, यह अपने आप में पृथक विषय है । परन्तु इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि आधुनिक भारतीय चिन्तन पर यद्यपि पश्चिम के अनेक प्रभाव देखे जा सकते है, परन्तु इन प्रभावों को किस प्रकार राष्ट्रीय संदर्भ में कार्यान्वित किया गया, यह हमारे अंग्रेजों को योगदान है ।

8. संदर्भ ग्रन्थ

1. एम0 ए0 बुच, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिवरलिज्म (बड़ौदा 1938)
2. .....राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडियन मिलिटेन्ट नेशनलिज्म (बड़ौदा, 1940)
3. के0 पी, करुणाकरन: कन्टीन्यूटी एण्ड चेन्ज इन इंडियन पॉलिटिक्स (दिल्ली, 1964)

4. मिश्र एवं अवस्थी पॉलटिक्स ऑफ परसुएशन (बम्बई, 1968) (संपादक),
5. ओ0 पी0 गोयल, स्टडीज इन मॉडर्न इंडियन पॉलिटिक थॉट (इलाहाबाद, 1964)
6. बी0 पी. वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन (आगरा, 1971)
7. ..... पॉलिटिकल फिलॉसफी (आगरा, 1971)
8. ए अप्पादोराइ, इंडियन पॉलिटिकल थिंकिन्ग (दिल्ली 1970)

इकाई–4

राजा राम मोहन राय तथा ब्रह्मसमाज

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. भूमिका
3. वैचारिक पृष्ठभूमि–भारतीय नवजागरण का युग
4. जीवन परिचय और ब्रह्मसमाज
5. राजा और उनका समाज
6. सुधार के प्रति दृष्टिकोण
7. हिन्दुत्व के पुर्न जागरण के अग्रदूत
8. सामाजिक सुधार
9. धार्मिक सुधार
   - 9.1 बहु देवतावाद और मूर्तिपूजा का खण्डन
   - 9.2 धर्मपुरोहितों की निरंकुशता पर आघात
   - 9.3 ईसाई धर्म हिन्दु धर्म का विकल्प नहीं
   - 9.4 धर्म की अवधारणा
10. ब्रह्म समाज की स्थापना
    - 10.1 ब्रह्म समाज के सिद्धान्त
    - 10.2 ब्रह्म समाज की प्रगति
11. राजनीतिक संदर्भ
12. शिक्षा के क्षेत्र में कार्य
13. मूल्यांकन
14. संदर्भ ग्रन्थ
15. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई की रचना का उद्देश्य है

1. आधुनिक भारतीय संदर्भ में सुधार आन्दोलनों की प्रांसगिकता का प्रतिपादन;
2. सामाजिक–धार्मिक राजनीतिक सुधारों की राजा राममोहन राय के संदर्भ में व्याख्या एवं उनका परीक्षण; तथा
3. ब्रह्म समाज के तत्त्वावधान संयोजित राजा राममोहन राय के विविध विचारों का क्रमिक सम्बोधन तथा आकलन

2. भूमिका

राजा राममोहन राय कौन थे? ब्रह्म समाज क्या था? राजा राममोहन राय ने उसकी स्थापना क्यों की? उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार क्या थे? उन्हें भारत में आधुनिक युग को अग्रदूत क्यों कहा जाता है? इन प्रश्नों के अपने उत्तरों के कुछ नोट बनाइये:–

मैने ये प्रश्न इस इकाई की लिखते समय अनेक लोगों से पूछे । मैने पाया की लोगों में राजा राममोहन राय के बारे में जानकारी उतनी नहीं थी जितनी होनी चाहिये । सामाजिक, धार्मिक सुधारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा विवेकानन्द से लोग अधिक परिचित पाये गये तथा राष्ट्रवादी नेताओं में महात्मा गांधी और जवाहर लाल नेहरू के बारे में लोगों की जानकारी अधिक पाई गई । परन्तु सामाजिक और धार्मिक सुधारक तथा भारतीय राष्ट्रवाद के अग्रदूत दोनों ही रूपों राजा राममोहन राय ने अग्रगामी (Pioneer) की भूमिका निभाई है । वे नींव के उस पत्थर की तरह है जो दिखाई नहीं पड़ता पर जिसके बिना भवन का निर्माण सम्भव नहीं है ।

3. वैचारिक पृष्ठभूमि:

भारतीय नवजागरण का युग:–उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय सामाजिक और धार्मिक जीवन में नवजागरण का एक नया युग शुरू हुआ । धीरे–धीरे भारत का सामाजिक ढांचा– हिन्दुओं में विशेष रूप से तथा अन्य धर्मों में सामान्य रूप से विकृतियों, कुरीतियों और अन्धविश्वासों से भर गया था । जातिगत द्वेष और संकीर्णता, बाल विवाह, बलात सती, बलात वैधव्य, अश्पृश्यता, आडम्बरवादी, कर्मकांड इनमें प्रमुख थे । यह स्वाभाविक था कि विचारशील और बुद्धिमान लोग इन बुराइयों के सुधार के लिये आवाज उठाते । पश्चिमी शिक्षा पद्वति के प्रसार से इस प्रवृति को प्रोत्साहन दिया । इसने भारतीयों को विचार स्वातंत्र दिया तथा इसके प्रभाव से एक प्रकार का पुनर्जागरण भी उत्पन्न हो गया । ब्रिटेन की भारत विजय ने भारतीय मनीषियों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि भारत क्यों पतितावस्था को प्राप्त हो गया है। ईसाई धर्म प्रचारकों के द्वारा हिन्दू धर्म का उपहास किये जाने की भी तीव्र प्रतिक्रिया हुई । भारत में एक नये युग का आरम्भ हुआ जो एक ओर रोष और विरोध का युग था और दूसरी ओर पुनर्जागरण सुधार प्रतिसुधार और नवनिर्माण का युग था । सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये सामाजिक पुनर्निर्माण की चेष्टा की गई । सामाजिक कुरीतियों को धर्मशास्त्रों का रक्षा कवच पहनाया गया था अत: धर्मशास्त्रों के पुराने अर्थो का आलोचनात्मक परीक्षण किया गया तथा नैतिकता और धर्म की नवीन धारणाओं में कहर विश्वासों और, प्रादतों को नवीन रूप प्रदान किया । सामाजिक और धार्मिक नवचिन्तन ने राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया ।

19वीं शताब्दी की सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय जागृति को आगे बढ़ाने में दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण, विवेकानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे, ऐनी बेसेन्ट, गोखले और तिलक जैसे महान मनिषियों ने योग दिया परन्तु इन सबसे राजा राममोहन राय का स्थान अप्रतिम है क्योंकि इस युग की नवीन चेतना (भावना) राजा राममोहन राय के जीवन–चरित्र द्वारा असाधारण रूप से अभिव्यक्त होती है ।

4. जीवन परिचय और ब्रह्म समाज:–

राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के पहले महान समाज सुधारक थे । उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की । उनका जन्म 22 मई 1772 को बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर नामक स्थान में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ । उनके पिता रामाकांत राय तथा माता तारणी देवी वैष्णव–सम्प्रदाय के अनुयायी थे । वे बारह वर्ष की अवस्था में विद्याध्ययन के लिये पटना गये जहां उन्होंने 16 वर्ष की अवस्था में अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया । 16 वर्ष की इसी अल्प आयु में उन्होंने बंगाली भाषा में मूर्ति पूजा के विरूद्ध लेख लिखे । इससे उनके और उनके पिता के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया और उन्हे घर छोड़ना पड़ा और फिर काशी में संस्कृत तथा वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति और उपनिषद आदि हिन्दू धर्मग्रन्थों का 12 वर्ष तक गहन अध्ययन किया । 21 वर्ष की आयु में उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकरी कर ली और पदोन्नति करके रंगपुर (Rungpore) के दिवान बन गये। इस काल में वे ईसाई धर्मप्रचारकों (मिशनरीज) के निकट सम्पर्क में आये । इस प्रकार जिन प्रभावों ने राजा राममोहन राय के चिन्तन को दिशा दी वे थे–प्रारम्भिक जीवन के पुरातनवादी–हिन्दू रीति रिवाज, हिन्दू धर्मग्रन्थों का अध्ययन, इस्लाम और ईसाई धर्मों के धार्मिक साहित्य का अध्ययन तथा ईसाई मिशनरीयों का सम्पर्क । चार वर्ष तक उन्होंने सारे देश की यात्रा करके धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया और अपने मस्तिष्क में उठने वाले प्रश्नो के उत्तर ढूंढने का प्रयास किया । वे तिब्बत बौद्ध धर्म का अध्ययन करने गये परन्तु दलाई लामा की संस्था का समर्थन नहीं कर सके और उन्हें वहां से भागना पड़ा । इन प्रभावों ने उनमें एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण (Cosmopolitan Outlook) का विकास किया । उनका यह विश्वास हो गया कि हिन्दू धर्म केवल तभी ईसाई मिशनरियों तथा नास्तिको की आलोचनाओं का सामना कर सकता है, जब वह सुधारों को अपनाये । उन्होंने हिन्दू धर्म को उसकी प्राचीन शुद्धता की ओर ले जाने का निश्चय किया । 1814 में उन्होंने कम्पनी की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया । वे कलकत्ता में बस गये और उन्होने अपने आस–पास ऐसे मित्रों का एक वर्ग तैयार कर लिया जो हिन्दू समाज का सुधार करने के लिये उत्सुक थे । धीरे–धीरे विकसित होकर इसने 1825 में ब्रह्मसमाज का नाम ले लिया ।

5. राजा और उनका समाज:–

राजा राममोहन राय अपने देशवासियों की अटूट कृतज्ञता के अधिकारी है क्योंकि उन्होंने अपने देश की स्मरणीय सेवा की है । सन् 1933 में उनकी मृत्यु (1833 ई0) शतर्वाषिकी समपूर्ण भारत में मनाई गई थी । उनतीसवीं शती के प्रारम्भिक चरण में हिन्दू समाज सांस्कृतिक दिगम्रमिता से पीड़ित था । भारतवासी अपने चारों ओर सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक अराजकता से उद्विग्न होकर अपने आप से पूछ रहे थे 'हिन्दू धर्म क्या है'? क्या सारभूत हिन्दू धर्म तथा अंधविश्वासों पूर्वाग्रहो और कर्मकांडों का वर्तमान समूह एक ही वस्तु है? ईसाई धर्म क्या है? क्या यह हिन्दू धर्म से श्रेष्ठतर है? आदि । राजा राममोहन राय के समय में हिन्दू धर्म अथवा इसका व्यवहार पतित हो चुका था । तांत्रिक पूजा अपने पूर्ण भ्रष्टाचार के

साथ पनप रही थी । वैष्णव और शक्ति सम्प्रदायें में चिन्ताजनक शत्रुता थी । अश्पृश्यता, सती प्रथा, बलात् वैधव्य, बाल–विवाह, आदि कुरीतियों ने हिन्दू धर्म का रूप बिगाड़ दिया था । हिन्दू समाज के दोनों वर्ग–पुरातनपंथी और नवीन बौद्धिक वर्ग पूर्वाग्रहो से ग्रसित थे । पुरातनपंथी वर्ग बढ़ते हुए पाखंडवाद और भ्रष्टाचार से ग्रसित था जबकि नवीन बौद्धिक वर्ग प्रत्येक पाश्चात्य वस्तु के अंधानुकरण का शिकार होकर हिन्दू धर्म और इसके औपचारिक व्यवहारों की मजाक उड़ाने और उनकी निन्दा करने की ओर प्रवृत हो रहा था । यह एक महान चुनौती थी, जिसका राजा राममोहन राय को सामना करना था ।

6. सुधार के प्रति दृष्टिकोण–सामाजिक और धार्मिक सुधार अन्योन्याश्रित है:–

राजा राममोहन इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि हिन्दू समाज हिन्दूत्व की धार्मिक अवधारणाओं से शासित होता है अत: धार्मिक पुननिर्माण के बिना सामाजिक ढांचे का सुधार सम्भव नहीं है । अत: उन्होंने एक सामाजिक सुधार कार्यक्रम को इस प्रकार अपनाया कि वह उनके धर्मनुसार आन्दोलन के सम्पूर्ण कार्यक्रम का एक अंग बन गया ।

बहुपक्षीय व्यक्तित्व के धनी राजा राममोहन राय तीन महान सांस्कृतिक–धार्मिक व्यवस्थाओं से प्रभावित हुए थे–हिन्दू, इस्लामी तथा पाश्चात्य–ईसाई व्यवस्थाएं । इन तीनों के समन्वय के द्वारा उन्होंने एक ऐसी व्यवस्था की रचना करने की चेष्टा की जिसके द्वारा भारत शांतिपूर्ण और सम्मानजनक रूप से मध्ययुग से निकलकर आधुनिक युग में प्रवेश कर सके । डा0 एम0ए0 बुच के अनुसार "उन्होंने इस्लाम, ईसाई धर्म और आधुनिक हेतुवाद (Rationalism) अथवा मानवतावाद के सर्वोत्तम तत्वों की व्याख्या करने और उन्हें आत्मसात करने का प्रयत्न किया तथा उन्हें एक ऐसे अकेले मत में रूपान्तरित कर दिया जिसे उन्होने स्वयं अपने समाज के प्राचीन उपनिषद दर्शन में पाया । इस प्रकार उनमें भारत का ऐसा पुर्नजन्म हुआ जो न तो पुरापापंथी हिन्दुत्व का दासतापूर्ण पुनर्वथन था और न ही ईसाई धर्म या इस्लाम या मानवतावाद की जनमानस सदृश्य नकल थी वरन् वह तात्विक हिन्दुत्व में अन्तर्निहित एक शुद्ध आस्तिकतावादी और हेतु दी मानवतावाद का वास्तविक पुनरोदय था । राजा राममोहन राय सत्य ही आधुनिक भारत की कुंजी है, जिसे चार महान संस्कृतियों पर आधारित एक ठोस आकार होना है" ।

राजा राममोहन राय की गतिविधियाँ बहुआयामी थी । धार्मिक और सामाजिक सुधार के साथ साथ उन्होंने राजनीति, लोक प्रशासन और शिक्षा के क्षेत्र में भी पूर्ण मनोयोग के साथ कार्य किया । यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने बार–बार इस बात पर बल दिया कि वे देश की सर्वोत्तम परम्पराओं के विरूद्ध नहीं जा रहे थे वरन अपनी पतितावस्था के कारण उसमें जो अशुद्धियां उत्पन्न हो गई थी उनमें से कुछ की सफाई करने का प्रयत्न कर रहे थे । धार्मिक सुधारों के क्षेत्र में भी वे यही दृष्टिकोण अपनाते है । उन्होंने यह सिद्ध करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया कि अपने पूर्वजों के धर्म से अलग हो जाने का उनका कोई इरादा नहीं है । वे तो केवल उसकी प्राचीन शुद्धता और श्रेष्ठता की पुर्नस्थापना करना चाहते थे ।

7. हिन्दुत्व के पुनर्जागरण के अग्रदूत:

राजा राममोहन राय ने हिन्दुत्व में पुनर्जागरण की भावना भरने की श्रीगणेश किया । उनके इस महान कार्य की सुविधा के लिय छ: भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) राजा राममोहन राय के सामाजिक सुधार

(2) उनका धर्म के तात्कालीन रूप पर आक्रमण

(3) उनकी धर्म की अवधारणा

(4) ब्रह्म समाज

(5) उनके राजनीतिक क्षेत्र में कार्य

(6) उनके शिक्षा के क्षेत्र में कार्य

8. सामाजिक सुधार:–

राजा राममोहन राय के दो कार्य अधिक प्रसिद्ध है–सती प्रथा का विरोध तथा ब्रह्मसमाज की स्थापना 1815 में उनकी भाभी को सती करा दिये जाने की घटना ने उन्हें इस क्रूर प्रथा के विरूद्ध एक दृढ़निश्चयी धर्मयोद्धा बना दिया । नि:सन्देह राजा राममोहन राय के अनेक रूपों में से उनका समाज सुधारक का रूप सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उन्होने एक और जाति भेद और छूआछूत को हिन्दू धर्म के शुद्ध रूप से असंगत बता कर उनका विरोध किया तथा अंधविश्वासों और रूढिवाद की समाप्ति पर बल दिया । दूसरी ओर उन्होंने स्त्रियों को अपमानजनक स्थिति को सुधारने के लिये ऐसे आदर्शों की जोर दार वकालत की जो भारत के स्वर्णिम युग की स्मृतियों से प्रेरित हुए थे ।

राजा राममोहन ने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये जो कार्य किया वह स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा ।

1. उन्होंने शिशु हत्या का विरोध किया ।
2. उन्होंने बाल विवाह का विरोध किया ।
3. उन्होंने बहु विवाह का विरोध किया ।
4. उन्होंने अनेक तरीकों से असहाय विधवाओं की दशा सुधारने का प्रयत्न किया । इनमें से दो विशेष उल्लेखनीय है । प्रथम उन्होने स्त्रियों के संबंध में उत्तराधिकार के कानूनों में परिवर्तन कराया और उनको उचित शिक्षा देने पर बल दिया । दूसरे उन्होने विशेष परिस्थितियों में विधवाओं के पुनविवाह पर बल दिया ।
5. राजा राममोहन राय का महानतम कार्य सती प्रथा अथवा विधवाओं के आत्म बलिदान को गैर–कानूनी बनवाना था । 'सती' शब्द का अर्थ एक पतिव्रता और चरित्रवती स्त्री होता है । परन्तु एक विचित्र प्रक्रिया से हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने इसको यह अर्थ दे दिया कि पतिव्रता स्त्रियों को अपने पतियों के मृत शरीर के साथ जल जाना चाहिये । उनतीसवीं शती तक यह सती प्रथा इतनी व्यापक हो गई कि कलकत्ते के आस–पास के ही जिलों में "सतियों" की औसत वार्षिक संख्या पांच सौ से अधिक थी ।

1813 के बाद राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरूद्ध एक प्रकार का धर्म युद्ध छेड़ दिया । उन्होंने शास्त्रों से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि सती प्रथा हिन्दू धर्म का शास्त्र सम्मत अंग नहीं है । उनके अथक परिश्रम से प्रबुद्ध भारतीय मत धीरे–धीरे दृढ़तापूर्वक इसका विरोध करने लगा । 1817 में उन्होंने तथा उनके सहकर्मियों ने सरकार के पास एक प्रतिवेदन भेजा । 'सती' की क्रूरता का सजीव वर्णन करते हुए इस आवेदन पत्र में कहा गया कि, "आपके आवेदक स्वयं अपने ज्ञान से तथा प्रत्यक्ष दर्शियों के कथनों के आधार पर इस बात से पूरी तरह परिचित है कि ऐसे बहुत सारे मामले हुए है जहां स्त्रियों को उनके अगले उत्तराधिकारियों ने, जो उनकी मृत्यु में रूचि रखते थे, अपनी पतियों की चिंताओं पर अपने आप को जला देने के लिये फुसलाया है–(जहां उन्हें) रस्सियों से बांध दिया गया है और तब तक बांसों से दबाया गया जबतक वे ज्वालाओं के द्वारा राख नहीं कर दी गई । आपके आवेदन कर्ता विनयपूर्वक निवेदन करते है कि (सती के) ये अभी दृष्टांत प्रत्येक शास्त्र के अनुसार तथा सभी राष्ट्रों के सामान्य विचारों के अनुसार हत्या थे । 4 दिसम्बर 1929 ई0 को गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिग ने प्रसिद्ध सत्रहंवा नियम पास किया, जिसने "सती" को प्रबध और कचहरियों (Presidencies) में दंडनीय बना दिया पुरातनपंथियो ने बैंटिग के इस नियम का प्रबल विरोध किया । बहुत से लोगों से हस्ताक्षार कराके गवर्नर जनरल के पास एक विरोध पत्र भेजा गया । इंगलैण्ड स्थित अधिकारियों से भी अपील की गई । इस सबके प्रतिकार के लिये राजा राममोहन राय ने गवर्नर जनरल के पास एक बधाई सूचक आवेदन पत्र भेजा जिस पर कलकत्ता के तीन सौ निवासियों के हस्ताक्षर कराये गये थे । वे स्वयं इग्लैंड गये ताकि प्रिवी कौंसिल द्वारा नये नियम को रद्द करवाने के किसी भी प्रयत्न को निष्फल कराया जा सके । उनका प्रयत्न सफल रहा ।

9. धार्मिक सुधार:

9.1 बहुदेवतावाद और मूर्तिपूजा का खंडन :–

राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म की शुद्धता का अभियान बहुदेवतावाद और मूर्तिपूजा के खंडन के द्वारा प्रारम्भ किया । वे हिन्दुओं में सच्चे अध्यात्मिक एकेश्वरवाद की स्थापना करना चाहते थे । उनके विचार से मूर्ति पूजा लोगों के आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन को पतित बना देती है । मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद ने भारत की सामाजिक और धार्मिक एकता को नष्ट किया है क्योंकि विभिन्न देवताओं के उपासक अपने अपराध्यों को विशिष्ट व्यक्तिव से विभूषित करते है तथा अन्य देवताओं के उपासकों से झगड़ा करते है । ऐसी विघटनकारी शक्तियों के विरूद्ध उन्होंने "सभी धर्मों और मानवता के लिए एक ईश्वर" के विचार का प्रतिपादन किया । मूर्तिपूजा और बहुदेवतावाद को छोड़ देने के उनके आग्रह का उद्देश्य भारत में धार्मिक सद्भाव और सामाजिक एकता की पुनस्थापना करना था । एक दार्शनिक विश्वास के साथ–साथ यह राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक कदम भी था ।

9.2 धर्मपुरोहितों की निरंकुशता पर आघात:–

धर्मपुरोहितों ने हिन्दुत्व की सच्ची आत्मा को धर्मग्रन्थों का अत्यधिक अशुद्ध अर्थ लगाकर तथा उनका असत्य वर्णन करके कलुषित कर दिया था । उन्होने धर्मशास्त्रों के पठन

पाठन और व्याख्या करने के एकाधिकार का दावा करके सम्पूर्ण हिन्दू समाज को अपने चंगुल में फंसा लिया । राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के पहले महामानव थे जिन्होंने धर्मपुरोहितों की निरंकुशता, तथा कथित धर्मशास्त्रों की निरंकुशता मात्र धर्मसिद्धान्त की निरंकुशता के विरूद्ध विद्रोह का झंडा ऊंचा किया । उन्होंने अनेक हिन्दू धर्मग्रन्थों का इंगलिश और बंगाली में अनुवाद किया ताकि जनसाधारण मध्यवर्ती धर्म पुरोहितों के बिना उन्हें पढ़ और समझ सके ।

9.3 ईसाई धर्म हिन्दू धर्म का विकल्प नहीं:–

राजा राममोहन राय सेरामपुर (Serampur) के ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आये तथा उन्होने ईसाई धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया । वे यह देखकर बहुत निराश हुए कि हिन्दू धर्म के अनेक दोष ईसाई धर्म में भी थे । 1820 में उन्होंने 'शांति और आनन्द की पथ प्रदर्शक ईसा की शिक्षाएं' (The Precepts of Jesus, the Guide to Peace and Happiness) नामक पुस्तक लिखी जिसने उन्हें तत्कालीन ईसाई पादरियों का कोपभाजन बना दिया । उन्होंने ईसाई पादरियों के द्वारा अन्य धर्मों की पवित्र पुस्तकों की निन्दा का विरोध किया । उन्होंने कहा कि "एक धर्म का निन्दा और तिरस्कार के द्वारा अथवा सांसारिक सुखों का प्रलोभन दिखाकर प्रसार करना विवेक और न्याय के विरूद्ध है ।"

9.4 धर्म की अवधारणा:–

राजा राममोहन राय धर्म के शुद्ध आध्यात्मिक पक्ष की अपेक्षा उसके सामाजिक और राजनीतिक पक्षों में अधिक अभिरूचि रखते थे । धार्मिक सुधारों के आग्रह के पीछे उनका एक उद्देश्य भारत का राजनीतिक पुनर्निमाण भी था । 1828 में उन्होंने लिखा था: "मैं दुख के साथ कहता हूं कि धर्म की वर्तमान व्यवस्था जिसका हिन्दू अनुगमन करते है उनके राजनीतिक हितों को आगे बढ़ाने में ठीक से समर्थ नहीं है । जातियों की विभिन्नताओं ने उन्हें राजनीतिक अनुभूति से पूर्णयता रहित कर दिया है तथा धार्मिक रीतियों और समारोहों के आधिकय ने तथा शुद्धि की विधियों ने उन्हें किसी भी कठिन कार्य को करने के सर्वथा अयोग्य बना दिया है । 2

पंडित सीतानाथा तत्वभूषन ने राजा राममोहन राय के धर्म को "हिन्दू ईश्वरवाद" (Hindu Theism) की संज्ञा दी है जो हिन्दू समाज को एक स्वस्थ आधार पर सुधारना चाहता है । 3 राजा राममोहन राय का "हिन्दू ईश्वरवाद" अन्य धर्मों का विरोधी नहीं था क्योंकि तुलनात्मक धर्मों के अध्येता के रूप में उनका मत था कि सभी धर्मों में एक मूलभूत एकता है। उनके विचार से शुद्ध हिन्दुधर्म और शुद्ध ईसाई धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है । अपने इस आदर्श धर्म को प्राप्ति के लिये उन्होने 20 अगस्त 1928 को ब्रह्मसमाज की स्थापना की ।

10. ब्रह्म समाज की स्थापना:

राजा राममोहन राय ने 1814 में कम्पनी की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और कलकत्ता में बस गये । हिन्दू धर्म के प्राचीन और शुद्ध स्वरूप की स्थापना के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहे । 1815 ई0 में उन्होंने अपने निवास स्थापन पर एक "आत्मीय सभा" की

स्थापना की । इसकी सभा सप्ताह में एक बार होती थी, जिसमें वेदपाठ और ब्रह्म संगीत होता था । यह समाचार वर्ष तक कार्य करती रही 1819 में उन्होंने बंगला और अंग्रेजी में वेदान्त सूत्रों का सार प्रकाशित कराया । 1820 में उनकी "शांति और आनन्द के पथ प्रदर्शक ईसा" नामक अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई । अगस्त 1928 में उन्होंने ब्रह्मसभा की स्थापना की जिसने कालान्तर में ब्रह्मसमाज का रूप धारण कर लिया ।

10.1 ब्रह्मसमाज के सिद्धान्त :–

ब्रह्मसमाज ऐसे लोगों का संगठन था जो एक ईश्वर के उपासक थे और मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते थे । राजा राममोहन राय का हेतुवाद और अखिल विश्ववाद तथा उनके बहुदेवतावाद और मूर्ति पूजा विरोधी विचार इसमें अभिव्यक्त हुए है । समाज के लिये एक भवन बनवाया गया और उसे ट्रस्टियों की सभा को सौप दिया गया । राजा ने 8 जनवरी 1630 को एक ट्रस्ट का दस्तावेज लिखवाया जिसमें यह निर्देश दिया गया कि "यह भवन बिना किसी भेदभाव के सब प्रकार के लोगों की सार्वजनिक सभा के स्थान के रूप में शाश्वत अगम और अचल प्राणि जो इस विश्वका सृजक और रक्षक है, की पूजा के लिये प्रयुक्त होगा ।" परन्तु इसमें किसी मूर्ति को प्रवेश नहीं दिया जायेगा । उसमें किसी बलिदान की अनुमति नहीं दी जायेगी तथा किसी पशु या जीवित प्राणि हरण नहीं किया जायेगा ।

ब्रह्मसमाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे–

1. ईश्वर एक है । उसकी शक्ति, विवेक, प्रेम, न्याय और पवित्रता अपरिमित है ।
2. जीवात्मा अमर है ।
3. मनुष्य को अपने कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है ।
4. ईश्वर को अपने कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है ।
5. प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसकी कोई भी जाति या वर्ग क्यों न हो ईश्वर की पूजा कर सकता है । ईश्वर की पूजा के लिये मन्दिर मस्जिद या किसी अन्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं है ।
6. मूर्ति पूजा गलत है । किसी भी बनायी हुई वस्तु जैसे मूर्ति आदि को ईश्वर मानकर नहीं पूजना चाहिये ।
7. किसी पुस्तक या पुरूष को देवी मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कोई पुस्तक या पुरूष त्रुटिरहित नहीं है ।
8. पाप का त्याग और पाप से पश्चाताप ही मोक्ष के साधन है
9. मानसिक ज्योति तथा विशाल प्रकृति परमात्मा के ज्ञान का साधन है
10. सभी धर्मों तथा उपदेशों की अच्छी शिक्षाओं को ग्रहण करना चाहिये ।

ब्रह्मसमाज का ट्रस्ट दस्तावेज हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण के आन्दोलन के प्रारम्भ का संकेत था । कुछ लोगो का विचार था कि वह हिन्दू धर्म की ईसाई शाखा या ईसाई धर्म की हिन्दू शखा था । वस्तुत: यह हिन्दू धर्म के सुधार अथवा आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य ईश्वरवादी और आस्तिववादी दर्शन, ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रकाश में हिन्दू धर्म को तर्कसंगत और

उदार बनाने का प्रयत्न था । धार्मिक सुधार के दृष्टिकोण से यह व्यक्ति को मध्ययुगीन सिद्धान्तवाद के भारी बोझ से मुक्ति दिलाने और उसे पुन. विश्वास की स्वतंत्रता दिलाने का प्रयत्न था । यह आन्दोलन केवल धार्मिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, वरन यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता, राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता के सिद्धान्तों पर बल देकर भारत में राष्ट्रीय जागरण की प्रथम अभिव्यक्ति बन गया । प्रोफेसर एम. ए. बुच के अनुसार "ब्रह्मसमाज पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में हमारी सभी संस्थाओं का बुद्धिकरण रखने (Rationalize) के महान संघर्ष का पथप्रदर्शक आन्दोलन था । यह प्रधानत: जीवन के एक क्षेत्र यानि धर्म के क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न था । धार्मिक स्वतंत्रता को सामाजिक स्वतंत्रता में विकसित होना था और उसे राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता में विकसित होना था । परन्तु आन्दोलन का सार हमेशा समान था 8 यह स्वराज्य के लिये एक संघर्ष था, स्वतंत्रता के लिये एक संघर्ष था ।

ईसाई धर्म से प्रभावित होते हुए भी ब्रह्मसमाज हिन्दु धर्म का ही एक सम्प्रदाय था । राजा राममोहन राय अपने को हमेशा हिन्दू मानते रहे तथा अपनी मृत्यु तक ब्राह्मणों का यज्ञोपवीत धारण करते रहें । उन्होंने कभी भी एक भिन्न पंथ या धर्म की स्थापना की बात नहीं की । उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि "अपने सभी विवादों में मैने जो स्थापना ली है वह ब्रह्मणवाद का विरोध नहीं वरन् उसके पतित रूप का विरोध है, तथा मैने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ब्राह्मणों की मूर्तिपूजा उनके पूर्वजों के रिवाजों तथा उन प्राचीन पुस्तकों और विद्वानों के सिद्धान्तों के विरूद्ध है जिनको आदर करने और जिनकी आज्ञापालन करने का वे दावा करते है ।[2]

10.2 ब्रह्मसमाज की प्रगति:–

राजा राममोहन राय के इंगलैण्ड चले जाने और वहां 1833 में उनकी मृत्यु के कारण ब्रह्मसमाज का संगठन दुर्बल पड़ने लगा परन्तु रविन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर (1817–1905) ने उसमें नवजीवन का संचार किया । उन्होंने 1839 ई0 में तत्वबोधिनी सभा नामक एक सांस्कृतिक संस्था की स्थापना की । उन्होंने एक इकरारनामा बनाया तथा दीक्षा का एक औपचारिक संस्कार प्रारम्भ किया । सन् 1857 में केशवचन्द्र (1838–1884) के इसमें प्रवेश से ब्रह्मसमाज को अदम्य उत्साह और अपूर्व वाग्मिता का धनी नेता प्राप्त हुआ और ब्रह्मसमाज की लोकप्रियता बढ़ने लगी । 1865 ई0 समाप्त होने तक ब्रह्म समाज की बंगाल में 50, उत्तर पश्चिमी प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) में दो, पंजाब में एक और मद्रास में एक–कुल 54 स्थानीय शाखायें स्थापित हो गई थी । परन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर पुरातन पंथी थे तथा केशवचन्द्र सेन सुधारवादी इनके मतभेदों के कारण 1865 में ब्रह्मसमाज दो भागों में विभाजित हो गया । टैगोर का ब्रह्मसमाज आदि ब्रह्मसमाज कहलाया । एकेश्वरवाद में विश्वास करता था और मूर्तिपूजन को नहीं मानता था परन्तु परम्परागत हिन्दू समाज से संबंध बनाये रखना चाहता था। केशवचन्द्र सेन की संस्था, "ब्रह्मसमाज आफ इंडिया" (भारत का ब्रह्मसमाज) कहलाई । यह संस्था बहुत लोकप्रिय हुई । इसने सामाजिक सुधारों का एक संयत कार्यक्रम अपनाया । स्त्रियों को सदस्याओं के रूप में सम्मिलित किया गया । इसके प्रयत्नों से 1872 में सरकार ने

तीसरा कानून पास किया जिसके द्वारा लड़कियों के समय से पूर्व विवाह और बहु विवाह पर रोक लगाई गई तथा विधवा विवाह और अन्तरजातिय विवाहो को कुछ परिस्थितियों में मान्यता प्रदान की गई । आदि ब्रह्मसमाज धीरे धीरे अपनी लोकप्रियता खो बैठा ।

कालान्तर में ब्रह्म समाज आफ इंडिया में भी फूट पड़ गई । उसमें प्रचार के लिये वैष्णव ढंग का संकीर्तन अपना लिया गया । नेता के लिये श्रद्धा तेजी से बढ़ चली । कुछ लोग केशव चन्द्र सेन को पैगम्बर या दिव्य अवतार मानने लगे । कुछ लोगों ने इस "मानव पूजा" का विरोध किया । केशव नारी शिक्षा का समर्थ करते हुए भी उच्चतर विश्व विद्यालयीन शिक्षा को स्त्रियों के लिये अनुपयुक्त मानते थे तथा पुरूषों और स्त्रियों के खुल कर मिलने अथवा पर्दा प्रथा के पूर्ण बहिष्कार समाज के लिये खतरनाक मानते थे । प्रगतिशील वर्ग महान नेता के इन पुरातन पंथी विचारों से असंतुष्ट था । मार्च, 1874 ई0 में केशव की चौदह वर्षों की कन्या का विवाह कुचविहार के महाराजा के साथ हुआ । इस पर ब्रह्मसमाज में दूसरी बार फूट पड़ गई । केशव चंद्र सेन से मतभेद रखने वालों ने 15 मई 1874 ई0 को साधारण ब्रह्मसमाज नामक एक अलग संगठन बना लिया । कालान्तर में "साधारण ब्रह्मसमाज बहुत शक्तिशाली सिद्ध हुआ तथा केशव चन्द्र सेन का ब्रह्मसमाज आफ इंडिया देवेन्द्र नाथ टैगोर के आदि ब्रह्मसमाज की भांति धीरे–धीरे अन्धकार में विलीन हो गया ।

यहां प्रार्थना समाज का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जिसे ब्रह्मसमाज की एक शाखा कहा जा सकता है । इसकी स्थापना केशवचन्द्र सेन की उत्साहपूर्ण निगरानी में 1867 ई0 में हुई । प्रार्थना समाज महाराष्ट्र में बहुत लोकप्रिय हुआ । महादेव गोविन्द्र रानाडे के नेतृत्व में उसने सामाजिक सुधार के दौर में प्रशंसनीय कार्य किया । रानाडे ने विधवा विवाह के प्रचार के लिये विडो–रीमैरिज एसोसियेसन (Window Remarriage Association) और शिक्षा के प्रसार के लिये दक्षिणी शिक्षा सोसाइटी की स्थापना की । उनके शिष्य गोपालकृष्ण गोखले ने सन् 1905 में हिन्द सेवक संघ (Servants of India Society) की स्थापना की । यह संस्था शिक्षा के प्रसार और अनुसूचित जातियों की दशा सुधारने के लिये उपयोगी कार्य कर रही है ।

अधिकांश प्रांतीय समाज "साधारण ब्रह्मसमाज" से संबद्ध है । इस नवीन समाज ने सामाजिक सुधार के एक अग्रगामी कार्यक्रम को अपनाया है । स्त्रियों को समाज में अधिक अच्छा स्थान दिलाने के लिये इसने पर्दा प्रथा हटा कर, विधवा पुनर्विवाह लागू कर, बहु विवाह एवं बाल विवाह उठाकर और उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था कर महत्वपूर्ण कार्य किया है । आर. सी. मजूमदार आदि के शब्दों में, "यह दिलचस्प बात है कि हिन्दू समाज में अधिकतर इन विचारों को अपना लिया है । हिन्दू समाज पर ब्रह्मसमाज की महान प्रतिक्रिया हुई है–विचित्र बात यह कि नवीन आन्दोलन जिस प्रथम और मौलिक विचार से शुरू हुआ, वह था इसका एकेश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा विरोध पर जोर और केवल इसी में हिन्दू समाज को किसी उल्लेखनीय हद तक प्रभावित करने में वह असफल रहा ।1

11. राजनीतिक संदर्भ

राजा राममोहन राय ने न केवल धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिये कार्य किया वरन वे राजनीतिक सुधारों के लिये भी प्रयत्नशील थे । आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक आन्दोलन दोनों में है राजा राम मोहन राय का उल्लेखनीय योगदान रहा है ।

राजा राममोहन राय सामाजिक और धार्मिक प्रगति तथा राजनीतिक विकास दोनों को अविभाज्य मानते थे । उन्होने राजनीतिक समस्याओं पर जो विचार प्रकट किये है वे इतने आधुनिक है कि आश्चर्य होता है । उन्होंने अपने सुधारों की स्वीकृति के लिय सरकार को सैकड़ों हस्ताक्षरों से युक्त आवेदन पत्र भेजे । उन्होने सांविधानिक ढंग से राजनीतिक आन्दोलन करने की पद्वति बतलाई, जिससे कालांतर में आधी सदी के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ । राजा स्वतंत्रता विशेषकर विचार और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता और धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल पक्षधर थे । उनका विचार था कि भारतीय राष्ट्रवाद तभी विकसित हो सकता है जब पाश्चात्य विश्व के राष्ट्र स्वतंत्र हो जायें । लोगों में देशभक्ति का अभाव तथा देसी राजाओं और सामन्तों के पारस्परिक झगड़े और षडयंत्र भारत की स्वाधीनता के समाप्त हो जाने के मुख्य कारण है । वे प्रेस की स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर थे । 1817 में लार्ड हेस्टिंग्ज तथा उनके बाद अस्थायी गवर्नर जनरल मिस्टर एडम ने कुछ नियम बनाये जिनमें सरकारी अनुमति के बिना समाचार पत्रों और अन्यस पत्रिकाओं के प्रकाशन का निषेध कर दिया गया । राजा राममोहन ने नवीन प्रेस नियमों के विरूद्ध सुप्रीम कोर्ट तथा किंग–इन–कौसिल दोनो में अपील को । उन्होने तर्क दिया कि प्रेस की स्वतंत्रता शासक और शासित दोनों के लिये लाभदायक है तथा क्रांति को रोकती है । यद्यपि उनके आवेदन पत्र अस्वीकृत हो गये परन्तु उन्हे "भारतीय संस्कृति की प्रगति की एक उच्चकोटि की उल्लेखनीय घटना" माना जाता है । 1

सर 1819 में उन्होंने एक बंगाली समाचार पत्र की स्थापना की । उसके बाद उन्होंने एक फारसी पत्र और वैदिक विज्ञान के अध्ययन के लिये "वेद मंदिर" नामक एक अन्य पत्र का संचालन किया । वे सन् 1831 में इंगलैंड गये । वहां उन्होंने कम्पनी सरकार के बोर्ड आफ कन्ट्रोल को भारतीय प्रशासन के संबंध में एक आवेदन पत्र दिया, जिसमें निम्नलिखित सुधार करने का अनुरोध किया गया

1. शिक्षित भारतीयों की उच्च पदों पर नियुक्त किया जाये ।
2. भारतीयों को सैनिक शिक्षा देकर सैनिक स्वयं सेवक दल में भर्ती किया जाये ।
3. न्याय तथा प्रशासन विभागों को एक दूसरे से पृथक किया जाये ।
4. न्याय विभाग में भारतीयों को भर्ती किया जायें
5. न्याय विभाग में पंचायत पद्धति एवं जूरी पद्धति को अपनाया जाये । (परन्तु 1827 में उन्होंने जूरी कानून के विरूद्ध आवेदन देकर इस बात की तीव्र शिकायत की कि उसमें सभी लोगों के मुकदमों में केवल ईसाई लोगों को जूए नियुक्त किये जाने का प्रावधान था ।)
6. सदर दीवानी अदालत में भारतीयों को बंदी प्रत्यक्षीकरण पत्र देने का अधिकार दिया जाये ।

7. जमींदारी द्वारा लगान वसूल करने की दर को किया जाये ।
8. किसानों को मोरूसी हक दिया जाये ।
9. विधि का संहिताकरण (Codification) किया जाये ।
10. फारसी के स्थान पर अंग्रेजी को सरकारी भाषा घोषित किया जाये ।
11. आई. सी. एस. में भर्ती की आयु 22 वर्ष रखी जाये ।
12. भारतीय स्त्रियों को शिक्षा दी जाये ।

इनके अतिरिक्त उन्होने ब्रिटिश भारतीय सेना के भारतीयकरण और नवीन विधियों को पारित करने से पहले भारतीय नेताओं से परामर्श करने की मांग की । श्रीमती एनी बेसेन्ट के शब्दों "राजा राममोहन राय में एक अद्भुत शक्ति, लगन औद दृढ़ता थी । उन्होंने साहसपूर्वक हिन्दू कहरपंथी सीमा को तोड़ने का प्रयत्न किया और स्वतंत्रता का बीज बोया जिसने पुष्पित, पल्लवित और फलवान होकर राष्ट्र के जन जीवन को नयी चेतना से अनुप्राणित किया । 1

12. शिक्षा के क्षेत्र में कार्य:–

राजा राममोहन राय ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय योगदान दिया । उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया क्योंकि वे हिन्दु शिक्षा को योरोपीय शिक्षा के वैज्ञानिक आदर्श पर संगठित करना चाहते थे । 1817 में उनके तथा डेविड हेयर के प्रयत्नों से कलकत्ते के हिन्दू कालेज की स्थापना हुई जो बाद में प्रेसीडेंसी कालेज के रूप में विकसित हुआ । 1823 में जब सार्वजनिक शिक्षा की एक समिति के बंगाल में नियुक्ति के बाद कलकत्ते में एक संस्कृत कालेज स्थापित करने के लिये कदम उठाये गये तब उन्होने इसका विरोध किया और गवर्नर जनरल एमहर्स्ट के पास एक आवेदन पत्र भेजकर सरकार से पाश्चात्य शिक्षा की अधिक उदार और बौद्धिक शिक्षा प्रणाली चालू" करने का, जिसमें "गणित प्रकृति दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर शास्त्र और अन्य उपयोगी विज्ञान सम्मिलित रहें:', आग्रह किया । 1830 में ईसाई धर्मप्रचारक अलेक्जेंडर डफ सार्वजनिक शिक्षा समिति के सदस्य के रूप में भारत आये । वे राजा राममोहन राय से मिले और भारत में अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना में उनका सहयोग मांगा । राज राममोहन राय ने उनसे प्रभावित होकर ब्रह्मसमाज वाला मकान डफ साहब को स्कूल खोलने के लिये दे दिये । रवीन्द्र नाथ टैगोर के पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर ने इसी स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी ।

13. मूल्यांकन

राजा राममोहन राय का अलग अलग अंशों में अध्ययन करना उचित नहीं है, उनका एक समग्र रूप में ही ठीक से अध्ययन किया जाना चाहिये । वस्तुत. 18वीं ओर 19वीं शती के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलनों को अलग–अलग या एक दूसरे को प्रभावित करने वाला समझना हमारी भूल है सत्य यह है कि ये आन्दोलन एक ही आन्दोलन के विभिन्न पक्ष है । इन आन्दोलनों के अग्रदूत राजा राममोहन राय में भी हम एक समाज सुधारक, एक धर्म सुधारक और राजनेता के व्यक्ति की त्रिवेणी पाते है ।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के जनक:–

राजा राममोहन राय ने आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की नींव रखी । ऐसी उन्होने इस बात का आग्रह करके किया कि "एक स्वतंत्र" राज्य एक स्वतंत्र समाज की मांग करता है, और एक स्वतंत्र समाज स्वतंत्र व्यक्ति की अवधारणा करता है ।" व्यक्ति की स्वतंत्रता से उनका अभिप्राय राज्य के मामलों के संबंध में उचित निर्णय लेने की क्षमता तथा उनका साहसपूर्वक प्रतिपादन करने की नैतिक क्षमता से था । उनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक और धार्मिक सुधारों ने देश में सामाजिक और राजनीतिक सुधार आन्दोलनों का पथ प्रशस्त किया । उनके धार्मिक और राजनीतिक उदारवाद ने रानाडे और महात्मा गांधी जैसे नेताओं को प्रभावित किया। यद्यपि उनके सुधारों के रूप धार्मिक था परन्तु वे विषय वस्तु और महत्व में राष्ट्रीय थे तथा उन्होने भारत के बहुविधा जागरण की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया । इस प्रेरणादायी समाज सुधारक ने सुधारों के लिये दो दिशाएं निर्धारित की–(1) जाति पाति का विरोध तथा (2) स्त्रियों की दशा को सुधारना । बाद के सभी समाज सुधारकों ने प्रधानत: इन्हीं दो दिशाओं में कार्य किया है ।

महान समन्वयकार:–

राजा राममोहन राय एक महान समन्वयक थे । उनकी धर्म की अवधारणा अनेक धर्मों की श्रेष्ठ बातों से मिलकर बने थीं । उनका पाश्चात्य संस्कृति की भावना को भारतीय संस्कृति से समन्वित करने का प्रयत्न भारत के महान अतीत की पुनर्पाप्ति की दिशा में एक कदम था। उनके धार्मिक और सामाजिक आदर्शों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके उदारवादी नेताओं ने अपनाया । उन्होंने एक ऐसे भारत की कल्पना की जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी आदि सहिष्णु, प्रगतिशील और विवेकपूर्ण भाइयों के समान साथ–साथ रहेंगे । जैसा कि मिस कोलेट का मत है, "अगर हम उनके विकास की सही लाइन का आगमन करें तो हम पायेंगें कि वह अतीत के पूर्ववाद (Orientalism) से पश्चिमी संस्कृति की ओर नहीं ले जाता है वरन् पश्चिमी संस्कृति के माध्यम से एक ऐसी सभ्यता की ओर ले जाता है जो न पाश्चात्य है और न पूर्वी, वरन् दोनों से ही कही अधिक विशाल और आदर्श है ।

आधुनिक भारत के निर्माता:

राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है । वे एक नवीन युग के पैगम्बर थे । उन्होने समग्र भारतीय जीवन को प्रभावित किया । वे न तो पूरी तरह एक धार्मिक नेता थे, न पूरी तरह एक राजनेता थे, न पूरी तरह पत्रकार थे, न पूरी तरह एक सामाजिक सुधारक थे और न पूरी तरह एक शिक्षाविद थे । वे इन सब क्षेत्रों में एक पथ प्रदर्शक आत्मा थे । उनमें ये सारे गुण एक साथ पाये जाते थे । इन सब क्षेत्रों में उनकी गतिविधियों ने ऐसी शक्तियों को गति प्रदान की जिन्होंने कालान्तर में आधुनिक भारत की रचना की ।

प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिन्तक:–

प्रोफेसर बी. बी. मजुमदार का मत है कि, "आधुनिक भारत में राजनीतिक चिन्तन का इतिहास राजा राममोहन राय के आदरणीय राम के साथ प्रारम्भ होता है ।" उन्होंने शासन के संगठन के उन सिद्धान्तों को निरूपण किया, जो एक अच्छे शासक में होने चाहिए । उन्होने स्वतंत्रता के अर्थ, आवश्यकता और विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला । उनका दृढ़ विश्वास था कि

भारत के लोग उन्नति करने की उतनी ही क्षमता रखते है जितनी कोई भी अन्य सभ्य जाति । उनके राजनीतिक आदर्शों की चर्चा करते हुए उनकी जीवन लेखक मिस कोलेट ने उनके अनुदान को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"एक शिक्षित भारत की आशा, एक ऐसे भारत की आशा जो संस्कृति के युरोपीय मानो तक करीब–करीब पहुंच सके, राम मोहन के मस्तिष्क में कभी भी अधिक समय तक अनुपस्थित नहीं मालुम पड़ती । उन्होंने, अस्पष्ट रूप से ही, अपने देशवासियों के पहले ही उन राजनीतिक अधिकारों का दावा किया जो सभ्यता की प्रगति होने से अपने आप आते है । यहां भी पुन: राममोहन नवीन भारत के जननायक और पैगंबर के रूप में खड़े होते है ।"1 रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक ही कहा है कि "राजा राममोहन राय ने भारत में आधुनिक युग का उद्घाटन किया ।

14. संदर्भ ग्रन्थ

बी. बी. मजुमदार : हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज: फ्राम राममोहन टू दयानन्द

शिवनाथ शास्त्री : हिस्ट्री ऑफ द ब्रह्म समाज

कॉलेट : लाइफ एण्ड लेटरस ऑफ राजा राममोहन राय

15. अभ्यास प्रश्न

1. राजा राममोहन राय के सामाजिक एवं आर्थिक विचारों का मूल्यांकन कीजिये ।
2. राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के जनक थे, विवेचन कीजिये ।

इकाई 5
दयानन्द तथा आर्यसमाज

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. भूमिका
3. जीवन परिचय
4. प्रमुख विचार–स्रोत
5. वैचारिक पृष्ठभूमि
6. दयानन्द सरस्वती का सामाजिक दर्शन
   - 6.1 जाति–व्यवस्था
   - 6.2 अस्पृश्यता
   - 6.3 विवाह प्रथा में सुधार
7. दयानन्द के धार्मिक विचार
8. दयानन्द की शिक्षा योजना
9. दयानन्द के राजनीतिक विचार
   - 9.1 राजतंत्र में विश्वास
   - 9.2 राजा के कार्य
   - 9.3 विधि के अनुकूल शासन
   - 9.4 लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था
   - 9.5 स्वराज्य की कल्पना
10. आर्यसमाज
    - 10.1 आर्य समाज के उद्देश्य
    - 10.2 आर्य समाज का प्रभाव
11. मूल्यांकन
12. संदर्भ ग्रन्थ
13. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई की रचना का उद्देश्य है:

स्वामी दयानन्द के सुधारवादी विचारों एवं दृष्टिकोणों से परिचय;

1. उनके सामाजिक–राजनीतिक दर्शन के बहु–आयामी पक्षों की विवेचना;
2. स्वराज्य विषयक उनकी संकल्पना से अन्तरंगता;
3. आर्य समाज के उद्देश्यों, कार्यक्रमों व उनकी विश्वसनीयता का आकलन; तथा
4. दयानन्द के विचारों का समग्र मूल्याकन

2. भूमिका

आधुनिक भारत में सामाजिक एवं धार्मिक विचारों के क्षेत्र में तथा धार्मिक सुधार संबंधी आन्दोलन का नेतृत्व प्रदान करने के क्षेत्र में दयानन्द सरस्वती का अग्रणी स्थान है । 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में दयानन्द ने भारतीय जीवन के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दायरों में आमूल सुधार करने का बीड़ा अपने हाथों में उठाया था । उनका यह तत्व था कि हिन्दू समाज में न्याय अन्धविश्वास, कट्टरपंथिता, मूर्ति–पूजा, निष्प्राण प्रथाओं तथा धर्मान्धता जैसी बुराइयों को दूर कर समाज को एक नया जीवन प्रदान किया जाय। उनके विचारों का केन्द्र–बिन्दु हिन्दू–समाज–सुधार था तथा इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज नामक संस्था की स्थापना भी की थी । आधुनिक भारत के पुनर्जागरण की दिशा में राजा राममोहन राय ने जिस सुधारवादी आन्दोलन का श्रीगणेश किया था, सुधारवादी आन्दोलन की उसी दिशा में दयानंद के विचार तथा कार्य भी एक महत्वपूर्ण कड़ी है । 16वीं शताब्दी में यूरोप में ईसाई (कैथोलिक) धर्म को उसकी बुराइयों अथवा विकृतियों से मुक्त कराने के लिये धर्म–सुधारवादी आन्दोलन को शुरू करने का श्रेय जिस प्रकार मार्टिन लूथर को दिया जाता है, उन्नीसवीं सदी में भारत में हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म में प्रचालित अनेक बुराइयों के सुधार की योजना दयानन्द ने अपने हाथों में ली थी। इसीलिये दयानन्द को "भारतीय लूथर" कहा गया है । भारतीय नव जागरण के शैशव काल में दयानन्द ने समाज की पुर्नरचना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर उनके अनुकूल सामाजिक–धार्मिक सुधारों के कार्यक्रम को क्रियान्वित किया । उनके सुधारों की योजना के फलस्वरूप एक ओर समाज का एक नया स्वरूप विकसित हुआ और दूसरी ओर एक नवीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक चेतना का आविभवि भी हुआ। अपने विचारों एवं संगठन के माध्यम से दयानन्द ने जिस नवीन सामाजिक–धार्मिक चेतना का निर्माण किया था वही चेतना कालान्तर में भारतीय राजनीतिक चेतना की आधारशिला बन गई । इसीलिए दयानन्द को भारतीय "राष्ट्रीय पुनर्निमाण का प्रबल मन्त्रदृष्टा" 1 कहा जाता है ।

3. जीवन परिचय:

दयानन्द का वास्तविक नाम मूल शंकर था । सन्यासी बनने के बाद इन्होंने अपना नाम बदल कर स्वामी दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया । गुजरात प्रदेश के मोरवी राज्य में टनकारा नामक स्थान में मूलशंकर का 1824 में जन्म हुआ था । मूलशंकर के पिता की तीव्र इच्छा थी कि वह अपने पुत्र को धार्मिक व्यक्ति बनाये अत: उसने मूलशंकर की शिक्षा–दिक्षा इसी लक्ष्य के अनुसार प्रारंभ की । बचपन से ही उन्हें हिन्दू धर्म ग्रन्थों का अध्ययन कराया गया । हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के लिये संस्कृत का ज्ञान भी आवश्यक था अत: इन्हें संस्कृत का पठन–पाठन कराया गया । पिता की योजनानुसार मूलशंकर को बाल्यावस्था से ही वेदों का अध्ययन कराया गया था ।

किन्तु एक दिन ऐसी घटना हुई जिसने मूलशंकर की जीवन–दिशा को ही बदल दिया तथा उसके पिता की आशाओं पर पानी फेर दिया । शिव रात्रि को रात्रि–कालीन पूजा के अवसर की यह घटना थी । शिवरात्रि का जागरण करते समय मूलशंकर क्या देखते है कि एक चूहा शिव जी की मूर्ति पर चढ़ रहा है । यह देख कर उन के मन में विद्रोह की एक चिनगारी जगी;

उनकी आस्तिकता और मूर्ति–पूजा की भक्ति की नींव हिल गयी । उनके मन में यह विचार आया कि क्या ऐसा भी कोई सर्वशक्तिमान देवता हो सकता है जिसके शरीर पर चूहा चढ़ा हुआ हो किन्तु जिसके विरुद्ध वह देवता विरोध का एक शब्द भी न बोले । इस घटना को देख कर मूलशंकर ने अपने पिता से कहा: "मै किसी सर्वशक्तिमान तथा सजीव ईश्वर की धारणा को इस मूर्ति के साथ समाहित नहीं कर सकता जो अपने शरीर पर एक चुहिया को दौड़ने देने की छूट देती है और इस प्रकार बिना किंचित प्रतिवाद के अपनी छवि को दूषित होने दे रही है ।" मूलशंकर की इस आपत्ति में मूर्ति–पूजा के विरोधी विचारों को बीज–रूप में देखा जा सकता है। आगे आने वाले अध्ययन में हम देखेंगे कि दयानन्द ने हिन्दू धर्म के सुधार के लिये मूर्ति–पूजन की प्रथा का घोर विरोध किया था । मूलशंकर के जीवन को मोड़ देने वाली एक दूसरी घटना और भी थी । यह घटना थी, उनके बहिन की बाल्यावस्था में ही अकाल मृत्यु । इस घटना से उन्हें जीवन की क्षणभंगुरता का बोध हुआ । उनके मन में यह विचार घर कर गया कि जीवन की क्षणभंगुरता को जीतने के लिये मोक्ष की प्राप्ति आवश्यक है । जन्म–मरण के चक्र से देहधारी मनुष्य को मुक्ति कैसे मिले, मोक्ष का मार्ग क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जाये, इस प्रकार के विचार अपनी बहिन की मृत्यु के बाद उनके मन में उठने लगे। मूल शंकर जब 22 वर्ष के हुए उनके पिता ने अपने पुत्र का विवाह करना चाहा । मूल शंकर का मानस तब तक संसार से विरक्ति की ओर बढ़ चुका था प्रात: घरेलू बंधनों से बचने के लिये वे 1846 में रात्रि में घर से भाग निकले । अब मूलशंकर की खोज एक ऐसे गुरू की थी जो उन्हें ज्ञान प्रदान कर सके । करीब 15 वर्ष तक वे इसी खोज में रहे । गुरू तथा ज्ञान की खोज की इस खोज के दौरान नर्मदा के किनारे उन्होंने 'सन्यास' लिया तथा मूलशंकर नाम का त्याग कर सन्यासी का नया नाम दयानन्द सरस्वती धारण कर लिया ।

अपने सही गुरू की खोज करते हुए दयानन्द मथुरा भी गये जहाँ स्वामी विरजानन्द से उनकी भेंट हुई । स्वामी विरजानन्द आँखों से लाचार, अनुशासन में अत्यधिक कठोर किन्तु शास्त्रों के अत्यन्त ही प्रगाढ़ विद्वान ज्ञाता थे । दयानन्द सरस्वती ने विरजानन्द को अपना गुरू स्वीकार किया तथा करीब ढाई वर्ष तक उनके सानिध्य में रह कर शिक्षा प्राप्त की । शिक्षा समाप्ति पर उनके गुरू ने दयानन्द से जो कहा वे शब्द दयानन्द के जीवन के उद्देश्य बन गये। स्वामी विरजानन्द ने दयानंद से कहा: 'हाँ, तुमने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, अब तुम जाओ और इसका प्रसार करो । (समाज में) अज्ञान को जो अंधेरा छाया हुआ है उसे दूर करो । जिस मिथ्यापन ने तुम्हारे गुमराह भाइयों के मस्तिष्कों को जकड़ रखा है, उसके विरूद्ध संघर्ष करो । वे आपस में जाति तथा संप्रदायों के नाम पर झगड़ते है तथा उन्हें वेदों का ज्ञान नहीं है । उन्हें जाकर वैदिक धर्म का संदेश दो । मैं तुमसे इस प्रतिज्ञा की माँग कर रहा हूँ । यदि तुम मुझे अपनी (गुरू) दक्षिणा देना चाहते हो तो यह प्रतिज्ञा करो ।"' अपने गुरू को दी गई यही प्रतीज्ञा दयानन्द सरस्वती के जीवन का ध्रुव–तारा बन गई । दयानन्द का शेष सम्पूर्ण जीवन हिन्दू समाज के सुधार तथा वैदिक धर्म के प्रचार में लग गया । 1860 से उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया जो क्रम 1883 में उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हुआ । अपने विचारों का प्रतिपादन उन्होंने अपने भाषणों, शास्त्रार्थो, लेखों तथा ग्रन्थों के द्वारा किया । 10 अप्रेल 1875

को उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी । राजपूताना के अनेक राजा–महाराजा, विशेषत: जोधपुर, उदयपुर, शाहपुरा के शासक, दयानन्द के अनुयायी बन गये थे । ऐसा माना जाता है कि जोधपुर के तत्कालीन महाराजा दयानंद के शिष्य थे और उनके विचारों से बहुत प्रभावित थे किन्तु राजघराने को भोजन के कुछ लोग इससे प्रसन्न थे अत: दयानन्द को भोजन के साथ जहर दे दिया था । 30 अक्तूबर 1883 को दयानन्द का अजमेर में देहावसान हो गया था ।

4. प्रमुख विचार–स्रोत

दयानन्द ने अपने विचारों को व्यक्त करने तथा उनका प्रसारण करने के लिय अनेक पैम्फलेत, पुस्तिकाएँ तथा ग्रन्थों की रचना की । उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है ।: अर्द्वत खण्डम् वेदभाष्य, सन्ध्या भागवत खण्डनम्, आर्योद्देश्य रत्नमाला, भ्रांति निवारण, संस्कार विधि, ऋगवेददि भाष्य भूमिका, व्यवहारभानु, वेदांग प्रकाश तथा सत्यार्थ प्रकाश । वास्तव में सत्यार्थ प्रकाश में दयानंद सरस्वती ने अपने मूल विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की है । उनके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं नीतिशास्त्र संबंधी विचारों का निरूपण इसी ग्रंथ में किया गया है ।

5. वैचारिक पृष्ठभूमि

दयानन्द ने अपने विचारों का प्रतिपादन 19वीं शताब्दी काल के भारत में व्याप्त सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में किया है । उनके विचारों का सीधा सम्बोधन तत्कालीन भारत की विविध समस्याओं के संदर्भ में किया गया है । मध्यकालीन भारतीय समाज की विविध बुराइयों तथा समस्याओं ने समाज को जिस तरह से जकड रखा था तथा सामूहिक रूप से वे समस्याएँ तत्कालीन भारत के सामाजिक जीवन को जिस प्रकार से गतिहीन बना रही थी, दयानन्द को उन समस्याओं तथा उनके परिणामों को बोध था । अंग्रेजों के भारत में आने के साथ भारत की समस्याओं का दायरा और व्यापक तथा गंभीर हो गया । अंग्रेजी भाषा और संस्कृति का भारत की राजनीतिक दासता तथा ईसाई धर्म का भारत में प्रचार–प्रसार जैसे कारकों ने देश की समस्या को और भी जटिल बना दिया था । तत्कालीन भारत के ऐसे सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पर्यावरण के संदर्भ में दयानन्द ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया था । उन्नीसवीं सदी का भारत अनेक बुराइयों से त्रस्त था । देश में सामाजिक स्तर पर धर्म, जाति, उप–जाति तथा सम्प्रदाय के नाम पर फूट व्याप्त थी । समाज का गतिशीलता समाज हो चुकी थी तथा वह पतनोन्मुखी हो रहा था । धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों तथा निरर्थक कर्म–कांडों को बोलबाला था । कुरीतियों तथा जाति–प्रथा के विचारों ने समाज की सावयवी एकता को नष्ट कर रखा था, समाज की जीवन–शक्ति के स्रोत वास्तव में सूख रहे थे । दयानंद के समकालीन भारतीय समाज की क्या–क्या समस्याएँ थी, जिनका कि उन्होंने सामना किया, उसका एक नख–चित्र यहाँ प्रस्तुत किया जाता है:

1. तत्कालीन समाज में पंडितों तथा अनपढ़ ब्राह्मणों ने जीवन के हर क्षेत्र में अपना सिक्का जमा रखा था । जाति की ऊँच–नीच व्यवस्था की उनके द्वारा पुष्टि की

जाती थी तथा समाज की अज्ञानी, अनुदारवादी तथा अंध विश्वासी शक्तियों द्वारा उनका समर्थन किया जाता था;

2. तब तक ईसाई धर्म की जड़ें भारत में जम चुकी थी। ईसाई धर्म की संगठित शक्तियों को राजनीतिक, नैतिक, बोद्धिक तथा आर्थिक सहायता विभिन्न स्रोत्रों से प्राप्त हो रही थी;
3. आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का उदय हो रहा था जिसके परिणाम स्वरूप धर्म, ईश्वर तथा दैवी–ज्ञान संबंधी मान्यताओं को चुनौती दी जा रही थी । समाज में आध्यात्मिक विश्वासों का स्थान भौतिकवादी दृष्टिकोण ले रहा था;
4. इस्लाम द्वारा प्रोपेगेन्डा का कार्य बढ़ता जा रहा था;
5. हिन्दु दर्शन–शास्त्र का पतन हो रहा था; तथा,
6. सदियों की निरन्तर राजनीतिक एवं बौद्धिक दासता के कारण समाज में निराशावाद, उदासीनता, भाग्यवाद तथा निश्चेष्टा के भावों ने जन्म ले लिया था ।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में भारतीय समाज की यह स्थिति थी। समाज की इन समस्याओं का निराकरण करने की दृष्टि से दयानन्द ने वैचारिक स्तर पर अपने विचारों को देशवासियों के सम्मुख रखा तथा संगठन और क्रिया के स्तर पर आर्य समाज की स्थापना कर उन समस्याओं को हल करने का प्रयास किया था । दयानंद द्वारा वैचारिक एवं संगठनात्मक स्तर पर जो कार्य किया गया था उसका सविस्तार वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है ।

6. दयानंद सरस्वती का सामाजिक दर्शन

स्वामी दयानन्द सरस्वती का सामाजिक समस्याओं को देखने का दृष्टिकोण सुधारवादी था । हिन्दु समाज की जिस अवस्था को उन्होंने अपने काल में देखा था, उसकी कुरीतियों तथा विकृतियों को वे सुधारने के कट्टर पक्षपाती थी । उनकी सामाजिक सुधार की योजना के पीछे एक व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण था कि समाज में व्याप्त कुरीतियों, उसकी फूट, गतिहीनता तथा राष्ट्रीय नियति के अज्ञान से उसे मुक्त कर एक स्वस्था समाज के रूप में उसका पुनर्निर्माण किया गया । स्वामी दयानन्द की कल्पना के स्वस्थ हिन्दू समाज का मूलाधार जातीय एकता था, जिसमें जातीय ऊँच–नीच के भेदभाव समाप्त हो तथा जो वैदिक मूल्यों से अनुप्राणित हो। दयानन्द के सामाजिक दर्शन को इसी सुधारवादी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है ।

6.1 जाति व्यवस्था: दयानन्द

यह भली भांति जानते थे कि भारतीय समाज जाति एवं वर्ण व्यवस्था पर आधारित है अत: यह उनकी मान्यता थी कि भारतीय समाज को पुनजीवित करने के लिये जाति–व्यवस्था का सुधार करना नितान्त आवश्यक है । उनका मत था कि जाति–प्रथा प्राचीन काल में भारत में थी किन्तु उस समय यह अपने शुद्ध रूप में थी तथा जिसकी सामाजिक उपयोगिता थी । अपने विशुद्ध रूप में यह "श्रम–विभाजन" के सिद्धान्त पर आधारित एक व्यवस्था थी जिसमें प्रत्येक जाति–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र–के द्वारा अपने नियत कार्यो एवं कर्तव्यों को पूरा

किया जाता था । दयानन्द का मत था कि वैदिक काल में जाति का आधार "जन्म" नहीं था । तब जाति का निर्णय उसे धन्धे (Occupation) से किया जाता था। उनका मत है कि वेद भी धन्धे को जातीये विभाजन का आधार मानते है; मनुष्य जिस धन्धे को समाज में करता था उसी से उसकी जाति निर्धारित होती थी । किन्तु कालान्तर में धन्धे का स्थान "जन्म" (Birth) ने ले लिया । दयानन्द मानते है कि जाति की सम्प्रति प्रथा वैदिक व्यवस्था का विकृत रूप है। अपने विकृत रूप में व्यक्ति की जाति का निर्धारण इस तथ्य पर होता है कि वह व्यक्ति किस जाति में जनम लेता है; यदि व्यक्ति का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ है तो वह ब्राह्मण कहलाता है और शूद्र के परिवार में हुआ है तो वह जीवन पर्यन्त शूद्र रहता है । जन्म से निर्धारित जाति–प्रथा को दयानन्द अपभ्रष्ट मानते है तथा जिसके अनेक दोष है । यह व्यवस्था सामाजिक दूरियों को बनाये रखती है; इससे समाज अप्राकृतिक रूप से बँटा रहता है जिससे सामाजिक एकता और समरसता नष्ट होती है; यह व्यवस्था थोड़े से लोगों के विशेषाधिकारों की रक्षा करते हुए समाज के अधिकांश लोगों को दलित एवं अधिकारों से वंचित बना देती है ।

जाति–प्रथा की इन बुराइयों को ध्यान में रख कर दयानंद ने "जन्म" को जाति का निर्धारक तत्व स्वीकार नहीं किया । उनका मत था कि किसी व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके 'गुण', 'कर्म' और 'स्वभाव' के आधार किया जाना चाहिये । व्यक्ति का गुण अथवा चरित्र कैसा है, उसके कर्म कैसे है तथा उसके स्वभाव कैसा है, ये वे तीन तत्व है जिसके आधार पर किसी व्यक्ति की जाति का निर्धारण किया जाना चाहिये । दयानंद का यह विचार समाजिक दृष्टि से एक क्रान्तिकारी मत था कि भले ही कोई व्यक्ति जन्म से ब्राहम हो किन्तु यदि उसके कर्म अथवा गुण निम्न कोटि के है तो उसे ब्राह्मण न मान कर शूद्र मानना चाहिये; इसी प्रकार नीच कुल में जन्में व्यक्ति के गुण और कर्म उच्च कोटि के है तो उसे शूद्र न मान कर ब्राह्मण माना जाना चाहिये । दयानंद स्पष्ट शब्दों में कहते है ।: 'किसी व्यक्ति की जाति का निर्धारण उसके चरित्र, समाज में किये जाने वाले उसके कर्म, तथा उसके स्वभाव (प्रकृति) द्वारा किया जाना चाहिये । जो ब्राह्मण जनमे है और सद् कार्य करते है वे ब्राह्मण है तथा जो नीच–जाति में जन्में है किन्तु जिनके गुण, कर्म और स्वभाव उच्च कोटि के है वे भी उच्च वर्ण के है । उसी प्रकार यदि उच्च जाति में जन्मे लोग नीच कार्यो को करें तो उन्हें नीच वर्ण का मानना चाहिये। ---------- इसका तात्पर्य यह है कि किसी पुरूष अथवा स्त्री का वही वर्ण होना चाहिये जिसके लिये कि वह (गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुकूल) योग्य है ।"'उपरोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि दयानन्द सामाजिक गतिशीलता में विश्वास करते थे; एक चाण्डाल अपने गुण–कर्म के द्वारा ब्राह्मण बन सकता है और एक ब्राह्मण अपने कुकर्मो के कारण चाण्डाल बन जाता है। दयानंद जाति–प्रथा को ईश्वरीय कृति नहीं मानते । उनका मत था कि सामाजिक कार्यो को कुशलता पूर्वक करने की दृष्टि से, अर्थात् सामाजिक श्रम–विभाजन की दृष्टि से, इस व्यवस्था का विन्यास किया गया था किन्तु कालान्तर में इसमें विकृतियाँ उत्पन्न हो गई । दयानंद के जाति–प्रथा संबंधी विचार इन्हीं विकृतियों को दूर करने की एक सुधारवादी योजना है ।

दयानन्द के जाति–प्रथा संबंधी विचारों में सामाजिक परिवर्तन की एक आकांशा और संदेश है । वे इसे हिन्दू समाज के विघटन और पतन का एक प्रमुख कारण मानते थे । उनकी

मान्यता थी कि सामाजिक एकता के लिये इस प्रथा में आमूल परिवर्तन किया जाय। अपने सुधार की धारणा से दयानन्द ने हिन्दू समाज में सामाजिक क्रान्ति के जलद्वार खोल दिये । उन्होंने जाति–प्रथा के सुधार की उस श्रृंखला का सुत्रपात किया जिससे सामाजिक एकता की चेतना जागृत हुई । आधुनिक भारत में जाति–प्रथा के अनेक सुधारको को दयानन्द" के विचारों से प्रेरणा मिली है ।

6.2 अस्पृश्यता (Untouchability):

जाति–प्रथा की भांति दयानन्द अस्पृश्यता को भी हिन्दू समाज की एक बहुत बड़ी बुराई मानते थे। वे अस्पृश्यता के कटु आलोचक थे तथा उसको सुधारने के प्रबल प्रवर्तक थे । अस्पृश्यता के समर्थकों का मत था कि अस्पृश्यता धर्म–विहित तथा ईश्वर–नियोजित है । दयानन्द ने ऐसे मतों का खण्डन किया । उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अस्पृश्यता वैदिक धर्म के आदेशों के प्रतिकूल है । यह व्यवस्था देव–नियोजित भी नहीं है । शास्त्र इसका समर्थन नहीं करतें । दयानन्द की मान्यता थी कि अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराई का प्रादुभवि उस समय हुआ जब समाज ने ऐसे लोगों को धर्म–निष्काषित कर दण्डित किया जिन्होंने समाज के मान्यताप्राप्त मूल्यों, नियमों, रीति–रिवाजों तथा नैतिकता के नियमों का उल्लंघन किया था। समाज से बहिष्कृत ऐसे लोग कालान्तर में अस्पृश्य कहलाने लगे तथा जिस व्यवस्था में जातिगत रूप धारण कर लिया। दयानन्द के विचारानुसार अस्पृश्यता "बुरे पर्यावरण, कुसंगति तथा कुशिक्षा और उससे जनित चारित्रिक ह्रास का परिणाम है ।" उनका मत था इसके पीछे कोई दैविक अथवा धार्मिक विधान नहीं है । अत: दयानन्द का सुझाव था कि "शुद्धता, चारित्रिक शिक्षा तथा पर्यावरण सुधार" के द्वारा अस्पृश्यता का निवारण किया जाना चाहिये। स्वामी दयानन्द का मत था कि 'यदि कोई शूद्र तन–मन से शुद्ध है उसे 'द्विज होने का अधिकार है ।"

स्वामी दयानन्द के अस्पृश्यता संबंधी विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वे सामाजिक समानता एवं एकता के समर्थ थे। उन्होंने भारत मे अस्पृश्यता निवारण के आन्दोलन की नींव रखी थी जिस समाज–सुधार की परम्परा को बीसवीं शताब्दी के भारत में महात्मा गाँधी, डा. अम्बेडकर तथा सावरकर जैसे समाज सुधारकों ने स्वीकार कर आगे बढ़ाया था । यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भारतीय संविधान निर्माताओ ने भारत में संवैधानिक रूप से अस्पृश्यता को समाप्त कर स्वामी दयानन्द तथा महात्मा 'गाँधी के विचारो को ही मूर्त रूप दिया है । भारतीय समाज से अस्पृश्यता के उन्मूलन के लिये स्वामी दयानन्द के योगदान को महात्मा गांधी ने भी स्वीकार किया है । महात्मा गाँधी ने लिखा है कि 'स्वामी दयानन्द ने हमें जो विविध अमूल्य विरासतें दी है, उनमें अस्पृश्यता के विरूद्ध उनकी असंदिग्ध उद्घोषणा नि:संदेह 'एक अमूल्य विरासत है ।"' ।

6.3 विवाह–प्रथा में सुधार

दयानन्द सरस्वती को भारतीय समाज के सुधारको की अग्रिम पंक्ति में इसलिये भी स्थान दिया जाता है कि उन्होंने हिन्दू समाज में विवाह–प्रथा में व्याज अनेक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया । बाल–विवाह 'तत्कालीन समाज की बहुत बड़ी कुरीति थी । बहुत छोटी आयु में ही लड़के–लड़की का विवाह कर दिया जाता था । इस प्रथा का एक बहुत दूरगामी परिणाम यह भी था कि दुर्भाग्य से यदि विवाहित बालक की । मृत्यु हो जाती, उस बाल–विधवा को जीवन पर्यन्त विधवा का जीवन ही व्यतीत करना पड़ता था। समाज इस व्यवस्था का अनुगमन एवं औचित्य–समर्थन यह कह कर करता था कि यह प्रथा शास्त्र विहित है । दयानन्द ने शास्त्रों के आधार पर यह सिद्ध किया कि बाल विवाह का शास्त्रों में कहीं भी समर्थन नहीं है। विधवाओं की स्थिति के बारे में दयानन्द की मान्यता थी कि विधवाओं का पुनर्विवाह करा कर उन की समाज में पुनर्स्थापना 'की जाये। समाज में वैधव्य के अनैतिक एवं वैयक्तिक परिणामों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने 'नियोग" । पद्धति का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार विधुर तथा विधवा का "अस्थायी संयोग" कराया जा सके । उनका विचार था कि यदि यह संभव न हो तब विधवा का पुनर्विवाह ही श्रेष्ठ उपाय है । बाल–विवाह की कुरीति को समाप्त करने की दिशा में दयानन्द के विचार एकदम आधुनिक है । उनका दृष्टिकोण समाज सुधारवादी भी है और सुजननशास्त्री (engenic) भी । उन्होंने प्रतिपादिन किया कि विवाह निश्चित आयु सीमा में ही किये जाये । इस दृष्टि से उन्होंने विवाह की आयु भी निश्चित की । उनकी अनुशंसा थी की पुरूषों के लिये आदर्श आयु 24 से 48 वर्ष की तथा स्त्रियों के लिये 16 से 24 वर्ष की है। इस तरह दयानन्द ने बाल विवाह की कुप्रथा को मिटाने के लिये पुरूषों तथा स्त्रियों की न्यूनतम आयु क्रमश: 24 तथा 16 वर्ष निर्धारित की थी । दयानन्द ने विवाह को उच्च, मध्यम तथा निम्न इन तीन कोटियों वाला बताया । उच्च कोटि का विवाह वह है जिसमें स्त्री–पुरूष की आयु 24 और 48 वर्ष की हो; मध्यम कोटि का विवाह 18–20 वर्ष की स्त्री तथा 24–40 वर्ष के पुरूष का है; किन्तु निम्न कोटि का विवाह 16 वर्ष की स्त्री तथा 24 वर्ष के पुरूष के बीच का है! यदि हम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दयानन्द के विधवा पुनर्विवाह तथा बाल–विवाह विरोधी विचारों पर दृष्टिपात करों तो यह स्पष्ट होगा कि दयानन्द के विचार निश्चय ही उग्र सुधारवादी (Radical) थे । ये विचार उनकी समाज सुधार की उत्कट कामना को भी रेखांकित करते हैं । उनका यह भी विश्वास था कि विवाहोपयुक्त आयु सीमा का पालन करके स्वस्थ व्यक्तियों के स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है ।

7. दयानन्द के धार्मिक विचार:

दयानन्द एक प्रबल समाज सुधारक तो थे ही, उन्होंने अपने ग्रन्थों में दार्शनिक एवं धार्मिक प्रश्नों का विवेचन भी किया है । उनकी धार्मिक मान्यता ईश्वरवादी थी । सत्यार्थ प्रकाश के सातवें अध्याय में उन्होंने ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या की है । अत: उन्होंने संशयवादी अथवा अनीश्वरवादी विचारों का खण्डन करते हुए उदात्त ईश्वर की कल्पना को प्रस्तुत किय है। आर्य समाज के मान्य दस सिद्धान्तों में सिद्धान्त I तथा II में दयानन्द की ईश्वर संबंधी

मान्यता स्पष्ट होती है । दयानन्द ईश्वर को सृष्टि का तथा समस्त ज्ञान का आदि कारण मानते हैं । उन्होंने ईश्वर के गुणों का तथा उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि ईश्वर सर्व सत्य, सर्व–ज्ञान एवं सर्व सौन्दर्यमयी है । उनकी धारणानुसार ईश्वर निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायशी, दयावान्, अनादि, अनन्त, असीम, नित तथा अतुल्य है । ईश्वर सर्व व्यापी, सर्वज्ञ, अनश्वर, निर्भय तथा शाश्वत है । दयानन्द का मत है कि ऐसे ईश्वर की प्राप्ति शुद्ध जीवन तथा योग के माध्यम से की जा सकती है । दयानन्द की देववाद (Polytheism) तथा अवतारवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करते । जैसा कि सत्यार्थ प्रकाश के सातवें अध्याय में तथा उसके अन्तिम अध्याय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि ईश्वर एक ही है । उनके मतानुसार पौराणिक देवी–देवताओं की धारणा, बहुदेववाद तथा अवतारों की धारणा निरर्थक है । दयानन्द के कथनानुसार, 'ईश्वर केवल एक ही है । केवल उसी की ही पूजा की जानी चाहिये; उसकी पूजा मूर्तियों के रूप में नहीं, अपितु आध्यात्मिक रूप से की जानी चाहिये ।" संक्षेप ; में, दयानन्द की ईश्वर की अवधारणा एकेश्वरवादी है । उनकी ईश्वर की धारणा उपनिषद में वर्णित सत् "चित्त तथा अपानन्द, अर्थात् 'सच्चिनानन्द" रूपी ईश्वर की है । ईश्वर क निराकारी स्वरूप को स्वीकर करते हुए दयानंद मूर्ति पूजा के तथा पशु बलि के विरोधी है । दयानन्द की यह मान्यता आर्य समाज की मूल मान्यताओं में से एक है ।

दयानन्द के विचारों की आधारशिला, उनके. स्रोत वेदों में है । वैदिक ज्ञान को वे परम सत्य मानते थे और उसी ज्ञान की पुन: प्रतिष्ठा वे आधुनिक समाज में करने के पक्षपाती थे । उनके जीवन का लक्ष्य वैदिक ज्ञान तथा वैदिक मूल्यों के अनुकूल समाज की पुर्नरचना करना था। वेदों के संबंध में दयानन्द की धारणा थी की इनमें शाश्वत सत्य एवं ज्ञान निहित है । वेद ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार है, देव वाणी है तथा इनका सन्देश हर प्राणी के लिये है । दयानन्द के विचारानुसार वे अभ्रान्त है तथा विश्व का सभी ज्ञान इनमें निहित है । उनका विश्वास था कि आधुनिक विज्ञान, यहाँ तक इक आधुनिक रसायन शास्त्र के सिद्धान्त भी, वेदों में प्राप्त हैं; वेदों में प्रतिपादित नियम विवेक तथा नैतिकता के मूल्य हैं तथा संसार के समूचे ज्ञान का समावेश चारों वेदों में हुआ है । वेदों के संबंध में दयानन्द लिखते हैं : 'चारों वेद, जो कि ज्ञान तथा धार्मिक सत्य के भण्डार हैं, देव वाणी हैं । में इन्हें अभ्रान्त (Infalliable) तथा परम सत्ता मानता हूँ । वेद आप्रवचन हैं तथा अपनी सत्यता के लिये ये अन्य पुस्तकों पर निर्भर नहीं हैं। जिस तरह सूर्य अथवा दीप आत्म–ज्योतिमय हैं तथा विश्व के प्रकाश दाता है, वैसे ही वेद भी हैं ।"'वेदों में उनकी कितनी गहरी आस्था है यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट होता है 'ईश्वर का ज्ञान अभ्रान्त है अत: ईश्वरीय ग्रन्थ की सीखें भी तत्समान अभ्रान्त हैं । इनमें ऐसी कोई भी बात नहीं है जो प्रकृति के नियमों के अथवा तर्क के नियमों के विरुद्ध हो । ---------- वेद शाश्वत हैं । ईश्वर शाश्वत है अतः ईश्वरीय ज्ञान भी शाश्वत है । ऋषियों ने वेदों का अध्ययन कर के ही व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा छन्द–शास्त्र के ग्रन्थों की रचना की है । वेद ईश्वर के ग्रन्थ हैं अतः सभी व्यक्तियों को इनके आदेशनुसार व्यवहार करना चाहिये।"[2] दयानन्द द्वारा वेदों तथा वैदिक जीवन के मूल्यों के प्रति इतनी आस्था क्यों प्रकट की गई? इसका उत्तर इतना ही है कि वे भारतीय समाज के सम्मुख सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था का एक

ऐसा नया प्रतिमान (Model) रखना चाहतें थे जिसके अनुकूल समाज कों पुनजीवित किया जा सके । तत्कालीं भारत में अन्य धर्मों का तथा पाश्चात्य जीवन के आदर्शों का जिस भांति प्रचार–प्रसार हो रहा था, तथा धर्म, सम्प्रदायवाद तथा प्राचीन रूढ़ियों के नाम पर समाज की जैसी विकृत स्थिति हो रही थी, इन बुराइयों को दूर करने की दृष्टि से दयानन्द ने वैदिक जीवन के विकल्प को समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया था । तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को नया स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से दयानन्द ने "पुन: वेदों की ओर" का वैसा ही नारा दिया था जैसा कि रूसो ने विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति से जनित सामाजिक असमानता का अन्त करनें तथा समानता और स्वतंत्रता पर आधारित समाज की पुन प्राप्ति के लिये 'पुन: प्रकृति की ओर" का नारा दिया था। वैदिक आदर्शों के अनुकूल समाज को पुनजीवित करने के दयानन्द के विचारों ने आधुनिक भारत मै पुनरूत्थानवादी (Revivalist) विचारों का मूल मंत्र यह था कि प्राचीन वैदिक काल की सामाजिक–नैतिक व्यवस्था स्वर्णिम थी और उन्हीं आदर्शों के अनुसार आधुनिक समाज को ढाला जाय ।

8. दयानन्द की शिक्षा योजना :

प्लेटो की भांति दयानन्द सरस्वती भी शिक्षा को समाज की पुनरचना का एक सशक्त साधन मानते थे। उनकी मान्यता थी कि शिक्षा का सामाजिक एवं वैयक्तिक महत्व है । वैयक्तिक स्तर पर शिक्षा व्यक्ति के चरित्र–निर्माण का तथा उसे ज्ञान प्रदान करने का साधन है। शिक्षा का सामाजिक महत्व इसमें है कि इसके द्वारा सामाजिक एकता तथा सामाजिक चेतना के भावों का निर्माण किया जाता है । शिक्षा की इतनी महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करने के कारण दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश का पूरा तीसरा अध्याय अपने शिक्षा संबंधी विचारों को स्पष्ट करने के लिये लिखा है। ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में उनकी शिक्षा–योजना प्रस्तुत की गई हैं । दयानन्द की शिक्षा–योजना के सार–तत्व इस प्रकार हैं दयानन्द की धारणा है कि शिक्षा व्यक्ति के चरित्र–निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन है । क्यों कि व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य नैतिक–धार्मिक है, अतः शिक्षा का आधार भी नौतिक–धार्मिक होना चाहिये । प्लेटो की भांति दयानन्द की भी मान्यता है कि शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये । माता–पिता को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वे अपने बच्चों को शिक्षा दे अथवा नहीं । राज्य का यह दायित्व है कि वह समाज के सभी सदस्यों की शिक्षा का समूचित प्रबंध करे, तथा उन्हें शिक्षा दे । सत्यार्थ प्रकाश में वे लिखते हैं कि, "राजा का यह कर्तव्य हैं कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि लड़कियाँ तथा लड़के ब्रह्मचार्य का पालन करें तथा शिक्षा को प्राप्त करें । इसकी अवज्ञा करने वाले माता–पिताओं को दन्डित किया जाना चाहिये । राज्य के नियमानुसार माता–पिता के लिये यह आवश्यक हो कि वे आठ वर्ष की आयु के बाद बच्चों को घर पर न रख सकें ।"'दयानन्द का विचार है कि समाज के सभी वर्णो के स्त्री–पुरूषों को शिक्षा दी जानी चाहिए । समाज के सभी सदस्यों को ।शिक्षा देने से उनमें ज्ञान आयेगा तथा वे अपने–अपने नियत कर्तव्यों को कुशलता पूर्वक कर सकेंगे । दयानन्द की यह मान्यता प्लेटो के विचारों के अनुकूल ही है कि शिक्षा से व्यक्ति के ज्ञान की वृद्धि होती है, उसका चरित्र–निर्माण होता है तथा उसमें कर्त्तव्यों

के पालन करने की क्षमता विकसित होता है । राज्य द्वारा संचालित अनिवार्य शिक्षा के दयानन्द के इस प्रस्ताव के पीछे उनकी यह मान्यता थी कि शिक्षा के माध्यम से देश में पुनर्जागरण के भाव पैदा किये जा सकते हैं । दयानन्द केवल शिक्षा के रचनात्मक महत्व को ही नहीं बताते अपितु वे । इससे भी आगे बढ़ कर चरित्र निर्माण के लिये उपयोगी शिक्षा के पाठयक्रम का भी निर्धारण करते हैं । उनकी मान्यता है कि आयु के अनुसार विद्यार्थियों को व्याकरण, दर्शन, संगीत, विज्ञान, औषधि–शास्त्र तथा वेदों का अध्ययन कराया जाय।

9. दयानन्द के राजनीतिक विचार:

स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार मुख्यतः सत्यार्थ प्रकाश के अध्यायों में व्यक्त किये गये हैं । उनके राजनीतिक विचारों के प्रेरणा–स्रोत मनुस्मृति और वेद ही है। इन धर्म–ग्रंथों में जिन राजनीतिक आदर्शों एवं व्यवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है, दयानन्द ने उन विचारों को स्वीकार कर उन्हें सत्यार्थ प्रकाश में स्थान दिया है ।

9.1 राजतंत्र में विश्वास :

दयानन्द राजतंत्र को आदर्श शासनतंत्र मानते हैं । उनका विश्वास था कि प्राचीन भारत में राजतंत्र ही एक आदर्श शासन–व्यवस्था थी अत: इसे आज भी स्वीकार कर लिया जाय । राजा का कार्य समाज, धर्म तथा न्याय की रक्षा करना है । यद्यपि दयानन्द राजा को समाज का सर्वोच्च अधिकारी मानते हैं, किन्तु उनकी मान्यता का राजा धर्म और नैतिकता के नियमों से बँधा हुआ है । दयानन्द निरंकुश राजतंत्र के समर्थ नहीं हैं; उनकी मान्यता है कि राजा पर नैतिक नियमों के अंकुश हैं । इसके अतिरिक्त, उनका मत है कि राजा को प्रशासन के कार्य में सहायता देने के लिये निर्वाचित सदस्यों की सभा तथा मंत्री परिषद का होना आवश्यक है । राज्य का प्रशासन चलाने के लिये राजा तथा मंत्री–परिषद के अधीनस्थ विभिन्न विभागों का संचालन करने के लिये प्रशासनिक अधिकारियों को नियुक्त किया जाय । इस पूरे शासनतंत्र का उद्देश्य लोक कल्याण को बढ़ावा देना है । राजा लोग कल्याण का अविभावक है अत: उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने शासितों के सुख, स्वास्थय एवं समृद्धि के लिये कार्य करे । यदि शासितों में सुख–समृद्धि है तब राज्य में स्वत: ही सुख–समृद्धि संभव होगी, जिसकी कि प्राप्ति करना राजा का परम कर्त्तव्य है । दयानन्द की मान्यता है कि राजा अपनी प्रजा के लिये पिता के समान है और उसी तरह प्रजा को भी अपने राजा को पितृवत मानना चाहिये। प्रजा नरेशों की भी नरेश है और राजा प्रजा का केवल संरक्षक है । न तो प्रजा के बिना राजा संभव है और न राजा के बिना प्रजा का संरक्षण संभव है । दयाननद स्वीकार करते हैं कि सार्वजनिक हितों के मामलों में राजा और प्रजा अन्तर–निर्भर होते हैं किन्तु व्यक्तिगत मामलों में उन्हें स्वतंत्र रहना चाहिये ।

9.2 राजा के कार्य :

गहराई से देखने पर स्पष्ट होता है कि दयानन्द ने राज्य के लोक कल्याणकारी कार्यो पर बल दिया है । दयानंद की मान्यता है कि राजा का कार्य राज्य में सुशासन, न्याय, शांति तथा धर्म की स्थापना करना है । राजा स्वयं नैतिक एवं धार्मिक नियमों से शासित होता हैं

उसी प्रकार उसे राज्य में भी विधि के अनुकूल शासन करना चाहिये। दयानन्द का मत है कि प्रजा को कानून के समक्ष समान माना जाय। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यो, न हो, विधि के सामक्ष समान होता हैं । विधि के समक्ष समानता ही सच्चा न्याय है और राजा का कर्तव्य ऐसे न्याय को स्थापित करना है । सभी व्यक्ति न्याय के अधीन हैं, उससे ऊपर नहीं। राजा का अन्य कर्तव्य प्रजा के लिये शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना है । यदि राज्य में सुशासन है तभी राज्य में शांति संभव है; शांति एवं सुरक्षा के अभाव में राज्य नष्ट हो जाता है । अत: राजा का परम कर्तव्य प्रजा की सुरक्षा है । दयानन्द की मान्यता है कि, 'जिस राजा के राज्य में प्राधकारियों के सम्मुख लुटेरे लूट मचाते हों तथा शासितों की हत्या करते हों, तब यह मान लेना चाहिये कि वह राजा और उसके अधिकारी मर चुके है । शासकों को अपने लोगों के प्रति जवाबदेह तथा उत्तरदायी होना चाहिये तथा भ्रष्टाचार और अयोग्यता के कारण उन्हें हटा भी दिया जाना चाहिये। संक्षेप में राजा का परम कर्त्तव्य राज्य में शांति, व्यवस्था एवं नागरिकों की सुरक्षा करना तथा विधि के अनुकूल न्याय की स्थापना करना है ।

9.3 विधि के अनुकूल शासन :

दयानन्द ने शासन में कानून के महत्व पर बल दिया है। उनकी यह धारणा थी कि शासक को काल के आधार पर शासन करना चाहिये। केवल कानून पर आधारित व्यवस्था ही व्यक्ति को न्याय दिलाती हैं। दयानन्द के विचारानुसार कानून ही राज्य का सच्चा शासक हैं; कानून ही राज्य का प्रमुख तथा न्याय का प्रशासक है । जहाँ कानून हैं वहाँ धर्म हैं, क्यों कि कानून स्वयं धर्म का व्यक्त रूप हैं । कानून के स्वरूप के संबंध में दयानन्द की मान्यता थी कि इसे सुस्पष्ट, प्रविचलित एवं दृढ़ होना चाहिये क्यों कि विचलित होने वाला कानून राज्य की व्यवस्था को नष्ट कर देता हैं । राजा को चाहिये कि वह राज्य में कानूनों का उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दे जिससे कि भविष्य में अपराध करने वालो का साहस न हो। अपराधियों को कठोर दण्ड देने के सिफारिश करते हुए दयानन्द लिखते हैं कि, "कानून का भंग करने वालों को उनका अंग–भंग कर के, जला कर मार देने अथवा उनको कुत्तों द्वारा नोच कर मार डाले जाने जैसे निवारक दण्ड से दंडित किया जाना चाहिये।" दयानन्द के कानून संबंधी विचार स्पष्ट करते हैं कि उनका कानून की सत्ता में प्रबल विश्वास था तथा वे कानून को राजा और प्रजा दोनों का ही शासक मानते थे ।

9.4 लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था:

यद्यपि दयानन्द ने राजतंत्र का समर्थन किया हैं किन्तु उनकी धारणा का राजतंत्र लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं से सीमित हैं । दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शासन व्यवस्था के संगठन के स्वरूप को देख कर यह कहा जा सकता हैं कि दयानन्द की लोकतांत्रिक प्रणाली में भी आस्था थी। शासन संचालन के लिये दयानन्द ने तीन प्रकार की सभाओं ("Assemblies") की कल्पना की हैं। राज्य की वे तीन सभाएं हैं–धर्म सभा, विद्या सभा तथा शासन सभा। राजा को राज्य का प्रशासन इन तीनों सभाओं की सहायता से करना चाहिये। इन तीनों सभाओं का संगठन कैसा हो, इनके क्या कार्य हैं तथा राजा के साथ इन सभाओं के संबंध

किस प्रकार के हों, इन प्रश्नों का विवेचन करते हुए दयानन्द लिखते हैं. "इसका अर्थ यह हैं कि किसी भी व्यक्ति के हाथों में असीमित सत्ता नहीं सौंपी जानी चाहिए । राजा, सभा (Assembly) का अध्यक्ष हैं, तथा राजा और सभा को अन्योन्योश्रित (Interdependent) होना चाहिये। इन दोनों का नियंत्रण प्रजा द्वारा किया जाना चाहिये, तथा प्रजा पर सभा का शासन होना चाहिये–जब जनता दुष्ट और अन्यायी हो जाती हैं, तब उनका सर्वनाश ले जाता हैं। अत: राष्ट्र के लिये यह आवश्यक हैं कि वह अत्यन्त विद्वान लोगों को शिक्षा सभा के लिये, अत्यन्त धार्मिक व्यक्तियों को धर्म सभा के लिये, तथा अतीव सराहनीय चरित्र वाले व्यक्तियों को राज्य सभा (विधान सभा) के लिये चुने; तथा इस सभा में उस व्यक्ति को राज्य सभा का प्रमुख अथवा अध्यक्ष बनाया जाय जिसमें सर्वश्रेष्ठ गुण हो जो पारंगत हो तथा जिसका अत्यन्त सम्माननीय चरित्र हो। ये तीनों सभाओं को मिल कर सामजस्य के साथ कार्य करें तथा उत्तम विधियों का निर्माण करें, तथा सभी इन नियमों का पालन करें । वे सभी एकचित होकर ऐसे कार्यों का निष्पादन करें जिससे कि सार्वजनिक हित का संवर्धन ले। सभी व्यक्तियों को उन कानूनों का पालन करना चाहिये जिन कानूनों के द्वारा सार्वजनिक हित को बढावा मिलता हैं; जो मामले वैयक्तिक हित के हैं उनमें मामलों में व्यक्ति को स्वतंत्र होना चाहिये।: '1 दयानन्द के इन विचारों में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के प्रति उनकी आस्था प्रकट होती हैं । वे निवार्चित सभाओं के द्वारा शासन संचालन का प्रतिपादन करते हैं; समाज के विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिये वे शिक्षा, धर्म तथा शासन जैसी भिन्न–भिन्न संस्थाओं की कल्पना करते हैं; इस कार्य विभाजन के साथ–साथ वे इन संस्थाओं के समन्वयी तरीके से कार्य करने की विधि पर बल देते हैं तथा सरकार को नियंत्रित रखने के लिये वे अवरोध और संतुलन के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं । दयानन्द गाँव को प्रशासन की इकाई मान कर एक विकेन्द्रित शासन व्यवस्था का समर्थक हैं ।

दयानन्द के राज्य संबंधी विचारों का अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दयानन्द की राज्य की धारणा धर्मतंत्री राज्य की धारणा नहीं अपितु यह एक सामाजिक लोककल्याणकारी राज्य की कल्पना थी । यह निरंकुश राज्य का सिद्धान्त नहीं था; दयानन्द की कल्पना का राज्य सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक दायित्वों से प्रेरित एवं शासित हैं । सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था करना, धर्म की रक्षा, निराश्रितों एवं विधवाओं की रक्षा, राज्य के सेवाकर्मियों को पेंशन देना, बाल–विवाह को रोकना, अथवा न्याय की व्यवस्था करना इत्यादि कार्यो को राज्य के दायित्व निर्धारित करके दयानन्द ने लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का ही प्रतिपादन किया हैं ।

10. आर्य समाज

भारत के पुनर्जागरण काल की प्रभात बेला में जहाँ एक ओर सामाजिक–धार्मिक दृष्टि से प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन किया गया था, वही दूसरी ओर उन सिद्धान्तों पर आधारित तथा उन सिद्धान्तों का प्रचार करने की दृष्टि से विभिन्न संगठनों की भी स्थापना की गई थी। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की,

केशव चन्द्र सेन ने "भारतीय ब्रह्म समाज" तथा शिवनाथ शास्त्री इत्यादि द्वारा 'साधारण ब्रह्य समाज' की स्थापना की थी । इसी समाज–सुधार के संगठनों की श्रृंखला में आर्य समाज भी एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं । आर्य समाज की स्थापना दयानन्द सरस्वती द्वारा अपने विचारों को प्रसारित करने के लिये तथा उन विचारों का अनुसरण करने वाले अनुयायियों के माध्यम से समाज सुधार के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की दृष्टि से की गई थी । आर्य समाज की स्थापना सर्व प्रथम 1875 में बम्बई में की गई थी तथा जिसके अठाईस सिद्धान्तों की घोषणा की गई थी । कुछ कारणों से आर्य समाज के संगठन तथा उसके सिद्धान्तों में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया था अत: दयानन्द ने अपने सहयोगियों की सलाह पर संगठन की पुनरचना की। फलस्वरूप 1877 में लाहौर में आर्य समाज को नया रूप प्रदान किया गया। लाहौर में इसका नया संविधान बनाया गया तथा अठाईस सिद्धान्तों के स्थान पर दस सिद्धान्त स्वीकार किये गये ।

आर्य समाज की स्थापना के बारे में लेखकों के दो परस्पर विरोधी विचार पाये जाते हैं। पहला मत इस संस्था के अनुयायियों का है जिनकी धारणा है कि आर्य समाज की स्थापना का सकारात्मक उद्देश्य था । आर्य समाज का स्पष्ट उद्देश्य, बिना किसी प्रकार की अन्य धर्मो के प्रति दुर्भावना के, विश्व भर में वैदिक धर्म तथा वैदिक मूल्यों का प्रसारण करना मात्र था । इनका कहना है कि यदि दयानन्द ने ईसाई धर्म तथा इसलाम में पाई जाने वाली कुछ रूढ़ीवादी मान्यताओं की आलोचना भी की है, तो यह उनकी विवेक सम्मत उस मान्यता के आधार पर की है जिस प्रकार दयानन्द ने हिन्दू धर्म में प्रचलित अविवेकशील प्रथाओं और सिद्धान्तों की आलोचना की है । इस संबंध में स्वयं दयानन्द का कथन है कि, 'यद्यपि मेरा जन्म आर्यावर्त में हुआ है और अभी भी मै उसमें रहता हूँ, फिर भी मैं इस देश में प्रचलित धार्मिक पाखण्डों का समर्थन न करके उनकी दुर्बलताओं का भण्डा फोड़ करता हूँ । ---------- उसी प्रकार मै दूसरे देशों के धर्मों तथा उनके समर्थकों के बारे में भी करता हूँ । जहाँ तक मानवजाति के उत्थान का प्रश्न हैं, मै विदेशियों के प्रति वैसा ही व्यवहार करता हूँ जैसा कि मै अपने देशवासियों के लिये करता हूँ । सभी मनुष्यों के लिये यह वांछनीय हैं कि वे एक समान व्यवहार करें ।" आर्य समाज के सकारात्मक विश्वमूलक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए दयानंद लिखते है: "समाज का प्राथमिक उद्देश्य मानव जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में सुधार कर के समस्त विश्व का भला करना हैं ।" किन्तु आर्यसमाज की उत्पत्ति के संबंध में एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। इस मत में विश्वास करने वाले लेखकों की मान्यता हैं कि आर्य समाज की स्थापना ईसाई तथा इस्लाम के भारत में बढ़ते, हुए प्रभाव के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुई थी । जवाहर लाल नेहरू का इस संबंध में कथन हैं कि, "आर्य समाज इस्लाम तथा ईसाई प्रभाव के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया थी, विशेषत: इस्लाम के विरूद्ध। यह समाज के आन्तरिक मामलों के लिये एक धर्मयुद्ध कर्ता (Crusading) सुधारवादी आन्दोलन था तथा बाहिरी आक्रमणों के विरुद्ध यह एक रक्षात्मक संगठन था ।"'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर आर्य समाज की स्थापना के संबंध में पंडित नेहरू का यह दृष्टिकोण सही

प्रतीत होता हैं । आर्य समाज की एक दृष्टि समाज–सुधार पर थी किन्तु उसकी दूसरी दृष्टि अन्य धर्मों से आने वाली चुनौतियों की ओर भी थी ।

10.1 आर्य समाज के उद्देश्य:

लाहौर में आर्य समाज की स्थापना (1877) के समय उसके संविधान तथा उसके दस उद्देश्यों को स्वीकार किया गया था। समाज के अनुयायियों के लिये जिन दस सिद्धान्तों का मानना आवश्यक है वे इस प्रकार हैं–

1. ईश्वर सच्चे ज्ञान का तथा इसके नाम पर पहिचानी जाने वाली समस्त वस्तुओं का प्राथमिक कारण है ।
2. ईश्वर सर्व–सत्य, सर्व ज्ञान, सर्व सौन्दर्य, अमूर्त्त, सर्वशक्तिमान, न्यायपूर्ण, दयालु, अजन्मा, असीम, अपरिवर्तनशील, अनादि, अतुल्य, सभी का स्वामी तथा संबल, सर्व व्यापी, सर्वज्ञ, अनश्वर, अमर, भयातीत, शाश्वत पवित्र तथा समस्त विश्व का कारक हैं। केवल यही ईश्वर पूजनीय हैं ।
3. वेद सच्चे ज्ञान के ग्रंथ है तथा यह प्रत्येक आर्य का परम कर्त्तव्य हैं कि वह इनका अध्ययन करे अथवा श्रवण करे तथा वह दूसरों को इसका पठन–पाठन कराये।
4. आर्य को सत्य को स्वीकार करने तथा असत्य का त्याग करने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये ।
5. सभी कार्य सद्गुणों के अनुकूल होने चाहिये, अर्थात् कार्यो को सभी प्रकार से यह देख कर कि वे सही अथवा गलत हैं, इसके पश्चात् ही उन्हें करना चाहिये ।
6. समाज का मूल उद्देश्य समस्त संसार का हित संवर्धन करना है, जिसे मानव जाति की शारीरिक, अध्यात्मिक तथा सामाजिक स्थितियों को सुधार कर प्राप्त किया जाता है ।
7. सभी के साथ प्रेम, न्याय तथा उनके गुणों का समुचित आदर के साथ व्यवहार किया जाना चाहिये ।
8. अज्ञान को दूर करे तथा ज्ञान का प्रसार किया जाय ।
9. किसी को भी केवल स्वयं के हित से ही संतुष्ट नहीं रहना चाहिये किन्तु प्रत्येक को अपनी समृद्धि को दूसरी की समृद्धि से जुड़ी हुई मानना चाहिये ।
10. वे मामले जो हमारी प्रजाति के सामान्य सामाजिक हितों को प्रभावित करते हैं, ऐसे सामान्य हित के मामलों में किसी की वैयक्तिकता को हस्तक्षेप नहीं करने दिया जाना चाहिये, किन्तु विशुद्ध व्यक्तिगत मामलों में प्रत्येक को स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करना चाहिये ।

10.2 आर्य समाज का प्रभाव

आर्य समाज के इन सिद्धान्तों का उत्तरी भारत में काफी स्वागत हुआ था । पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा राजपूताना की अनेक देशी रियासतों में आर्य समाज के अनेक अनुयायी बने तथा उसके सिद्धान्त और संगठन का विस्तार हुआ । आर्य समाज के सिद्धान्तों एवं

मूल्यों के प्रसार के लिये दयानन्द एंग्लो वर्नाक्युलर (डी.ए.वी.) महाविद्यालयों तथा गुरूकुल जैसी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गई । समाज ने परोपकारिणी सभा जैसी धर्मार्थ संस्था की भी स्थापना की जिसका कार्य संचालन 23 सदस्यों की एक ट्रस्ट समिति के हाथों सौपा गया । यदि डी.ए.वी. महाविद्यालयों तथा गुरूकुलों ने शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज के आदर्शों का प्रसार करने के सराहनीय कार्य किया था, तो परोपकारिणी सभा ने भी वेद तथा वेदांगो के ज्ञान के प्रसारण के क्षेत्र में तथा विदेशों में समाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के कार्य मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी । आर्य समाज ने इस प्रकार भारतीय समाज के सामाजिक, धार्मिक तथा शैक्षणिक दायरों में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया । इसके आदर्शों ने भारतीय समाज को उसकी जाति–ग्रस्त रूढ़ियों तथा धार्मिक अन्ध विश्वासों से मुक्त करने में रचनात्मक योगदान दिया तथा मध्ययुगीन मूल्यों से अवरूद्ध भारतीय समाज को सामाजिक विकास के नये मार्ग की ओर अग्रसर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया । यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि दयानन्द तथा आर्य समाज के सिद्धान्तों तथा इनके क्रिया–कलापों से भारत में एक नवीन सामाजिक चेतना तथा देशप्रेम की भावना का आविभवि हुआ । यही धार्मिक एवं सामाजिक चेतना कालान्तर में भारतीय राजनीतिक एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने वाली रचनात्मक शक्ति सिद्ध हुई । उत्तरी भारत में सामाजिक चेतना को जागृत कर आर्य समाज तथा दयानन्द के विचारों ने राजनीतिक चेतना का बीजारोपण किया । भारतीय राष्ट्रवाद को आर्य समाज का यह रचनात्मक योगदान रहा है ।

11. दयानन्द के विचारों का मूल्यांकन:

1. दयानन्द के विचारों का सकारात्मक पक्ष

राजा राममोहन राय तथा स्वामी विवेकानन्द की भांति दयानन्द को भी आधुनिक भारत के समाज सुधारको में अग्रणी स्थान दिया जाता हैं । तत्कालीन भारतीय समाज की अनेक सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं को हल करने की दिशा में दयानन्द ने पथ प्रदर्शक का कार्य किया । जाति के भेदभावों की बनावटी दीवारों को तोड़ कर दयानन्द ने जाति के निर्धारण के नये मूल्यों का निर्धारण किया; बाल–विवाह की सामाजिक कुरीति के उन्मूलन की ओर उन्होंने साहसिक कदम उठाया बाल–विधवाओं के सामाजिक पुनर्वास का प्रतिपादन किया तथा समाज के अछुतों को गले लगा कर उन्हें समाज की बिरादिरी में सम्मानीय स्थान दिलाने का मार्ग खोला। तत्कालीन रूढिवादी हिन्दू समाज में परिवर्तन लाने के लिये दयानन्द के ये सामाजिक विचार उत्प्रेरक कारक सिद्ध हुए । धार्मिक स्तर पर मूर्तिपूजा का खण्डन करके तथा करोड़ देवी–देवताओं की मान्यता के स्थान पर एक एकेश्वरवादी ईश्वर की धारणा को प्रस्तुत करके दयानन्द ने देश में धार्मिक एकता का आधार तैयार किया । वैदिक काल की गरिमा को उजागर उसकी पुनप्राप्ति के आदर्श की कल्पना ने भारतीयों में एक नया विश्वास जागृत किया हक उनका भी कभी एक स्वर्णिम काल था जिसका पुनरूद्धार किया जा सकता हैं । शिक्षा तथा परोपकारी कार्यो। के क्षेत्र में भी दयानन्द के विचारों का रचनात्मक योगदान रहा । दयानन्द द्वारा हाथ में लिये गये सुधारों की योजना ने उन्नीसवीं शताब्दी भारत में रचनात्मक सामाजिक–राजनीतिक चेतना की आधार–शिला प्रदान की । यद्यपि दयानन्द ने प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश उपनिवेशवाद

तथा शासन का विरोध नहीं किया था, किन्तु उनके विचार राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थे। वे स्व–शासन की सुशासन से सदा श्रेयस्कर मानते थे । उनका कथन था कि भूतकाल में कौरवों, पाण्डवों तथा यादवों के विग्रहों ने भारत की एकता को नष्ट कर दिया था; उसी प्रकार की विग्रहात्मक शक्तियाँ आज समाज की एकता को नष्ट कर रही हैं । अत: वे मानते थे कि इतिहास से सीख लेकर राष्ट्रीय एकता की रक्षा तथा देश प्रेम के भाव स्पष्ट ह दयानन्द कें इन विचारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज के सुधार एवं उत्थान के क्षेत्र में उनका योगदान बहु–आयामी एवं रचनात्मक था । भारतीय समाज को उसके मध्ययुगीन सामाजिक–धार्मिक पर्यावरण से बाहर निकाल कर उसे सुधारवादी पर्यावरण की ओर अग्रसर किया, यह दयानन्द का भारतीय समाज को रचनात्मक योगदान है ।

दयानन्द के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों में जहाँ एक ओर सामाजिक सुधार तथा सामाजिक एकता की उत्कृष्टा है वही दूसरी ओर उनके विचारों का स्वरूप नितान्त "मानवतावादी" हैं । उनके विचारों का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति है जिसके सम्पूर्ण सुधार की योजना सत्यार्थ प्रकाश में प्रस्तुत की गई हैं । दयानन्द व्यक्ति के भौतिक एवं नैतिक उत्थान के प्रबल समर्थक है । बाल–विवाह, शिक्षा, कुटुम्ब व्यवस्था न्याय धन की व्यवस्था को नियमित करना तथा जाति एवं अप्रस्पृश्यता जैसे प्रश्नों की विवेचना दयानन्द ने केवल इसी लक्ष्य के अनुकुल ही किया है कि 'व्यक्ति' का उत्थान कैसे हो । उनकी राज्य की अवधारणा भी इसी मानव तथा मानवीय सुख के लिये ही हैं । यद्यपि उनके विचारों में कहीं–कही आवश्यकता से अधिक विस्तार तथा रूढिवादी मान्यनाएँ है, किन्तु इनके बीच में जो तत्व सुस्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है । वह है उनका "मानवतावाद" (Humanism) । उनके विचारों का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति हैं जिसके भौतिक, नैतिक तथा सामाजिक उत्थान की आवश्यकता पर वे बल देते है । दयानन्द के विचारों का मानवतावादी दृष्टिकोण आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की अनुपम उपलब्धि है ।

यद्यपि दयानन्द के विचारों ने सामाजिक–धार्मिक सुधार के क्षेत्र में अद्वितीय रचनात्मक योगदान दिया, उनके विचारों की एक अनर्निहित दुर्बलता भी हैं । दयानन्द के विचारों में पुनरूत्थानवाद (Revivalism) के बीज निहित है । यद्यपि दयानन्द ने समाज सुधार का प्रतिपादन किया था किन्तु उनकी प्रेरणा के आदर्श–बिन्दु भूतकाल में थे । वेदों तथा वैदिक ज्ञान और मूल्यों को सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दयानन्द के विचारों ने उन आदर्शों को पुनजीवित करने की चिन्तन की एक ऐसी परम्परा को शुरू किया जिसका अनुसरण आधुनिक भारत में हिन्दू महासभा तथा अन्य पुनरूत्थानवादी संगठनों ने किया । दूसरा, आर्य समाज का दायरा हिन्दुओं को संगठित करने तक ही सीमित था जिससे भारतीय समाज के अन्य धर्मों एवं समुदायों ने इसे शंका की दृष्टि से देखा। दयानन्द के विचारों से हिन्दू राष्ट्रवाद के तत्वों को पोषण मिला जब की आवश्यकता भारतीय एकता तथा राष्ट्रवाद के तत्वों को पोषित करने की थी ।

12. संदर्भ ग्रंथ

हर विलास शारदा : लाइफ ऑफ दयानन्द सरस्वती

श्री अरविंद : बंकिम, तिलक, दयानन्द
के. पी. जायसवाल : हिन्दू पोलिटी
बी. बी. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एंड पोलिटीकल आइडियाज: फ्राम राम मोहन टु दयानन्द

13. अभ्यास प्रश्न

1. दयानन्द के विचारों की पृष्ठभूमि स्पष्ट कीजिए।
2. दयानन्द के सामाजिक दर्शन की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं? चर्चा कीजिए ।
3. दयानन्द के धार्मिक विचारों पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए ।
4. दयानन्द के प्रमुख राजनीतिक विचार एवं मंतव्य क्या थे? स्पष्ट कीजिए
5. आर्य–समाज का मूल्यांकन कीजिए ।

इकाई–6
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद एवं स्वराज्य के मूल स्वर

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. विषय प्रवेश
3. राष्ट्रवादी स्वर
4. स्वराज्य का व्यापक संदर्भ
   - 4.1 उदारवादी संदर्भ दादा भाई नौरोजी
   - 4.2 उग्रवादी संदर्भ बाल गंगाधर तिलक
   - 4.3 हिन्द–स्वराज्य का संदर्भ : गांधी
5. निष्कर्ष
6. संदर्भ–ग्रन्थ
7. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप यह समझ सकेंगे कि–

1. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद के क्या मूल स्वर उच्चारित हुए हैं; तथा
2. स्वराज्य के संदर्भ में मूल प्रतिनिधि संकल्पनाएं क्या रही है? तथा
3. दोनों ने समन्वित रूप से आधुनिक चिंतन को किस प्रकार, कितना प्रभावित किया है

2. विषय–प्रवेश

राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद की अवधारणा एक विवादास्पद विषय है–इसको विभिन्न अर्थो व दृष्टिकोणों से देखा गया हैं । हमारे लिए यह प्रासंगिक होगा कि हम इन तत्वों को भारतीय विचारों में खोजने की कोशिश करें जिनका उद्‌गम भारतीय अनुभवों एवं वातावरण में हुआ है ।

3. राष्ट्रवादी स्वर

हम बी. आर. अम्बेडकर से आरम्भ करेंगे। उनके यह विचार इस विषय पर अद्‌वितीय हैं । उनके दृष्टिकोण में 'राष्ट्रीयता एक आत्मपरक मनोवैज्ञानिक भावना है यह एकता का भाव है जो इस भाव से ओत–प्रोत है उनमें यह भाव है कि वे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है यह राष्ट्रीय भावना के दो रूप है यह देशवासियों में घनिष्ठ संबंध बनाती हैं जो विरोधियों में विरोध का भाव पैदा करती हैं–" । यह एक तरफ एकता भाव पैदा करती हैं ।

बी. डी. सावरकर भी इसी दृष्टिकोण को मानते है उनके विचार से, 'एक सावयव राष्ट्र की अनिवार्य शर्त है कि वे एक सम्भागी राष्ट्रीय भाव में आबद्ध हो''।

श्री अरविन्द धर्म को महत्व देते है । उनके दृष्टिकोण में धर्म समूहिक भाव बनाने में एक महत्वपूर्ण है । उनके अनुसार राष्ट्रवाद एक धर्म है जिसके द्वारा ईश्वर की उपस्थिति का आभास देशवासियों में हम करते है उनके शब्दों में, 'हम उनका (ईश्वर का) अनुभव 3 करोड़ लोगों में करने की कोशिश करते है..... हम अपने लिए जिन्दा रहने का प्रयत्न नहीं करते वरन् दूसरों के लिए कार्य करते या मरते है जब बंगाल में एक नवयुवक को जेल जाने को कहा जाता है, यह कष्ट उठाने को कहा जाता है उसे उसमें कष्ट नहीं होता उसे कष्ट उठाने में डर नहीं लगता....." यह अपने स्व को नकारने का और उच्च उद्देश्य की प्राप्ति का विचार हैं । आप्पादोराय के अनुसार श्री अरविन्द ने बौद्धिक व धार्मिक महत्व दिया है और एक राष्ट्रवादी कार्यकर्ता को देश के लिए कार्य करने को प्रेरित करता है ।

विपिन चन्द्र पाल श्री अरविन्द के विचारों का अनुमोदन करते है । उनकी राय में राष्ट्रीय आन्दोलन भारत में एक आध्यामिक आन्दोलन है । इसके पीछे निरपेक्ष दर्शन 'Philosophy of Absolute' छिपा हैं । यह मानव को भगवान का स्वरूप समझता है एवं सामाजिक व नागरिक संस्थाओं को मानव द्वारा भगवान की प्राप्ति साधन है ।

रविन्द्रनाथ टेगोर भारतीय राष्ट्रवाद की कमियों से परिचित थे। उन्होंने अपने लेख में यह बताया कि भारत के राष्ट्रवाद में आधार (Basis) की कमी है । भारतीय समाज में गतिशीलता व अन्तक्रिया का अभाव है । यहां जातियों व उपजातियों में खान–पान व शादी सम्भव नहीं है । उनके शब्दों में 'क्या ये नैतिक बाधाएं हमारे देश की राजनैतिक एकता के बीच बाधा के रूप में खड़ी नहीं होगी?"

हमें एक तीसरा तत्व भारतीय राजनैतिक विचारों में दिखाई देता है वह है राष्ट्रवाद की अवधारण में मातृभूमि का विचार । यह विचार गोलवालकर द्वारा प्रस्तुत किया गया है । गोलवालकर के अनुसार यह सर्वमान्य तत्व है कि किसी भूमि में रहने वाले लोग उस भूमि को अपनी मां समझते हो एवं उसके प्रति भक्ति या श्रद्धा का भाव हो एवं उन लोगों के जीवन का लक्ष्य एक सा हो, एक सी संस्कृति हो, एवं विश्व के अन्य लोगों के प्रति मित्रता या शत्रुता के सम्बन्ध में एक से विचार हो एवं उनका एकसा इतिहास में अनुभव रहे हो इस प्रकार के लोग एक राष्ट्र कहलाते हैं । उनके दृष्टिकोण में वे लोग भूमि पवित्र मानते है ।

डा. राजेन्द्र प्रसाद अपनी पुरूक 'India Divided' में इस बात पर जोर देते हैं कि व्यक्तिगत राष्ट्रीयता एवं राजनैतिक राष्ट्रीयता में अन्तर किया जाना चाहिए । व्यक्तिगत राष्ट्रीयता व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों पर आधारित हैं ।

राजनैतिक राष्ट्रीयता राज्य की सदस्यता पर निर्भर है । राज्य व राष्ट्रीयता समान आधार पर नहीं होते।

डा0 राजेन्द्र प्रसाद के विचारों का सार यही है कि राज्य के निर्माण का एक महत्वपूर्ण तत्व है पर यह एक मात्र तत्व नहीं ।

अगर हम उपर्युक्त विचारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालें तब हम पाएंगे कि पहला दृष्टिकोण श्री अरविन्द का हैं उनके अनुसार राष्ट्रीयता एक धर्म हैं हर व्यक्ति को उसमें भाग

लेना चाहिये। उसका कर्तव्य है कि वह देश के लिए कार्य करें । सतही तौर पर देखने पर यह महत्वपूर्ण दिखाई देता है क्योंकि भारत में लोगों का धर्म पर अमित विश्वास है हालांकि राज्य के सभी लोग धार्मिक विचारों के नहीं है अत: इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता । गोलवालकर ने भूमि को अत्यधिक महत्व दिया किन्तु यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि भूमि का हस्तान्तरण एक राज्य से दूसरे में इतिहास में हुआ हैं ।

4. स्वराज्य का व्यापक संदर्भ

राष्ट्रीयता की अवधारणा पर विचार करने के बाद हम इस स्थिति में हैं स्वराज्य की अवधारणा भारतीय राजनैतिक विचारों में देखने की कोशिश करेंगे। ।

गांधीजी से पूर्व समस्त राजनैतिक गतिविधियां भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के महत्वपूर्ण मुद्दे पर केन्द्रित थी । उनके पास इतना समय नहीं था कि वे आदर्श समाज व्यवस्था के सैद्धांतिक पहलू पर विचार करले जैसा प्लेटो अरस्तु या गांधी ने किया । हालांकि फिर भी उनके विचारों में स्वराज्य की कल्पना निहित है । गांधी से पूर्व भारतीय विचारों में दो प्रकार की धारायें दिखाई देती है । एक उग्रवादी विचारधारा एवं दूसरी उदारवादी विचारधारा थी। हम इन दोनों विचारधाराओं द्वारा प्रस्तुत स्वराज्य की अवधारणा का अध्ययन कुछ विचारकों के विचारों का Case Study के रूप में अध्ययन करेंगे ।

दादा भाई नौरोजी:

हम उदारवादी विचारधारा के प्रेणता दादा भाई नारोजी के विचारों से आरम्भ करेंगे। दादा भाई नारोजी भारतीय राष्ट्रवाद के अग्रणी नेता रहे थे। गोखले के शब्दों में 'ये सर्वश्रेष्ठ देश भक्ति के उदाहरण है जो किसी भी देश ने कभी पैदा किया हो ।"

दादा भाई नारोजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कांग्रेस के प्लेटफार्म से 'स्वराज्य' का विचार रखा । कलकत्ता सेशन जिसके वे अध्यक्ष थे उसका मुख्य विचार स्वराज्य था । अपने भाषण में उन्होंने तीन महत्वपूर्ण अधिकारों पर जोर दिया । पहला अधिकार भारतीय लोगों को प्रचुर मात्रा में P.S.C. में नियुक्तियों देना था दूसरा, वे चाहते थे कि भारत में उपनिवेशों के जैसी व्यवस्थापिकायें बनाई जाएं । तीसरी मांग का सम्बन्ध वित्तीय सम्बन्धों से था । उनके शब्दों में–

'स्वशासन ही केवल समस्या का एक मुख्य निराकरण हैं । स्वशासन में हमारी आशा, शक्ति व महानता निहित है ।"

उनके सेशन में चार प्रस्ताव पारित हुए । स्वराज्य, स्वदेशी, बायकाट व शिक्षा । वह स्वराज्य ब्रिटेन के अंतर्गत या बिटिश कौलारीज के आधार पर चाहते थे ।

दादा भाई स्वराज्य का तार्किक आधार नैतिक इच्छा मानते थे । उन्होंने पाशविक शक्ति का विरोध किया और नैतिक शक्ति पर जोर दिया । यहां वे ग्रीन की तरह एवं गांधी के पूर्वगामी के रूप में विचार अभिव्यक्त कर रहे थे–

दादा भाई के शब्दों में:

सैनिक शक्ति से साम्राज्य बन सकता है, किन्तु उसे केवल नैतिक शक्ति द्वारा ही सुरक्षित रखा जा सकता है । पाशविक शक्ति कभी न कभी नष्ट होगी नैतिक बल ही हमेशा रहने वाला है ।

अपनी पुस्तक "Poverty and on British Rule in India" में यह दिखाने की कोशिश की कि भारतीय अर्थव्यवस्था से अत्यधिक रूपये का निकास हो रहा है और देश का शोषण हो रहा है । भारत दोहरा कर दे रहा है इंगलैण्ड केवल 8 : दे रहा है जबकि भारत 15: दे रहा है ।

लॉक की तरह दादा भाई भी प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक थे । आर्थिक क्षेत्र में प्राकृतिक शक्तियों के स्वतन्त्र रूप से काम करने के समर्थक थे जैसे कि क्लासिकल अर्थशास्त्री मानते थे । वे इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि शोषण का कारण प्राकृतिक नियमों का स्वतंत्र रूप से कार्य करना है । हालांकि विश्व की राय उस समय स्वतन्त्र व कानूनों के विरोध में थी। सभी उपयोगितावादी इसके विरोध में थे किन्तु भारत में दादा भाई इसे उचित समझते थे । अत: सार रूप हम यह कह सकते है कि स्वराज्य के आर्थिक क्षेत्र में प्राकृतिक कानूनों के स्वतंत्र विचरण पर विश्वास करते थे । उनके अनुसार इसी से समृद्धि आयेगी । उनकी विचारधारा में कुछ समाजवादी विचारधारा के तत्व दिखाई देते है । उन्होंने औद्योगिक समाज का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि श्रमिक लोग ही भारत के आर्थिक विकास में मदद कर सकते है अत: जब डेमोकेण्ट्रस की एक सभा 1905 में 29 जुलाई को हालवर्न टाउन दल में हुई–उन्होंने एक प्रस्ताव रखा एवं मांग की कि विश्व व्यापी वृद्ध अवस्था पेन्शन हो एवं जो कि सभी सम्य देशों के मानव अधिकार पर आधारित हो । जिसका शीर्षक श्रमिकों के अधिकार हो ।

उन्होंने एक औद्योगिक कमीशन कार्य की स्थापना, श्रमिकों के हित के लिये करने की योजना बनाई ।

बाल गंगाधर तिलक:

कुछ लोग उदारवादी विचारधारा की योजनाओं से सन्तुष्ट नहीं थे। इसके फलस्वरूप एक दूसरी धारा जो कि उग्रवादी कहलाती है–ने राष्ट्रीय आदोलन पर प्रभुत्व जमाया । इस धारा के प्रमुख विचारक बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल, श्री अरविन्द घोष थे। हम तिलक के विचारों के एक प्रतिनिधि की हैसियत से अध्ययन करेंगे । तिलक भारतीय दर्शन में विश्वास करते थे । इस दर्शन के अनुसार राज्य का उद्देश्य एवं औचित्य धर्म है–राज्य को उसके सदस्यों के धर्म की रक्षा करना कार्य है । हालांकि राज्य धर्म निरपेक्ष हैं । यह तिलक एवं उनके स्कूल की स्वराज्य की अवधारणा का दार्शनिक आधार था । इन लोगों का हाथों में यह आध्यात्मिक राजनैतिक आन्दोलन बन गया ।

राजनैतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ होम रूल था । उन्होंने स्वराज्य का अर्थ अपने भाषणों में जो कि होम रूल आन्दोलन के समय दिये उसमें स्पष्ट किया । बेलगाव में 1 मई 1916 को उन्होंने संक्षेप स्वराज्य का अर्थ निम्न शब्दों में व्यक्त किया,

"अपने कार्यो का प्रबन्ध अपने हाथ में संभालना ही स्वराज्य की मांग हैं ।" वह एक कदम आगे–आगे बढ़े और कहा कि स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है मै उसे लेकर रहूँगा।'

तिलक होम रूल चाहते थे पर वे इस बात पर तैयार थे होम रूल का ध्येय ब्रिटेन के अन्तर्गत (Suzernity) स्वराज्य की कल्पना में भी संभव है । किन्तु अपने अन्तर्मन में वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे । लेकिन समय अभी परिपक्व नहीं था अत: उन्हें होम रूल के विचार को ब्रिटेन के मातहत (Suzernity) में स्वीकार करना पड़ा।

1907 जबकि उन्होंने अनेकों लेख लिखे उस समय स्वराज्य के प्रजातांत्रिक रूप को स्पष्ट किया वह केवल स्वदेशी रूल की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं थे किन्तु वे शक्ति सचमुच में जनता के बाद चाहते थे। उनके शब्दों में–

"यही काफी नहीं है कि स्वदेशी शासन हो। यह हमें देशी रियासतों में प्राप्त भी है किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न इस बात में है कि जनता कितनी शक्ति स्वयं उपयोग करती है–यह इसमें निहित नहीं है कि शासन देशी है या विदेशी ।"

उन्होंने जर्मनी एवं रूस के उदाहरण प्रस्तुत किये । जर्मनी में सम्राट जर्मन थे वे जर्मन शक्ति को विश्व में बढ़ाना चाहते थे किन्तु जनता ने इसे स्वीकार नहीं किया और वे प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था की कोशिश कर रहे थे।

कुछ आलोचकों के अनुसार तिलक की स्वराज्य की अवधारणा ब्राह्मण शासन व्यवस्था या पेशवा शासन की पुनस्थापना दैवी शासन परन्तु यह दृष्टिकोण गलत है । उनकी स्वराज्य की अवधारणा में जाति या धर्म के आधार पर अन्तर स्वीकार नहीं किया गया । हिन्दु एवं मुसलमान दोनों तिलक के झण्डे के नीचे समान रूप में थे । 1917 में शेहनवरवाड़ा के ऐतिहासिक द्वार पर एक सभा में तिलक ने साम्प्रदायिकता के विरोध में विचार प्रकट किये । उनके शब्दों में–

'साम्प्रदायिक एवं धार्मिक विचारों का राजनैतिक विचारों के साथ मिश्रण देश के लिये घातक सिद्ध होगा । सच्ची एवं निस्वार्थ जनसेवा ही किसी उम्मीदवार को चुनाव में सफलता दिलाती है । जाति एवं सामुदायिक भावना चुनाव के बीच नहीं होनी चाहिये ।"

इसी व्याख्यान में आगे चलकर स्वराज्य के विचार को स्पष्ट किया। उनके शब्दों में–

"आज जिस स्वराज्य की मांग हम कर रहे है वे कल के स्वराज्य से भिन्न है । हम पश्चिमी ढांचे के अनुरूप स्वराज्य चाहते है । ब्रिटेन अपने को स्थापित कर सका क्योंकि हम लोगों हम लोगों में मतभेद रहे हमारे स्वराज्य प्राप्त करने पर भी मतभेद रहे तो हमारा पतन हो जायेगा ।"

तिलक ने केवल स्वराज्य के राजनैतिक अर्थ को ही स्पष्ट नहीं किया बल्कि उन्होंने इसके आध्यात्मिक व नैतिक निष्कर्षो को भी स्वीकार किया । नैतिक दृष्टिकोण से इसका अर्थ अपने कर्तव्यों को पूरा करने में अपने पूर्ण नियन्त्रण हुआ । स्वराज्य एक नैतिक आदर्श था । उसने इसको स्पष्ट रूप से इन शब्दों में कहा ।

वह स्वराज्य को एक अधिकार ही नहीं कर्तव्य के रूप में देखता था यह स्पष्ट रूप से पूर्व का आध्यात्मिक दृष्टिकोण उसके स्वराज्य के विचार में निहित हैं उनके शब्दों में–

"मै कहता हूँ यह हमारा कर्तव्य है कि हम होमरूल ले किन्तु यह पश्चिम का व ऐतिहासिक तरीका हुआ कहने का । किन्तु मै इसके आगे यह कहूँगा कि यह हमारा धर्म है तुम होम रूल को हमसे अलग नहीं कर सकते जैसे कि तुम गर्मी की विशेषता को आग से अलग नहीं कर सकते । दोनों एक दूसरे से अन्योनाश्रित जुड़े हैं ।

वह स्वराज्य के आर्थिक पहलू, पर भी विचार करते है । वह विदेशी चीजों में बहिष्कार करना चाहते थे और स्वदेशी को अपनाने के पक्षधर थे । उन्होंने इस सन्दर्भ में अनेक लेख लिखे एवं भाषण दिया । गणपति उत्सव का भी इसी सन्दर्भ में उपयोग किया ।

सामाजिक क्षेत्र में वे सामाजिक बुराइयां दूर करना चाहते थे । हालांकि वे पश्चिम के तरीके के सामाजिक सुधार के पक्षधर नहीं थे ।

अपने स्वराज्य के विचार में तिलक ने शिक्षा को भी एक महत्वपूर्ण स्थान दिया वह शिक्षा के क्षेत्र में पूर्व व पश्चिम के दृष्टिकोणों का समन्वय करना चहाते थे । भारत की वर्तमान शिक्षा पद्धति द्वारा शिक्षा में पुर्नजागरण लाना सम्भव नहीं था । उन्होंने कहा–

'केवल लिखना व पढ़ना आ सकना ही शिक्षा नहीं हैं । जिसके द्वारा हमें अपने पूर्वजों का ज्ञान हो एवं जो हमें सच्चा नागरिक बना सके, जिसके द्वारा जीविका उपार्जन सम्भव हो, वही शिक्षा है ।"

दूसरे शब्दों में तकनीक व औद्योगिक शिक्षा, शिक्षा की स्कीम का एक महत्वपूर्ण भाग होती है किन्तु भारत में यह मौजूद नहीं है । अपनी शिक्षा योजना में वह पश्चिम द्वारा प्रस्तुत योजना को ही नहीं चाहता बल्कि व पूर्व थे धार्मिक दृष्टिकोण को एक विशिष्ट गुण के रूप में रखना चाहता था ।

उसके दृष्टिकोण में देशभक्ति को शिक्षा योजना के एक भाग के रूप में रखा जाया राष्ट्रीय स्कूलों में शिक्षा को मातृ भाषा में दी जाय एवं अंग्रेजी को एक दूसरी श्रेणी की स्थिति में रखा जाय ।

गांधी:

अब गांधीजी के स्वराज्य विचारों को अध्ययन करने की तरफ मुड़ते हैं । गांधीजी ने अपने स्वराज्य की अवधारणा को 'हिन्द स्वराज्य' में प्रस्तुत किया । यह पुस्तक 1908 में लिखी गई । इसमें स्वराज्य की अवधारणा पश्चिम की अवधारणा से बिल्कुल फर्क है । सामान्यता स्वराज्य का अर्थ जनता का शासन या राजनैतिक स्वतन्त्रता से लिया जाता है । किन्तु उसके विचार बिल्कुल व्यर्थ है । वे एक समग्र दृष्टिकोण को लेकर चलते है । वे साधन व साध्य के समन्वय पर जोर देते है । स्वराज्य व्यक्तिगत, सामाजिक आर्थिक व राजनैतिक स्वतन्त्रता व स्वशासन पर आधारित है । साधन की दृष्टि से वह हिंसा के बदले अहिंसा पर जोर देते थे, पाशविक शक्ति की जगह आत्मिक शक्ति, घृणा की जगह प्यार पर जोर देते थे ।

प्लेटो के रिपब्लिक की तरह गांधी के हिन्द स्वराज्य में एक आदर्श राज्य को प्रस्तुत किया है । यहां उनकी स्थिति एक अराजकतावादी जैसी है । उनके आदर्श समाज में राज्य का

कोई ध्यान नहीं होगा । उनकी व्यवस्था में रेल्वे, हास्पीटल, मशीनरी, कानून, न्यायालय, सेना, नौसेना आदि का कोई स्थान नहीं होगा । उनके शब्दों में–

'ऐसी स्थिति में हर एक अपना स्वयं का शासक होगा, वह अपने को इसका अनुशासित करेगा ताकि पड़ौसी के लिये वह कभी भी एक बाधा न बने, उसके आदर्श राज्य में कोई राजनैतिक शक्ति नही होगी क्योंकि कोई राज्य नहीं होगा ।"

किन्तु प्लेटो जैसे लॉज में नीचे उतरते है ठीक उसी तरह गाँधी भी आदर्श से नीचे उतरते है । एक व्यावहारिक होने के नाते आदर्श को युक्लिड बिन्दु की तरह मानते थे जिसे व्यवहार में लाना सम्भव नहीं ।

गांधीजी की उपादर्श की योजना एक बिल्कुल निश्चित कल्पना नहीं हैं । उन्होंने अनेक कल्पनायें रखी है ये आरम्भिक कल्पनायें बहुत बड़े सम्पूर्ण को बनाती है । एक जगह वे स्वराज्य का अर्थ स्वशासन एवं स्वनियन्त्रण को कहते है । दूसरे स्थान पर स्वदेशी को स्वराज्य मानते है । एक दूसरे स्थान पर हिन्दु मुस्लिम एकता को स्वराज्य कहते है । एक जगह समन्वय करते हुये कहते है कि स्वराज्य के चार स्तम्भ है–(i) अस्पृश्यता (ii) खादी का निर्माण (iii) हिन्दु मुस्लिम एकता (iv) एवं अहिंसा ।

अब हम स्वराज्य के सामान्य से विशिष्ट की ओर चलेंगे । एक आदर्श के तौर पर समाज में वर्गविहीन एवं राज्य विहीन समाज की कल्पना करते है । यह स्वचालित अराजक अवस्था होगी किन्तु वे तुरन्त अनुभव करते है कि आदर्श व्यावहारिक नहीं हो सकता अत: वे राज्य को रखना चाहते है अपने उपादर्श राज्य में । रामराज्य कुछ निश्चित मूल्यों स्वतन्त्रता, समानता एवं अहिंसा के मूल्यों पर आधारित है । राज्य स्नेह की शक्ति पर आधारित होगा । यहां सत्ता का कोई दुरूपयोग नहीं होगा। राज्य अपने आप में ध्येय नहीं होगा वह सर्वोदय का साधन होगा । वह विकेन्द्रीकृत गाँवों का समूह होगा । गाँव जो कि अपने आप में पूर्ण इकाई होगी इसमें सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था में समानता होगी जो कि ट्रस्टीशिप द्वारा लाई जायेगी । यह समाज में शक्ति के वितरण से आएगी ।

गांधीजी के अनुसार राजनैतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है आर्थिक स्वतन्त्रता के उनके अनुसार स्वराज्य का अर्थ हर एक को खाना व कपड़ा सुलभता से मिल सके । ताकि समाज में कोई भी भूखा या नंगा न रहे । वे समानता के मूल्यों में विश्वास करते थे । इसलिये वे समाज द्वारा उत्पन्न पूंजी के विकेंद्रीयकरण की बात करते थे । इस तरह सभी को खाना, कपड़ा व निश्चित काम करने को मिलेगा । इस तरह आर्थिक क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण विचार स्वदेशी है जिसका अर्थ आत्मनिर्भरता से है । वह विकेन्द्रियकरण पर जोर देते थे एवं कुटीर उद्योगों का विचार प्रस्तुत करते है । वे व्यावहारिक होने के नाते कुटीर उद्योगों में मशीनीकरण की बात करते है । विकेन्द्रियकरण पर जोर देने के साथ दो विचार प्रस्तुत करते है–(i) रोटी श्रम (Bread Labour) (ii) ट्रस्टीशिप ।

रोटी श्रम का सिद्धान्त बहुत सरल है हर व्यक्ति चाहे गरीब हो या अमीर हर एक को शारीरिक श्रम करना जरूरी होगा । ट्रस्टीशिप पूंजीवादी समाज को समाजवादी बनाने का अहिंसक तरीका है । यह अहिंसक तरीका है क्योंकि इसमें यह मान्यता निहित है कि पूंजीपति अपनी

सम्पति का ट्रस्टी होगा और उसका उपयोग जनता के भले के लिये करेगा । यह मानव द्वारा मानव के शोषण को रोकने का नैतिक उपाय है ।

सामाजिक क्षेत्र में वह एक क्रांतिकारी है वे समाज को बदलना चाहते है और समाज से बुराइयां दूर करना चाहते है किन्तु वे पश्चिमी सभ्यता के अनुरूप नहीं बदलना चाहते है । वे भारतीय परम्परा को बनाये रखना चाहते है जैसे वर्णआश्रम ।

वे वर्णआश्रम व आज के जाति प्रथा में अन्तर करते है । वे जाति को कम से कम चार भाग में ही रखना चाहते है ।

उनकी विशेषता व्यक्तिगत स्वराज्य के पहलू पर जोर देने में है । जिसका अर्थ स्वशासन स्वनियन्त्रण है । केवल व्यक्ति का व्यक्तिगत चरित्र ही उसे स्वराज्य के योग्य बनाता है । हर एक को अपनी इंद्रियों पर नियन्त्रण रखना होगा हर एक को नैतिक अपने आचरण में होना होगा ।

गांधी के बाद विनोबा जी ने उस कड़ी को आगे बढ़ाया जहाँ गांधीजी ने छोड़ा था । उन्होंने सर्वोदय की कल्पना प्रस्तुत की । जिसका अर्थ सभी का कल्याण । इसका उदय गांधीजी से शुरू होकर विनोबा एवं जयप्रकाश नारायण द्वारा विकसित हुआ ।

ये दोनों ही राज्य विहीन समाज में विश्वास करते थे । जयप्रकाश नारायण के शब्दों में, "मुझे पूर्णतया न तो विश्वास था न है कि राज्य कभी पूर्णतया विलुप्त होगा ।" विनोबा जी के अनुसार सत्य व अहिंसा, पर आधारित नहीं है । इसलिए वे आध्यात्मिक अराजकतावाद को स्वीकार करते है वे अहिंसक एवं शोषण मुक्त समाज की कल्पना करते है । दोनों गांधीजी की तरह जानते थे कि राज्यविहीन समाज सम्भव नहीं अत: राज्य की शक्ति कम से कम करना चाहते थे । ये लोग दलविहीन प्रजातन्त्र में विश्वास करते है । जयप्रकाश नारायण के अनुसार दल प्रजातंत्र के विकास में बाधा डालते है । दोनों शक्ति के विकेन्द्रियकरण में विश्वास करते है। हर गांव अपने आप में राज्य होगा । केन्द्र को नाम मात्र की शक्ति होगी वह धीरे–धीर अनावश्यक हो जायेगा एवं गायब हो जायेगा । इस तरह एक स्वतंत्र समाज की रचना होगी। विनोबाजी ग्राम राज्य कल्पना रखते है ।

ग्रामराज्य में एक सामान्य सभा होगी सभी गाँव के व्यक्तियों की (जो कि 21 साल से बड़ी उम्र हो) वे एक कार्यकारिणी बनाएंगे । ग्राम सभा को विस्तृत शक्तियां होगी । वे अंतिम निर्णय करने की क्षमता रखेगी । यहां कोई दल नहीं होंगे । नियुक्तियां तक राय से होगी । अनेक गाँव मिल कर ताल्लुका या थाना पंचायत बनायेगे । क्षेत्रीय पंचायत प्रान्तीय को बनायेगी और अन्त में एक केन्द्रिय पंचायत होगी । केन्द्र कम से कम हस्तक्षेप करेगा । यह विनोबाजी का शासन मुक्त समाज होगा । जिसका कार्य सभी के समन्वय का होगा ।

शासन मुक्त समाज अहिंसक होगा एवं ऐसे समाज में सेना की जरूरत नहीं होगी । देश की रक्षा के लिये शान्ति सेना होगी ।

आर्थिक क्षेत्र में गांव स्वायत्तशासी होगा । वह हर प्रकार की जरूरत पूरी करेगा । कुटीर उद्योग गाँव के जीवन को चलाएंगे । वे भूमि की समस्या के निराकरण के लिये भूदान व ग्रामदान की योजना प्रस्तुत करते है । ये आन्दोलन जनजीवन में पारिवारिक भावना पैदा करते है । जिस प्रकार परिवार के सदस्यों की अपनी कोई व्यक्गित संपत्ति नहीं होगी । इसी

प्रकार गांव के साथ होगा । भूदान के साथ ग्रामदान व संपत्ति दान का विचार भी रखा । इस तरह गांधीजी के ट्रस्टीशिप के विचार को विनोबाजी मूर्त रूप देते है ।

जयप्रकाश नारायण भारत में प्रजातन्त्र की कड़ी आलोचना करते हुए कहते है कि वह एक उल्टे पिरेमीड की भांति हैं । जहां मतदाता भूल के कण के समान है । अगर पिरेमीड का ऊपरी भाग अत्यधिक भारी है जो प्रजातंत्र को कभी भी ठोस आधार नहीं दिया जा सकता ।

वह शक्ति के विकेन्द्रियकरण की बात आर्थिक राजनैतिक आधार पर करते है । वह नीचे के अंग को मजबूत करने पर बल देते है ।

हिन्दुस्तान ने पंचायत राज्य की शुरूआत की किन्तु जनतंत्र में भागीदारी नहीं है । इसे कुछ शर्ते पूरी करनी होगी । एक महत्वपूर्ण शर्त शिक्षा है जिसे कि किसी निर्दलीय व्यक्ति द्वारा ही जानी जायेगी ।

कुछ निश्चित साधन देने होंगे । हर स्तर पर ग्राम पंचायत को ही इसका मूल आधार है । उसकी शक्ति पर ही सारे ढाँचे का मूल्य निहित है । उनका मानना था कि ग्रामसभा को इतना ज्यादा मिलना चाहिए जितना सम्भव हो । कम से कम 15 दिन में एक बार अवश्य मिले । पंचायत को उसकी कार्यकारिणी की तरह कार्य करना चाहिए वह पंचायत के चुनावों के पक्ष में नहीं थे । ये बिना चुनाव के होने चाहिए । कमजोर वर्ग के कल्याण को सबसे ज्यादा महत्व दिया जाय । इसे ग्राम सभा द्वारा स्वीकृत किया जाये।

पंचायत अभी ग्रामीण क्षेत्र तक सीमित है किन्तु जैसे–जैसे यह विकसित होगा शहरी क्षेत्र भी इससे समन्वित हो जायेगा । ग्राम का अर्थ गांव से नहीं लिया जाना चाहिये एक आरम्भिक इकाई से लिया जाना चाहिये वह आर्थिक विकेन्द्रियकरण की भी बात करते है जिसे कि वे अनिवार्य मानते हैं ।

वे छोटी मशीन युक्त एवं अधिक श्रम वाले उद्योगों पर जोर देते है । छोटी मशीनों के उत्पादन बढ़ेगा एवं मूल्य या कीमत कम होगी । इस अर्थ व्यवस्था में क्षेत्रीय एवं स्थानीय साधनों का अच्छा उपयोग होगा। विभिन्न वस्तुओं का विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन आर्थिक दृष्टि से एकता लायेगा । कुछ गांव की दृष्टि से उद्योग होंगे। कुछ ब्लाक लेबल स्तर के उद्योग होंगे कुछ राज्य के स्तर के उद्योग होंगे। कृषि में सुधार करना होगा कृषि व उद्योगों में समन्वय बिठाना होगा । वह विकेन्द्रियकरण पक्ष में थे पर कुछ का केन्द्रीयकरण आवश्यक होगा ।

5. निष्कर्ष

राष्ट्रवाद तथा स्वराज्य विषयक यह चर्चा इस बात पर बल देती है कि इस विषय में प्रतिपादित विचार एवं संकल्पनाएं वस्तुत: भारत की विशिष्ट सामाजिक–सांस्कृतिक स्थितियों से उद्भुत हैं । ये दोनों संकल्पनाएं सांस्कृतिक पुर्नव्यख्यिओं के उस तार्किक–वैचारिक क्रम को जन्म देती है जिससे भारतीय 'आत्म' की सतत पुनर्खोज संसाधित होती है । यह संसाधन बुद्धि के आलोक से प्रकाशित होकर बुद्धि के परे आत्म–अनुभूति के स्तर तक पहुंचता है । वहां से विशिष्ट कार्यक्रमों का सतत सूत्रपात होता हैं । उदारवादी, उग्रवादी तथा गांधीय वैचारिक आग्रह इन तथ्यों और प्रवृत्तियों को चरितार्थ करते है ।

6. संदर्भ–ग्रन्थ

1. ए. अप्पादोरई : इंडियान पोलिटिकल थॉट इन दि ट्वेन्टीयथ सेन्चुरी

2. विनोबा भावे : स्वराज्य शास्त्र

3. ..... : सर्वोदय के आधार

4. गोपीनाथ धवन : दि पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी

5. राघवन अययर : दि मॉरल एण्ड पोलिटिकल थॉट ऑफ महात्मा गांधी

6. राम गोपाल : लोकमान्य तिलक

7. गोपीनाथ शर्मा : पालिटिक्स एण्ड सोसायटी

8. विष्णु भगवान : इंडियन पोलिटिकल थिंकर्स

7. अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रवाद क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. स्वराज्य से संबन्धित दादा भाई नौरोजी तथा तिलक की संकल्पनाओं की तुलना कीजिए।
3. स्वराज्य को गांधी ने किस क्रम में स्वीकार किया? चर्चा कीजिए।

इकाई–7
अरविन्द

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना एंव संक्षिप्त जीवन–परिचय
3. राजनीतिक विचार
   - 3.1 राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता
   - 3.2 पूर्ण स्वराज्य की अवधारणा
   - 3.3 अरविन्द एवं राज्य
     - 3.3.1 राज्य साध्य नहीं साधन
     - 3.3.2 व्यक्ति के अधिकार एवं राज्य
   - 3.4 राजनीतिक स्वाधीनता का सिद्धान्त
   - 3.5 जनतन्त्र पर विचार
4. अरविन्द के विचारों का सामाजिक संदर्भ

4.1 सर्वांग धर्म

- 4.2 दैवी सत्ता
- 4.3 व्यक्ति और समाज
- 4.4 राष्ट्रीय शिक्षा

5. मूल्यांकन
6. संदर्भ ग्रन्थ
7. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. अरविन्द के राजनीतिक विचारों के प्रति समझ का विकास
2. सामाजिक विचारों की पृष्ठभूमि के रूप में उनके सामाजिक संदर्भ का विश्लेषण
3. अरविन्द के वैचारिक जगत में अध्यात्म व सामुदायिकता के बुनियादी आधार पर बल
4. अरविन्द के वैचारिक योगदान की समीक्षा

2. प्रस्तावना एवं संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री अरविंद का जनम 15 अगस्त 1872 में कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता श्री कृष्ण धन घोष डॉक्टर थे। माता श्रीमती स्वर्णलता एक प्रबुद्ध ज्ञानवान परिवार से थीं। महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर द्वारा स्थापित आदि ब्रह्म समाज की रीति अनुसार 12 वर्ष की उम्र में

उनका विवाह हुआ था। माता पिता ने बड़े शौक से उनका नाम अरविंद यानि कि ''कमल" रखा था । अपने जीवन में अरविंद कमल की तरह ही सुवासित हुये। अरविंद की एक बहिन तथा तीन भाई थे । छोटा सा परिवार था। पांच वर्ष की उम्र में अपने भाइयों के साथ अरविंद को ''लोरेटो कांवेंट स्कूल" दार्जलिंग में पढ़ने भेज दिया गया था । 1879 में डा. घोष अपनी पत्नी बच्चों सहित बच्चों की उत्तम शिक्षा हेतु इन्तजाम करने इंग्लैंड चले गये थे। 1880 में वे अकेले ही खुलना लौटे। जनवरी में पुत्री व गोद के पुत्र सहित श्रीमति स्वर्णलता भारत लौट आई।

1884 में अरविंद सेंट पॉल्स स्कूल, वेस्ट किंगसटन, लंदन में भर्ती हुये । लैटिन, ग्रीक, इंगलिश लिटरेचर और दर्शन में उन्होंने विशेष और गहन अध्ययन किया । कई इनाम पाये । सेंट पॉल्स के आखिरी दो वर्षो में आई0 सी0एस0 की तैयारी कर यह महत्वपूर्ण परीक्षा उत्तीर्ण की और वह भी ''विशेष" योग्यता के साथ ।

कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज में उन्होंने बी. ए. की डिग्री ली थी । कॉलेज में 'इण्डियन मजलिस' नामक एक एसोसियेशन चलता था । यह भारतीय विद्यार्थियों के लिए एक सामाजिक–मिलन का ''फोरम" था। अरविंद इसके सचिव चुने गये थे । विद्यार्थियों के राजनीतिक दृष्टिकोण भी यही बनते थे । अरविंद ने इस फोरम में कई क्रांतिकारी भाषण दिये । फलस्वरूप आई. सी. एस. के घुडसवारी के टेस्ट में उन्हें फेल कर दिया गया ताकि वे अंग्रेजों के ''स्टील फ्रेम" के अंग न बन सकें । लन्दन में एक क्रान्तिकारी संगठन ''लोटस एण्ड डैगर" के अन्य भारतीय विद्यार्थियों के साथी वे भी सदस्य थे । इस संगठन का उद्देश्य अंग्रेजों के पंजों से भारत की मुक्ति था, तथा इस दिशा में काम करने का इनका प्रणा था । भारत में समाज में तो बहुत ही सुस्त अवस्था में था परन्तु 'देशबन्धु' चितरंजन दास से लंदन में ही अरविंद को मार्गदर्शन मिला तथा बाद में क्रांतिकारी के कार्यो के लिए आर्थिक मदद भी ।

लंदन में ही बड़ौदा के महाराजा श्री सयाजी राव गायकवाड ने अरविंद को बड़ौद स्टेट सर्विसेज के लिए चुन लिया था । 12 वर्ष बाहर रहने के पश्चात अरविंद जनवरी 1893 में भारत लौटे। उनकी प्रतिभा का पूरा सदुपयोग महाराजा ने किया। बड़ौदा स्टेट के स्टेम्पस व रेवेन्यु डिपार्टमेंट में वे काम सीखते रहे । बड़ौदा कॉलेज में फ्रेंच पढ़ाते रहे । महाराजा के पत्र व्यवहार (सौजन्य) के पत्र लिखने में मदद करते रहे । पहले कॉलेज के वाईस प्रिंसिपल बने और फिर प्रिंसिपल । वे बड़े सफल शिक्षक थे जैसा कि उनके एक विद्यार्थी श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी अकसर भावपूर्वक उन्हें याद करते हुए कहा करते थे। अरविंद ने इन्हीं दिनों में बहुत से लेख बम्बई के साप्ताहिक (इन्दु प्रकाश) में छपवाये । यह श्रृंखला अगस्त 1893 से शुरू हुई थी । इनमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ''माडरेटिस्म व कन्सरवटिस्म" की प्रार्थना, वाचिका और विरोध की नीति को दीवालिया बताते हुए इसकी कटु आलोचना व भर्त्सना वे करते रहे थे । फलस्वरूप उनके लेख छपने बन्द हो गये। यहां तक कि जस्टिस रानाड़े व उनके समर्थकों ने सम्पादक को चेताया कि राजद्रोह के अपराध की उन्हें सजा मिल सकती है । अरविंद के केम्ब्रिज दिनों के मित्र श्री के. जी. देशपांडे ने भी उन्हे समझाया कि वे अपने लेखन का स्वर (टोन) मन्दा करें । रानाड़े भी उन्हें आधे घण्टे तक समझाते रहे । अरविंद लिखते है

कि वे मुझे जेल में सुधार के कार्य में लगाना चाहते थे । अरविंद के विचार व कार्य तिलक से मिलते थे, रानाड़े से हरगिज नहीं।

इस बीच 1901 में अरविंद का विवाह कलकत्ता के एक प्रबुद्ध परिवार की कन्या मृणालिनी देवी से हो गया था ।

1902 के कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में तिलक अरविंद को उठाकर पंडाल से बाहर ले गये । बताया जाता है कि घन्टे भर तक तिलक कांग्रेस की नीति की भर्त्सना करते रहे और 'स्वदेसी 'बायकाट 'के अपने कार्यक्रम की रूपरेखा अरविंद को समझाते रहे ।

दूसरी ओर अन्दर ही अन्दर अरविंद भूमिगत क्रांतिकारी संगठन के कार्य में भी लगे हुये थे। उदयपुर स्टेट के एक सरदार जो ठाकुर साहब के नाम से जाने जाते थे, वे पूना में एक गुप्त सोसायटी स्थापित कर रखी थी। 1896 में अरविंद इसके प्रेसीडेंट चुने गये–इसका उद्देश्य सेना की रेजीमेन्ट में जो स्टाफ था उसे क्रांतिकारी उद्देश्यों के लिये तैयार कर एकता के सूत्र में बांधना था । इस वक्त तक तीन चार रेजीमेन्टस में यह कार्य सफलता पूर्वक हो चुका था।

बाद में अरविंद के गुजरात के एक केन्द्रीय (ऐसे ही) संगठन के प्रेसीडेंट चुने गये और उनके नेतृत्व में ठाकुर साहब वाले 'बाम्बे मूवमेंट' के साथ यह संगठन एक हो गया । इसके अतिरिक्त एक और युवा संगठन की उन्होने स्थापना की थी, जिसके प्रेसीडेंट वे चुने गये थे। चाफेकर बंधुओं द्वारा स्थापित 'हिन्दु संघ' के भी वे प्रेसीडेंट थे । स्मरण रहे कि इनमें से एक चाफेकर को मौत की सजा हुई थी । पश्चिमी भारत तथा बंगाल में भी अरविंद के निर्देशन में संगठन व क्रान्ति की शुरूआत के पहिले की तैयारी चल रही थी । बन्दूक व लाठी चलाने की प्रैक्टिस, मुक्केबाजी, घुड़सवारी व सेना वाला अनुशासन सभी पर बराबर जोर था ।

अरविंद को कलकत्ता काल में भगिनी निवेदिता जो कि स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थी, अरविंद के वैचारिक क्रांति में पूरी तरह शामिल रही, साथ ही क्रांतिकारी कार्य में भी देश भर में वे घूमती व लोगों को क्रांति हेतु तैयार करती । क्रांति के लिये एक नई जमीन बनाने में उनका अमूल्य योगदान रहा–ऐसा अरविंद मानते थे ।

कलकत्ते में इस भूमिगत आंदोलन की आर्थिक मदद टैगोर परिवार, देशबंधु चितरंजन दास तथ न्यायपालिका व सरकार के कुछ अफसर गुप्त रूप से करते थे। अरविंद के नेतृत्व में सैनिक क्रांति की तैयारियां चल रही थी। दिसम्बर 1905 में बनारस कांग्रेस सेशन में अरविंद मौजूद थे तथा राष्ट्रीय नेता उनसे राय–सलाह करते थे । अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले, ने 'स्वेदेशी' पर तो पूरे देश के लिये प्रस्ताव मंजूर कर लिया परन्तु 'बॉयकाट' केवल बंगाल के लिये। फिर भी इसे एक आंशिक सफलता 'उग्र राष्ट्रीयता' की, कांग्रेस की नरम दल पर नीति पर मानी जा सकती है।

1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में अरविंद खुद 'रिसेप्सन कमेटी' व 'वर्किन कमेटी' दोनों में थे । उनकी ही कोशिश से यह प्रस्ताव पास हुआ कि स्वराज से कम कुछ भी स्वीकार नहीं होगा –केवल पूर्ण स्वतन्त्रता ही देश की राजनीतिक आंकाक्षाओं को संतुष्ट कर सकती है और इससे कम कुछ नहीं । इस प्रस्ताव में राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी बॉयकाट और स्वराज पूरे भारत के लिये–सभी शामिल थे। प्रस्ताव के पक्ष में तिलक, पाल, लाजपतराय,

अरविंद तथा अन्य राष्ट्रवादी नेता थे तथा विरोध में फिरोजशाह मेहता, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा अन्य उदारवादी नेता। इसके बावजूद कांग्रेस का विभाजन होते–होते बच गया, क्योंकि अध्यक्ष ने कुछ छोटे–मोटे फेर–बदल के साथ यह प्रस्ताव पास करा ही लिया। अरविंद तथा समान विचारों वाले नेताओं की यह बहुत बड़ी विजय मानी जा सकती है ।

16 अक्टूबर 1905 को ब्रिटिश सरकार ने बंगाल का विभाजन (बंग–भंग) हिन्दु–मुस्लिम आधार पर कर दिया । लार्ड कर्जन बाइसराय थे । उनके इस अदूरदर्शी कदम ने क्रांतिकारी मूवमेंट को भड़का दिया । सारा प्रांत क्रोध से उबल उठा । सन् 1906 के आरम्भ में अरविंद के ओजस्त्री छोटे भाई रवीन्द्र घोष ने 'युगांतर' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया । अरविंद इसमें निरन्तर लेख छपवाते रहे यद्यपि बड़ौदा स्टेट की सेवा में रहने के कारण अरविंद का नाम नहीं छपता था । सन् 1906 के मध्य में बड़ौदा कॉलेज में 1 वर्ष की अवैतनिक छुट्टी लेकर वे कलकत्ता संगठन हेतु आये। अप्रेल में श्री विपिनचन्द्र पाल ने 'वन्देमातरम' नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक शुरू किया । स्वयं अरविंद ने 1909 में 'कर्मयोगिन' पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया । इन दोनों पत्रों के माध्यम से वे क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करते रहे ।

24 जुलाई 1906 को श्री अरविन्द और विपिन्नचन्द्र पाल के विरुद्ध किसी पाठक के राजद्रोहात्मक लेख छापने के विरूद्ध मुकदमा चलाया गया । अरविंद के विरुद्ध मुकदमा साबित नहीं हो सका । ब्रिटिश सरकार निरन्तर अरविंद को फांसकर जेल में डालने को व्यग्र थी, परन्तु मौका मिलता तो सबूत नहीं । अरविंद बड़ी बुद्धिमानी से भूमिगत व ऊपर दोनों स्तरों पर कार्य और विचारों का प्रतिपादन कर व करवा रहे थे। परन्तु अन्ततः 16 अगस्त 1907 को अरविंद को सरकार ने लेखन द्वारा राजद्रोह भड़काने के आरोप में बन्दी बना ही लिया तथा छह महिने की जेल की सजा दी ।

26 दिसम्बर, 1907 को अरविंद कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में पहुँचे। नरम दल और गरम दल वालों के बीच की खाई इस वत तक और बढ़ चुकी थी । सूरत में कांग्रेस के प्रथम विभाजन के पीछे अरविंद की बड़ी भूमिका रही थी । यह स्पष्ट है कि अरविंद का राजनीतिक कार्यक्रम तिलक के समान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस संगठन से बिल्कुल मेल नहीं खाता था । नरम दल कांग्रेस के नेता गोपाल कृष्ण गोखले तो यह मानते थे कि 'केवल पागलखाने के आगे खड़ा आदमी ही स्वतन्त्रता की बात कह या सोच सकता है –ब्रिटिश शासन का कोई विकल्प नहीं–न अभी, न भविष्य में काफी समय तक ।" दूसरी तरफ राष्ट्रवादी नेता लाल, बाल, पाल व अरविंद पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण स्वराज्य से कम कुछ नहीं वाले विश्वास पर अटल थे। 1907 के सूरत अधिवेशन तक नरम दल व गरम दल वालों के बीच की खाई बहुत बढ़ चुकी थी यद्यपि अब तक प्रयत्नपूर्वक मामलों को दोनों तरफ से सम्भाला जा रहा था । अंततः जो अवश्यम्भावी था वह हुआ, यानि की सूरत कांग्रेस में कांग्रेस का विभाजन । राष्ट्रवादी चाहते थे कि यहां भी कलकत्ते वाले प्रस्ताव को आधार मानकर कार्यान्वयन की दिशा में आगे बढ़ा जाए जबकि नरमपंथी यह माने थे कि इस प्रस्ताव को मानने के लिए कांग्रेस बाध्य नहीं । कांग्रेस की स्वागत समिति में नरमपंथियों का बहुमत था इसलिए राष्ट्रवादियों ने इस प्रस्ताव को खुले

अधिवेशन में उठाने की योजना बनाई । अध्यक्ष के चुनाव को लेकर झगड़े का प्रारम्भ हुआ । सुरेन्द्र नाथ ने डा. रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तावित किया–तिलक, लाजपतराय के पक्ष में थे। नरम दल के वालंटियर लोग इस पर भड़क गए और उन्होंने तिलक को मारने के लिए कुर्सी उठा ली तो राष्ट्रवादियों ने मंच पर जूता फेंका और फिर ऊपर मंच पर जा चढ़े । चारों तरफ पण्डाल में हुल्लड़ मच गया । और नरमपंथियों ने घबराकर पुलिस को बुला लिया। फलस्वरूप कांग्रेस सिर्फ नरमपंथियों की संस्था रह गई । राष्ट्रवादी अलग हो गए ।

एक लेखक लिखते हैं कि एक बार एक निजी पत्र में इस घटना का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द ने बताया ''बहुत कम लोग जानते हैं कि उस आदेश को देने वाला मैं था जिसके परिणामस्वरूप कोंग्रेस के अंत को दो टुकड़े हुए ।" अरविंद को तीन मई 1902 को अलीपुर केस के सिलसिले में गिरफ्तार कर 5 मई को जेल में डाल दिया गया परन्तु सरकार इन्हें अभियुक्त सिद्ध नहीं कर पाई । पूरे एक वर्ष बाद 6 मई 1908 को उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया । एक तरफ तो ब्रिटिश सरकार निरन्तर उन पर निगाह रखे हुए थी कि कैसे भी उन्हें फँसाया जाये । दूसरी तरफ जेल प्रवास के दौरान आध्यात्मिक और गहरी योग साधना के बीच उन्हें महसूस हुआ कि भागवत ओदश हुआ है कि उन्हें पांडिचेरी जाना है । 31 मार्च को ज्योंतिद्रनाथ मित्र के छद्म नाम से वे पांडिचेरी मौका से रवाना हो, 4 अप्रेल 1910 को पहुँच गए।

इसके पश्चात उन्होंने राजनीति से सन्यास ले लिया तथा आध्यात्मिक उद्देश्यों के हेतु जुट । उनके आगे का जीवन एक विश्व व्यक्तित्व का आध्यात्मिक जीवन है, विद्यार्थी रुचि होने पर अंत में दिये गये रिफरेन्स के अनुसार स्वयं पढ़ें ।

3. श्री अरविंद के राजनीतिक विचार

3.1 राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता

उन्हीं के शब्दों में यों है..... 'राष्ट्र क्या है? हमारी मातृभूमि क्या है? वह भूखण्ड नहीं है वाक् विलास नहीं है और न कोरी मन की कल्पना है । वह महाशक्ति है जो राष्ट्र का निर्माण करने वाली कोटि कोटि जनता की व्यष्टि की शक्तियों का समाविष्ट रूप है जेसे पूंजीभूत होने पर एक शक्तिमति भवानी महर्षमर्दनी का, उद्भव हुआ था । तैंतीस कोटि देवों की शक्ति ।" यह है भारतमाता की वह तस्वीर जो दुर्गारूप में परम कल्याण–कारीर्णी और चण्डी रूप में असुर (ब्रिटिश सरकार) के नाश हेतु विनाशिनी है । इसके साथ जोड़िये बंकिम चंद्र का वह राष्ट्रगीत या यों कहें मातृगीत 'वन्दे मातरम', यह तस्वीर तब और अब, कभी भी किसी भी भारतवासी के हृदय को जोश से, भक्ति से, भाव से उद्वेलित करने में समर्थ थी, समर्थ है । यह देन अरविंद की है । देशप्रेम और मातृप्रेम उनके लिए मिलकर एकाकर हो गये थे । उनकी दृष्टि में भारतमाता या मां दुर्गा एक सजीव व आध्यात्मिक सत्ता के रूप में सदैव विद्यमान है।

अरविंद के अनुसार भारतमाता मां तो थी, पर बेड़ियों में जकड़ी हुई, तिरस्कृति व विदेशी शासकों द्वारा सताई गई मां थी । अपनी मं, अपनी देवी के इस दुख में देखकर पुत्रों का अब क्या कर्त्तव्य बनता है, अरविंद का प्रश्न था और उन्हीं का उत्तर–माँ को बेड़ियों से मुक्त

करने के हर संभव उपाय करना । कम बेशी कुछ नहीं–बस पूर्ण और अखण्ड स्वतन्त्रता । अरविंद की धारणा में राष्ट्रीयता केवल देशप्रेम या बुद्धि का विलास नहीं, बल्कि एक गहन गम्भीर साधना है । यह कोई केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं, एक धर्म है जो ईश्वर प्रदत्त है, वे कहते थे, राष्ट्रीयता एक सिद्धांत है जिसके अनुसार हमें जीना है राष्ट्रवादी बनने के लिए, राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करने के लिए हमें धार्मिक भावना का पूर्ण पालन करना होगा। हमें स्मरण रखना होगा कि हम निमित मात्र है, भगवान से साधन मात्र है।

अगर हम विश्लेषण करें तो पायेंगे कि प्रचण्ड राष्ट्रीयता का जो स्वरूप बंग–भंग पश्चात निखरा उसमें अरविंद के इन विचारों का प्रमुख योगदान रहा है । मातृ मुक्ति के आदोलन में प्राणों की आहुति कर देना हंसी खेल हो गया, ऐसा प्रचण्ड आध्यात्मिक व धार्मिक विश्वास अरविंद ने जगाया ।

3.2 पूर्ण स्वराज्य की अवधारणा:

अरविंद के अनुसार पूर्ण स्वराज्य की सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद का लक्ष्य हो सकता था, इससे कम कुछ नहीं । किसी भी कार्यवाही को राजनीतिक दृष्टि से अच्छी या बुरी मानने की उनकी राजनीतिक कसौटी एक ही थी–राष्ट्रीय मुक्ति में उसका सहायक या बाधक होना ।

अरविंद का दृढ़ विश्वास था कि भारत के पुनर्जन्म का समय आ गया है । पाश्चात्य स्थूल भौतिकवाद को, विश्व को भारत की आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रकाश की आवश्यकता है। यह तभी संभव है जब भारतमाता मुक्त हो। पीड़ित मानवता के लिए भी यह आवश्यक है । अरविंद के लिए सच्चे स्वराज्य का अर्थ था "आधुनिक परिवेश में भारत की प्राचीन जीवन पद्धति का सफल समावेश राष्ट्रीय गरिमा वाले 'सत्ययुग' का पुन: प्रवर्तन, जगतगुरु और पथ प्रदर्शक के पद पर अपनी पुनस्थापना तथा राजनीति में भी वैदान्तिक आदर्शो की पूर्ण सिद्धि के लिए जनता की आत्म मुक्ति ।"

यह केवल तब सम्भव है, जब भारत के अपने जीवन की व्यवस्था स्वयं उसी के हाथ में हो, किसी विदेशी शक्ति के अधीन नहीं । ''उसे अपना जीवन स्वयं जीना चाहिए, किसी विदेशी साम्राज्य के जीवन का अंग बनकर या अधीन रहकर शासित जीवन नहीं ।"

3.3 अरविन्द और राज्य

अरविंद के अनुसार अत्यन्त 'रिजिड' और केन्द्रीकृत राज्य (सेन्ट्रलाइज्ड स्टेट) राज्य के नागरिकों के हित में नहीं । यहां वह एकता दुर्लभ हो जाएगी जो किसी भी राष्ट्र का प्राण होती है । बाहरी स्वरूप प्रमुख हो जाएगा । किसी भी राज्य क लिए, चाहे वे राष्ट्र–राज्य हो या विश्व राज्य एक विशुद्ध आध्यात्मवादी धर्म को मनोवैज्ञानिक रूप से विकसित करने की आवश्यकता है, वे मानते थे, उसी से निष्कृति होगी। जनतंत्र, समाजवाद व शांतिवाद–इस मानवतावादी धर्म के स्तम्भ है । समानता, स्वतन्त्रता, भाईचारा, इसकी मूल्यवान उपलब्धियाँ होनी चाहिए ।

स्मरणीय है कि ये उपलब्धियां विश्व में जहां भी हुई हैं कमाबेश ऊपरी तथा खोखली हि हैं । इसमें वही मानवताबादी हार्दिक विश्वास–कथनी और करनी दोनों में–की प्रचण्ड आवश्यकता है ।

अरविंद ने हीगल, ग्रीन या बोसांके की तरह राज्य की अलग से कोई अवधारणा विकसित नहीं की थी–परन्तु खोजने पर एक स्वरूप बनता तो है ।

एक तरफ तो अरविंद राज्य को एक आर्गेतिक अवधारणा मानते हैं । सभी व्यक्ति (इनडीजुबल) इसमें समाहित हैं । राज्य के पास दण्ड शक्ति होती है जिससे 'लॉ एण्ड आर्डर–की स्थापना होती है । दूसरी तरफ इसे अरविंद एक यांत्रिक उपलब्धि ही मानते हैं तथा इसके कार्यो को सीमित करते हैं । 'दो आईडील ऑफ ह्यूमन युनिटी' वे कहते हैं 'स्टेट' की बाधाएं, बर्बादी, फ्रिक्शन, अन्याय रोकना चाहिए तथा व्यक्ति को एक न्यायपूर्ण समतावादी व्यवस्था देनी चाहिए जिसमें वह अपना आत्म विकास कर सकें । 'पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि राज्य के विरूद्ध कदम नहीं उठाया जा सकता । नेता के रूप में 1905 से 1910 में स्वयं अरविंद ने ''पैसिव रेजिमटेन्स' की वकालत की थी ब्रिटिश सरकार के अन्याय व दमनपूर्ण कानूनों, व अध्यादेशों की खिलाफत में ।

अरविंद में अराजकतावादी तो नहीं थे परन्तु कानूनों के पीछे जो पालन करवाने वाली निरंकुश शक्ति होती है, वह उन्हें अरुचिकर लगती थी। यह स्वाभाविक भी था । चेतना के जिस उच्च स्तर पर अरविंद सोचते थे, वहां कानून ऊपर से लादा हुआ आदेश नहीं–आंतरिक डिसिप्लिन से जन्मा हुआ स्वाआदेश होता था । यह दूसरी बात है कि कुछ महान विभूतियों को छोड़कर साधारण जन में यह उच्चता अभी तक तो दुर्लभ ही है ।

3.3.1 राज्य साध्य नहीं बल्कि साधन:

किसी भी समाज में राज्य का होना अपरिहार्य है इस बात को अरविंद भी मानते थे पर राज्य अपने आप में साध्य नहीं बल्कि समान विकास–साध्य, की शक्ति की दिशा में साधन है। इसलिए वे मानते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय संस्तुति, राष्ट्रीय धर्म ये–सब तो सम्भव व उचित है–परन्तु यह कहना कि राज्य धर्म, राज्य शिक्षा और राज्य संस्कृति हो सकती है, बिल्कुल विचित्र तथा पिछड़ी हुई बात होगी ।

समाजवाद के उद्देश्यों में अरविंद को पूरी आस्था थी । राज्य का रोल इसमें वे मानते थे परन्तु उतना ही जितना कि किसी मशीन का कार्य–निष्पादन की दिशा में होता है । व्यक्ति के और सामाजिक हित–स्वतन्त्रता में समानता के ऊपर राज्य नहीं रखा जा सकता ।

स्मरणीय है कि राज्य के आदर्शवादी सिद्धांत के प्रख्यात विचारक हीगल ने राज्य को 'मार्च ऑफ गॉड ऑन' माना है–अरविंद उसी लाइन में होते हुए इसे केवल एक मशीन का दर्जा देते है ।

3.2.2 व्यक्ति के अधिकार व राज्य:

प्रत्येक नागरिक के अधिकार होते हैं । राज्य की वैद्यता इस बात में है, अरविंद कहते है कि इन अधिकारों का संरक्षण करें जहां हनन किया जाता है वहां इनकी पुनर्स्थापना करें, तभी वह (राज्य)कहलाने का व नागरिकों की आज्ञाकारिता पाने का अधिकारी होगा । स्पष्ट है कि राज्य को अनावश्यक महत्त्व आदर्शवादी विचारों की तरह अरविंद प्रदान नहीं करते ।

3.4 राजनीतिक स्वाधीनता (फ्रीडम) का सिद्धांत

अरविंद मानते है कि आंतरिक व आध्यात्मिक स्वाधीनता पूर्व की देन है जबकि सामाजिक व राजनीतिक स्वाधीनता पश्चिम से मिली विरासत है और यह यूरोप की अपनी परिस्थितियों से उपजा सिद्धांत है । भारत में इसका प्रभाव पश्चिमी विचाराकों का यहां के राजनीतिक विचाराकों के ऊपर प्रभाव के कारण है । फ्रीडम का उनका सिद्धांत समझाता है वह फर्क जो स्वराज्य व स्वाधीनता के बीच में है । स्वाधीनता, पराधीनता से मुक्ति या राजनीतिक स्वतंत्रता है । स्वराज्य आंतरिक स्वतन्त्रता सेल्फ रूल है–जो एक ऐसे डिसिप्लिन को जन्म देता है जो अपनी अहंतुष्टि या 'ईगो' को नियन्त्रित करने के और समष्टि में समाहित होने को तैयार रहता है । ऐसी ही स्थिति में न्यायपूर्ण व्यवस्था सम्भव होती है–यह स्थिति अधिक महत्वपूर्ण है बजाय 'सरकार के प्रकार के' ।

अरविंद अधिकारों के विषय पर मध्यममार्गी हैं । अधिकार व्यक्ति और समाज के पूर्ण विकास के लिये अनिवार्य व अत्यावश्यक है। फिच व हीमेल तो यह मानते हैं कि राज्य के विरुद्ध, नागरिक के कोई अधिकार नहीं हो सकते, केवल कर्त्तव्य ही होते है । अरविंद का आदर्शवाद यह नहीं मानता । यह तो ठीक है कि प्राचीन भारतीय व्यवस्था में कर्त्तव्यों पर अत्याधिक जोर था पर तब वहां आंतरिक स्वतन्त्रय भी था । अरविंद उसे स्वधर्म का नाम देते हैं–क्या करना चाहिये और क्या नहीं नपना–घाट तब स्वधर्म में मौजूद होता था । अरविंद राज्य के विरुद्ध अधिकारों का प्रश्न नहीं उठाते । उनके आदर्श राज्य में एक 'हार्मनी', एक सामंजस्य है राज्य और समाज के बीच, समाज और व्यक्ति के बीच, राज्य और व्यक्ति के बीच।

3.5 जनतन्त्र पर विचार :

राजनीतिक जनतन्त्र या पोलिटिकल डेमोक्रेसी अरविंद मानते हैं कि पाश्चात्य (वेस्ट) की देन है । पूर्व में शुद्ध सामाजिक गणतन्त्र यद्यपि नहीं पाये जाते थे, प्राचीन भारत में जो गणतंत्र थे उन्हें जनतंत्र वे नहीं मानते थे । ज्यादा से ज्यादा अरविंद के अनुसार–इन्हें 'ऐरिस्टोक्रेटिक गणतन्त्र' कहा जा सकता हैं दूसरी तरफ वे मानते थे कि प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार की एसोसिएसन होती थी जो स्थानीय स्तर पर सामाजिक नियंत्रण में प्रमुख भूमिका अदा करती थी तथा सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण होती थीं। भारत में समानता के विचार, संतों के द्वारा, अध्यात्म पुरुषों के द्वारा साधारण जन में दिये जाते थे–प्रेम व करुणा का संदेश होता था । आधुनिक जनतन्त्र की अवधाराणा तो पाश्चात्य संस्कृति के साथ आई है ऐसा वे मानते थे।

जो भी हो, अरविंद जनतन्त्र के समर्थक थे । जनतन्त्र, समाजवाद व शान्तिवाद, इन तीनों के पीछे मूल प्रेरणा मानवतावाद (हयूमैनिस्म) रहा है । समानतावाद मानवतावाद के कारण ही इसकी अपील है ।

लेकिन वास्तविक जनतन्त्र स्थापित करना क्या इतना सरल है? न्याय करने के कोशिश में अन्याय हो जाये–ऐसी स्थिति नहीं होनी चाहिये, पर यह आई। ब्रिटेन में 1688 से जनतन्त्र शुरू हुआ । मोटे तौर पर इसी समय से विज्ञान और तकनीकी विकास ने औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत की । आर्थिक क्षेत्र में आर्थिक व्यक्तिवाद स्वीकृत व्यवस्था थी। चलते चलते वह स्थिति आई कि शोषण ने पूंजीवाद की चरम सीमा ला दी । स्मरणीय है कि कार्ल मार्क्स ने ब्रिटेन के हालात का विश्लेषण किया औस दास कैपीटल कम्यूनिज्म मैनिफेस्टो महाग्रन्थ लिखे तो ये बात आती है कि सरकार जनता की राय (कन्सेन्ट) से बने तथा जनता के अधिकारों की रक्षा करें ।

जनतन्त्र के आदर्श जब वास्तविक रूप में लागू (एप्लाई) किये गये तो उसके अरविंद के अनुसार कुछ परिणाम निकले :

– यद्यपि समानता के सिद्धांत का प्रचार जोर शोर से किया जाता रहा था, वास्तविकता यह रही कि जनतन्त्र के ना पर 'डॉमीनेंट' क्लास ने राजनीति व सामाजिक नेतृत्व हथिया लिया।

– स्वतन्त्रता व समानता की अवधारणा इतनी आर्कषक थी और है कि शोषित जनता में इसको प्राप्त करने का आग्रह बहुत प्रबल है । शोषित व पिछड़ी जनता में इतने संघर्ष का जन्म भी इसी से हुआ ।

– पार्टी इसकी अगली परिधिक रही। शुरू में तो ऐसा लगता है कि निर्णायक तौर पर स्थिति हल हो जाएगी पर ऐसा होता नहीं–और अन्त में अरविंद कहते हैं, कि जो कुछ पार्टी में बचता है वह सिद्धांत कहते हैं कि जो पार्टी में बचता वह सिद्धांत नहीं बल्कि एक नपुसंक जंगल होता है, नामों का, लेबलों का, व्यक्तियों का, प्रोग्रामों का, युद्ध प्रेरक नारों का । अंदरूनी सत्ता संघर्ष का आदर्शवादी जामा फट जाता है और वास्तविक स्थिति तब उजागर होती है ।

– एक प्रतियोगितावाद का जन्म होते है–जिससे सभी तरह के संघर्ष तीव्र होते जाते हैं–इसमें अन्ततः जो सफल होते हैं वे शरीर से, मन से, बुद्धि से सर्वोत्तम नहीं, बल्कि भाग्य और मौके से सफल होते हैं । इसलिए ये संघर्ष जो निरन्तर चलते हैं, नागरिकों की बहुत सारी शक्ति नष्ट कर देते हैं तथा रचनात्मक, सकारात्मक विकास की संभावनायें नगण्य हो जाती है। अरविंद कहते हैं कि यही कारण है कि जिस पूर्ण समानता व शैक्षिक व अन्य अवसरों की समानता की बात बड़े जोर शोर से प्रचारित की जाती है, वह प्राप्त नहीं होती ।

अरविंद मानते है कि इस प्रकार की सरकार वास्तव में जनता के लिये, जनता द्वारा न रहकर एक मध्यवर्गी अभिजन (इलिटिस) के द्वारा बनी होती है । इसे वह स्वभाविक भी मानते है । बाहरी रूप कुछ भी हो, सरकार हमेशा थोड़े से लोगों के द्वारा चलाई जाती है, वे कहते है।

अरविंद ने आधुनिक जनतन्त्र की आलोचना और कई कोणों से भी की है । वे कहते हैं कि समानता के सिद्धांत को 'मेजॉरिटी' से तो और खतरा है । चुनी हुई सरकार कानून पास कर समानता और स्वतन्त्रता पर इतने अंकुश लगा सकती है, जितने की राजा लोग भी नहीं लगाते। यह बात भी उनकी सही है, यह दूसरी बात है कि दूसरा कोई 'विकल्प मेजॉरिटी रूल' का अब तक नहीं मिल पाया है ।

जब वास्तविकता यही हो, तो फिर क्या होना चाहिये? अरविंद चाहते हैं कि जो चुनी गई सरकार व प्रतिनिधि हों, वे तथा देश के बुद्धिजीवी व अभिजनों (इलीटस) को अपना यह पवित्र कर्त्तव्य मानना चाहिये कि वे देश की बहुसंख्यक जनता को 'ट्रेंड' करें नागरिकता के लिये; 'सेल्फ रूल' के लिये, तभी असली जनतन्त्र बनेगा ।

जनतन्त्र की अवधारणा व व्यवहारिक रूप में जो चौड़ी खाई है उसे अरविंद ने बड़ी अच्छी तरह उजागर किया है यह हमें मानना पड़ता है परन्तु अंत में जो स्थिति उन्होंने चाही है–'वह पवित्र कर्त्तव्य'–इसका पालन वे कैसे करवायेंगे यह कहीं स्पष्ट नहीं है ।

मानव इतना उदात्त कब होगा–अतिमानव कब बनेगा, भौतिकता से ऊपर अध्यात्मक में कब जियेगा, उसका परम आत्मा से अपना साक्षात्कार कब होगा, ये सब प्रश्न अनुत्तरित रह जाते है ।

तब तक, ''गलती और सुधार" की सरकार–संसदीय सरकार ही चलेगी । जब मानव इतना उत्तम अध्यात्मिक रूप से हो जायेगा। तब तो विश्व सरकार, विश्व राज्य तक बन सकने की संभावनायें हो जायेंगी ।

पूंजीवाद व अरविंद

अरविंद पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के खिलाफ थे । पूंजीवादी केन्द्रीकरण और एकाधिकारवादी औद्योगिक व्यवस्था शोषण को बढ़ाती है और पूंजीपतियों की ताकत में वृद्धि करती है । यूरोपियन मॉडेल की इस अर्थ व्यवस्था में ट्रस्ट, कंट्रोल व सहकारिता वाला पूंजीवाद (ज्वाइंट स्टाक कम्पनी) सब मिलकर इस तरह की जकड़ पैदा करते हैं जिसमें राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व स्वस्थ औद्योगिक जीवन असंभव हो जाता है ।

स्मरणीय है टेगौर और गांधी भी पाश्चात्य पूंजीवाद के खिलाफ थे । तिलक, गांधी और पाल ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहते थे, आत्म निर्भरता व विकेन्द्रीकरण चाहते थे । पाश्चात्य पूंजीवाद भारत को चूसता चला जा रहा था, भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को इसने पंगु बना डाला था । स्वाभाविकतः इस काल के नेता और विचारक इसके खिलाफ थे।

अरविंद समाजवाद के उद्देश्यों के प्रशंसक थे, परन्तु राज्य की कार्य परिधि के पूर्ण विस्तार से उपजी निरंकुशता के खिलाफ । पूंजीवाद के भी वे खिलाफ थे। दोनों बातें सही है और इन्हें समझा जा सकता है । दिक्कत तब वहीं पेश आती है कि फिर क्या होना चाहिये । अरविंद योगी, क्रांतिकारी, दार्शनिक ज्यादा हैं, राजनीतिक विचारक कम, इनका राजनीतिक दर्शन मेल व परिणति है, व्यक्तिवाद की, समाजवाद की, सर्वाधिकार वाद की ओर आध्यात्मकवाद की अच्छाइयों की।

4. अरविंद के विचारों का संदर्भ:

अरविंद की अपने अध्ययन काल से ही दर्शन, मनोविज्ञान तथा अध्यात्म में गहरी रूचि रही जो निरन्तर विकसित होती रही । देश का कार्य और आंतरिक साधना दोनों साथ–साथ चलती रहीं । वे प्रख्यात दर्शनशास्त्री व प्रोफेसर भी थे । अध्ययन, अध्यापन तथा अपने अनुभव, सबसे उद्भूत अरविंद का अपना दर्शन बना, जिसे हम "अरविंद दर्शन" का नाम बेझिझक

दे सकते है, इतना मौलिकतावान वह है । यहां समय व विषय की सीमाओं के कारण केवल इसे सीमित रूप में लिया जा सका है।

4.1 सवांग धर्म:

आध्यात्मिक विकास के अपने सिद्धांत के अनुरूप अरविंद ने सर्वाग धर्म का प्रतिपादन किया है । इस प्रकार का धर्म आध्यात्मिक विकास की श्रेणियों में सभी प्रकार के धर्मों का स्थान पाता है । मानव जाति के विकास में प्रत्येक धर्म ने सहायता दी है । धर्म एक मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करता हैं और अपरिहार्य है परन्तु उसके वास्तविक रूप में सुधार करने की आवश्यकता है । जितना ही अधिक आध्यात्मिकता कोई धर्म होगा, वह उतना ही उत्तम होगा, क्योंकि आध्यात्मिकता ही उसका लक्ष्य है । रहस्यवाद सभी धर्मों में पाया जाता है, आवश्यकता है उसको सार्वभौम व स्पष्ट बनाने की । श्री अरविंद के लिये धर्म केवल एक अस्थायी अवस्था है । अतिमानव का कोई धर्म नहीं । धर्म मानस से आत्मा के मार्ग में मध्य की अवस्था है । परन्तु मानव के आध्यात्मिकता में प्रवेश के लिये उसे योग को स्थान देना पड़ेगा । दैवी सत्ता तक पहुचने का मार्ग धर्म नहीं बल्कि योग है । अरविंद के अनुसार योग, धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान का निषेध नहीं करता बल्कि उन सबके लिये स्थान है और इन्हें भगवत–साक्षातकार के साधनों के रूप में प्रयोग करता है ।

यहां रूककर मैं आप लोगों का ध्यान अरविंद के जीवन में आई–इसी स्थिति की ओर आकृष्ट करना चाहूंगी, जब अलीपुर केस के सिलसिलें में अलीपुर जेल में रहते हुये अरविंद को आत्म–साक्षात्कार व भागवत–साक्षात्कार हुये जिसके फलस्वरूप 1910 से पांडेचेरी में वे योग व साधना में लीन हुये व सक्रिय राजनीति व सामजिक क्षेत्र से सन्यास ले लिया था ।

यहां से प्रारम्भ हुई यात्रा एक अतिमानव की यात्रा थी । समाज को जीवन का यह उच्चतम बिन्दु देने का अमूल्य योगदान हमेशा स्मरणी रहेगा, जहां देश काल, धर्म । लिंग कोई भेद विभेद नहीं रहता–रहता है केवल एक उच्च आध्यात्मिक विकास जो मानवीय है, मंगलमयी है ।

4.2 दैवी सत्ता:

प्रारम्भ से अरविंद एक दैवी सत्ता की मान्यता रखते रहे हैं । उनके अनुसार वह दैवी सत्ता कोई मृत एकता नहीं बल्कि एक समृद्ध विविधता है । परार्थवाद का आधार परोपकार नहीं बल्कि उसमें अंत:स्थ सद्वस्तुओं–तत्व का साक्षात्कार है । इसलिये मानव व समाज अपनी वैयक्तिता का विकास करके भी सामान्य बंधनों को बनाये रख सकते है । अरविंद दर्शन उदार है, स्पष्ट है और व्यक्ति और समाज की सभी स्तरों की समस्याओं के सुलझाव के लिये उपयुक्त है । विश्व समाज की स्थापना के लिये यह दर्शन बहुत ही उपयुक्त होगा ।

4.3 व्यक्ति और समाज:

अरविंद दर्शन दैवी सत्ता में व्यक्ति और समाज में एक समन्वित सम्बन्ध स्थापित करता है । व्यक्तिगत मोक्ष सार्वभौम मोक्ष के साथ है । सामाजिक आत्मा की अवहेलना करने

से मोक्ष का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है । इस प्रकार अरविंद ने बोधिसत्व के प्राचीन आदर्श को पुन: जागृत किया है ।

अगर विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि इन विचारों ने इस समय के क्रान्तिकारियों को न कि केवल प्रभावित किया, बल्कि मातृभूमि पर प्राण होम देने में, देश और समाज के मोक्ष के लिये अपने को बलिदान कर देने को प्रेरित किया होगा और देश और समाज का मोक्ष उस समय था, स्वराज व स्वतंत्रता । ऐसा अटूट बंधन व्यक्ति और समाज में अपने दर्शन और ज्ञान के आधार पर अरविंद ने स्थापित किया–यह उनके द्वारा एक अमूल्य योगदान भारत ही नहीं विश्व भर के स्वतंत्रता सेनानियों के लिये हुआ है।

4.4 अरविंद और राष्ट्रीय शिक्षा (नेशलिस्ट एजूकेशन)

अरविंद ने शिक्षा के ऊपर गहराई से विचार किया था । ब्रिटिश सरकार के 'विश्वविद्यालय सिस्टम' के वे खिलाफ थे जिसमें कई–कई विषयों की भरमार थी परन्तु मानविकी विषयों की सख्त कमी थी । तकनीकी शिक्षा पर अत्यधिक जोर भी अरविंद को पसन्द नहीं था। शिक्षा का करीकुलम ऐसा नहीं था कि भारतीय इसके माध्यम से ज्ञान व राष्ट्रीय आत्म विकास के सोपान चढ़ सकते, कि न उनके सामाजिक विकास में यह सहायक होने वाली थी, सिवा इसके कि अंग्रेजी शिक्षा पाकर पढ़े–लिखे भारतीय अंग्रेजी संस्कृति को अपनाने लगें और अपनी संस्कृति पर शर्मिन्दगी महसूस करें । इसके अतिरिक्त भारत का प्राचीन ज्ञान जो देश भर में बिखरा है उसे भी इकट्ठा करना तथा संगठित करना भी अत्यावाश्यक वे मानते थे । भारत के सामने अपनी औद्योगिक प्रगति, आर्थिक आत्म निर्भरता तथा आर्थिक स्वातंत्रय की समस्यायें थीं । अरविंद ने कहा था कि अगर शिक्षा के विषय पर से सरकारी नियंत्रण उठा लिया जाये तथा जनता की किसी संस्था को सौंप दिया जाये तो फिर इसका बाईकाट करने की जरूरत ही नहीं रह जाये। इस संबंध में अपनी पत्रिका 'कर्मयोगिन' में उन्होंने बहुत से लेख लिखे थे। उनके राष्ट्रीय शिक्षा पर विचार तत्कालीन नेताओं तथा बुद्धिजीवियों तक पहुंच चुके थे।

दूसरी तरफ बंग–भंग के फलस्वरूप जो बॉयकाट आदोलन चला उसने बंगाल में अंग्रेजी स्कूलों और कॉलेजों को 'बाईकाट' हुआ । इन विद्यार्थियों के लिये भी अत्यावश्यक था कि शीघ्र ही राष्ट्रीय शिक्षा का इन्तजाम हो । 'जातीय शिक्षा परिषद' की स्थापना हो चुकी थी। श्री सुबोधचन्द्र मलिक ने एक लाख रुपये दान इसे दिया तथा बंगाल नेशनल कॉलेज की स्थापना हो गई । श्री अरविंद ने बड़ौदा कॉलेज से इस्तीफा देकर यहां के प्रिन्सीपल पद की नियुक्ति स्वीकार कर ली । यह दूसरी बात है कि कॉलेज के हित में साल भर बाद ही उन्होंने इस्तीफा दे दिया–क्योंकि अलीपुर केस में वे पकड़े जा चुके थे और केस चलने के दौरान कॉलेज पर इस बात का असर न पड़े वे चाहतें थे । विद्यार्थियों के हृदय में स्वतन्त्रता प्रेम व क्रांति का बीजारोपण वे कर आये थे ।

संपूर्ण राष्ट्र को ही उनके दर्शन, जीवन, भाषण व लेखन एक अनौपचारिक शिक्षा प्रदान कर रहा था । आज भी उसकी उपादेयता कम नहीं है, आवश्यकता है मौलिक शोध की, अध्ययन की, मूल्यांकन की । बहुत सारांश में यहां भी मूल्यांकन किया जा रहा है, यद्यपि आप

इस लेख में अरविंद के कृतित्व, कार्य व विचारों के साथ मूल्यांकन भी पायेंगे । इन बिंदुओं को मैं यहां दोहराऊंगी नहीं ।

5. मूल्यांकन:

अरविंद प्रचंड देशभक्त व क्रान्तिकारी थे, उनकी जीवनी से आपको महसूस हुआ होगा । भारत मां अरविंद के अनुसार जमीन का एक टुकड़ा नहीं प्राणावंत प्राणदायिनी मां है, जिसके मान हेतु प्राण–दान करना देशभक्तों के लिपे बांये हाथ के खेल हैं । यहां आकर ब्रह्य और माया, दुर्गा व संतान माता व पुत्र सब एक हो जाते हैं । एक अदृश्य पवित्र शक्ति (Divine Power) सबको एक डोर में बांधे इसलिये ''राष्ट्रवाद सामूहिक समहितों की साधना नहीं, एक विश्व धर्म है–प्रत्येक राष्ट्र को इसकी साधना अवश्य करनी चाहिये।" राष्ट्रीयता की ऐसी जीवत अवधारणा तथा राष्ट्रीयता द्वारा अंतराष्ट्रीयवाद की सफलता अरविंद का मौलिक योगदान है । कहना न होगा कि अरविंद का पूरा चिंतन पूरा दर्शन नितांत मौलिक व स्वअनुभूत है । वे विचारक थे तो नेता भी थे, अध्यापक भी, अध्ययनकर्ता भी थे । सांसारिक थे, तो योगी भी थे।

तत्कालीन राष्ट्रीय नेता जैसे तिलक, अरविंद तथा कुछ पहिले के समाज सुधारक जैसे स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द आदि प्राचीन धर्मग्रन्थों–वेदों, उपनिषदों तथा उत्तरकाल कें धर्मसाहित्य के प्रकांड विद्वान थे । इतनी अमूल्य ज्ञान निधि के होते हुये भारतीय लोगों को पाश्चात्य दर्शन से उधार देना पड़े यह असहनीय था । अपने–अपने ढंग से इस सभी ने– अरविंद ने भी इसका मंथन कर नवनीत–निष्कर्ष जनता के सामने–वेद, वेदांत, दर्शन, योग और तत्र का–रखने के प्रयत्न किये। फलस्वरूप भारतीय दर्शन व धर्म की पुर्नप्रतिष्ठा सारे संसार में हुई । भारत की डूबी पराधीन मानसिकता को उठ खड़े होने का संबल मिला । राजनीतिक स्वाधीनता भले ही 1947 में आई, परन्तु उससे भी अधिक मानसिक स्वाधीनता की जो अलख अरविंद जगा गये । वह अमूल्य है; उग्र राष्ट्रवाद के द्वारा, क्रांतिकारी कार्यो के द्वारा अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें अरविंद हिला गये, यह बल भी याद रखिये।

अरविंद ने व्यक्ति के, राष्ट्र के बल्कि संसार के जीवन में अध्यात्म की आवश्यकता पर न केवल जोर दिया, वरन् अपने उदाहरण से सिद्ध किया कि मनुष्य एक सात सांसारिक और योगी दोनों हो सकता है । अन्य कालपुरुषों की तरह अरविंद भी अपने समय से बहुत आगे थे । उनके दर्शन की उपादेयता लेकिन इससे कम नहीं होती । वर्तमान भौतिकावादी संसार में जबकि दो विश्वयुद्ध हो चके हैं और तृतीय एक शीतयुद्ध के रूप में सिर पर मंडरा रहा है, मानव को यदि विश्व को बचाना है तो अध्यात्म की ओर मुड़ना ही होगा । अरविंद का दर्शन ही तब एक आदर्शवादी उच्चतम बिंदु देगा, जिसकी ओर सभी बढ़ेंगे । अरविंद सही मायनों में एक विश्व मानव थे ।

6. संदर्भ ग्रन्थ

1. वी.पी. वर्मा, दि पोलीटिकल फिलॉसफी ऑफ श्री अरविंद–एशिया पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली।
2. शिशिर कुमार मित्रा, श्री अरविंद, इण्डियन बुक कम्पनी, नई दिल्ली, 1972

3. डॉ. रामनाथ शर्मा, श्री अरविंद का सर्वांग दर्शन, अनु प्रकाशन, मेरठ कैंट, 1972
4. नवजात, श्री अरविंद

विशेष: श्री अरविंद के जन्म शताब्दी वर्ष में, 1972 में अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, द्वारा संपादित 29 वाल्यूम्स में श्री अरविंद के भाषण, लेख व विचार संग्रहीत हैं। विद्यार्थियों को Volume No.2 and 3 Early Political Writing अवश्य पढ़ना चाहिये।

7. अभ्यास प्रश्न

1. भारत के स्वतंत्रता संग्राम में अरविंद के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।
2. अरविंद के राजनैतिक विचारों को अपनी टिप्पणियों सहित समझाइए।
3. टिप्पणी लिखें–

(अ) अरविंद के राष्ट्र व राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार।

(ब) अरविंद की जनतंत्र की अवधारणा।

(स) अरविंद के पूंजीवाद व समाजवाद पर विचार।

इकाई–8
महादेव गोविन्द रानाडे

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. ऐतिहासिक–सामाजिक परिप्रेक्ष्य
4. यूरोपीय संदर्भ और उसका प्रभाव
5. आर्थिक विचारधाराओं का प्रसंग
5.1 ब्रिटिश विचारधारा
5.2 जर्मन विचारधारा
6. रानाडे का राजनीतिक दर्शन
6.1 मराठा शक्ति का सामाजिक विश्लेषण
6.2 महाराष्ट्र: राष्ट्रीय पुनर्जागरण का अग्रदूत
6.3 समाज सुधार के बिना राजनीतिक आज़ादी निरर्थक
7. हिन्दू समाज का शुद्धीकरण और रानाडे
8. भारत में गरीबी
9. औद्योगीकरण की महत्ता
10. उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद के जनक
11. मूल्याकन तथा निष्कर्ष
12. संदर्भ ग्रन्थ
13. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का मूल उद्देश्य है–

1. रानाड़े के विचारो के पार्श्व–तत्त्वों की व्याख्या
2. उनके राजनीतिक चिंतन के तत्त्वों की विवेचना
3. राजनीतिक संदर्भ के साथ समाज सुधार संदर्भ के सहकारिता पर बल ताकि एक समन्वित संदर्भ का निर्माण सम्भव हो; तथा
4. राष्ट्रवाद के विविध आयामों की रानाडे के विचारों में निरूपण की समीक्षा तथा उसका प्रभाव आकलन

2. प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक ए. ओ. ह्यूम महादेव गोविन्द रानाडे को अपना राजनीतिक गुरू मानते थे, तथा उनके एवं वेडरबर्न के सहयोग से उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

की स्थापना भी 1885 में कर डाली थी । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ये कथित मितवादी (मोडरेटस्) जिनमें गोपाल कृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी तथा रमेश चन्द्र दत्त को सम्मिलित किया जाता है–ने भारत के आर्थिक पिछड़ेपन तथा सामाजिक जड़ता के कारण अपनी अपनी शैली में पता लगाये थे तथा इन सब की दृष्टि एक बौद्धिक समाज शास्त्री की दृष्टि तो कही ही. जा सकती है । "महाराष्ट्र के इस सुकरात" की रचनाओं तथा कार्यकलापों के अध्ययन से यह पता चला है कि उनमें एक भविष्य दृष्टा की शक्ति तथा एक लगनशील एवं कार्यशील समाज सुधारक की व्यथा तथा उग्रता तो पाई जाती थी तथा वे सभी लोग भारत के एक सुनहरे भविष्य के सपने को साकार करने के लिए प्राण्पण से जुटे हुए थे ।

डॉ. आर. ए. प्रसाद उन्हें एक "आर्थिक राष्ट्रवादी" की संज्ञा देते है तथा वे उन्हें प्रोफेशनल ''मध्यम वर्ग" के एक सही प्रतिनिधि भी करार देते है । रूसी अकदमीशियन सर्व श्री बाला बुशोविच तथा डयाकोव कहते हैं

"भारत में उपनिवेशवादी शासन के कारण–जो आर्थिक सर्वनाश हुआ, उसका कांग्रेसियों ने गहरा विरोध किया था तथा इनको नेतृत्व महादेव गोविन्द रानाडे तथा दादा भाई नौरोजी ने प्रदान किया था । रानाड़े की यह मान्यता थी कि चूंकि भारत वर्ष में हथकरघा उद्योग धीरे धीरे ढह गया, अत: भारत एक औद्योगिक देश बनने की बजाय कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था वाला देश बन कर रहा गया ।"

यही कारण था कि रानाडे के दर्शन का मूलमंत्र यही था कि या तो औद्योगिकरण करो अथवा नष्ट हो जाओ । रानाडे कि 'स्वतन्त्रता' की धारणा व्यक्तित्व के पूर्ण नैतिक एवं अध्यात्मिक विकास के दर्शन से अभिप्रेरित थी तथा वे पूर्व के 'मूल्यों' एवं 'मान्याताओं' तथा पश्चिम की राजनीतिक एवं आर्थिक 'विचारधाराओं' के मध्य समन्वय करने के गम्भीर समर्थक थे ।

3. ऐतिहासिक–सामाजिक परिप्रेक्ष्य:

किसी भी राजनीतिक विचारक के विचारों का सही मूल्यांकन तभी सम्भव होता है जबकि हम उस विचारक के ऐतिहासिक एवं सामाजिक संदर्भ को समझने का प्रयास करते है । उदाहरण के तौर पर 1857के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की स्याही भी नहीं पाई थी । देश की राजधानी अभी कलकत्ता में ही थी तथा देश में इंग्लैंड की क्वीन विक्टोरिया को मलका ए–हिन्द का खिताब दे दिया गया था ।राजा राम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती भारत में सांस्कृतिक पुर्न जागरण के अलख जगा रहे थे । दो विचारधाराएं देश को उद्वेलित कर रही थी:

प्रथम विचारधारा के मानने वाले लोगों का यह मानना था कि जब हम भारत के सांस्कृतिक गौरव पुन: प्राण नहीं कर लेंगे तब तक 'स्वतन्त्रता' प्राप्ति का प्रयास दिवास्वप्न ही अधिक सिद्ध होंगे । महात्मा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का यह भी कहना था कि विदेशी शासकों को भारत में समाज सुधार' करने का कोई हक नहीं है तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हम खुद ही सामाजिक न्याय की लड़ाई छेड़ेंगे ।

दूसरी विचारधारा के लोगों की यह मान्यता थी कि हमारे देश में सामाजिक जड़ता ने आर्थिक गतिरोध की स्थिति पैदा की है । अत: इस देश में 'सामाजिक न्याय' तथा 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' की लड़ाई साथ–साथ ही लड़ी जायेंगी । और आर्थिक प्रगति का मार्ग भी तभी प्रशस्त होगा । मात्र अंग्रेजी शासन को तथा शोषण को कोसने से कुद होने वाला नहीं है । दादाभाई नौरोजी इस मत से सहमत नहीं थे तथा उन्होनें 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' पुस्तक में अपनी विश्व प्रसिद्ध 'ड्रेन थ्योरी' दी थी तथा वे इंगलैण्ड को ही इसके लिये दोषी मानते थे । और इस विचारधारा का नेतृत्व दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले तथा रमेशचन्द्र दत्त कर रहे थे । ये लोग यूरोप को नितनूतन आर्थिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं पर अपनी नजर लगाये हुए 'थे ।

4. यूरोपीय संदर्भ और उसका प्रभाव

यूरोप में उस समय तीन प्रकार की राजनीतिक विचारधाराएं कार्य कर रही थी:

प्रथम विचारधारा का नेतृत्व जार्ज हीगल तथा बोस्कांवे कर रहे थे जो कि एक तरफ तो राज्य की अवयवी प्रकृति (आर्गनिक स्टेट) में विश्वास रखते थे तथा दूसरी तरफ वे राज्य को ईश्वरीय देन की संज्ञा देते थे ।

द्वितीय विचारधारा का प्रतिपादन जेम्स मिल, जे. एस. मिल तथा जेरमी बेन्थम कर रहे थे–जो कि व्यक्ति के लिए राज्य की अर्थात् उपयोगिता वादी सिद्धान्त का प्रतिवादन कर रहे थे । वे यही कहते थे कि सबसे अच्छा राज्य वही है जो कि सबसे कम शासन करता है ।

तृतीय विचारधारा की दुहाई कार्ल मार्क्स तथा फडरिख ऍजिल्स दे रहे थे तथा जो कि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या तथा द्वंद्वात्क भौतिकवाद के सहारे वर्ग संघर्ष का सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे थे । एवं वे राज्य को मात्र शोषण का एक हथियार सिद्ध कर रहे थे ।

रानाड़े में इनमें से प्रथम विचारधारा से अधिक सहमत थे तथा वे केशव चन्द्र सेन के साथ सही स्वर गुंजा रहे थे कि राज्य एक ईश्वरीय अवतारण मात्र है तथा उसका लक्ष्य व्यक्तियों का पूर्ण आध्यात्मिक व नैतिक विकास करना है । यानि कि वे लोग राज्य की उत्पत्ति की आदर्शवादी प्रस्थापनाओं से अपनी सहमति जता रहे थे । मजे की बात तो यह है कि मार्क्स के समकालीन होते हुए भी वे विचारक मार्क्स की आर्थिक विचारधारा से रत्तीभर भी प्रभावित होते नजर नहीं आते हैं ।

5. आर्थिक विचारधाराओं का प्रसंग:

इसी प्रकार अर्थशास्त्र की दुनियां में भी उस समय दो विचारधाराओं का बोलबाला था और ये थीं:

5.1 ब्रिटिश विचारधारा:

इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादकों में सर्वश्री एडम स्मिथ रिकार्डो, मातीस तथा जे. एस. मिल का नाम गिनाया जा सकता है । ये लोग एक तरफ तो 'मांग तथा वितरण' के नियम बना रहे थे तथा वे दूसरे तरफ 'स्टेटिस्टिकल' तथा 'जियोमेट्रिक बिकास' के प्रतिमानों के

अन्र्तद्वंद्वों को उजागर कर रहे थे। कहने का सार यही है कि वे एक 'अर्थशास्त्र जण्य मानव' की एक नई अवतारण प्रस्तुत कर रहे थे ।

5.2 जर्मन विचारधारा:

जर्मन अर्थशास्त्री ब्रिटिश विचार धारा से (आर्थिक मानव की) सहमत नहीं थे–इन विचारधारकों में बैगनर, श्योलर तथा रोशन के नाम उल्लेखनीय रहे हैं । इन लोगों ने इस प्रश्न पर यह प्रश्न चिन्ह लगा दिया था कि क्या अर्थशास्त्र व्यावहारिक जीवन में हमारा मार्ग दर्शन कर सकता है? इन लोगों ने 'मानवीय मूल्यों' के मुद्दे भी उठाये ।

महादेव गोविन्द रानाड़े इनमें से दूसरी विचारधारा के अधिक निकट थे–क्योंकि वे नैतिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं के मुकाबले में आर्थिक बाध्यताओं को प्राथमिकता देने के पक्ष में नहीं थे ।

6. रानाड़े का राजनीतिक दर्शन

6.1 मराठा शक्ति का सामाजिक विश्लेषण:

रानाड़े ने इस भ्रांति का संशोधन किया कि अंग्रेजी हुकुमत ने सीधे मुगल हुकुमत से सत्ता हथियाई थी । उनकी सम्मति यह थी कि मुगल हुकुमत के आखिरी बरसों में 'मराठा शक्ति' का उदय हुआ और वह मुगल सल्तनतों को मनमाने तरीकों से नचा सकने की स्थिति में आई थी । उनका सवाल यह था इस शक्ति का प्रार्दुभाव क्यों हुआ तथा कैसे हुआ?

रानाड़े ने अंग्रेज इतिहासकारों के इस कुप्रचार का भी खण्डन किया कि मराठे लुटेरों तथा डाकुओं के झुण्ड के अलावा कुछ भी नहीं थे । सबसे पहले तो उन्होंने यही प्रस्थापना रखी कि छत्रपति शिवाजी का नेतृत्व चमत्कारिक (करिश्मावादी) था क्योंकि वह एक तरफ तो उच्च कोटि की नैतिकता के दर्शन से ओतप्रोत था तथा दूसरी तरफ वह उच्च दैवी शक्ति से अभिप्रेरित था । समर्थ रामदास गुरू ने उनके आन्दोलन को एक जनवादी कलेवर जो प्रदान किया था ।

6.2 महाराष्ट्र: राष्ट्रीय पुर्नजागरण का अग्रदूत:

महादेव गोविन्द रानाड़े ने एक संशोधन यह भी सुझाया था कि महाराष्ट्र में 'राष्ट्रीय पुर्नजागरण' 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में ही घटित हो रहा था तथा इसका नेतृत्व ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम तथा रामदेव जैसे सुधारवादी संत कर रहे थे । रानाड़े ने इस सांस्कृतिक पुर्नजागरण की तीन विशेषताएं बतलाई और ये थी:

1. यह आन्दोलन 'परम्परा विरोधी' था जो कि एक तरफ तो सामाजिक संकीर्णताओं (उदाहरणार्थ जाति प्रथा तथा ब्राहमणों के धार्मिक कर्मकाण्ड को ही ले) पर जमकर प्रखर कर रहे थे तथा दूसरी तरफ वे मुगल शासकों के विरूद्ध व्यापक जनमत तैयार कर रहे थे ।
2. ये लोग अधिकांशत : श्रद्धामूलक, भक्ति मार्गी तथा एकेश्वरवाद का व्यापक प्रचार एवं प्रसार करने में जुटे हुए थे ।

3. इन लोगों ने सामाजिक तथा नागरिक स्वतंत्रताओं का मार्ग प्रशस्त किया तथा एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था का भी सृजन किया । सारत: रानाड़े ने लिखा:

इन सब तरीकों से उसने राष्ट्र का चिन्तन तथा कर्म की क्षमता के स्तर को सामान्यत: ऊंचा उठाया तथा उसे विदेशी हुकुमत के स्थान पर संयुक्त देशी हुकुमत की पुन: स्थापना के लिए तथा उसे नेतृत्व देने के लिए तैयार किया ।

हालांकि मानवेन्द्र नाथ रॉय जैसे विचारक रानाड़े के इस संशोधन से सहमत नहीं थे। वे इसे 'देशी सामन्तवाद' का प्रतीक मानते थे तथा वे इसे यूरोपीय पुनर्जागरण के मुकाबले में अविकसित मानते थे–क्योंकि यह एक तरफ तो राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य प्राप्त करने में असफल होकर रह गया तथा दूसरे यह जनतांत्रिक बनने की बजाय मध्य युगीन सैनिक साम्राज्यवादी आन्दोलन बनकर रह गया। फिर भी रानाड़े के योगदान को तुच्छ कहकर नकारा नहीं जा सकता है ।

6.3 समाज सुधार के बिना राजनीतिक आजादी निरर्थक:

रानाड़े के युग की यह समस्या थी कि (अ) अब क्या राजनैतिक आजादी की लड़ाई को प्राथमिकता दी जाये तथा क्या सामाजिक सुधारों की लड़ाई को बाद में लड़ा जायेगा? (ब) तथा इस सामाजिक सुधारों की लडाई में राज्य की क्या भूमिका होनी चाहिए? (स) अगर उत्तर 'हां' में है तो भी क्या हमें इसके लिए विदेशी शासकों की शरण में जाना चाहिए तथा इसका औचित्य क्या है? ये सारे सवाल मूलत: महात्मा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक उठाते थे तथा उनकी यह निश्चित मान्यता थी कि अगर सामाजिक सुधार लाने के लिए हम इतने व्यग्र है तो भी हमें इसके लिए विदेशी शासकों की मदद कदापि नहीं लेनी चाहिए तथा हमें उसके लिए व्यापक जनमत तैयार करना चाहिए । तथा उनका यह भी कहना था कि जब शिकायतकर्ता राज्य के पास फरियाद लेकर नहीं जाते है तो भी राज्य हस्तक्षेप के लिए क्यों आतुर है ।

रानाड़े ने राज्य की परिभाषा देते हुए लिखा कि वह सामूहिक योग्यता का प्रतिनिधित्व करता है । तथा वह श्रेष्ठीजनों की शक्ति, बुद्धि, दया तथा स्पष्टता का ही दूसरा नाम है । अत: उन्होंने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था:

'व्यक्ति जिन मामलों का तेजी से निबटारा नहीं कर सकता है तथा जब उसके पास कोई अन्य विकल्प भी नहीं रहता है तब सुस्पष्ट रूप से निर्वारित क्षेत्र में राज्य नियन्त्रणकारी कदम भी उठा सकता है ।" फिर उन्होंने यह भी सवाल उठाया था कि हमें यह भी देखना होगा कि क्या इस प्रकार के नीति निर्धारण के समय क्या विदेशी शासक अपने हितों की पूर्ति के लिए आमादा तो नहीं है या कि वे निस्वार्थ भावना से ऐसे कदम उठा रहें है । तथा उन्होंने एक जिज्ञासा यह भी प्रकट की कि क्या विदेशी शासन के रहते समाज के कुछ वर्गों में ये प्रचलित बुराइयां बेरोकटोक के चलते ही रहेगी ।

वे थामस पेन की इस धारणा से सहमत थे कि 'सामाजिक मुक्ति की दिशा में प्रगति तभी सम्भव होगी जबकि 'हम प्रास्थिति' के कानून की स्थिति से निकलकर 'संविदा' के कानून के युग में प्रवेश करेंगे"? कहने का सार यही है कि जबकि व्यक्ति, जाति एवं पारिवारिक

नियन्त्रणों की बजाय आत्म आरोपित स्वैच्छिक नियन्त्रणों से प्रेरित होता है तभी हम अंधविश्वासों के अंधकार' से निकलकर परिवर्तन जयप्रकाश के युग में प्रवेश कर सकेंगे और यही रानाड़े द्वारा इच्छित सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तनों की है । और आगे चलकर बाबा भीमराव अम्बेडकर इन विचारों से अपनी सहमति दर्शाते है ।

7. हिन्दू समाज का शुद्धीकरण और रानाड़े:

महादेव गोविन्द रानाड़े स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क में आये थे तथा उन्होंने 'कृण्वन्तों ओभ आर्पम्' के सिद्धांत को अपना समर्थन प्रदान कर दिया था । वैसे उनकी मान्यता यही भी थी कि सामाजिक प्रगति के अभाव में राजनीतिक मुक्ति पाना असम्भव है । वैसे वे बुद्धि पर आधारित एक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए व्यग्र थे, अत: वे राजनीतिक विशेषाधिकार तथा अधिकार पाने की भाषा का इस्तेमाल करते थे । रानाड़े की यह निश्चित मान्यता थी कि किसी भी समाज के सामने समाज परिर्वतन के दो ही रास्ते है और ये है–

1. पहला रास्ता दयानन्द सरस्वती तथा भण्डारकर ने सुझाया था कि हिन्दू शास्त्रों को समझाने तथा उनकी अघतन मीमांसा की आवश्यकता है । तभी हम अपने समाज में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करते है । उदाहरणार्थ "सत्यार्थ प्रकाश" के माध्यम से दयानन्द सरस्वती ने जाति प्रथा तथा ब्राह्मणों के कर्म काण्ड की जमकर निन्दा की थी । तथा 'वेदी की ओर वापिस चलो' का नारा बुलन्द किया था ।
2. दूसरा रास्ता सुझाने वाले थे सर्व श्री गोपाल कृष्ण गोखले, तैलंग तथा ए. ओ. ह्यूम इत्यादि । ये लोग कानून द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाने के पक्षधर थे । और कहने की बात नहीं है कि रानाड़े इस दूसरी विचारधारा से सहमत थे ।

उन्होंने हिन्दू धर्म के भूतकाल के गौरव का गुणगान नहीं किया बल्कि अपने धर्म की 'आत्मआलोचना" को भी प्रस्तुत किया । पहला आलोच्य पक्ष तो यही कथन था कि 'बह्मं सत्य जगत मिथ्या ।" अर्थात ब्रह्म ही सत्य है और यह दुनिया मिथ्या है । दूसरा आलोच्य पक्ष तो गीता का यह कथन था कि 'कर्मव्येवाधिकारास्ते मा फलेषु कदाचन् ।" अर्थात मनुष्य का कार्य तो कर्म करना ही है और उसके फल की कामना भगवान पर छोड देनी चाहिए । इसी दर्शन के अन्तर्गत मोक्ष प्राप्ति को प्राथमिकता दी गई तथा मनुष्य को 'स्थितप्रज्ञ' बनने का आदेश दे दिया गया । तीसरा आलोच्य पक्ष था चार्तुवर्णीय व्यवस्था का पाया जाना जिसमें कि व्यक्ति का लक्ष्य एक निर्धारित 'भूमिका'का निर्वाह करना मात्र रहा है ।

इस प्रकार उनका यह निष्कर्ष था (और जो सही भी था) कि बगैर सामाजिक सुधार के अर्थात् हिन्दू समाज की धार्मिक व्यवस्था में बिना व्यापक शुद्धीकरण के राजनीतिक आजादी की लड़ाई बलवती नहीं हो पायेगी । उनके सामने अपना उदाहरण 'मराठा शक्ति' का था जिसमें मूल कारण यही था कि महाराष्ट्र में सामाजिक पुर्नजागरण की धारा कल कल निनाद करती हुई वह रही थी और जिसे कि एक तरफ तो शिवाजी का 'चमत्कारिक नेतृत्व' मिला तथा दूसरी तरफ उसने उच्च नैतिक एवं आध्यात्मिक चरित्र बनाने के दिशा में भी व्यापक प्रयास किया ।

8. भारत मे गरीबी

अगर रानाड़े का प्रथम लक्ष्य सामाजिक सुधार लाना था वहां उनका दूसरा लक्ष्य भारत का आर्थिक विकास भी करना था–जिससे कि न्याय तथा समता पर आधारित एक भारतीय सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जा सके । इस प्रकार 'लोकतांत्रिक समाजवादी दर्शन" की जड़ें उनके लेखन में तलाशी जा सकती है । महादेव गोविन्द रानाड़े ने भारत की गरीबी के लिए ब्रिटिश लोगों की पूरी तरह दोषी नहीं माना, यद्यपि उन्होंने ब्रिटिश व्यवस्था की भारत में की गई नकल की भरपूर आलोचना प्रस्तुत की । यहां पर यह भी स्पष्ट कर दिया जाये कि रानाड़े राज्य पूंजीवाद (State Capitalism) के घनघोर विरोधी थे–उन्होंने इस बात की आलोचना प्रस्तुत की कि राज्य (ब्रिटिश) के हाथों में भूमि का समूल केन्द्रीयकरण हो गया है । (जो कि तब भारत में उत्पादन का एक मात्र साधन थी)

उन्होंने भारत में गरीबी के मूल कारण निम्नलिखित बताये :

1. कर्ज देने वाले साहूकारों द्वारा की जाने वाली व्यापक लूटपाट (यानि कि ग्रामीण कर्ज व्यवस्था का विश्लेषण किया जाये ।
2. पूंजी का अभाव (और इसके लिए वे ब्रिटिश पूंजी के आगमन को प्रोत्साहन देने के पक्षधर थे ।)
3. भूमि पर सरकार की 'मोनोपोली' से सर्वनाश का रास्ता खुल गया है ।

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है कि रानाड़े ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या अर्थशास्त्र के चिन्तन की ब्रिटिश धारा भारतीय परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक भी है अथवा नहीं । इसका उत्तर साफ है कि वे आदमी को मात्र "आर्थिक मानव' मानने के सिद्धांत से सहमत नहीं थे–वरन् वे जर्मन अर्थशास्त्रियों की परम्परा में समाजशास्त्रीय प्रस्थापनाओ के प्रयोग के अधिक हामीदार थे । यहां पर यह भी स्पष्ट कर दिया जाये कि रानाड़े भारत के पूंजीवादी विकास के पक्षपाती थे परन्तु वे उग्रव्यक्तिवाद के विरोधी भी थे यही कारण है कि वे सम्पत्ति के पुन: विभाजन की चर्चा किया करते थे । यही पर इस मिथक का भी खण्डन कर दिया जाये कि वे ब्रिटिश लोगों के गुणगान में लगे रहते थे बल्कि वे तो ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा भारत में पूंजी लगाने तथा उससे होने वाले आर्थिक विकास के लिए उनके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन अवश्य किया करते थे ।

रानाड़े ने दादाभाई नौरोजी के विश्लेषण को राजनीतिक करार दिया क्योंकि वे कहते थे।

1. ब्रिटिश साहूकार ऐसा है जो कि ब्याज की कम दर पर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता
2. वह अपनी कमाई को यहां के प्रशासन, प्रतिरक्षा तथा पेंशन पर खर्च देता है ।
3. जितना पैसा वे भारत से ले जाते उतना पैसा तो हमें चीन में अफीम के व्यापार की 'मोनोपोली से' वापिस मिल जाता है ।

9. औद्योगीकरण की महत्ता

यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया जाये कि वे मात्र उद्योगों के संवर्द्धन के पक्षपाती नहीं थे अपितु वे तो उद्योग, व्यापार तथा कृषि के समन्वित विकास के पिष्टपोषक थे । कृषितन्त्र में सुधार हेतु उनके दो सुझाव थे और ये थे :

(अ) भू–राजस्व व्यवस्था में तत्काल सुधार किया जाये ।

(आ) ग्रामीण सहकारी व्यवस्था का पुनर्गठन किया जाये।

एक भविष्य दृष्टा की तरह से उन्होंने भारत में औद्योगीकरण नहीं होने के निम्नांकित कारण ढूंढ निकाले और ये थे :

(अ) हमारी अर्थव्यवस्था कृषि पर आश्रित है । (आ) लौह तथा अन्य बड़े उद्योगों में लगाने के लिये पूंजी का अभाव है । (इ) श्रृणा देने की व्यवस्था बहुत पुरानी है । (ई) कहीं कहीं पर जनसंख्या का बोझ काफी बढ़ गया है । (उ) हमारे देश में पूंजी लगाने में तथा उद्योग स्थापित करने हेतु जोखिम उठाने वाले लोगों का अभाव दृष्टिगोचर होता है । (ऊ) परम्परागत सामाजिक व्यवस्था भी इसमें गतिरोध पैदा करती है ।

अत: महादेव गोविन्द रानाड़े इस स्थिति में राज्य द्वारा पहले लिये जाने के पक्षपाती थे तथा मोटेतौर पर उन्होंने दो सुझाव सुझाये और ये थे :

1. प्रथम तो राज्य ब्याज की सस्ती दर पर पूंजी उपलब्ध कराये ।
2. तथा वह जमा बैकों तथा वित बैकों के जरिये व्यापक औद्योगिकरण का वातावरण तैयार करें ।

10. उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद के जनक

पूंजीवादी अर्थतंत्र के ब्रिटिश चिन्तन के बमुकाबला वे राज्य की अवयवी प्रकृति (आर्गनिक स्टेट) के चिन्तन को अधिक सही एवं सटीक मानते थे । हीगल तथा फेडरिख लीस्ट की तरह ही वे भी यह महसूस करते थे कि व्यक्तियों में कर्तव्य पालन एवं आत्मोत्सर्ग की भावनाओं को इतना फैलाया जाये जिससे कि मानव व्यक्तिव का समग्र एवं सर्वांगीण विकास हो सके । क्योंकि उन्होंने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये 'प्रार्थना समाज' की बम्बई में स्थापना की थी और यह समाज सामाजिक असमता तथा महिलाओं एवं पिछड़े वर्गों के उद्धार के संघर्ष में जुटा हुआ था । रानाड़े निकोलो मैकियावली की भांति (विशेषत: डिस्कार्स के हिसाब से) नागरिक गुणों के विकास के लक्ष्य को सर्वाधिक प्राथमिकता देता था ।

रानाड़े 'स्वतन्त्रता' का अर्थ मात्र कानून के शासन से नहीं लेते थे । वे फ्रांस के दुनोयर की भांति इसे एक भावनात्मक स्थिति की संज्ञा देते थे जिसमें कि हम प्रकार के श्रम की क्षमता में अभिवृद्धि होती है । रानाड़े इसी वजह से न्यायपालिका की 'स्वतन्त्रता' की दुहाई देते थे– परन्तु इसके साथ ही वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण के भी पक्षपाती थे । वे उन अंग्रेजी नौकरशाही की उद्दंडता से भी परेशान थे जोकि 'व्हाईट मैन्स बर्डन' के सिद्धांत के कंधों पर लादे घूमते थे ।

11. मूल्यांकन तथा निष्कर्ष

प्रोफेसर अंगादीपुरम अप्यादुरे उन्हें "एक महत्वपूर्ण जनसेवक, इतिहास–वेत्ता तथा उल्लेखनीय धर्म एवं समाज सुधारक की संज्ञा देते है 1 ।" डॉक्टर आर. ए. प्रसाद का कथन है कि "उनके जीवन की कामना यही थी कि भारत में समाज सुधार हो तथा जिससे कि देश का आर्थिक विकास हो सके ।"

उन्होंने सामाजिक न्याय तथा समता पर आधारित समाज व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया । प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा का यह मत है कि "वे (रानाड़ें) उन महापुरुषों में से थे जिन्होंने भारत में राजनीतिक चेतना उत्पन्न की । वे सामाजिक मामलों में प्रबृद्ध नीति का अनुसरण करना चाहते थे । उनकी बुद्धि मौलिक थी । उनकी पुस्तकें भारतीय सामाजिक विज्ञानों के संदर्भ में उनके गम्भीर पाण्डित्य तथा सृजनशीलता का परिचायक है–रानाड़े ने जीवन के हर क्षेत्र में स्वतन्त्रता पर जो बल दिया वह राजनीतिक चिन्तन का उत्तम योगदान है–इस प्रकार वे उदात्त भारतीय राष्ट्रवादी के गुरू थे ।" रूसी विद्वान बालाबुशेविच तथा ड्याकोव उन्हें "आर्थिक राष्ट्रवादी" तथा 'प्रोफेशनल मध्यम वर्ग' का सही प्रतिनिधि करार देते है जो कि औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के पक्षपाती थे । मेरी अपनी सम्मति में तो रूसी विद्वानों का मूल्यांकन सत्य के काफी निकट प्रतीत होता है । और रानाड़े द्वारा उठाये गये मुद्दे वर्तमान संदर्भ में भी उतने ही प्रासंगिक है जितने कि वे तब भी थे । रानाड़े की दृष्टि एक समाज वैज्ञानिक की थी तथा वे समाज के इन्जीनियर (विश्वकर्मा) के रूप में अधिक अच्छी तरह समझे जा सकते है । आलोचना तो यह भी की जा सकती है कि वे पूंजीवादी विकास के पक्षधर थे परन्तु सवाल यह भी उठता है कि जबकि देश स्वयं अंध सामंतवाद में सोया पड़ा हो तथा वह विश्व में होने वाले परिवर्तनों की अनदेखी कर रहा हो तब रानाड़े की आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की व्यग्रता को भी प्रगतिशील ही करार दिया जायेगा । फिर चूंकि एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था के अभाव में मजबूत अर्थ व्यवस्था का भवन नहीं खड़ा किया जा सकता है अत. समाज सुधारों की उनकी प्राथमिकता को भी गोण करार नहीं दिया जा सकता है । अगर अम्बेड़कर, रानाड़े तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बात हम मान लेते तथा सामाजिक सुधारों की मांग के बजाय स्वतंत्रता के ढोल नहीं पीटते तो आज हमें हरिजनों के जिन्दा जलाये जाने, महिलाओं द्वारा आत्म हत्या करने तथा नव बौद्धों के सार्वजनिक अपमान की खबरों के कड़वे घूंट नहीं पीने पड़ते । परन्तु यह कहावत मशहूर है कि बीत गई सो बात गई अत: अगर हम आज भी जाग–जायें तो अब भी सवेरा हो सकता है । अगर हमने इतिहास से यह पाठ नहीं सीखा तो वह हमारी पीढी को इसके लिए कभी क्षमा नहीं करेगा ।

12. संदर्भ ग्रन्थ

1. वी. पी. वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन
2. आर. ए. प्रसाद : सोशलिस्ट थॉट इन मॉडर्न इंडिया

13. अभ्यास प्रश्न

1. महादेव गोविन्द रानाड़े के राजनीतिक विचारों पर एक लेख लिखिए

2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   (i) भारत में गरीबी
   (ii) औद्योगिक की महत्ता
   (iii) हिन्दू समाज का शुद्धीकरण
3. भारत में समाज सुधार के क्षेत्र में रानाड़े के योगदान का मूल्यांकन कीजिए ।

इकाई–9
गोपाल कृष्ण गोखले

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना एवं जीवन–परिचय
3. राजनीतिक जीवन की पृष्ठभूमि
3.1 पारिवारिक परम्पराएं और संस्कार
3.2 अंग्रेजी शिक्षा
3.3 हिन्दू धर्म की शिक्षाएं
3.4 महान व्यक्तियों का सम्पर्क
4. गोखले के राजनीतिक तथा आर्थिक विचार
4.1 उदारवाद का समर्थन
4.2 भारत और इंग्लैण्ड के मध्य सामन्जस्यपूर्ण सहयोग
4.3 धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता का समर्थन
4.4 राजनीतिक लक्ष्य
4.5 राजनीतिक कार्यक्रम
4.6 स्वदेशी
4.7 प्रमुख आर्थिक संकल्पनाएं
4.8 सांविधानिक साधनों पर बल
5. मूल्यांकन
6. संदर्भ ग्रन्थ सूची
7. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई की रचना का उद्देश्य है

1. गोखले के राजनीतिक आर्थिक विचारों को सांगोपांग अध्ययन व समझ;
2. विचारों के नियामक व्यक्तित्व व तत्कालीन पारिस्थितिकी से परिचय;
3. उदारवादी संदर्भ में गोखले के विचारों की महत्ता;
4. राष्ट्रीय आन्दोलन राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय लक्ष्यों एवं कार्यक्रमों की विवेचना; तथा
5. विचारक के रूप में गोखले का मूल्यांकन

2. प्रस्तावना एवं जीवन–परिचय

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म बुद्धवार 9 मई 1866 को भारत के पश्चिमी तट पर स्थित रत्नागिरी जिले के एक छोटे से गांव, कौतलक, में हुआ था । यह इनकी ननसाल थी ।

गोखले के पिता, कृष्ण राव, पास ही तम्हानमाला के निवासी थे और उन्होंने अपने दोनों पुत्रों – गोविन्द व गोपाल–की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध कागल नामक गांव में किया था । गोखले परिवार को महाराजा शाहू ने 'सत्यवादी' (रस्ते) का खिताब दे रखा था, क्योंकि इस वंश के पूर्वजों ने मराठा इतिहास में अपने साहस, शौर्य, उज्जवल चरित्र व सत्यनिष्ठा के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये थे।

गोखले के पिता कृष्णाराव की प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर में हुई थी जहाँ उनके सहपाठियों में महादेव रानाडे भी थे । लेकिन उन्हें स्वप्न में भी यह आभास नहीं हुआ कि ऊपर से बहुत शान्त दीखने वाला उनकी कथा का वह छोटा सा रईस साथी एक दिन भारत का महान् नेता बनेगा जो उनके पुत्र को राजनीति की दीक्षा भी देगा । गोपाल कृष्ण गोखले की माता, सत्य, अपने परिवार व पति के प्रति पूर्णत: समर्पित, शुद्ध विचारों वाली, उदार हृदय महिला थी जो पति के अत्यन्त सीमित साधनों के अंतर्गत बड़ी कुशलता से अपने दो पुत्रों व चार पुत्रियों का लालन–पालन करती थी।

गोपाल की आयु जब केवल तेरह वर्ष की थी, उनके पिता की मृत्यु हो गयी । बड़े भाई गोविन्द ने 15 रुपये मासिक की आय में जिस प्रकार परिवार की जिम्मेदारियों को निभाते हुये आठ रूपये प्रतिमास गोपाल को, कोल्हापुर में रहने और पढ़ने के लिए कई वर्ष तक, भेजे वह त्याग और भ्रातृप्रेम का एक अविस्मरणीय उदाहरण है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गोविंद आयु में गोपाल से केवल पांच वर्ष बड़े थे और पिता की आकस्मिक मृत्यु ने उन्हें अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर साधारण नौकरी करने के लिए विवश किया था ।

धन के अभाव में कठोर जीवन बिताने, कई रातों को भूखे सो रहने और सड़क के खम्भों के प्रकाश में पढ़ने वाले गोपाल ने 15 वर्ष की आयु में राजाराम हाई स्कूल, कोल्हापुर से हाई स्कूल, की परीक्षा पास की। उच्च शिक्षा अधिक व्यय–साध्य थी, अत:. गोपाल व उसकी माँ दोनों ने यह निश्चय किया वह इस समय कहीं नौकरी कर ले ताकि बड़े भाई का बोझ कुछ हल्का हो सके । लेकिन उसके बड़े भाई और भाभी दोनों इस विषय पर दृढ़मत थे कि चाहे इसके लिए घर के आभूषण ही क्यों न बेचने पड़े गोपाल को कम से कम स्नातक अवश्य बनना चाहिये। भाई और भावज के अनुग्रह तथा स्वयं की अध्ययन लालसा ने गोखले को 1884 में द्वितीय श्रेणी में, एलिफिन्स्टन कालेज, बम्बई से बी. ए. की परीक्षा पास करने का अवसर दिया ।

बी.ए. के उपरान्त कुछ लोगों ने उन्हें आई. सी. एस. की तैयारी का सुझाव दिया तो दूसरे लोगों ने इंजीनियरिग या वकालात पढ़ने की सलाह दी । कुछ समय के लिए गोखले गणित–प्रेम के वशीभूत होकर इंजीनियरिग की कक्षाओं में गये भी, परन्तु परिस्थितियों ने शीघ्र ही उन्हें निर्णय बदलकर न्यू इंग्लिश स्कूल, पूना में अध्यापक का व्यवसाय चुनने के लिए विवश किया। गोखले के लिए यह परिस्थतियों की विवशता थी, परन्तु भारत के लिए यह एक अभूतपूर्व सौभाग्य का विषय था । डॉ. परांजपे लिखते हैं कि 'कुछ देर के लिए गोखले को एक इंजीनियर अथवा एक वकील अथवा एक आई. सी. एस. अधिकारी के रूप में सोचिये। किसी रूप में राष्ट्र व स्वयं गोखले के हित में वह नहीं होता जो हुआ। उन्होंने सम्पूर्ण भारत के एक सेवक

के रूप में जो यश प्राप्त किया उसे वह अखिल भारतीय सेवा के एक अधिकारी के रूप में प्राप्त नहीं कर सकते थे।"

1886 में गोखले "दक्षिण शिक्षा सभा" (Deccan Education Society) के सदस्य बने । इस संस्था का कुछ विद्यालयों पर नियंत्रण था तथा इसकी स्थापना अगारकर व तिलक ने राष्ट्रप्रेम के वशीभूत होकर की थी । जो भी इस संस्था की सदस्यता ग्रहण करता था उसे बस वर्ष के लिए केवल 75 रूपये प्रतिमाह पर अध्यापन कार्य करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। गोखले ने यह व्रत लिया और 1902 तक फर्ग्यूसन कालेज, पूना में अंग्रेजी की शिक्षा दी। 18 वर्ष के अपने अध्यापन काल में उन्होंने एक दिन का भी अवकाश नहीं लिया, इसी कारण 'दक्षिण शिक्षा समाज' ने इन्हें दो वर्ष सेवा मुक्त कर दिया तथा इनके कार्यो की सराहना करते हुये सर्वसम्मति से 30 रुपये प्रतिमाद पेंशन देने का निर्णय भी किया ।

भारत के सार्वजनिक जीवन में गोखले ने 'दक्षिण शिक्षा समाज' के सदस्य के रूप में प्रवेश किया। यहाँ इनक प्रथम सम्पर्क बाल गंगाधर तिलक से हुआ जिनका मराठी जनता में अत्यधिक सम्मान था । तिलक का गोखले बहुत आदर करते थे, परन्तु उनके उदारवादी और तिलक के उग्र विचारों में कोई साम्य नहीं था जिसके फलस्वरूप उनके पारस्परिक मतभेद बढ़ते–बढ़ते सार्वजनिक जीवन तक गये। गोखले को राजनीति में लाने का श्रेय महादेव गोविन्द रानाडे को है जिन्होंने 1888 में उन्हें पूना की प्रसिद्ध संस्था 'सार्वजनिक सभा' का मंत्री बनाया। अनेक वर्षो तक गोखले ने इस संस्था के प्रमुख पत्र क्वार्टरली रिव्यू का सम्पादन किया और चार वर्ष तक अगारकर की पत्रिका सुधारक के सम्पादक भी रहे। 1889 में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की तथा 1905 के बनारस अधिवेशन में इसके अध्यक्ष भी चुने गये। 1912 में उन्होंने दक्षिणा अफ्रीका की यात्रा की और वहाँ महात्मा गांधी का रंगभेद की नीति के विरुद्ध आन्दोलन में समर्थन किया ।

1889 में रानाडे के निर्देशन पर उन्होंने बम्बई की विधान परिषद की सदस्यता के लिए चुनाव लड़ा और बाल गंगाधर तिलक को सीधे संघर्ष में परास्त कर विजयी रहे। 1902 में उन्हें वायसराय की इम्पीरियल कौंसिल (सर्वोच्च विधान परिषद) का सदस्य, निविरोध रूप से, चुना गया । इस परिषद् में उन्होंने ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीतियों, विशेषत: कर नीति, नमक कर, सेना पर व्यय, भारतीय नागरिकों को अखिल भारतीय सेवा में लिये जाने के नियमों, शिक्षा, आदि की विद्वतापूर्ण आलोचना की । सरकारी सदस्यों का बहुमत होने के कारण इस परिषद् में यद्यपि अंग्रेज मनमाने कानून पास अवश्य करा लेते थे, तथापि उन्हें गोखले के अकाट्य वैधानिक तर्को की उपेक्षा करने का नैतिक साहस नहीं होता था। प्रकाण्ड अर्थशास्त्री और गणितज्ञ होने के कारण गोखले के सरकारी बजट पर भाषण अत्यंत प्रभावशाली होते थे और अनेक बार सरकारी पक्ष को उनके सुझावों के आगे घुटने टेकने पड़ते थे । गोखले की नीति सदैव ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग करने और उनके समक्ष न्यायोचित मांगों को रखने को रही। वे इस उद्देश्य से 1897, 1905, 1905, 1908, 1912, 1913 तथा 1914 में कुल सात बार ब्रिटेन की यात्रा पर भी गये । सितम्बर 1912 में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय लोक सेवा के संबंध में इसलिंगटन की अध्यक्षता में जो शाही आयोग नियुक्त किया था गोखले उसके सदस्य

भी थे । 1907 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सूरत फूट से उन्हें भारी आघात पहुँचा था, परंतु कांग्रेस के दोनों गुटों के एकीकरण से एक वर्ष पूर्व 1915 में केवल 49 वर्ष की आयु में ही उनका देहावसान हो गया । उनकी मृत्यु पर उनके प्रबलतम राजनीतिक प्रतिद्वंदी लोकमान्य तिलक ने अपने केसरी के अंक में लिखा:

"भारत का यह रत्न, महाराष्ट्र का यह महामानव, कार्यकर्ताओं का नरेश चिरनिद्र–निमग्न हो गया है, उसे देखो और उसके पर चलने का प्रयत्न करो ।"

3. राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि

गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक और राजनीतिक विचारों के निर्माण में निम्नांकित तत्वों की प्रमुख भूमिका रही है:

3.1 पारिवारिक परम्पराऐं और संस्कार

चारित्रिक दृढ़ता, सत्य, आत्य–सम्मान, प्रबल इच्छा शक्ति, विशाल हृदयता, धार्मिक मनोवृत्ति और कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता गोखले को अपने माता–पिता व पूर्वजों से विरासत में मिली । बड़े भाई और भावज का त्याग गोखले कभी नहीं भूले । जो उनके बडे भाई गोविन्द राव ने उनके लिए किया वही वे सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए जीवन भर करते रहे ।

बचपन में प्राप्त आर्थिक कष्टों ने उन्हें बोध कर दिया कि निर्धनता कितनी असह्य होती है । योग्य होने पर उन्होंने सदैव गरीबों का साथ दिया । निर्बलों, निर्धनों, पराश्रित और दरिद्र लोगों के पक्ष में उन्होंने सदैव आवाज उठायी तथा समाज के पिछड़े वर्ग को उठाना ही उनके राजनीतिक कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य रहा ।

3.2 अंग्रेजी शिक्षा

अंग्रेजी भाषा के प्रति गोखले का मोह और स्कूल व कालेज के स्तर पर अंग्रेजी का शिक्षा–माध्यम होना गोखले को राजनीति में ब्रिटिश परम्पराओं के समीप ले आया । कूपलैण्ड आर चेम्सफोर्ड की भांति वे मानते थे कि भारत में राष्ट्रीयता का विचार पश्चिम की देन है । भारत की सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का पुनर्निर्माण पश्चिमी संस्थाओं के अनुभवों के आधार पर होना चाहिये । संविधानवाद के विषय में एडमण्ड बर्क की कृति रिफ्लेक्शन्स ऑन दि फ्रेंच गवर्नमेंट से वे अत्यधिक प्रभावित थे । बर्क की भांति वे मानते थे कि व्यवस्था और स्थायित्व के बिना किसी भी समाज की प्रगति असम्भव है । इसीलिए उन्होंने कभी उग्रवादी साधनों का समर्थन नहीं किया तथा ब्रिटेन के साथ मधुर संबंधों और ब्रिटिश नौकरशाही के साथ सहयोग करने की सदैव वकालत की ।

लेकिन बर्क के अनुदारवाद से वह सहमत नहीं थे । उनकी सहानुभूति ब्रिटिश उदारवादियों–ग्लैडस्टोन तथा मोरले–के साथ थी । जब भी उदारवादी ब्रिटेन में सत्ता में आते थे उन्हें बड़ी प्रसन्नता अनुभव होती थी, क्योंकि उनकी धारणा थी कि उदारवादियों के द्वारा ही भारत की पराधीनता का अंत सम्भव है ।

उदारवादी राजनीतिक दर्शन में ही उन्हें व्यक्ति के सर्वोत्तम विकास की सम्भावना दिखायी देती थी। उन्होंने उदारवाद की शिक्षाओं से प्रभावित होकर ही स्वतंत्रता और समानता की

आवाज उठायी थी । वे प्रख्यात जर्मन अर्थशास्त्री लिस्ट से भी प्रभावित थे, इसलिये उन्होंने उदारवाद की शिक्षाओं को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया । आर्थिक क्षेत्र में लिस्ट के प्रभाव के कारण ही उन्हें कभी अहस्तक्षेप (Laissez faire) का समर्थन करते नहीं पाया जाता ।

3.3 हिन्दू धर्म की शिक्षाएं:

जहां तक धर्म का सम्बन्ध है, गोखले सच्चे हिन्दू थे। लेकिन हिंदू धर्म की कुरीतियों और पाखण्डवाद से उन्हें चिढ़ थी । वे हिंदू धर्म में सुधार के इच्छुक थे, छोड़ने के नहीं । उनकी भारतीय संस्कृति में आस्था थी और प्राचीन भारतीय गौरव की गाथा को वह गर्व के साथ दोहराया भी करते थे। 1906 में 'सर्वेट्स आफ इण्डिया सोसाइटी" की स्थापना उन्होंने भारतीय संस्तुति के उच्च आदर्शों, आत्म–त्याग और बलिदान, को दृष्टि में रखकर ही की थी ।

वह राजनीति के आध्यात्मीकरण के इच्छुक थे। राजनीति के साथ धर्म का समय जोड़ने से उनका अभिप्राय किसी एक धर्म या हिंदू धर्म की राजनीति चलाना नहीं था, अपितु सभी धर्मों में निहित मुख्य शिक्षाओं (जो लगभग समान है) के अनुसार राजनीति का सम्पादन करना था । वह राजनीति को नैतिक बनाने के पक्ष में थे, इसी दृष्टि से उन्हें महात्मा गांधी का गुरु कहा गया है । यहां इस उदाहरण का उल्लेख करना अप्रासांगिक नहीं होगा कि जब गोखले 'वेलबाई कमीशन' के सम्मुख गवाही देने के उद्देश्य से लन्दन गये हुए थे तो उन्हें उनके जिम्मेदार भारतीयों के ऐसे पत्र मिले जिनमें पूना में फैले प्लेग के समय ब्रिटिश सैनिकों के आचरण की आलोचना की गयी थी। उन पत्रों के आधार पर गोखले ने वहां ब्रिटिश आचरण की निंदा की, परन्तु बाद में जब बम्बई सरकार द्वारा की गयी जांच में ब्रिटिश सैनिकों के आचरण को दोषी नहीं पाया गया तो उन्होंने एक सच्चे राजनीति की भांति अपनी ओर से ब्रिटिश सरकार से एक सार्वजनिक क्षमायाचना की ।

3.4 महान व्यक्तियों का सम्पर्क–

गोपाल कृष्ण गोखले के व्यक्तित्व और विचारों पर कुछ महान् विभूतियों के व्यक्तित्व का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । इनमें सर्वप्रथम वह बाल गंगाधर तिलक के देशप्रेम, साहस और त्याग से प्रभावित हुए । बाद में वैचारिक विरोध के कारण जितना वह तिलक से दूर होते गये अपने साथी अगारकर के उतने ही निकट पहुँचते रहे । ईर्ष्या से दूर रहने तथा राजनीतिक यथार्थवाद की शिक्षा उन्होंने अगारकर के आचरण से सीखी । दादाभाई नौरोजी से उन्होंने सहिष्णुता, विशाल हृदयता, अंग्रेजी शासन से भारत को मिलने वाले लाभ और भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति के कारणों का ज्ञान प्राप्त किया । लेकिन गोखले के सामाजिक और राजनीतिक विचारों को संवारने को कार्य महादेव गोविन्द रानाडे ने किया । रानाडे को गोखले अपना राजनीतिक गुरु मानते थे । 1887 से 1901 (जब रानाडे की मृत्यु हुई) तक गोखले ने उन्हीं के निर्देशन में अपना अध्ययन तथा राजनीतिक कार्य–सम्पादन किया । रानाडे के निरीक्षण में ही गोखले रानाडे के परामर्श के अनुसार हजारों पुस्तकों लेखों को पढ़कर उन स्मरण–पक्षों को तैयार करते थे जिन्हें ब्रिटिश सरकार के पास भेजा जाता था ।

ढलीय पद्धति और संगठन की कला का ज्ञान उन्होंने सर फिरोजशाह मेहता से ग्रहण किया था । वह मेहता के अंध–अनुयायी थे । वह अक्सर कहा करते थे कि 'फिरोजशाह के बिना उचित काम करने की अपेक्षा मैं उनके साथ मिलकर अनुचित कार्य करना पसन्द करूंगा।" सूरत कांग्रेस (1907) में न चाहते हुए भी गोखले उग्रवादियों का कांग्रेस से निष्कासन फिरोजशाह के कारण ही रोक नहीं सके थे । फिरोजशाह की नापसन्दगी के कारण ही उन्होंने चाहते हुए भी ऐनी बीसेन्ट के "होमरूल आन्दोलन" का साथ नहीं दिया । 1905 के बनारस अधिवेशन में गोखले ने जो भाषण दिया था उसकी शैली उग्रवादियों की शैली से अधिक भिन्न नहीं थी । कहा जाता है कि यदि फिरोजशाह मेहता बनारस अधिवेशन में होते तो गोखले का भाषण उतना उग्र नहीं होता । फिरोजशाह का अन्ध–समर्थन करने का मुख्य कारण शायद गोखले का यह दृढ़ विश्वास था कि किसी भी राजनीतिक संस्था की सफलता उसके नेता का अन्धानुकरण किये जाने पर निर्भर करती है । गोखले अपने प्रिय नेता, मेहता, के प्रति सदैव पूर्ण निष्ठावान रहे और उनके शिष्य श्री निवास शास्त्री ने गोखले का अन्य–समर्थन करके इस परम्परा को आगे बढ़ाया ।

4. गोखले के राजनीतिक तथा आर्थिक विचार

गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक और आर्थिक विचारों को निम्नांकित ढंग से व्यक्त किया जा सकता है :

4.1 उदारवाद का समर्थन

गोखले स्वभाव और दोनों से उदारवादी थे । उन्होंने कभी किसी की भावनाओं को टेस पहुँचाने की चेष्टा नहीं की । उनके स्वभाव की "यह विशेषता थी कि वह अपने हृदय को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने देते थे तथा हृदय की गर्मी मस्तिक तक पहुँच कर उनके व्यवहार तथा भाषण में ऐसा तेज उत्पन्न कर देती थी, जो कांग्रेस की राजनीति में नवीन बात थी ।"

कर्म कर दृष्टि से वह इस सीमा तक उदारवादी थे कि उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा प्रतिनिधि संस्थाओं (Representative Institutions) में सदैव अपनी आस्था व्यक्त की और उसे भारत में सार्थक बनाने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन होम दिया । वह जॉन स्टुअर्ट मिल से प्रभावित थे तथा मिल की भांति व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मानव की प्रगति के लिए एक आवश्यक तत्व मानते थे । लेकिन स्वतंत्रता का अर्थ गोखले के लिए बन्धनों का पूर्ण अभाव नहीं था । उनके विचार से सच्ची स्वतंत्रता के लिए व्यक्तियों का अनुशासित, समय और सुसंगठित होना आवश्यक था । वे उन्मुक्तता के समर्थक नहीं थे, अपितु व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक व्यवस्था के मध्य एक उचित संतुलन देखना चाहते थे । वह सम्पत्ति के अधिकार को अनुभवातीत और पवित्र मानते थे । इसलिए उन्होंने 1901 में बम्बई विधान परिषद् द्वारा प्रस्तुत लैण्ड एलीनियेशन बिल का विरोध किया । उन्हें भारतीय किसानों की दरिद्रता का ज्ञान था, परन्तु वे किसी भी भूमि (चाहे वह कितना ही बड़ा जमीदार क्यों न हो) को सरकार द्वारा हड़प लेने के नियम के आलोचक थे । वह सरकार को सामाजिक समझौतों का रक्षक मानते थे चाहे वे समझौते समाज में समानता लाने में कितने ही बाधक क्यों न हों ।

वे ऐसे उदारवाद के समर्थक नहीं थे, जिसके परिणाम किसी वर्ग–विशेष के एकाधिकार के रूप में उभर कर सामने आये । इसलिये उन्होंने सार्वजनिक मताधिकार का, ग्राम पंचायत के चुनाव के स्तर पर भी कभी समर्थन नहीं किया । वह चाहते थे कि केवल ऐसे व्यक्तियों को ही मत देने का अधिकार मिलना–चाहिये जो गाँव में कुछ लगान आदि अदा करते हों । उन्होंने लगान की यह रकम 10 रुपये वार्षिक रखी थी । शिक्षित जगत् को वह समाज का भविष्य मानते और विधान परिषदों में व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व के साथ–साथ हितों के प्रतिनिधित्व का भी समर्थन करते थे। उनका मत था कि "शिक्षित जो आज सोचता है शेष भारत उसे कल सोचता है ।" मिल की भांति उन्होंने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन किया ताकि देश में स्थित अल्पसंख्यकों को भी उचित संख्या में विधान सभाओं से प्रतिनिधित्व मिल सके ।

4.2 भारत और इंग्लैण्ड के मध्य सामन्जस्यपूर्ण सहयोग:

ब्रिटिश जनतांत्रिक संस्थाओं तथा शिक्षा पद्धति में गहरी आस्था रखने वाले गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे की भांति भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को ईश्वरीय विधान (Providence) का एक अंग मानते थे । उनकी निश्चित धारणा थी कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना उसके भावी कल्याण के लिए हुई थी । "ब्रिटिश ताज के अतिरिक्त अन्य किसी नियंत्रणकारी सत्ता के अधीन उसका परीक्षण" नहीं किया जा सकता था । ब्रिटिश शासन ने, गोखले के अनुसार, भारत को स्वशासन के सिद्धांतों से दीक्षित होने का अवसर दिया था । 1902 में अपने बजट भाषण में उन्होंने कहा कि "आवश्यकता इस बात की है कि हमें अनुभव करने दिया जाय कि हमारी सरकार विदेशी होते हुए भी भावना से राष्ट्रीय है, वह भारतीय जनता के कल्याण को सर्वोपरि तथा अन्य सब बातों को उसकी तुलना में निम्नकोटि का मानती है । वह विदेशों में भारतवासियों के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार से उतनी ही क्रुद्ध होती है जितनी कि अंग्रेजों के साथ किये गये दुर्व्यवहार से, और वह यथासामर्थ्य हर उपाय से भारतीय जनता के भारत में तथा भारत के बाहर नैतिक तथा भौतिक कल्याण का परिवर्धन करने का प्रयत्न करती है । जो राजनीति भारतीय जनता के हृदय में इस प्रकार की भावनायें उत्पन्न कर सकेगा वह इस देश की महान् तथा गौरवपूर्ण सेवा करेगा और भारतीय जनता के हृदय में अपने लिए स्थायी स्थान प्राप्त कर लेगा । यही नहीं, उसके काम का महत्व इससे भी अधिक होगा । वह साम्राज्यवाद की सही भावना की दृष्टि से अपने देश की भी महान् सेवा करेगा। श्रेष्ठ प्रकार का साम्राज्यवाद वह है जो साम्राज्य में सम्मिलित सभी व्यक्तियों और जातियों को अपनी नियामतों तथा सम्मान आदि का समान रूप उपभोग करने देता है। वह साम्राज्यवाद संकीर्ण है जो यह मानता है कि सम्पूर्ण विश्व एक जाति के लिए ही बनाया गया है और अधीन जातियां उस एक जाति की चरणपीठिकाओं के रूप में सेवा करने के लिए बनायी गयी है।" दादाभाई नौरोजी की भांति वह भी इस आशा को संजाया करते थे कि इंग्लैण्ड में शीघ्र ही नयी राजनीतिज्ञता का अभ्युदय होगा और भारत के साथ न्याय किया जायेगा।

4.3 धर्म निरपेक्ष का समर्थन :

गोखले भारत के विभिन्न सम्प्रादय के लोगों को एक ही राजनीतिक मंच पर खड़ा करने के पक्षधर थे। उनका विचार था कि हिन्दू सच्चा हिन्दू अथवा मुसलमान सच्चा मुसलमान कहलाने का अधिकारी तभी हो सकता है जब कि वह राष्ट्र के व्यापक हितों को ध्यान में रखकर आचरण करता हो। उच्च कोटि की देशभक्ति या राष्ट्र सेवा गोखले की दृष्टि में "अपने धर्म का ही सच्चा पालन है।" जो राष्ट्र के प्रति वफादार नहीं, वह अपने धर्म का सच्चा बन्दा नहीं कहा जा सकता। राजनीतिक जीवन में धर्म तथा राजनीतिक में किसी प्रकार का अन्तर या विरोध नहीं हो सकता। हिन्दू या मुसलमान धर्म के लिये दो पृथक् जातियां अथवा संप्रदाय हो सकते है लेकिन राजनीतिक के लिए सब की दृष्टि सम्पूर्ण भारत के विकास पर केन्द्रित होनी चाहिये। हिन्दू और मुसलमान में कौन श्रेष्ठ है इस बात को खोजना निरर्थक है। दोनों ही राष्ट्रीय जीवन के अंग है और दोनों के सहयोग से ही देश की प्रगति संभव है। अपनी सर्वेट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की सदस्यता गोखले ने उसी व्यक्ति के लिए सुरक्षित रखी थी जो समाज में फूट डालने वाली संकुचित सांप्रदायिक प्रवृत्तियों के ऊपर उठकर राष्ट्र सेवा में अपने जीवन को अर्पणा करने की कामना रखता हो सोसायटी की सदस्यता ग्रहण करते समय प्रत्येक व्यक्ति को सात प्रतिज्ञायें करनी पड़ती थीं, जिनमें दो थीं :–

1. कि उसके विचारों में देश का स्थान सदैव प्रथम रहेगा और वह यथासंभव देश की अधिकाधिक श्रेष्ठ सेवा करेगा।
2. कि वह सभी भारतीयों को अपना भाई मानेगा तथा जाति अथवा संप्रदाय के भेदभाव से दूर सब के कल्याण के लिए कार्य करेगा।

गोखले की धारणा थी कि देश का भविष्य मुख्यत: हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच मधुर व सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों पर ही निर्भर करता है। 'तुम दोनों में से किसी से भी छुटकारा नहीं पा सकते। दोनों कों ही इस भूमि पर साथ–साथ रहने की आदत डालनी है, उन्हें साथ रहना है, अत: उन्हें मिलकर कार्य करना चाहिये।" गोखले के इन विचारों से 'द्वि–राष्ट्र सिद्धांत" का समर्थक मोहम्मद अली जिन्ना इतना प्रभावित था कि उसने एक स्थान पर लिखा है कि उसकी 'एक इच्छा मुस्लिम गोखले बनने की थी।"

4.4 राजनीतिक लक्ष्य :

राजनीतिक लक्ष्य की दृष्टि से उदारवादी और उग्रवादियों में कोई भेद नहीं था। दोनों 'स्वराज' चाहते थे। लेकिन उदारवादी युग के शिशु थे तथा व्यावहारिक आदर्शवादी थे और जानते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में स्वराज सम्भव नहीं है अत: युग को देखते हुए उन्होंने अपने राजनीतिक लक्ष्य में स्वराज' के स्थान पर 'स्वशासन' (Self Government) शब्द का प्रयोग किया।

गोखले का 'राजनीतिक लक्ष्य भारत में स्वशासन की स्थापना करना था। अपने इस आदर्श की प्राप्ति वह ब्रिटिश शासन के अंतर्गत ही करना चाहते थे। 1905 के बनारस अधिवेशन में उन्होंने कहा था कि 'कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि भारत भारतीयों के हितों को

ध्यान में रखते हुए प्रशासित होना चाहिये। एक निश्चित अवधि में उसमें ऐसी ही सरकार का गठन होना चाहिये जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य की अन्य स्वशासित उपनिवेशों की सरकारें हैं।"

ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत 'स्वशासन' की मांग गोखले ने दो कारणों से उठायी थी।

प्रथम – वह समझते थे कि इस प्रकार की माँग को ब्रिटिश जन–भावना का समर्थन मिल सकेगा और अंग्रेज सरकार को भी यह मंजूर हो सकती है।

द्वितीय – उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ब्रिटेन के प्रति पर्याप्त उदार था। इस उदारता में ही उन्हें भारतीय स्वतंत्रता और प्रगति का दर्शन होता था। अपने प्रयत्नों को इस रूप में संगठित करने का गोखले का मुख्य उद्देश्य यह था कि उनका राजनीतिक लक्ष्य भी पूरा हो जाय और ब्रिटिश सरकार का भारत के प्रति उचित सद्भाव भी बना रहे।

4.5 राजनीतिक कार्यक्रम :

गोखले के राजनीतिक कार्यक्रम के अंतर्गत हम निम्नांकित बातों को रख सकते है:–

प्रथम – गोखले ने अपने जीवन पर्यन्त लोक सेवाओं में अधिक से अधिक भारतीयों को लिए जाने की आवश्यकता पर बल दिया।

द्वितीय – उन्होंने सेना और पुलिस पर किये जाने वाले व्यय में कटौती करने की मांग रखी। उनका विचार था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा फौज पर अनाप–शनाप खर्च करने से भारतीय अर्थ व्यवस्था पर बोझ पड़ता है जिससे देश के नागरिको, का जीवन स्तर गिरता चला जाता है।

तीसरे – वे एक निश्चित स्तर तक देश में नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान किये जाने के पक्ष में थे।

चौथे – सार्वजनिक स्वास्थ व उपयोगिता की दृष्टि से वह नशाबंदी के जबरदस्त समर्थ थे। वे अफीम, शराब, तम्बाकू, आदि के प्रयोग को मानवता के लिए अभिशाप और व्यक्तित्व के विकास में बाधक मानते थे। उन्होंने नशे की आदत को दूर करने के लिए शिक्षा तथा नशीली वस्तुओं पर अत्यधिक ऊँची दर का कर लगाने की बात की है, लेकिन इससे छुटकारे के लिए वह कानून द्वारा मद्यनिषेध करने को ही अंतिम उपाय मानते थे।

राजनीतिक कार्यक्रम की अन्य बातों को हम गोखले की उन नौ मांगों से ग्रहण कर सकते हैं जो अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने 1905 में कांग्रेस बनारस अधिवेशन में रखी थी :–

1. विधान परिषदों का सुधार; और उसके लिए निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दिया जाय, तथा ऐसी अवस्था की जाय कि बजट परिषदों द्वारा ही पारित किये जायें।
2. इण्डिया कौंसिल में कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किये जायें।
3. देश के सभी जिलों में सलाहकार परिषदों की रचना की जाय और जिलाधीश प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में अनिवार्य रूप से इन परिषदों की राय लें।
4. भारतीय लोक सेवाओं की न्यायिक शाखा के लिए नियुक्तियां वकील वर्ग में से की जायें।
5. न्यायिक तथा कार्य पालक विभागों का पृथक कारण।

6. औद्योगिक तथा प्रविधिक शिक्षा का प्रचार किया जाय।
7. देहाती जनता को ऋण के बोझ से मुक्त किया जाय।"

4.6 स्वदेशी :

गोखले के राजनीतिक कार्यक्रम का एक अंग स्वदेशी आन्दोलन था। स्वदेशी का अर्थ उनके लिए उच्च कोटि का (गंभीर व व्यापक) प्रेम मानते थे। 1905 में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में उन्होंने कहा था 'स्वदेशी अथवा अपने राष्ट्र प्रेम का दृष्टिकोण मानवता के हृदय में उत्पन्न एक सुन्दरतम् विचार है। मातृभूमि के लिए त्याग सबसे उत्तम स्वदेशी भावना है। स्वदेशी का विचार इतना भावनात्मक व प्रभावात्मक है कि इसकी कल्पना से विचारों में कम्पन तथा वास्तविक अनुभूति से मनुष्य परम आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है। भारत को आज इसी अनुभूति की सबसे अधिक आवश्यकता है। इस विचार का यह प्रभाव होता है कि प्रत्येक व्यक्ति देश की सेवा में लग जाता है। ..... किन्तु स्वदेशी आन्दोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक है। ..... विशाल पैमाने पर विदेशी वस्तुओं के त्याग की प्रतिज्ञा कर लेने से हमारा एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सिद्ध हो जायेगा, अर्थात देश में उत्पादित वस्तुओं की खपत तत्काल हो सकेगी और जब उनकी माँग पूर्ति से अधिक होगी तो उनके उत्पादन को सदैव प्रोत्साहन मिलता रहेगा।" गोखले रानाडे व नेहरू की भांति यह मानते थे कि भारत में मुख्य समस्या उत्पादन की है जिसकी वृद्धि के लिए पूंजी व उद्यम की आवश्यकता है। उनका विचार था कि देश में जो उत्पादन की वृद्धि के लिए कार्य कर रहा है वह सचमुच स्वदेशी के लिए कार्य कर रहा है। यहां यह उल्लेखनीय है कि गोखले का स्वदेशी कार्यक्रम भी रचनात्मक है, उसमें उग्र तरीकों को अपनाने, हड़ताल बहिष्कार आदि के लिए स्थान नहीं है जैसा उग्रवादियों के स्वदेशी आन्दोलन में था।

4.7 प्रमुख आर्थिक संकल्पनाएं

यद्यपि गोपाल कृष्ण गोखले उदारवादी थे, तथापि आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने पूर्णत: मुक्त व्यापार का समर्थन कभी नहीं किया। उनका विचार था कि आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यापार या अहस्तक्षेप नीति सभी देशों में ही एक ही प्रकार से लागू नहीं की जा सकती। बिना सोच–विचार के सभी देशों से मुक्त व्यापार नीति लागू करने के गंभीर परिणाम हो सकते। इस नीति के लागू करने से ही भारत की अर्थ–व्यवस्था को आघात पहुँचा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में इस नीति को अपनाकर भारतीय उद्योग–धन्धों को चौपट कर दिया और भारत केवल एक कृषि प्रधान देश बन कर रह गया जिसका कार्य ब्रिटेन के लिए कच्चा माल उत्पादित करना मात्र था। उनके आर्थिक विचार उनके राजनीतिक गुरु महादेव गोविन्द रानाडे तथा जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक लिस्ट से प्रभावित थे। भारत के लिए फ्रेडरिक लिस्ट के आर्थिक सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए गोखले ने एक स्थान पर लिखा है कि "..... लिस्ट ने एक स्थल पर बताया है कि जब भारत जैसा कोई देश सार्वभौम प्रतियोगिता के भंवर में फंस जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। उसका कहना है कि जब ऐसा कोई देश जो औद्योगिक दृष्टि से पिछडा हुआ है, जिसके उत्पादन के तरीके पुराने ढंग के है और जो अधिकतर शारीरिक श्रम पर निर्भर करता

है, ऐसे देशों के साथ सार्वभौम प्रतियोगिता में फंस जाता में जो भाप तथा मशीनों का प्रयोग करता है और उत्पादन में नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों से काम लेते हैं तो पहला प्रभाव यह होता है कि स्थानीय उद्योगों का विनाश हो जाता है और देश को फिर खेती का ही सहारा लेना पड़ता है, कुछ समय के लिए वह पूर्णत: कृषि प्रधान बन जाता है। किन्तु वह कहता है कि इसके बाद राज्य का कर्तव्य आरंभ होता है। जब ऐसी स्थिति आ जाय तो राज्य को चाहिये कि बढ़कर आगे आये और संरक्षण की उचित व्यवस्था द्वारा उन उद्योगों का परिवर्धन करे जा पवरिर्धन करने योग्य हो जिससे देश नवीनतम मशीनों की सहायता से पुन: औद्योगिक मार्ग पर अग्रसर हो सके और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व की प्रतियोगिता में सफलतापूर्वक खड़ा हो सके।"

गोखले भारतीय जनता की निर्धनता को दूर करने के इच्छुक थे तथा इसके लिए उन्होंने समय–समय पर अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। वह भारतीय जनता पर करों का सार्वजनिक भारत कम करने के पक्ष में थे। उनका सुझाव था कि करों की दरों को घटाकर भारतीय उद्योगों के साधनों का विनिधान इस तरह से किया जाय कि उनकी क्षमता में वृद्धि हो। उन्होंने नमक कर घटाने, सूती वस्त्रों पर उत्पादन शुल्क समाप्त करने, आय कर के लिए कर योग्य आय की सीमा बढ़ाने, रेल मार्गों पर होने वाले भारी व्यय को रोकने, गोल्ड स्टेण्डर्ड फण्ड बना कर स्वर्ण के संचय करने के विरुद्ध तथा नवजात उद्योगों को सरकारी संरक्षण देने के पक्ष में सदैव अपनी आवाज उठायी। उनका आग्रह था कि भारत की अंग्रेजी सरकार देश के आय और व्यय में उचित संतुलन स्थापित करे ताकि देश दरिद्रता के चंगुल से छूट सके।

4.8 संविधानिक साधनों पर बल :

अन्त में, गोपाल कृष्ण गोखले समाज में परिवर्तन शान्तिपूर्ण व सांविधानिक उपायों से लाने के पक्ष में थे। उनके राजनीतिक साधनों में शारीरिक शक्ति के प्रयोग व हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है। वह लोकमत को जागृत करने और उसके अनुसार कार्य करने के न्यायोचित मानते थे "बहिष्कार की उग्र कार्य प्रणाली उन्हें पसन्द नहीं थी। बर्क की भांति गोखले सावधानी की नीति, धीमे विकास और बुद्धिसंगत प्रगति में विश्वास रखते थे। वे अतिवादी उपायों तथा सार्वजनिक उन्माद के नाटकीय विस्फोट के विरुद्ध थे।"

वह राजनीति में नैतिक मार्ग अपनाने के पक्ष में थे। तूफान की गर्जना में उनका विश्वास नहीं था, परन्तु बादल के बरसने को वह स्वाभाविक और आवश्यक मानते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि वे विदेशी सत्ता के आलोचक थे, परंतु उनकी आलोचना मे घृणा भाव नहीं था। इसलिए आवश्यक और अनर्गल प्रचार, रक्तपात, लूटमार हिंसा अथवा अनैतिक साधनों को कभी उन्होंने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का आधार नहीं बनाया। वे हिंसक साधनों के इतने विरोधी थे कि उन्होंने 1905 से 1908 के मध्य भारत के लगभग सभी क्षेत्रों की यात्रा करके भारतीय जनता को क्रान्तिकारी साधनों की निरर्थकता समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने लोगों को बताया कि हमारा लक्ष्य आकस्मिक या हिंसक परिवर्तन द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, वह केवल क्रमिक रूप से ही प्राप्त हो सकता है।

उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को प्रशासन में सुधारों को धीरे–धीरे प्राप्त करने के लिए संवैधानिक आंदोलन करने की सलाह दी। उनका अंग्रेजों की न्याय प्रियता में पूर्ण विश्वास था और वह समझते थे कि जैसे ही अंग्रेजों को यह भरोसा हो जायेगा कि भारतीय स्वशासन के योग्य हो गये है वे भारत को स्वतन्त्र करके चले जायेंगे। उनके साधनों का पूर्ण परिचय हमें केवल उनके इस वाक्य में मिल सकता है कि "देश का पुनर्निर्माण राजनीतिक उत्तेजना की आधी में नहीं, वरन् धीरे–धीरे ही हो सकता है। इस धीमी प्रक्रिया में समस्या का वास्तविक हल है अंग्रेजों की प्रकृति के श्रेष्ठ पक्ष पर विजय पाना तथा इस प्रकार उनकी सहायता व समर्थन प्राप्त करना।"

5. मूल्यांकन :

गोपाल कृष्ण गोखले के सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट है कि वह हीगल, मार्क्स या मैकियावली की तरह शुद्ध तत्वचिन्तक या मौलिक राजनीति शास्त्रवेत्ता नहीं थे। वह मुख्यतः एक देशभक्त बुद्धिजीवी थे जिन्होंने अपने युग की समस्याओं के सन्दर्भ में राष्ट्रहित और जनकल्याण के विकास के लिए अपने ढंग से सोचा तथा यथाशक्ति अपने विचारों को कार्य रूप में परिणित करने का प्रयास किया। जो लोग उनकी रचनाओं या भाषणों में किसी नए आर्थिक अथवा राजनीतिक सिद्धान्त को खोजने का प्रयास करेंगे उन्हें निराश होना पड़ेगा। राजनीतिशास्त्रवेत्ता की अपेक्षा एक राजनीतिज्ञ के रूप में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका स्थान अवश्य है। परन्तु इस विषय में भी दो मत हैं। उग्रविचारों वाले कुछ लोग उन्हें 'एक दुर्बल हृदय उदारवादी' (A Faint Hearted Moderate) बताते हैं जो जानबूझकर ब्रिटिश सरकार के हाथ में साधन बनने को तैयार थे; तो दूसरे उन्हें 'एक छुपा हुआ राजद्रोही' (A seditionist disguise) समझते है। लेकिन ये दोनों ही विचार गोखले की स्थिति का मूल्यांकन नहीं करते।

गोखले की लगभग 30 वर्षो की सार्वजनिक सेवा और उनके विचारों को पढ़कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह कम से कम 'एक दुर्बल हृदय उदारवादी' नहीं थे। उदारवाद में उनकी आस्था अवश्य थी; परन्तु बनारस में उन्होंने स्वदेशी की बात की थी, अपना लक्ष्य वह स्वशासन बताते थे – ये बातें किसी 'दुर्बल हृदय' की परिचायक नहीं है। वह वस्तुतः अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध कोई बड़ा आन्दोलन छेड़ना नहीं चाहते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि एक तो उन्हें हिंसा, व्यवस्था और लूटमार से नफरत थी और दूसरे वह जानते थे कि उस समय भारतीय जनता न तो राजनीतिक रूप से पर्याप्त जागृत थी और न उसमें इतना साहस व शक्ति थी कि वह बलपूर्वक अंग्रेजों से आजादी हासिल कर सके। इसलिए परीस्थितियों को देखते हुए गोखले की नीति उचित थी, उसे 'दुर्बल हृदय' या कायरता की अभिव्यक्ति समझना ठीक नहीं कहा जा सकता।

वह 'छिपे हुए राजद्रोही' भी नहीं थे, क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता के वह प्रशंसक थे, अंग्रेजों की न्यायप्रियता में उन्हें विश्वास था और ब्रिटिश शासन को वह भारत के लिए वरदान मानते थे। उन्होंने ब्रिटिश नौकरशाही के अत्याचारों का सदैव विरोध किया और भारतीय जनता की राजनीतिक और आर्थिक आकांक्षाओं को पूरा करने में जितना कुछ वह कर सकते थे,

अपनी सामर्थ्य पर उन्होंने किया। उनकी वास्तविक स्थिति उनके इस वाक्य से स्पष्ट हो जाती है कि "जो अंग्रेज यह समझता है कि भूतकाल की तरह भविष्य में भी भारत में बहुत अधिक दिन शासन किया जा सकता है तथा तो भारतीय यह समझता है कि हमें हम साम्राज्य से बाहर निकल कर अपना मार्ग बनाना चाहिए वे दोनों विद्यमान परिस्थितियों की वास्तविकताओं को अपर्याप्त ढंग से ही समझते हैं।"

अन्त में, डा0 पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में हम कह सकते हैं कि गोखले वास्तव में .... न तो दुर्बल हृदय उदारवादी थे और न ही छिपे हुए राजद्रोही। वे तो जनता और सरकार के बीच एक सच्चे मध्यस्थ थे। वे जनता की आवश्यकतायें, इच्छायें, और आकांक्षायें सरकार को बताते थे और सरकार की कठिनाइयां जनता और कांग्रेस के सम्मुख रखते थे।"

6. संदर्भ प्रथा सूची

1. डी. बी. माथुर : गोखले–ए पोलिटिकल बायोग्राफी
2. जी. के गोखले : स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स (नाटेसन)
3. स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ जी. के. गोखले (पूना)
4. इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास
5. ओ. पी. गोयल : पोलिटिकल थॉट ऑफ गोखले
6. आर. पी. परांजपे : गोपाल कृष्ण गोखले
7. पट्टाभि सीतारमैया: दि हिस्टरी ऑफ दि कांग्रेस
8. श्रीनिवास शास्त्री : गोपाल कृष्ण गोखले
9. श्रीनिवास शास्त्री : माई मास्टर गोखले
10. श्रीनिवास शास्त्री : शास्त्री स्पीक्स
11. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन।

7. अभ्यास प्रश्न

1. "एक दुर्बल हृदय उदारवादी" – क्या आप गोखले के विषय में कहे गए इस कथन से सहमत हैं? गोपाल कृष्ण गोखले के भारतीय आन्दोलन और चिन्तन में योगदान का वर्णन कीजिए।
2. उन प्रभावों और परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिन्होंने गोखले के राजनीतिक और आर्थिक विचारों पर प्रभाव डाला है।
3. गोखले के राजनीतिक और आर्थिक विचारों की संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत कीजिए।
4. गोखले के राजनीतिक कार्यक्रम के विषय में आप क्या जानते है? गोखले अपने राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति किस प्रकार करना चाहते थे?

इकाई - 10
बाल गंगाधर तिलक

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. राजनीतिक दर्शन का आधार
4. स्वराज्य
4.1 स्वराज्य : धर्म
4.2 सनातन धर्म की भूमिका
4.3 राष्ट्र, राष्ट्रवाद तथा पुनरूत्थानवाद
5. उग्र राष्ट्रवाद के आधार
6. सरकार
7. तिलक का नैतिक सापेक्षवाद
7.1 राष्ट्र की दासता के कारण व परिणाम
7.2 स्वराज्य की प्राप्ति
8. निष्कर्ष
9. उदारता
10. संदर्भ ग्रंथ सूची
11. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप निम्नलिखित उद्देश्य उपलब्ध कर सकेंगे :–

1. तिलक के राजनीतिक विचारों की समुचित समझ;
2. स्वराज्य व उग्र राष्ट्रवाद के विचारों एवं–प्रक्रियाओं से अन्तरंगता;
3. राष्ट्रीय पुनरूत्थान में सांस्कृतिक तत्वों एवं प्रतीकों की महत्ता;
4. तिलक के नैतिक सापेक्षवाद से परिचय; तथा
5. राजनीतिक चिंतन में तिलक का वैचारिक योगदान

2. प्रस्तावना

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के महान सेनानी, आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन के आदर्शवादी विचार धारा के प्रतिपादक बाल गंगाधर तिलक का जन्म महाराष्ट्र के एक परम्परावादी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तिलक का जीवन, जीवन की गत्यात्मक विविधता का प्रतीक है। शक्तिशाली व्यक्तिव, नेतृत्व के गुणों से पूर्व तिलक जहां दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे वही अपने सिद्धान्तों के प्रति अडिगता, सहकारी बर्बरता का निरंतर निष्क्रम प्रतिरोध उनकी कार्य शैली का आधार था।

तिलक ने अपना कार्य महाराष्ट्र से प्रारम्भ किया। वहां की जनता को न्याय, राज0 स्वतन्त्रता, अधिकारों का संदेश देते हुए संगठन व सामूहिक स्वावलम्बन का महत्व बताया। 1905 तक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन में और कांग्रेस में अतिवादी राष्ट्रवाद की भावनाओं को तिलक ने प्रविष्ट किया और कांग्रेस के संगठन का आधार, मध्यम वर्ग से निम्न व कुछ हद तक आम जनता तक को बनाने का प्रयास किया। तिलक आधुनिक भारत के महत्तम निर्माताओं में से एक थे। उन्हीं के कारण हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता दी गई। रेलों के राष्ट्रीयकरण, धर्म–निरपेक्षता को कांग्रेस की नीतियों का भाग बनाया गया, श्रमिक आन्दोलन के राजनैतिक महत्व को मान्यता दी गई। भारत में व्याप्त मौन के समय ही तिलक ने राष्ट्रीय होतव्यता के संदेश द्वारा लोगों को जागृत किया। तिलक के राजनीतिक दर्शन का आधार गीता व वेद थे। उनके अनुसार गीता का उपदेश है कि व्यक्ति को स्वेच्छापूर्ण व निस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। तिलक ने यजुर्वेद तथा गद्य उपनिषदों में प्रतिपादित कर्म के सिद्धान्त का सामाजिक आदर्शवाद, लोकतांत्रिक नैतिकता व गतिशील मानववाद की आधुनिक भावना के साथ समन्वय किया। डा0 वर्मा1 के मत में "अन्याय की शक्तियों के विरुद्ध नैतिक साहस और शूरत्व के साथ संघर्ष करना – यही तिलक के जीवन का संदेश है। उनका यह संदेश सम्पूर्ण विश्व में स्वतन्त्रता, न्याय व सत्य के लिए संघर्ष करने वालों को युगों तक प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहेगा। भारतीय राष्ट्रवाद भीष्म तिलक में बृहस्पति सी मेघा, भीष्म सी राजनीतिज्ञता और युधिष्ठर सा नैतिक बल था।"

3. राजनीतिक दर्शन का आधार

तिलक ने राजनीतिक विचार दिए हैं परन्तु उन्हें हम विचारकों की परम्परागत श्रेणियां, आदर्शवादी विचारकों या यथार्थवादी विचारकों, में नहीं रख सकते हैं। तिलक ने सम्पूर्ण समाज का कोई पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं किया है। उनके जीवन का मूल उद्देश्य ब्रिटिश शासन की समाप्ति था और इसी की प्राप्ति के लिए उन्होंने सतत प्रयास किया, जिसके परिणामस्वरूप स्वराज्य व कर्मयोग दो गूढ़, उत्प्रेरक सिद्धान्त हमारे सामने आए। उनके विचारों पर दो बातों का प्रभाव पड़ा जो निम्न है :–

1. तिलक पर वेदों की तत्वशास्त्रीय मान्यताओं का प्रभाव पड़ा। 'वेदान्त के अद्वैतवादी तत्वशास्त्र में प्राकृतिक अधिकारों को राज धारणा निहित है, चूंकि परमात्मा ही परमसत् है और सभी मनुष्य उसके अंश है, अत: उनमें वही स्वतन्त्र अध्यात्मिक शक्ति निवास करती है जो परमात्मा में हो'' 2 अत: स्वतन्त्रता ईश्वरीय गुण है व जीवन का सर्वोच्च सिद्धान्त है। तिलक ने स्वतन्त्रता संग्राम का आधार उन्हीं विचारों को बनाया। 'स्वतन्त्रता ही स्वराज्य के प्राण थे ..... स्वतन्त्रता ही व्यक्तिगत आत्मा का जीवन है, व्यक्तिगत आत्मा ईश्वर से पिन नहीं है वरन् वह स्वयं ईश्वर है। अत: स्वतन्त्रता कभी खत्म नहीं हो सकती है।3

2. तिलक के विचारों पर पाश्चात्य स्वतन्त्रता की धारणा व आत्म निर्णय के सिद्धान्तों का भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने मिल की राष्ट्र की अवधारणा स्वीकार की, वही विल्सन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को भारत में लागू करने की मांग की।4

इस तरह तिलक के विचारों पर आत्मा की सर्वोच्च स्वतन्त्रता के वेदान्ती आदर्श व मिल, बर्क, मत्सीनी व विल्सन आदि के विचारों का प्रभाव पड़ा और इनका जो समन्वित रूप उभरकर सामने आया उसे हम स्वराज्य की अवधारणा में देखेंगे।

4. स्वराज्य

तिलक ने भारतीय वेदान्ती परम्पराओं के शाश्वत सम्बन्धों के सिद्धान्त को अपने राजनैतिक दर्शन का आधार बनाया। वेदों में यह माना गया है कि ब्रह्मा सृष्टि का कारक है, निर्माता है। ब्रह्मा न केवल सृष्टि के प्रत्येक भाग के गुणों की रचना करता है वरन् उनके सम्बन्धों का निर्धारण भी करता है। ब्रह्मा सृष्टि निर्माण के समय, स्वयं स्वतन्त्र रहता है व इससे ऊपर रहता है। ब्रह्मा स्वयं में सर्वोच्च गुण है, और सभी गुणों का गुण है – सम्पूर्ण स्वतन्त्रता। तिलक ने इसी धारणा के आधार पर यह कहा कि मनुष्य सृष्टि का अंग है व उसकी सत्ता के पीछे ब्रह्मा है जो उसे गुण प्रदान कर रहा है । इस गुण की अभिव्यक्ति आत्मा द्वारा होती है प्रत्येक व्यक्ति में उसकी आत्मा व समान गुण होते हैं। अत: वह ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति अपनी पूर्ण क्षमता से ब्रह्मा की स्वतन्त्रता में सांझेदारी करते हुए, करता है इसलिए तिलक स्वतन्त्रता को आत्मा से संबन्धित मानते है।5 इस दृष्टि से उनका अर्थ आन्तरिक अध्यात्मिक स्वतन्त्रता और ध्यानन्ज आनन्द की प्राप्ति है। अपने में केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है। जिन ऋषियों ने स्वधर्म के नियम का प्रतिपादन किया, उन्होंने अन्त में वन की राह पकड़ी क्योंकि जनता स्वराज्य का उपभोग कर रही थी और उस स्वराज्य की रक्षा का भार ऋषियों पर था।6 राजनैतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रीय स्वशासन है और नैतिक दृष्टि से इसका अर्थ आत्म निग्रह की पूर्णता प्राप्त करना है, जो स्वधर्म के पालन के लिए आवश्यक है। इसीलिए तिलक ने कहा कि स्वतन्त्रता - मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और उसको इससे वंचित नहीं किया जा सकता है। अर्थात् मनुष्य ब्रह्मा की स्वतन्त्रता का उपयोग सृष्टि के भाग के रूप में शाश्वत संबंधो के आधार पर कर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति उतना ही स्वतंत्र है जितना दूसरा, अत: उसको स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जा सकता है।

4.1 स्वराज्य : धर्म

स्वराज्य चूंकि उद्देश्यपूर्ण है। उद्देश्य चेतनता वस्तुतः स्वराज्य–चेतनता का भाग है। यदि मनुष्य का जीवन उद्देश्यहीन होता है तो जीवन की प्रक्रिया को चलाने के लिए विचारधारा की जरूरत पड़ती है और भारत में प्रारम्भ से ही धर्म, विचारधारा की भूमिका अदा कर रहा है।

आस्तिकता व साम्यवाद, दोनों ही अपने–अपने कारणों से धर्म की औचित्यतता को चुनौती दे रहे थे। तिलक ने इनकी आलोचना को नकारते हुए प्रति आलोचना की है। तिलक का मत है कि अस्तिकता ने ऐसा कोई भी सामाजिक रूप से अर्थपूर्ण आदर्श नहीं दिया, जिसे

मनुष्य की स्वतन्त्रा के उपभोग का आधार बनाया जा सके। अस्तिकता ने यद्यपि संगठन के तथ्य की बात की, परंतु संगठन का स्तर इतना निम्न था कि उससे मनुष्यत्व की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। साम्यवाद चूंकि मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा करता है। अत: वह दीर्धजावी नहीं हो सकता है।

तिलक धर्म को जीवन के विचारधारा के रूप में अविकल्पीय मानते हैं, क्योंकि –

1. ब्रह्मा ने सृष्टि बनाई और मनुष्य इस सृष्टि का एक भाग है। मनुष्य का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। धर्म शब्द धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है परम्परा संबंधित या बंधा होना। यहां ब्रह्मा, सृष्टि व मनुष्य परस्पर बंधे हुए है एक नियम से, एक संबंध से जिसे धर्म ही बता सकता है और इसी धर्म के द्वारा मनुष्य को ईश्वर के प्रति उसके कर्तव्यों का बोध होता है। एक बार मनुष्य की धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हो जाए या वह धर्म के प्रति प्रतिबद्ध हो जाए तो मनुष्य स्वयं अपने को ब्रह्माण्डीय परिप्रेक्ष्य में देखने लगेगा।
2. तिलक का मत है कि धर्म ही श्रद्धा को मनुष्य के अन्दर उभार सकता है, क्योंकि उसने श्रद्धा को आत्म निर्णय के विवेकीय प्रक्रिया या अन्तिम परिणाम माना है। जहां आस्तिकवादी विवेक 'स्व' के मूल्य पर महत्व देता है वही धर्म समाज को परस्पर संगठित करने वाली सावयवी शक्ति है8 जो व्यक्ति को ब्रह्माण्डीय परिप्रेक्ष्य में रखती है और देखती है। यद्यपि मोक्ष–आस्तिकतावादियों व धर्म दोनों के लिए समान महत्व का मूल्य पर जहां धर्म ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया के साथ व्यक्ति को जोड़ता है, वहां आस्किितावाद व्यक्ति भी भूमिका का निर्णय व्यक्ति पर छोड़ देता है। अर्थात् स्वराज्य को कर्तव्य बना देता है।

4.2 सनातन धर्म की भूमिका

तिलक का मानना है कि स्वराज्य के सार्वलौकिक नियमों का श्रेष्ठ प्रतिपादन सनातन धर्म के द्वारा ही होता है क्योंकि –

1. सनातन धर्म, लिंग, जाति भेद की उपेक्षा कर स्त्री–पुरूष को समान स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है। ये हमें स्पष्ट दिखता है जब किसी भी अध्यात्मिक कार्यो में पति–पत्नी के सहभागी9 माना जाता है।
2. सनातन धर्म वर्ण–संगठन और आत्मा के विकास के लिए कर्म सिद्धान्त प्रदान करता है, जिसके माध्यम से परिवर्तनशील व्यक्तित्व वाले व्यक्ति भी स्थाई दिनचर्या में बंध जाता है।
3. सनातन मूल्य व्यवस्था, मनुष्य के जीवन का लक्ष्य मोक्ष मानती है और धर्म को उसका आदर्श अर्थात् धर्म आचरण के नियम बतलाता है। यह मनुष्य को उसकी शारीरिक संतुष्टि जैसे अर्थ काम के लिए स्वतन्त्र छोड़ती है, परन्तु उसे इस बात से जोड़ती है कि सन्तुष्टि प्राप्ति के लिए किया गया कार्य धर्म के अनुसार ही होना चाहिए।

तिलक का मानना था कि सामाजिक व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था द्वारा स्वतन्त्रता को कर्तव्य में बदल दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना के अनुसार वर्ग में रहेगा और अपने कर्तव्यों की पूर्ति करेगा और इस तरह सामाजिक संगठन में प्रत्येक की स्वतन्त्रता दूसरे के लिए लाभप्रद होगी। यहाँ हम तिलक पर प्लेटो का प्रभाव देखते हैं। कर्म सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति मोक्ष सर्वोच्च चेतना की प्राप्ति चेतनाओं के विभिन्न अवस्थाओं में रहकर ही प्राप्त कर सकता है और एक जन्म में एक ही अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। इसके कारण प्रत्येक व्यक्ति के समान कर्तव्यों का निश्चयन होता है। जीवन में आध्यात्मिक सफलता के लिए व्यक्ति को तन्मयता से अपने कर्तव्यों की पूर्ति करनी पड़ेगी तभी वह मोक्ष के लक्ष्य के निकट पहुंचेगा। इस तरह तिलक ने कर्तव्यपरायण्ता व मोक्ष के मध्य कारण परिणाम सम्बन्ध स्थापित किया। सनातन धर्म के अलावा कोई भी अन्य धर्म समाज में कर्तव्यों की इतनी पूर्ण व्यवस्था की स्थापना नहीं करती है। सनातन धर्म की सामाजिक रूपरेखा में विभिन्न व्यक्तियों के समान कर्तव्यों की विभिन्न श्रेणियां है और व्यक्ति अपने कर्तव्यों द्वारा जाना जाता है और व्यक्तियों में अन्तर का आधार कर्तव्य परायणता के प्रति तन्मयता की मात्रा से होता है10 व्यक्ति का मूल्यांकन उसके भौतिक उपलब्धि द्वारा नहीं होता है।

तिलक सनातन धर्म की वर्ण व्यवस्था की आलोचना को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि इसकी सबसे बड़ी शक्ति इसमें निहित है कि इसने समाज को कर्तव्यों का केंद्र बना दिया है। इस वर्ण–व्यवस्था का जीवन अध्यात्मिक है। यह कहा जाता है कि वर्ण–व्यवस्था में निम्न वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति का स्थान सतत रूप के दास का है। तिलक की मान्यता है कि यहां आलोचकों ने वर्ण व्यवस्था के पीछे–छुपे कर्मयोग के सिद्धान्त को अनदेखा किया क्योंकि वर्णव्यवस्था में तो प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे के लिए लाभप्रद होती है।11 तिलक ने यह स्पष्ट कहा कि भारत में प्रचलित जाति–व्यवस्था का आधा वह नहीं है जो वर्ण–व्यवस्था के थे, यह तो वर्ण–व्यवस्था का विकृत स्वरूप है और वह भी छुआछूत के उतने ही खिलाफ थे जितने कि तिलक आलोचक। उन्होंने यह स्वीकार किया कि सनातन धर्म सब सिकुड़कर जाति व खान–पान तक ही रह गया है ।12 सनातन धर्म में जाति या छुआ–छूत की बुराइयों का प्रवेश का मूल कारण उस समय की जनता में कट्टर धर्म पराणयता की भावना थी। यदि यह अन्य–धर्म परायणता इन बुराइयों का कारण हे तो हम भारतीय समाज के ढांचे से सनातन धर्म को निकाल भी दें तो भी यह बुराइयां रहेगी। धर्म के अलावा, सामूहिक अस्तित्व का अन्य कोई भी उपर्युक्त साधन नहीं है और सनातन धर्म प्रभावोत्पाद सामूहिकता का ही विकास करता है।

4.3 राष्ट्र, राष्ट्रवाद तथा पुनरुत्थानवाद :

एक स्थान पर रहने वाले, सामान्य जीवन शैली को अपनाए व्यक्तियों का समूह ही राष्ट्र है। राष्ट्र स्वयं अमूर्त मूल्य है। अमूर्तता उन ब्रहमाण्डीय मूल्यों की है जिनका आधार वैयक्तिक सहअस्तित्व का मुख्य हैं। किसी राष्ट्र की चारित्रिक विशेषता ही उसे दूसरे राष्ट्र से अलग रखती है जैसे भारत में रहने वाले लोगों की धार्मिकता ने हिंदुत्व को राष्ट्र की चारित्रिक विशेषता बनाई है।

राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता यदि एक मनोवैज्ञानिक व अध्यात्मिक प्रत्यय हैं तो उसके वस्तुगत तत्वों के रूप में आधार भी होते हैं। किसी स्थान पर समान रूप से निवास करना, एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति , एक ही जात से उत्पत्ति का वास्तविक या काल्पनिक विश्वास, ये कुछ वस्तुगत तत्व है जिनके रहने पर मनुष्यों में एकता की, परस्पर बंधुता की, परस्पर जुड़ाव की भावना उत्पन्न होती है जो कालन्तर में राष्ट्रीयता य राष्ट्रवाद का रूप ले लेती है।

राष्ट्र मूल्यों की व्यवस्था का प्रतीक होता है और राष्ट्र स्वयं में स्वराज्य का अमूर्तिकरण है। किस भी व्यक्ति को उसके राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से बाहर रखकर नहीं सोचा जा सकता है क्योंकि मनुष्य की प्राकृतिक जरुरत राष्ट्रवाद की प्राप्ति करना है। चुंकि राष्ट्र की स्वराज्य का अमूर्त रूप है अत: स्वराज्य से व्यक्ति को वंचित नहीं किया जा सकता है। हां, राष्ट्र को वंचित किया जा सकता है। यदि ऐसा होगा तो उस राष्ट्र के मनुष्य अपनी सही प्रकृति में नहीं जियेंगे।13 इसलिए मनुष्य को उसकी प्रकृति से वंचित नहीं कर सकते न ही राष्ट्रवाद की जरूरत से। राष्ट्र मनुष्य के लिए ईश्वर है।14

तिलक की यह मान्यता थी कि धर्म ही राष्ट्र को उचित आधार प्रदान कर सकता है। उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता, धर्म व राष्ट्र के मध्य तार्किक संबंधों की विवेचना की। उनका विचार था कि मनुष्य का जन्म धर्म में होता है। अत: वह राष्ट्र का एक भाग हैं। इसलिए दोनों के प्रति उसकी श्रद्धा, उसके स्वराज्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। मनुष्य को धर्म द्वारा बताए गए स्वधर्म का पालन करना चाहिए।15 परन्तु स्व–संतुष्टि लिए स्वधर्म का पालन ही काफी नहीं है। वरन् उसे राष्ट्र की चारित्रिक आदर्शो में किसी भी प्रकार के बिखराव या टूटन रोकने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। मनुष्य ये कार्य दो तरीके से कर सकता है -

1. अपने कार्यों द्वारा दूसरे के समझ उदाहरण प्रस्तुत करें।
2. परम्पराओं के आधार पर जीवन के राष्ट्रीय तरीकों के प्रति प्रतिबद्धतता का उपदेश दे।

तिलक ने उदारवादियों के इस विचार का विरोध किया की भारत के जीवन–आदर्शों की पुर्नसंरचना द्वारा देश भक्ति का विकास किया जा सकता है। उनका मत था कि चिन्तन की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि हम अपने राष्ट्र के जीवन–आदर्शों को ही चुनौती देने लेंगे। हमें राष्ट्रीय जीवन के विकास की लय व गति को बनाए रखने के लिए न केवल इन परिवर्तनों को रोकना पड़ेगा वरन् भारत की तत्कालीन स्थिति (गुलामी) का सामना, व्यवहार की परम्पराओं का पालन करके ही कर सकते है। तिलक यह मानते थे कि विभिन्न लोगों के परस्पर संबंधों से ही सभ्यता व व्यक्ति का विकास होता है। यह संबंध ही राष्ट्र को गतिशीलता प्रदान करते है, जिसके बिना राष्ट्र पर्यावरणीय दबाव व तनाव का सामना नहीं कर सकता है इन चुनौतियों का सामना हम राष्ट्र के संरचना में से बेकार तत्वों को बाहर करके कर सकते है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हमें क्रान्ति द्वारा परिर्वतन लाना चाहिए।

तिलक के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार पुनरुत्थानवादी थे। उनका यह मत था कि मनुष्य का राष्ट्र में जन्म लेने से ही मान लेना कि वह राष्ट्र के प्रति स्वामिभक्त होगा, ठीक नहीं है। मानव के स्वयं के भी विचार होते हैं। इन विचारों को विभिन्न अपील, प्रतीकों से इस तरह मोड़ा

भी जा सकता है कि वह राष्ट्रीयता के मार्ग से विमुख हो जाए और इस तरह के कार्यो से राष्ट्र की समाप्ति सम्मव है। राष्ट्रीयता के विकास के लिए दो उपायों पर तिलक ने जोर दिया है, जो निम्न हैं :–

1. राष्ट्रीयता का विकास जनता के उन जीवन आदर्शों के मतारोपण द्वारा होता है, जिनका कि राष्ट्र प्रतीक है। जनता द्वारा आदर्शों को अपनाने के बाद दूसरा कार्य निरपेक्ष शिक्षा, जिसे अंग्रेजों ने भारत में लागु की है, की समाप्ति करना है, क्योंकि निरपेक्ष शिक्षा का तार्किक परिणाम धार्मिक प्रभाव की समाप्ति है, जिस धार्मिक, प्रभाव में और प्रभाव द्वारा बच्चे का विकास होता है। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली से पूरी पीढ़ी का अ–राष्ट्रीयकरण हो रहा है, जबकि हमें ऐसी शिक्षा प्रणाली की जरूरत है, जिसके द्वारा भारत की नौजवान पीढ़ी भारतीय धार्मिक परम्पराओं से परिचित हो।16 शिक्षा ही व्यक्तित्व निर्माण करती और यह व्यक्तित्व निर्माण राष्ट्रीय संदर्भ में ही होना चाहिए।
2. तिलक राष्ट्रीयता का विकास प्राचीन भारतीय संस्कृति की परम्पराओं की पुनर्स्थापना द्वारा करना चाहते थे। 'सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है, जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझ सकता। हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढांचे में नहीं ढालना चाहते, सामाजिक व राजनैतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते।17 राष्ट्रीयता के विकास का दूसरा साधन उन्होंने धार्मिक व राष्ट्र के ऐतिहासिक पुरुषों से जुड़े उत्सवों के द्वारा करना चाहते थे । तिलक ने दो उत्सवों–ऐतिहासिक व धार्मिक द्वारा आदर्श मतारोपण करना चाहते थे।

(अ) गणपति उत्सव :–

गणपति उत्सव महाराष्ट्र का एक परम्परागत धार्मिक उत्सव है, जिसका सार्वजनिकीकरण तिलक द्वारा किया गया। राष्ट्रीय स्व: संरक्षण की जरूरत और निरपेक्ष शिक्षा के प्रभावों की समाप्ति इन उत्सवों द्वारा की जा सकती है जो जनता में परस्पर सद्भावना व एकता को प्रोत्साहित करते हैं गणपति उत्सव का सम्बन्ध भगवान गणेश से है। इसके पीछे उनका मंतव्य यह बताना था कि हिन्दु लोगों की परम्पराएं उतनी ही पुरानी है, जितनी कि ईश्वर की पूजा की परम्परा। इस तरह तिलक ने इस उत्सव के द्वारा जनता में जहां राष्ट्रीय एकता की भावना जागृत की वही आत्म–विश्वास की भावना भी।

(ब) शिवाजी उत्सव :–

तिलक को शिवाजी की समाधि के जीणोद्धार की प्रेरणा यूरोपवासियों से ही प्राप्त हुई थी। इस उत्सव का उद्देश्य इतिहास में घटित घटनाओं की स्मृतियों के समूह को पुन: उभार कर सामने लाना था। इस भाव को उन्होंने शिवाजी के माध्यम से सामने लाने का प्रयास किया, शिवाजी जो स्वतन्त्रता के प्रतीक थे, शिवाजी जो गुलामी के प्रति प्रतिरोधकर शक्ति के प्रतीक

थे। शिवाजी उत्सव के द्वारा भारतीय इतिहास की उस परम्परा की निरन्तरता को कायम रखना चाहते थे जो शिवाजी के युग से चली आ रही थी।

इन उत्सवों से जहाँ शिक्षित व अशिक्षित भारतीयों में भाई चारे की भावना उत्पन्न होती थी वही शिक्षित वर्ग को नई स्फूर्ति ब नया दृष्टिकोण मिलता था। इस उत्सव से सामाजिक व राजनैतिक जीवन की नींव मजबूत होती थी। राष्ट्रवाद कोई दृश्यमान स्थूल वस्तु नहीं है वह तो एक भावना है, प्रत्यय है और इस भावना को जागृत करने में देश के महापुरुषों की स्मृतियां महत्वपूर्ण योगदान देती हैं18। यदि जनता में अन्याय व उत्पीड़न के प्रति विरोध की भावना व संवेग जागृत हो गई तो वो स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए कार्य करेंगे, जिससे कि वो अपना लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

तिलक के पुनस्थानवादी होने और उनके विचारों को हिन्दुत्व के साथ जुड़े रहने के कारण तिलक को हिन्दु राष्ट्रवादी कहा गया है। जकारिया का मत है कि वह हिन्दुओं के मुस्लिम विरोध भावना के प्रतीक को 19 वही मापदण्ड ने तिलक को, मुस्लिम जनता की राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक होने के कारण माना20। उन्हें सांप्रदायिक प्रतिक्रियावादी माना जो भारत के बहुसाप्रदायिक संरचना में हिन्दु केडर की स्थापना कर गैर–हिन्दु साम्प्रदायों की समाप्ति चाहते थे, परन्तु तिलक पर ये आरोप सही नहीं है शौकत अली ने लिखा 'मैं पुन: सौवीं बार कहना चाहता हूँ कि मुहम्मद अली और मैं तिलक की पार्टी के थे और आज भी है .. हसरत मुहानी उन्हें अपना गुरू मानते थे। वास्तव में, तिलक का राष्ट्रवादी के रूप में पहला कार्य देश को विदेशी शासन से स्वतन्त्र कराना था। उनके मन में अंग्रेजों या गैर–हिन्दु लोगों के प्रति कोई बुरे विचार नहीं थे। वह यह मानते थे कि भारतीय जनतापर आदर्शों से मतारोपण से जिस राष्ट्रीयता का विकास होगा, उससे भारतीय जनता की अंग्रेजी शासन के विरोध करने की क्षमता बढ़ेगी। देशभक्ति, भारत में एक नवीन प्रवृत्ति है, जिसका विकास सावधानीपूर्ण होना चाहिए और धार्मिक शिक्षा व त्यौहार इसके विकास में सहायता करते हैं। तिलक ने कभी मुस्लिमों के प्रति घृणा के विचार नहीं दिए, उनका यह मानना था कि विदेशी शासन की निरंकुशता से हिन्दु–मुस्लिमों पृथकता का जन्म हुआ है। तिलक सभी मनुष्यों को सृष्टि का समान भाग मानते हैं, जिसकी रचना ब्रहमा ने की है। अंग्रेजों ने भारतीयों को मानत्व से वंचित किया, अत: उनका विरोध जरूरी है। यदि वह भारत में स्वराज्य की स्थापना कर दे तो न केवल ब्रिटेन के प्रति भारत को प्रतिरोध खत्म हो जाएगा वरन् उसे एक साथी राष्ट्र माना जाएगा।

इसके अलावा तिलक ने राष्ट्रीयता के आर्थिक तत्व को भी स्वीकार किया। उनका मत था कि विदेशी साम्राज्यवाद के कारण भारत के आर्थिक साधनों का निर्गम हुआ है। ब्रिटेन ने भारत पर मुक्त व्यापार नीति को जबरदस्ती थोपा, जिससे देश के लघु उद्योगों का तेजी से विनाश हुआ और कृषि ही जीविका का एकमात्र साधन रह गया। ऐसी अवस्था में आर्थिक नैतिक को प्रतीक के रूप में तिलक ने राष्ट्रीयता का साधन बनाया और स्वदेशी आन्दोलन की बात की। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर हम अपने ढंग से संरक्षकार्थ कर लगा सकते है। इस तरह बहिष्कार के द्वारा न केवल ब्रिटेन की शोषणात्मक नीति का प्रतिरोध होगा वरन् स्वदेशी

वस्तुओं के उपयोग से, राष्ट्र के प्रति जुड़ाव की भावना आएगी जो कि राष्ट्रीय एकता के संवधन में सहयोग देगी। इसीलिए उन्होंने 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में पारित स्वदेशी, बहिष्कार व राष्ट्रीय शिक्षा से संबंधित प्रस्तावों को व्यवहारिक रूप देने के लिए प्रेरित किया।

5. उग्र राष्ट्रवाद के आधार :

भारत में अंग्रेजी शासन की एक के बाद एक दमनकारी नीतियों ने उग्र राष्ट्रीता को बढावा दिया, विशेषकर लार्ड कर्जन की उग्र साम्राज्यवादी नीतियों ने। इसका प्रभाव तिलक पर भी पड़ा। सर्व प्रथम उन्होंने केसरी में 21 सरकार की नई शिक्षा नीति की आलोचना करी व बताया कि ये कैसे राष्ट्र के विकास में बाधक । इसी बात की ओर विस्तार से बताते हुए उन्होंने कहा कि22 अंग्रेज सरकार स्कूलों व महाविद्यालयों पर अपने कठोर नियंत्रण के द्वारा भारत की दासता को स्थाई बनाना चाहते है। कर्जन के द्वारा प्रशासनिक सुविधा व कार्य कुशलता के नाम पर किया गया बंगाल विभाजन से तिलक का विरोध उग्र हो गया। बंगाल विभाजन का एक मात्र उद्देश्य बढ़ती राष्ट्रीयता की भावना को सांप्रदायिक भावना के विकास के द्वारा दबाना था।

अतः तिलक ने इसके खिलाफ आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसमें अरविन्द, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी व पाल आद नेताओं ने भी अपना नेतृत्व प्रदान किया। वस्तुतः ये आन्दोलन उस एशियाई चेतना के प्रादुर्भाव का भी परिणाम था, जो रूस पर जापान की विजय, तुर्की व ईरान के राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त हो रही थी। केसरी में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि रूस पर जापान की विजय से एशियायी युवकों को जहां प्रेरणा मिली वही इसने एशियायी हीनता के मिथ्या विश्वास को भी तोड़ दिया है। 1890–1904 के मध्य तिलक विभिन्न कारणों से सक्रिय राजनीति में नहीं रहे पर बंगविभाजन के विरुद्ध आन्दोलन में उन्हें यह अवसर प्राप्त हुआ और उन्होंने एक नए राष्ट्रीय दल की स्थापना की। तिलक ने अपनी सूझबूझ व कार्यकुशलता से बंग–भंग विरोधी आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन में बदल दिया और फिर इस आन्दोलन को स्वराज्य आन्दोलन में बदलने का प्रयास किया। इस आन्दोलन में तिलक ने चार तरीके अपनाए :–

1. स्वदेशी ।
2. बहिष्कार ।
3. राष्ट्रीय शिक्षा ।
4. निष्क्रिय प्रतिरोध ।

तिलक, स्वदेशी आन्दोलन के द्वारा आम जनता को राजनैतिक व आर्थिक कार्यवाही में शामिल करने का प्रयास किया। इस आन्दोलन के द्वारा आम जनता में जुलुस, हड़ताल, धरना, सार्वजनिक सभाओं द्वारा हलचल उत्पन्न करने की कोशिश की, जिससे जनता में स्वचेतना का विकास हो। यह आन्दोलन इस लोकतांत्रिक सिद्धान्त की रक्षार्थ था कि शासकों को जनता या बहुमत की अवहेलना और अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

तिलक को अतिवादी बनाने के लिए कई तत्व जिम्मेदार थे, जैसे वह स्वयं स्वभाव से उत्साही थे और पुरुषत्व की आक्रमक व ओजपूर्ण भावना का उनमें प्राबल्य था। उन्हें सफलता व

संघर्ष की प्रेरणा शिवाजी व अन्य मराठा शूरवीरों के कार्यो से मिली थी। नौकरशाही के दमनकारी तरीकों के प्रयोग ने उनके अंग्रेजी शासन के बारे में सभी भ्रमों को तोड़ दिया था। इस आधार पर यह कहा जाता है कि तिलक क्रांतिकारी थे। उनका उद्देश्य हिन्दुत्व को उबार, पेशवाओं के खोये प्रभुत्व को पुन: प्राप्त करना था। जान एस हायलैण्ड का मत है कि तिलक भौतिक बल के सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ करते आये थे। शिरोल का मत है23 कि तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हत्याओं को जन्म देने वाले वातावरण का निर्माण किया। बेंसन24 का मत है कि तिलक को लेख विद्रोह की प्रच्छन्न धमकी से भरे हैं और उनके उपदेश का सारांश है 'स्वराज्य अथवा बम'।

परन्तु यह विचार सही नहीं है। तिलक के विचारों को सही परिप्रेक्ष्य ये देखना चाहिए। उस समय भारतीय अशांति के मूल में राजनैतिक आर्थिक व धार्मिक कारण थे। रूस पर जापान की विजय ने ऐशिया पर प्रभाव डाला था। बंग–भंग के बाद उग्र राष्ट्रवाद का विकास प्रारम्भ हुआ। इसका मूल कारण 'ब्रिटेन की उदारवादी सरकार द्वारा दमनपूर्ण नीति को बरकरार रखना था। साम्राज्यवादी नौकरशाही शनै: शनै: अधिक क्रूर होती गई। राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रतिकार के लिए दमनात्मक कार्य किए गए। मर्लिमिण्टों बहुचर्चित सुधार अधिनियम में स्वशासन का कोई तात्विक अंश नहीं था, वही 1908 मे विस्फोटक पदार्थ अधिनियम, भारतीय समाचार पत्र अधिनियम, दण्ड विधि संशोधक अधिनियम पास किए गए। अंग्रेजों द्वारा जातीय व सांप्रदायिक विद्वेष बढ़ाने का हर सम्भव प्रयास किया गया।

तिलक ने निरपेक्ष अहिंसा का कभी समर्थन नहीं किया24। दार्शनिक रूप में तिलक ने संकल्पों की शुद्धता को सार्वधिक महत्व दिया और बतलाया कि ब्रह्मा आचरण नैतिकता की कसौटी कभी नहीं मानी जा सकती है। तत्वशास्त्रीय दृष्टि से परोपकारार्थ के लिए की गई हिंसा का समर्थक होते हुए भी तिलक ने कभी राज्य हत्या का उपदेश नहीं दिया, न ही उन्होंने कभी स्वयं किसी का राज0 साधन के रूप में हत्या करने का निमन्त्रण दिया। वह स्वयं राज–संगठन व आन्दोलन के लिए विधिक तरीकों को ही स्वीकार करते थे। वह स्वयं दो बार बम्बई विधान परिषद के सदस्य रहे थे और उन्होंने निष्क्रय प्रतिरोध का समर्थन भी किया। यद्यपि उनका कहना था कि "भीख मांगने से लेकर खुला विद्रोह तक जो भी कार्य तुम्हें अपनी सामर्थ्य के अनुकूल जान पड़े, उसे चुन लो और उसी को करो, किन्तु याद रखो कि स्वधर्म सर्वोपरि है 'गीता में धर्मानुकूल हिंसा का उपदेश दिया गया है, परन्तु वह हिंसा लोग संग्रह के लिए की गई हो व अहंकार की भावना से शून्य होनी चाहिए। तिलक के मत में भारत की वर्तमान स्थिति ऐसे कार्यो के लिए उपयुक्त नहीं है। इनसे राष्ट्रीय आन्दोलन शैशवकाल में ही खत्म हो सकता है।

यह कहा जाता है कि तिलक के प्रमुख क्रान्तिकारी, श्याम जी वर्मा, विनायक दामोदर सावरकर से परिचित थे। परन्तु क्रांतिकारियों को जानना व उनके कार्यो में दिलचस्पी रखना एक बात है व क्रांतिकारियों को आतंकवादी कार्यो के लिए प्रेरणा देना दूसरी बात है, तिलक ने कभी किसी को ऐसी प्रेरणा नहीं दी थी। डा0 पी0 एम0 खनखोजे ने 1953 व 54 में केसरी में

प्रकाशित अपने लेखों में यह बताया कि तिलक क्रान्तिकारी युवकों के गुरु व शिक्षक थे, परन्तु इसका कोई ठोस व निश्चयात्मक प्रमाण हमें नहीं मिलता है।

तिलक संसार में मनुष्यों की हीन श्रेणियों में सात्विक गुण प्रधान, राजसिक गुण प्रधान व तामसी गुण प्रधान, में बांटते हैं। पहली श्रेणी के मनुष्य अध्यात्मिक व नैतिक प्रकृति के होते है और अपने जीवन से अपने साथियों का उपदेश व प्रेरणा देते हैं। दूसरी श्रेणी के मनुष्य राजनैतिक आन्दोलन व प्रचार के कार्य करते है व तृतीय श्रेणी के मनुष्य क्रांतिकारी व हिंसात्मक कार्य करते है। तिलक ने तामसी व्यक्तियों को हिंसा के लिए हतोत्साहित किया। 1906 में नासिक में उन्होंने तामसी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को यह सलाह दी कि वे अपने कार्यकलाप को संवैधानिक आन्दोलन या शिक्षा के कार्य तक सीमित रखे और अनुचित मार्ग पर न चले।

तिलक ने भारत में राष्ट्रवाद की नींव रखी और इसे उग्रता की तरफ प्रशस्त करते हुए अशांति व विद्रोह की भावनाओं को तीव्र किया परन्तु वह क्रांतिकारी नहीं थे। क्रान्ति का अर्थ यदि आमूल–चूल परिवर्तन होता है तो यह कह सकते है कि तिलक तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति में परिवर्तन चाहते थे। गीता–रहस्य में तो उन्होंने अन्ततोगत्वा सिद्ध पुरुषों के समाज के साकार होने की कल्पना की है। चूँकि तिलक सामाजिक व्यवस्था में भौतिक परिवर्तन चाहते थे, अत: इस व्यापक अर्थ में वह क्रांतिकारी थे, परन्तु सामाजिक शास्त्रों में प्रयुक्त संकीर्ण अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं थे।

6. सरकार

तिलक की मान्यता थी24 कि ब्रहमा की तरह राष्ट्र सिर्फ विचार है और सरकार इसकी अभिव्यक्ति है। तिलक ने राज्य व सरकार में कोई अन्तर नहीं किया है और यह माना है कि सरकार की शक्तियों से युक्त शासक राष्ट्र का प्रतिनिधि है तिलक ने जिस जीवन की व्यवस्था की परिकल्पना की, राष्ट्र उसका एक भाग है। राष्ट्र धर्म के कारण उत्पन्न हुआ है व उसका कार्य निवासियों को धर्म के प्रति प्रेरित करना है अर्थात मनुष्य को प्राथमिक भक्ति धर्म के प्रति है जो उसे उसके कर्तव्य और जीवन का लक्ष्य बताते है। अत: सांसारिक कानून का स्रोत धर्मशास्त्र है25 तिलक ने राज्य के निम्न कार्य बतलाए हैं।

1. राज्य का प्राथमिक कार्य धर्म के शासन को लागू करना और उसे बनाए रखना है।
2. राज्य का महत्वपूर्ण कार्य एक तरफ तो समुदाय के सदस्यों को धर्मानुसार आचरण करवाने का है तो दूसरी तरफ स्वराज्य की ब्राहम हस्तक्षेप से रक्षा करने का है ।
3. सरकार को सभी सामाजिक परिवर्तन का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए । उद्यपि सरकार को हमेशा परिवर्तन की सामाजिक इच्छा की अभिव्यक्ति के प्रति अनुक्रियाशील होना चाहिए ।

शासक की सत्ता का आधार तिलक ने राष्ट्र की महिमा को माना है अत: शासक शक्ति के किसी अन्य प्रकार को अपनी सत्ता का आधार नहीं बता सकता है शासन की सत्ता को औचित्यतता धर्म द्वारा प्राप्त होती है । धर्म जहां एक तरफ जनता को शासक की आज्ञा मानने के लिए बाध्य करता है वह दूसरी तरफ शासक को अपनी सत्ता के सामर्थन के लिए

धर्म का सहारा लेने के लिए बाध्य करता है । मनुष्य धर्म का अनुपालन स्वराज्य की प्राप्ति के लिए करता है । यदि स्वराज्य को लागु करने का साधन राज्य इसे लागु नहीं करता है तो इससे व्यक्तियों की उसके प्रति भक्ति कम होगी वस्तुतः शासक व जनता के कर्तव्य परस्पर जुड़े हुए हैं, ये एक मार्गीय रास्ता नहीं है कि जनता सरकार के प्रति कर्तव्यों का पालन करे पर सरकार अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करे । उसका मानना है कि सरकार द्वारा निर्मित कानून इसलिए नहीं है कि उसको सांसारिक सत्ता ने स्वीकृति प्रदान की है । वरन् कानून का जनता द्वारा अनुपालन तभी होगा जब वह धर्म के अनुकूल होगी26 यदि सत्ता धर्म विरोधी कानून का क्रियान्वित करेगी तो जनता उसका विरोध करेगी, जिससे वह स्वराज्य की प्राप्ति कर सके ।

नौकशाही नहीं जनता का शासन–स्वराज्य व नैतिक शासन के लिए सरकार पर प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण जरुरी है । जन प्रतिनिधियों के द्वारा किये गए शासन में जन इच्छाओं का क्रियान्व्यन अनिवार्य रूप से होगा, जब कि वंशानुगत शासकों पर किसी भी प्रकार का दायित्व नहीं होता है । भारत में हिन्दु सरकार इस बात की गारन्टी होगी कि सरकार सनातन धर्म व हिन्दुत्व के मार्ग से परे न हटे। सरकार, भारत जैसे देश में जहां बहु सम्प्रदाय है, का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का पालन करे । उनका मानना था कि हिन्दु सरकार हिन्दुत्व के लिए वह भारत जैसे बहु–साम्प्रदायिक समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वराज्य को सुरक्षित करेगी । भारत में बहु–सम्प्रदाय या धर्म के कारण ब्रिटेन भारत को स्वराज्य से वंचित नहीं कर सकता है ।

तिलक ने तत्कालीन सरकार के सिद्धांतों मे पूर्ण परिवर्तन करते हुए, सरकार की मानवीय मामलों में भूमिका की चर्चा की और कहा कि इस अर्थ में मेरे विचार क्रान्तिकारी कहे जा सकते है । उनका मत था कि एक सही सरकार में लोगों के स्वराज्य के विकास की क्षमता होनी चाहिए, जिन पर वह शासन कर रही है । चूंकि ब्रिटिश ऐसा नहीं कर रही है अत: वह या तो राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करे या भारत के धर्म की मांगों के अनरूप शासन को पुन: संगठित करे ।

प्रजातन्त्र सरकार का स्वरूप ही नहीं जीवन की शैली भी है और व्यक्ति प्रजातन्त्रीय विश्व का केन्द्र है । प्रजातन्त्र के, मनुष्य की व्यक्ति के रूप में स्वतन्त्रता और उसकी चेतना की प्रतिष्ठा दो मान्य मूल्य है । प्रजातन्त्र जीवन को अधिकारों की व्यवस्था में निरुपति कर देती है, जिससे कर्तव्यों की व्यवस्था का प्रादुर्भाव होता है । अत: प्रजातन्त्र कानून का शासन ही नहीं वरन प्रजातन्त्र तो नियम है जिसका सम्बन्ध आत्म निर्णय से युक्त व्यक्ति की अच्छाई से है । तिलक भी मनुष्य को व्यक्ति मानता है परन्तु उसका व्यक्ति मनुष्य बनने के लिए उत्पन्न हुआ है, वह धर्म में उत्पन्न हुआ है और इसी के द्वारा उसका निर्धारण होता है अर्थात उसे धर्म को स्वीकार करना पड़ता है, स्वतन्त्रता तो एक परिकाल्पनिक अवधारणा है तिलक की रुचि सरकार के उस रूप है जो धर्म के शासन को जीवन के तरीके के रूप में लागू कर सके । तिलक ने मनुष्य के राज्य के खिलाफ प्रतिशोध करने के अधिकार की बात की, परन्तु वह यह मानता है कि यह प्रतिरोध का अधिकार वैयक्तिक नहीं है । प्रतिरोध धर्म द्वारा होगा अर्थात्

धर्म के मानने वाले मनुष्यों द्वारा चुनाव के बारे में तिलक का यही विश्वास सामने आता है कि निर्वाचित सरकार का यह राज0 दायित्व होगा कि वह उस देश के धर्म का पालन करे ।

7. तिलक का नैतिक सापेक्षावाद।

तिलक के नैतिक सापेक्षवाद को हम दो चरणों में देखेंगे :–

7.1 राष्ट्र की दासता के कारण व परिणाम :

राष्ट्र जनता के जीवन आर्दशों का प्रतीक है । अत: एक राष्ट्र का वही आधार है जो दूसरे राष्ट्र का है । एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को उसके मनुष्यत्व से वंचित नहीं कर सकता वैसे ही कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को उसके राष्ट्रत्व से वंचित नहीं कर सकता है । एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र को दास बनाना स्वराज्य के शाश्वत नियम में हस्तक्षेप हैं और भारत पर ब्रिटेन का शासन इस हस्तक्षेप का उदाहरण है । चूंकि व्यक्ति का मूल उद्देश्य जीवन को जीना है जो वह स्वराज्य के माध्यम से जीता है । यदि उसका देश गुलाम हो जाएगा । तो व्यक्ति स्वराज से वंचित रह जाएगा । ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय स्वराज्य की पुन: प्राप्ति मनुष्य की नैतिक आवश्यकता है । मनुष्य को स्वराज्य का उपयोग स्वधर्म का पालन करते हुए करते रहना चाहिए चाहे सरकारी नियम कुछ भी हों28 । स्वराज्य राष्ट्र का मूल तत्व है और उसके विकास का महत्वपूर्ण साधन है।

7.2 स्वराज्य की प्राप्ति

चूंकि साम्राज्यवादियों ने जनता को उसके राष्ट्र से वंचित कर दिया, अत: जनता को स्वराज्य की पुन: प्राप्ति करनी चाहिए । किसी राष्ट्र के राष्ट्र होने के लिए स्वराज्य आवश्यक है। अत: उसे प्राप्त करना ही है । मनुष्य राष्ट्र में उत्पन्न हुआ है अत: उसे स्वराज्य के लिए संघर्ष करना चाहिए और उसके संघर्ष पर किसी भी प्रकार का धार्मिक या नैतिक प्रतिबन्ध नहीं लग सकता है। राष्ट्र अपने स्वराज्य के लिए अपनी जनता द्वारा ही संघर्ष करता है और इस तरह के संघर्ष के क्षेत्र को किसी भी कारण से सीमित नहीं कर सकते हैं ।29

तिलक की मान्यता यह थी कि मनुष्य को वही करना चाहिए जो सही है । धर्म, राष्ट्रीय रूपरेखा के अन्दर जीवन के नैतिक मापदण्डों का निर्धारण करता है । शाश्वत धर्म के अभाव में किसी भी सिद्धान्त का कोई आधार नहीं हो सकता है । धर्म ही नैतिक सिद्धांतों का उद्गम स्थल है, अत: राष्ट्रीय स्वराज्य की प्राप्ति के लिए उपयोग में आ रहे साधनों का मूल्यांकन उन तथाकथित सिद्धान्तो के आधार पर नहीं हो सकता है । यदि कोई कार्य स्वराज्य प्राप्ति के लिए किया गया है तो वह सही है उसका मूल्यांकन नैतिक सिद्धांतों के आधार पर नहीं होगा क्योंकि शाश्वत धर्म के अभाव में, शाश्वत नैतिकता भी नहीं होगी । जब धर्म कर्तव्यों की रूपरेखा का निर्धारण करता है तो नैतिक सिद्धांतों को भी कर्तव्य व अकर्तव्य में भेद करना पड़ेगा ।

स्वराज्य जीवन से श्रेष्ठ है30 क्योंकि स्वराज्य के बिना जीवन के सभी कार्य बेकार है, क्योंकि उनका सम्बन्ध मोक्ष से नहीं होता है । दास राष्ट्र के नागरिक को, अपने जीवन को अध्यात्मिक अर्थ देने के लिए धर्म के द्वारा बताए गए स्व–धर्म का पालन करना चाहिए । ऐसा करने से हो सकता है कि उसे भौतिक नुकसान हो पर वह अपने जीवन के लक्ष्य–मोक्ष के निकट ही पहुंचेगा । व्यक्ति के द्वारा स्वराज्य प्राप्ति के लिए उठाए गए कष्टों से दूसरे व्यक्तियों को भी प्रेरणा मिलेगी और इस तरह आन्दोलन शक्तिशाली होगा ।

अन्तिम बात जिस पर तिलक ने विचार किया वह है स्वराज्य के संघर्ष का तरीका क्योंकि संघर्ष की सफलता इसी तरीके पर निर्भर करती है । स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रही जनता अपनी समस्त शक्ति इच्छित उद्देश्य प्राप्ति के लिए लगा सकती है । यदि ऐसा करने से उद्देश्य प्राप्ति हो तो।31 तिलक ने हिंसात्मक व आतंकवादी पद्धतियों की आलोचना नहीं की, वरन् उन्हें तकनीक के रूप में अस्वीकृत किया, क्योंकि तत्कालीन स्थिति में ऐसा करना ठीक नहीं था । शस्त्र संघर्ष में भारत ब्रिटेन का सामना नहीं कर सकता है और ऐसा करने से हम राष्ट्र को बिना स्वराज्य के निकट लाए अपने बहुमूल्य मानवीय स्रोतों को खो देंगे । तिलक नें तत्कालीन स्थिति में स्वदेशी व बहिष्कार के रूप में निष्क्रय प्रतिरोध को स्वराज्य प्राणि का उचित साधन माना । उसके द्वारा सम्पूर्ण साम्राज्यवादी शासन को पंगु बनाया जा सकता है ।

8. निष्कर्ष

हम देखते है कि लोकमान्य तिलक पांडित्य व राजनैतिक नेतृत्व के गुणों के समन्वय के प्रतीक थे । अपने दुर्दमनीय विश्वास एवं सतत् परिश्रम के द्वारा एक स्वतन्त्र व शक्तिशाली राष्ट्र की नींव डाली, चाहे इसके लिए उन्हें कितने ही कष्ट भोगने पड़े । राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम की प्रमुख विभूति तिलक ने भारतीयों को स्वराज्य का पहला पाठ पढ़ाया और उनमें राज–चेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया । राज0 चिन्तन के स्रोत में तिलक ने हमें राष्ट्रवाद का विचार दिया, जो कि पश्चात्य तथा प्राचीन भारतीय विचारों का समन्वय था । उनके कर्मयोग व चिन्तन का आधार यथार्थ की सही पकड़ थी, जिसके कारण उनके विचारों को हम यथार्थवादी विचार कह सकते हैं ।

9. उद्धरण

1. डी0 वी0 पी0 वर्मा - आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्त, पृ0 173–74
2. तिलक–गीता रहस्य, पृ0 399
3. स्पीचेस एण्ड राइटिंग्स आफ तिलक, पृ0 354
4. तिलक का 1919 में विल्सन कों लिखा गया पत्र
5. एस0 बी0 वापत –ग्निनिंगस फ्राम तिलकस राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, पृ0 333
6. तिलक – कर्मयोग व स्वराज्य
7. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस पृ0 13
8. गीता रहस्य, पृ. 112
9. गीता रहस्य, पृ0 72

10. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, पृ0 13–14
11. ग्निनिंग्स, पृ0 93
12. वही, पृ0 342
13. वही, पृ0 343
14. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, 77
15. गीता रहस्य, पृ0 68
16. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, पृ0 73
17. 13 दिसम्बर 1919 के - 'मराठा' में तिलक
18. केसरी –9 अप्रेल 190।
19. जकारिया - रीना सेन्ट इण्डिया, पृ0 599
20. आर0 परमदत्तप – इण्डिया टु डे, पृ0 383
21. केसरी, 15 मार्च, 1904
22. शिरोल – इण्डिया, पृ0 122
23. एन0 सी0 केलकर – तिलक ट्रायल आफ 1908
24. स्टेप इन द स्टीमर, पृ0 102
25. ग्निलिग्स, पृ0 329
26. वही, पृ0 333
27. वही, पृ0 329
28. ग्लिनिग्स, पृ0 102
29. वही, पृ0 217.18
30. राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, पृ0 24
31. वही, पृ0 229

10. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एस वी. बापत – ग्लीनिग्स् फ्रॉम तिलकम् राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस
2. बा. गं. तिलक – गीता–रहस्य
3. एस. के. बापत – ऑन तिलक
4. डा. वी. पी. वर्मा – आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन
5. स्पीचेस एण्ड राइटिंग्स् ऑफ तिलक (जी.ए. नेटसन एण्ड कम्पनी, मद्रास)

11. अभ्यास

1. 'स्वराज्य 'की विवेचना करते हुए बताइए कि क्या स्वराज्य तिलक के राजनैतिक दर्शन का आधार है?
2. राष्ट्रीयता व राजनैतिक चेतना के विकास में तिलक का क्या योगदान रहा है?
3. "तिलक उग्र–राष्ट्रीयता के जनक थे ।" कथन की विवेचना करिए ।

4. तिलक के राजनैतिक विचारों की समीक्षा करिए ।

इकाई –11

लाला लाजपत राय

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. संक्षिप्त जीवन परिचय तथा विचारों का तात्कालिक परिवेश
3. लाला जी के राजनीतिक विचार
   - 3.1 लाला जी एवं उग्रवाद
   - 3.2 जनतंत्र विषयक धारणाएं
   - 3.3 लालाजी एवं समाजवाद
4. लालाजी के विचारों का सामाजिक संदर्भ
   - 4.1 मशीनीकरण की अनिवार्यता
   - 4.2 सामाजिक पुनरूत्थान की संकल्पनाएं
   - 4.3 लालाजी तथा समाज के 'वंचित वर्ग'
   - 4.4 डी.ए.वी. आन्दोलन
5. वैचारिक मूल्यांकन
   - 5.1 लालाजी का राष्ट्रीय ध्येय
   - 5.2 साध्य और साधन
6. उपयोगी संदर्भ ग्रंथ सूची
7. `अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई की रचना का उद्देश्य है –

1. लाला लाजपत राय के व्यापक राजनीतिक विचारों के प्रति समझ विकसित करना ;
2. उनके विचारों के नियामक सामाजिक संदर्भ की थाह पाना;
3. भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की दिशा में लालाजी के वैचारिक योगदान की समीक्षा करना, तथा
4. साध्य–साधन सम्बन्धों पर भारतीय वैचारिक परम्परा में निहित कालातीत बहस में लालाजी के पक्ष को जांचना तया उसके प्रभाव व उपादेयता का निर्धारण करना ।

2. संक्षिप्त जीवन परिचय तथा विचारों का तात्कालिक परिवेश

लाला लाजपतराय का जन्म 28 जनवरी, 1865, में, पंजाब के एक गांव धुड़िके, (जिला फरीदकोट) में हुआ था। इनके पिता मुंशी राधाकिशन ने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उर्दू तथा फारसी पढाने की अहर्तायें उनके पास थी तथा वे नार्मल स्कूल दिल्ली में बर्नाकुलर पढ़ाते

थे । माता श्रीमती गुलाब देवी असीम धैर्यवान, बुद्धिमान व त्यागमयी महिला थीं। लालाजी के व्यक्तित्व व कृतित्व पर इन दोनों का प्रभाव अमिट पड़ा।

लालाजी की प्राथमिक शिक्षा गांव के स्कूल में, जहां उनके पिता तब शिक्षक थे, हुई । तत्पश्चात वे जगराँव, रोपड़, लाहौर, लुधियाना व दिल्ली में अध्ययनरत रहें। शुरू से ही वे अत्यन्त प्रतिभावान विद्यार्थी थे। 1880 में कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर, दोनों की एंट्रेंस परीक्षाएं उन्होंने उत्तीर्ण की । 1881 में गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में प्रवेश लेते ही उन्होंने कानून की कक्षायें भी ज्वाइन कर ली । घर में आर्थिक तंगी थी । 1882 में जूनियर प्लीडर की योग्यता हासिल हुई और 1883 में मुख्तारशिप का लाईसेंस भी मिल गया, सो उन्होंने कानून की वकालत जगरांव में शुरू कर दी । 1886 में प्लीडर की परीक्षा पास कर हिसार में, जिला कोर्ट में, वकील के तौर पर प्रेक्टिस शुरू कर दी ।

1875 में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी । स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों ने उन्हे अन्दर तक प्रभावित किया । एक सामाजिक–सांस्कृतिक क्रांति की शुरूआत हो चुकी थी । अन्धविश्वास, रूढ़ियों तथा सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध जारी जंग में लालाजी ने बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया तथा सामाजिक पुनरुत्थान को अमली जामा पहिनाने में पहल की । 1882 में उन्होंने आर्य समाज की सदस्यता ग्रहण कर ली थी। बहुत शीघ्र ही अपने विचारों तथा कार्यो के कारण उनका नाम आर्य समाज की प्रथम पंक्ति में आ गया था । वहां तथा बाद में, हिसार में, उनके सम्पर्क तत्कालीन समर्पित समाज सुधारकों–लाला चुन्नीलाल, लखपतराय तथा उा0 रामजी लाल से रहे । यही उन्होंने इतिहास, राजनीतिशास्त्र तथा संसार भर के स्वतन्त्रता सेनानियों की जीवननियों का अध्ययन किया । भारत की राजनीति में उनकी रूचि बढ़ती जा रही थी । 1888 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में वे हिसार – डेलीगेट के रूप में भाग लेने गये थे ।

सर सैयद अहमद खान ब्रिटिश कूटनीति के सिद्धान्त - "डिवाईड एण्ड रूल" के शिकार बन चुके थे तथा मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने में सफल हो रहे थे । लाला जी ने बहुत साफगोई से उन्हें खुले पत्र लिखे और चैलेंज किया कि वे अपने "नेशलिज्म" व कांग्रेस के प्रति अपने बदले हुए रूख का जवाब दे । इससे राजनैतिक क्षेत्रों में हलचल मच गई । 23–24 वर्ष के एक नौजवान वकील के इन पत्रों तथा विचारों ने कांग्रेस को इतना प्रभावित किया कि इनके पत्रों का अंग्रेजी अनुवाद पांचवीं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस 1889, के बम्बई अधिवेशन से जरा पहले ही प्रकाशित किया गया। इस कांग्रेस में हिसार – डेलीगेट के रूप में उन्होंने भाग लिया तथा अपने विचारों को राष्ट्र के सामने रखने में सफलता पाई ।

सन् 1892 में वे लाहौर में वकालत शुरू करने के साथ ही साथ आर्य समाज की समाजसुधार की रचनात्मक गतिविधियों में बढ़–चढ़ कर भाग लेते रहे । यहां उन्होंने डी0 ए0 वी0 कॉलेज की स्थापना की तथा डी0 ए0 वी0 आन्दोलन में गतिशीलता बनाये रखी ।

'द ट्रिब्यून" तथा "द पंजाबी' नामक दैनिक अखबारों के माध्यम से राष्ट्र चेतना जगाने का कार्य जारी हुआ। ढीली–ढाली ढुलमुल नीतियों को छोडकर (बोल्ट), गम्भीर एवं रचनात्मक

नीतियों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अपनाये जाने की इन्होंने आवश्यकता प्रतिपादित की। 1904 में कांग्रेस के बम्बई सेशन में श्री बाल गंगाधर तिलक ने प्रस्ताव रखा था कि श्री गोपाल कृष्ण गोखले और लाला लाजपतराय को डेलीगेट के रूप में इंग्लैंड भेजा जावे जहां वे ब्रिटिश सरकार तथा ब्रितानी जनता के सामने भारत के (क्लेम्स) रखे 1904 में जब वे लौटे तो उन्हें विश्वास हो चुका था कि भारतीयों को सभी क्षेत्रों में आत्म–निर्भरता प्राप्त करनी होगी । ब्रिटिश सरकार या ब्रितानियां जनता की न्याय प्रियता, किसी भी चीज पर निर्भर होने से नहीं चलेगा। (माडरेशन) की अब तक की कांग्रेस (पालिसी) से उनका विश्वास उठता जा रहा था। इसलिये जब कांग्रेस का 27 दिसम्बर 1907 को (सूरत स्पिलिट) हुआ तो लालाजी तिलक व पाल के साथ (रैडिकल) ग्रुप में थे।

1906 में कोलोनाईजेशन एक्ट के विरोध में पंजाब खेतिहर आदोलन के प्रणेता भी लालाजी थे तथा (स्वदेशी व बाईकाट आंदोलनों में भी । सरकार की निगाह में वे खटक रहे थे। इसलिये 9 मई, 1907 को उन्हें गिरफ्तार कर रंगून में मांडले जेल में डाल दिया गया । इसके विरोध में देशव्यापी प्रदर्शन हुए तथा सरकार को छह महीने के भीतर ही उन्हें मुक्त करना पड़ा था । इस घटना ने लालाजी को राष्ट्रीय नेता के रूप में जनमानस में तथा सरकार की निगाहों में भी प्रतिष्ठित कर दिया ।

लालाजी अछूत समस्या, बाल विवाह, पर्दाप्रथा आदि सामाजिक समस्याओं तथा अन्य सामयिक समस्याओं जैसे कि अकाल समस्या अशिक्षा, गरीबी आदि के प्रति जनमानस के चेतन करने व निराकरण करने हेतु संगठन का कार्य करते रहे । 1911 में वे म्यूनिसपिल कमेटी में चुन लिये गये तथा अच्छा काम किया व करवाया । 1912 में उन्होंने कांग्रेस में पुन: प्रवेश किया । पटना सेशन में, 'दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रति न्याय", की तथा 1913 की कांग्रेस में भी फिर उन्होंने इसकी पुरजोर वकालत की । वे 1914 में पंजाब प्रतिनिधि के रूप में कांग्रेस डेलीगेशन में इंग्लैंड गये । इंग्लैंड में 'प्रेस' और 'प्लेटफार्म' के माध्यम से वे भारत के लिये स्वतन्त्रता का इश्यू 'प्रतिपादित करते रहे । नवम्बर 1914 में अमेरिका पहुँचे तथा 24 दिसंबर 1914 तक रहे । वहां उनका संपर्क बड़े–बड़े प्रबुद्ध विद्वानों से, नये विचारों से, नई पद्धतियों से हुआ, जिनका लालजी के विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा। भारत विषयक ज्ञान का प्रसार हुआ। भारत व अमेरिका में एक नई समझ के वे प्रणेता रहे।

20 फरवरी, 1920, को भारत लौटने पर उनका जनता तथा तिलक, जिन्ना तथा ऐनी बीसेंट आदि नेताओं द्वारा गर्मजोशी से स्वागत किया गया ।

जुलाई 1920 में लालाजी को कांग्रेस के विशेष अधिवेशन (कलकत्ता) हेतु अध्यक्ष चुना गया। इस अधिवेशन का उद्देश्य पंजाब में हुये अत्याचार 'जलियांवाला बाग' व खिलाफत आंदोलन से उपजी स्थितियों का निवारण व नीति–निर्धारण तथा 1916 के संवैधानिक सुधारों के प्रति कांग्रेस के (एटीट्यूड) की जानकारी देश व ब्रिटिश सरकार को देना था ।

लालाजी असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण 3 दिसम्बर को गिरफ्तार कर लिये गये तथा 18 महीने की जेल हुई ।

अगस्त 1923 में वे छोडे गये । इस समय तक कांग्रेस पार्लियामेन्टरी पार्टी में मोतीलाल नेहरू तथा सी0 आर0 दास के नेतृत्व में 'स्वराज पार्टी" का उदर हो चुका था । लालाजी ने इसे ही समर्थन दिया । लालाजी यद्यपि सामाजिक – राजनीतिक कार्य करते रहे तथा 1923 के पंजाब चुनाव का संचालन किया पर वे स्वयं चुनाव में खड़े नहीं हुये। 2 वर्ष की जेल के कारण वे "क्वालीफाई" नहीं करते थे । दिसम्बर, 1925 में वे केन्द्रीय विधान सभा के लिये चुने गये । लालाजी ने पंडित मदन मोहन मालवीय के साथ 'स्वतन्त्र कांग्रेस पार्टी' की स्थापना की ।

पार्टी को उत्तर प्रदेश एवं पंजाब में अच्छी सफलता मिली । वे दो चुनाव क्षेत्रों से केन्द्रीय विधान सभा के लिये चुने गए थे। विधान सभा में लालाजी ने राष्ट्रीय उद्देश्य के हेतु कांग्रेस के साथ फिर सहयोग किया ।

भारत के लिये संविधान बनाने हेतु बनाया गया साईमन कमीशन जब भारत पहुचा तो ज्ञात हुआ कि सभी मेम्बर ब्रिटिश थे तथा भारतीय प्रतिनिधित्व कतई नहीं था । लालाजी ने इस पर गहरा एतराज किया। इस सम्बन्ध में इनके द्वारा विधान सभा में लाये गये प्रस्ताव के पक्ष में 68 मत पड़े व यह प्रस्ताव पारित हुआ जबकि विरोध में 62 मत पड़े ।

इस बीच में पंडित मोती लाल नेहरू की अध्यक्षता में "ऑ पार्टीज़ कांफ्रेंस" ने नेहरू रिपोर्ट तैयार करली थी तथा लालाजी इससे सहमत थे व समर्थन देते थे । साईमन कमीशन के 'बॉयकाट" के आन्दोलन में अब उनकी प्रमुख भूमिका सामने आई । हालांकि इस समय तक वे बहुत रूग्ण तथा वृद्ध हो चुके थे। 30 अक्टूबर को जब साईमन कमीशन भारत आया, हजारों व्यक्तियों के विरोध–प्रर्दशन–स्थल पर लालाजी शान्तिपूर्ण विरोध में सड़क के एक किनारे खड़े हुए थे – एक ब्रिटिश पुलिस अधिकारी द्वारा उनकी छाती पर प्रहार किये गये तथा अन्य लोगों पर भी प्रहार किये जाते रहे परन्तु वे प्रहार को सहते हुए शान्ति से अडिग खड़े रहें । 30 अक्टूबर, 1928, का यह दिन संसार भर के स्वतन्त्रता सेनानियों के लिये एक अमिट उदाहरण है कि देश की स्वतन्त्रता के लिये कैसे–कैसे वार–प्रहार छाती पर झेलना होता है। 17 नवम्बर, 1928, का वह काला दिन जबकि लालाजी ने प्राण त्यागे, आगत स्वतन्त्रता के किले के लिये नींव के पत्थर के रुप में सदैव के लिये स्थापित हो गया है । उस दिन सिर्फ लाहौर की आखों में आंसू नहीं थे बल्कि सारे देश की आखों में आंसू एवं हृदय मे नमन था । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कफन–केस में लालाजी के बलिदान ने अनगिनत कीलें ठीक दी थी – ऐसा सार्थक यह बलिदान हुआ ।

यह तो हुई लालाजी के जीवन के बहुत संक्षिप्त में मुख्य राजनैतिक घटनाओं की विवरणी–अब हम आते हैं उनके राजनीतिक – सामाजिक विचारों पर ।

स्वतन्त्रता – संग्राम के नेताओं के विचार व कृतित्व आपस में एक दूसरे से गुंथे होते हैं । जीवनी के आकलन के बिना इन्हें ढूंढ सकना, समझ पाना, मूल्यांकन करना संभव नहीं होता, मूल्यांकन सही भी नहीं हो पाता । कथनी और करनी में अन्तर राजनीतिज्ञों में पाया जाता है, राजनेताओं में नहीं । राजनेताओं की प्रथम पंक्ति में लालाजी के प्रमुख स्थान था, आप सब यह जानते ही हैं ।

3. लाला लाजपतराज के राजनीतिक विचार

लालजी के राष्ट्रवाद (नैशलिस्म) सम्बन्धी विचारों के उद्‌गम का हम अध्ययन करें तो पायेंगे कि एक तरफ तो वे संसार भर में राष्ट्रवाद की नई–उठी लहर से प्रभावित थे वही दूसरी ओर भारत की अपनी राष्ट्रीय आवश्यकता, तत्कालीन भारतीय नीति तथा ब्रिटिश सरकार की ढुलमुल नीति के कारण उनके विचार एक विशेष प्रकार से समन्वित हुये। मूलबिंदु–मूल उत्प्रेरणा एक ही रही – भारत के लिये 'स्वराज्य, आत्म निर्भरता, स्वावलम्बन–देशभक्ति तथा जनसेवा।"

यूरोपीय राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रवादी आन्दोलनों का विस्तृत अध्ययन उन्होंने किया था । सर 1914 से 1920 के बीच के वर्षो में इंग्लैंड तथा अमेरिका में वह रहे । प्रमुख बुद्धिजीवियों, विचारको, पत्रकारों व नेताओं से उनका सम्पर्क रहा । विश्व की समस्याओं पर उन पर हो रहे कार्य व विचारों का अध्ययन लालाजी ने किया था । दूसरी तरफ वे भारत में आर्यसमाज की विचारधारा, कार्य–शैली व कार्यक्रम से पूरी तरह सहमत होते हुए आर्यसमाज के स्तम्भ भी थे । पूर्व और पश्चिम के विचारों का अदभुत समन्वय हमें लालाजी के विचारों में मिलता है ।

एशिया के देशों में लालाजी का मानना था कि एक मौलिक एकता स्थापित हो सकती है–विशेषकर भारत, चीन व जापान में "क्योंकि इन देशों में पाश्चात्य प्रभाव सीमित है और इतना नहीं है कि एकत्व की संभावना को नष्ट कर सके" ।

भारतीय राष्ट्रवाद के विषय में इनकी मान्यता थी कि वह उभर कर मजबूत हो रहा है। 'उसे पोषण मिल रहा है ब्रिटिश सरकार व ब्रिटिश कोर्टस द्‌वारा राष्ट्रवादियों को दी जा रही मौत की सजाओं, कालेपानी तथा अन्य अत्याचारों द्‌वारा ।"

लालाजी ने हमेशा राष्ट्र से ऊपर माना । राष्ट्र अपने लिये राज्य का निर्माण कर सकता है उसे बदल सकता है, इसलिये राष्ट्र ही सर्वोच्च है । भारत के नागरिकों को राष्ट्रभक्त – देशभक्त होना ही चाहिये, ऐसा उनका मानना था ।

लाजपत राय भारत को संप्रदायवाद, अलगाववाद, व्यक्तिगत स्वार्थवाद से मुक्त एक संयुक्त राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे तथा इस उद्देश्य के लिये उन्होंने जीवनभर काम किया। उनकी मान्यता थी कि धर्म चाहे अलग–अलग हो परन्तु मां, भारतमाता, सबकी मां है । हिन्दु मुसलमान सब उनके बेटे है । जो भी भारतवासी है वह भारतीय है और उसकी आस्था अपनी मां में होनी ही चाहिये। आस्था की इस राह में सारी बाधायें, धर्म, संप्रदाय व जाति सबको गिरा देना चाहिये । भारत राष्ट्र प्रमुख हो – भारतीयता प्रमुख हो ।

3.1 लालाजी एवं उग्रवाद (एक्सट्रीमिस्म)

भारत राष्ट्रीय कांग्रेस में लालाजी का उदय एक (मॉडरेट) के रूप में हुआ था। लेकिन सन् 1900 के अंतिम वर्षो में उनके विचारों में उग्र राष्ट्रियता की शुरूआत हो चुकी थी । सन् 1905 में इन्होंने कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में 'पैसिव रेजिस्टेंस" की प्रथम पहल व पुरजोर वकालत की । यद्‌यपि इस समय तक वे मोडरेट कांग्रेस के उद्देश्यों से सहमत थे और पूर्ण स्वराज्य की मांग अभी तक नहीं उठाई थी । लालाजी को ब्रिटिश सरकार के न्याय में कोई विश्वास नहीं रहा था और ना ही मॉडरेट'' कांग्रेस की प्रार्थना व पिटीशन' की नीतियों मे। ब्रिटिश

सरकार लालाजी को अपनी "दयालु और उदार सरकार" (बेनीवीलेंट गर्वमेन्ट) की स्वयं बनाई छवि से दिगभ्रमित करने में सफल नहीं रही।

लालाजी ने कांग्रेस के प्रथम दशक के कार्यक्रम नेतृत्व, नीति, सभी में शक्ति व गहन प्रभाव डालने के सामर्थ्य का अभाव पाया – जनता पर भी, सरकार पर भी । उन्होंने यह भी महसूस किया कि संवैधानिक सुधारों के नाम पर सरकार उतना ही देगी जितना स्वयं सरकार के भारत में बने रहने और राज करने कि हित में हो । कांग्रेस की झोली में थोड़ा–थोड़ा कर उतना ही पड़ेगा । कांग्रेस की यह भिक्षुकीय मुद्दा और ब्रिटिश सरकार का दानकर्ता कार "रोल" लालाजी के आत्मसम्मान व देश के गौरव व सम्मान को आधातकारी था । इस वातावरण को हिलाकर, झकझोर कर चैतन्य कर देने की कोशिश उन्होंने की और सफल रहे ।

लाला लाजपत राय ने स्वयं राष्ट्रवाद के "मॉडरेट" व 'एक्सट्रीमिस्ट'' स्वरूप का फर्क समझाया था । 'यंगइण्डिया" भारतीय जनता से अपील करते हैं ।" लालाजी का उच्च–न्यायालय तो भारत की जनता थी ऐसी अडिग विश्वास था जनता के प्रति ।

लालाजी ने देश को समझाया कि हम भारतीय को ताकतवर, राष्ट्रवादी होना चाहिये। इसके लिये प्रत्येक नागरिक में देशभक्ति, एकत्व गैर–सम्प्रदायवादी तथा भारतीयता का समभागी होना जरूरी है । आत्म–सम्मान आत्मनिर्भरता जरूरी है । अपने देश व उसकी संस्कृति पर गर्व होना चाहिये क्योंकि वह वास्तव में गर्व करने लायक है । पराजित मानसिकता को झाड़ फेंक कर ही अपने देश का काम किया जा सकता है । असहयोग आदोलन कार्यक्रम में उनकी पूर्ण आस्था थी । उन्होंने गांधीजी के असहयोग आन्दोलन (1920–21) में भाग लिया था तथा इन्हें जेल हुई थी।

स्मरणीय है कि अहिंसात्मक आंदोलन को वे भारत के सन्दर्भ में नीति (पालिसी) के तौर पर उचित मानते थे, एकदम एक सिद्धान्त के तौर पर नहीं । इसीलिये जब गांधीजी ने चौरी–चौरा कांड के बाद आंदोलन वापिस ले लिया तो लालाजी ने उनकी आलोचना की। राजनीति में भावुकता को वे बिल्कुल गैर जरूरी समझते थे । समय, काल, परिस्थितियों के अनुसार जो आवश्यक हो, देशहित में हो, वही ठीक है – वे मानते थे ।

3.2 विषयक धारणाएं

ब्रिटिश सरकार के जनतंत्र को लालाजी भौतिकवादी मानते थे और पसन्द नहीं करते थे। वे यह भी मानते थे कि यद्यपि भारत में इस तरह का जनतन्त्र कभी नहीं रहा लेकिन जनतन्त्र की अवधारणा रही ही नहीं हो, ऐसा भी नहीं था । जनतन्त्र का तात्पर्य उनके अनुसार जनता द्वारा अपनी इच्छा, अपने विचार प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त कर सकना था और यह भारत में पाया जाता था–यही प्रमुख होना चाहिये, तन्त्र (मशीनरी) नहीं ।

ब्रिटिश सरकार ने भारत को जेसे अपनी जमींदारी ही समझ रखा था और ऐसा ही उनका व्यवहार था–ऐसा लालाजी मानते थे । यह गैर प्रजातांत्रिक व्यवहार तो था ही, औपनिवेशिक मनोवृति भी थी । भारतवासी अपने लिये स्वतन्त्रता और समानता चाहते है, केवल कुछ नौकरियां नहीं । उन पर कोई ऐसे निर्णय सरकार द्वारा थोपा नहीं जाने चाहिये, जिनमें

उनकी भागीदारी न हो।" अब्राहम लिंकन द्वारा की गई जनतन्त्र की परिभाषा 'जनता की सरका, जनता के लिये, जनता के द्वारा'' – को वे सर्वश्रेष्ठ परिभाषा मानते थे। सफल जनतन्त्र की कसौटी यह है कि जनता के धर्म, वर्ण, लिंग, किसी भी भेदभाव के बिना राजनीतिक समानता दे वे कहा करते थे कि यूरोप और अमेरिका में भी जनतन्त्र कम है – असंतोषप्रद है । स्त्रियों को कुछ समय पहिले तक पोलिटिकल पावर' से लिंग के आधार पर वंचित रखा गया था और जनसंख्या का बहुत बडा हिस्सा आर्थिक रूप से कमजोर था – वास्तविक राजनीतिक शक्ति चुनाव के माध्यम से प्राप्त करने में असमर्थ था । सारांश यह कि बिना आर्थिक – समाजिक जनतन्त्र के राजनीतिक जनतन्त्र वास्तविक व जनता के लिये अर्थपूर्ण जनतन्त्र नहीं बन सकता।

इस कसौटी पर आज भी भारत का जनतन्त्र खरा नहीं उतरता । सामाजिक–आर्थिक समानता व न्याय भारत की बहुसंख्यक जनता के लिये आज भी उतना ही वांछित है । उस दिशा में किये जा रहे कार्य की गति धीमी है ।

तत्कालीन नेताओं की - 'नरम दल' व 'गरम दल' दोनों की ही कथनी और करनी में जहाँ अन्तर वे पाते थे कड़ी आलोचना करते थे । पेशेवर राजनीति को वे बहुत घटिया मानते थे। नेता को साहसी दृढ़ प्रतिज्ञा एवं जनता का सही प्रतिनिधित्व करने वाला होना चाहिये तभी वह नेता कहलाने का अधिकारी होता है ।

3.3 लालाजी एवं समाजवाद

लालाजी के समाजवाद संबन्धो विचारों पर प्रभाव पड़ा हैनरी मैयर्स, हांईडमैन तथा अन्य ब्रिटिश सोशलिस्ट विचारकों का । लालाजी की भारत के लिये समाजवाद की जो कल्पना थी वह पश्चिमी समाजवाद से भिन्न थी । वे ये मानते थे कि पश्चिमी समाजवाद में जो अच्छाई है वे लेनी चाहिये, सभी कुछ नहीं । भारत की कमजोर आर्थिक परिस्थिति को, समस्याओं को देखते हुये गरीबी, शोषण, पूंजीवाद खत्म हो – उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व हो – समाजवाद ऐसा हो ।

लालाजी "ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के "फाऊण्डर प्रेसीडेंट" थे । इस पद से उन्होंने मजदूरों का आहवान किया कि वे एक हो तथा भारतीय परिस्थितियों के अनुसार सहानुभूति से मिलकर शोषण व असमानता के विरूद्ध लड़ें । संगठन मजदूरों की सबसे बड़ी आवश्यकता है, वे मानते थे ।

समाज में धन का वितरण समान हो, यह उद्देश्य था । परन्तु इसके तथा शोषणविहीन समाज के रास्ते में नौकरशाही और बिचौलिये बाधा का काम करते है, जब तक ये नहीं खत्म होंगे – शोषण समाप्त नहीं होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी राजनीतिक संगठन, सामाजिक जागृति और प्रचार की आवश्यकता उन्होंने प्रतिपादित की तथा उसके लिये मृत्युपर्यत का काम किया ।

आर्थिक स्वराज के प्रश्न पर लालाजी ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया था । केवल राजनीतिक स्वराज्य से समस्या हल होने वाली नहीं – ऐसा वे मानते थे । आर्थिक स्वराज्य – दूसरे शब्दों में आर्थिक आत्मनिर्भरता, भारत के लिये अत्यावश्यक उन्होंने मानी ।

भारत का, निर्यात के द्वारा जो दोहन हो रहा था, सन् 1891 में ही उन्होंने इस पर एतराज उठाया था । 1900 'में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रम में 'भारत में उद्योग" विषय को लिवाने में उन्होंने सफलता पाई । पंजाब में कानून और व्यवस्था में बिगाड़ के लिये वे पंजाब के किसानों की आर्थिक गिरावट को ही जिम्मेदार मानते थे ।

भारत के चलते उद्योगों को ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था । 'कॉटन इण्डस्ट्री" तो नष्टप्राय हो गई थी । खेती पर भारतीय जनता की निर्भरता बढ़ती चली गई और गरीबी भी बढ़ती चली गई । लालाजी मानते थे कि ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण गरीबी, कुपोषण, अकालमहामारी जैसी समस्याऐं पैदा हुई थी ।

ब्रिटिश सरकार जिन मापदण्डों से समृद्धि को मापती थी वेलालाजी के अनुसार सही नहीं थे। सोने का देश में आयात, व्यापार से कमाई या जमीन की कीमतों में वृद्धि से समृद्धि नापी जा रही है । यह गलत तरीका है । लालाजी के अनुसार रोजी कमाने वाले (वेज–अर्नर) की रोजी या यों कहे कि प्रति व्यक्ति आय में क्या वृद्धि हुई, इससे देश की समृद्धि का निर्णय होना चाहिये ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लालाजी मूलतः समाजवाद के ध्येय को देश के लिये प्राप्त करना चाहते

4. लालाजी के विचारों का सामाजिक संदर्भ

4.1 मशीनीकरण की अनिवार्यता

यद्यपि लालाजी गांधीजी के आर्थिक कार्यक्रम के पक्षधर थे – खद्दर व स्वदेशी में उनकी पूर्ण आस्था थी परन्तु औद्योगिक प्रगति और उसमें मशीनीकरण की अपरिहार्यता को वे आवश्यक मानते थे । स्वावलम्बन की स्थिरता भी जरूरी थी, परन्तु उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हो तभी आम जनता को इनका लाभ मिलना संभव होता, ऐसा उनका मानना था। पश्चिमी पद्धति का औद्योगीकरण जो पूंजीवाद ले बढ़ावा दे ऐसा नहीं, बल्कि समाजवादी प्रकार से विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था तथा समुचित वितरण को संभव करे, ऐसे औद्योगिकरण के वे पक्षधर थे । वे कहते थे कि इसके लिये गहन विचार व दूरदर्शी नीतियों की आवश्यकता रहेगी, पश्चिमी औद्योगिकरण का अन्धानुकरण भारत की समस्याओं को हल नहीं करेगा ।

आज, आधी सदी पश्चात उनका यह विश्लेषण भारत के सन्दर्भ में बिलकुल सही उतर रहा है, यह देखा जा रहा है । आम जनता की हालत में अपेक्षित सुधार अब तक नहीं हुआ है, यद्यपि औद्योगिकरण तेजी से बढ़ा है । राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय को देखो तो यह फर्क सामने स्पष्ट आ जाता है अमीर और गरीब के बीच की खाई बढ़ती ही गई है ।

यद्यपि सहकारिता का क्षेत्र बढ़ा है, खादी संर्वधन भी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम है परन्तु नौकरशाही व ऊपर की ओर निर्भरता के कारण दव स्वावलम्बन पैदा हुआ है और ना ही सही माने में पूर्ण स्वराज्य । स्वतन्त्रता जरूर 15 अगस्त, 1947 को हमें मिल गई ।

4.2 सामाजिक पुनरूत्थान की संकल्पनाएं

लालाजी जातिवाद के सख्त खिलाफ थे । राष्ट्रीय एकता के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा वे जातिवाद को मानते थे उन्होंने देशवासियों से विशेषकर शिक्षित वर्ग से अपील की कि वे जातिवाद छोड़कर अछूतों केर साथ भाईचारे का व्यवहार करें ।

हिन्दु समाज अपनी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों को तोड़ कर एक नये समतावादी समाज की पुर्नरचना करें, इसी दशा में लालाजी ने काम किया । धर्म शास्त्र और पुराणों में ही पाया जाता हो – ऐसी बात नहीं, सही सोच व सही कार्य से भी धर्म होता है – ऐसी विशद व्याख्या धर्म की लालाजी ने की।

आर्य समाज की व लालाजी की विचारधारा एक ही थी । वे बाल विवाह, अछूतप्रथा व सामाजिक असमानताओं के खिलाफ थे । विधवा – विवाह को उचित व सुधारवादी कदम मानते थे । स्त्री शिक्षा को वे बहुत आवश्यक मानते थे। कोई भी राष्ट्र जो अपनी माँ बहिनों को अशिक्षा की सांकलों में बांधकर रखता है, उसे किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता का कोई अधिकार नहीं, ऐसा वे मानते थे ।

लालाजी मानते थे कि लड़के–लड़की को विवाह से पूर्व एक दूसरे को देखना चाहिये । उस युग के लिये यह बात निश्चित ही अनोखी थी । व्यक्तिगत जीवन में व्यक्ति स्वातन्त्र को उनका कितना समर्थन था यह बात उपरोक्त उदाहरण से जाहिर है ।

4.3 लालाजी तथा समाज के 'वंचित वर्ग'

स्मरणी है 1909 में जबकि डॉ0 अम्बेडकर जहां जरा भी प्रसिद्ध नहीं हुये थे और 19 साल के ही थे, अध्यनरत ही थे, लालाजी इन दलित वर्गों के उत्थान के बारे में एक भाषण–श्रृखला में निरन्तर बोले । यही नहीं स्वयं पचास हजार रूपये (जो कि उस युग में बहुत मानी रखते थे) इन वर्गों के बीच काम कराने हेतु दिये । आधा पैसा तो रावी नदी के पास जमीन खरीदने के लिये, जिस पर इन्हें अच्छी तरह बसाने जा सके – आधा उनके शैक्षणिक उत्थान के लिये। कई स्कूल और केन्द्र इनके लिये खोले गये जिनका निर्देशन वे स्वयं देखते थे ।

4.4 डी0 ए0 वी0 आन्दोलन

स्कूल और महाविद्यालयों की श्रृंखला स्थापित की जो शिक्षा के उत्तम केन्द्र साबित हुये। यहां आदर्श शिक्षा तो दी ही जाती थी परन्तु इनमें विकसित होने पर, तकनीकी और मेडिकल विभाग भी खुलते जाते थे । शिक्षा रचनात्मक एवं प्रायोगिक भी होती थी । शिक्षा के विकास में लालाजी का विशेष योगदान रहा । कमजोर वर्ग के लोगों व स्त्रियों के उत्थान और बच्चों के समुचित विकास की आवश्यकता वे हमेशा प्रतिपादित करते रहे । राष्ट्र तब ही मजबूत हो सकता है जब कभी नागरिक मजबूत हो, ऐसी उनकी मान्यता थी ।

5. वैचारिक मूल्यांकन

विपिनचंन्द पाल तथा अरविंद घोष ने राजनीति व राष्ट्रवाद को धार्मिक पुनरुत्थान तथा भारतीय अध्यात्मवाद से जोड़ा था इससे प्रबुद्ध पड़े लिखे भारतीयों को विशेष प्रेरणा मिली ।

लालाजी ने धर्म और अध्यात्म को राजनीति व राष्ट्रवाद से बिल्कुल मुक्त रखा और यह भी उस काल में जब हिन्दू व हिन्दू, धर्म के उच्च गुणों की विशद मीमाँसा हो रही थी तथा ये प्रेरणा–स्रोत के रूप में उपयोग में लिये जा रहे थे। लालाजी यद्यपि स्वयं आर्यसमाज के कार्यकर्ता थे फिर भी उनमें एक जबर्दस्त धर्मनिरपेक्षता थी । उनका चिन्तन तब से लेके अब तक – आधुनिक भारत तक, निरन्तर उपयोगी और उपादेय बना हुआ है । धर्म निरपेक्षता के जिन मूल्यों को लालाजी ने प्रतिष्ठित किया वे वास्तव में सराहनीय है । स्वतन्त्र भारत में धर्म और संप्रदाय को लेकर विघटनकारी शक्तियां फिर – फिर उठ खडी होती हैं, हाल का खालिस्तान आन्दोलन व उससे उपजी राजनीतिक समस्याएं इसका ज्वलन्त उदाहरण है । उन्होंने वास्तविकता शक्ति जनता की शक्ति को माना, इन मायनों में वे महान जनतन्त्रवादी थे । परन्तु यह तन्त्र (मशीनरी) पश्चिमी प्रकार की न हो, अलग ढंग की, भारत की आवश्यकता पूरी कर सके, ऐसी हो, ऐसा वे चाहते थे । खुले दिमाग से विचार कर उन्होने ऐसी आवश्यकता प्रतिपादित की थी ।"

केन्द्रीय असेम्बली में लालाजी हमेशा "इम्पीरियलिस्म" और ब्रिटिश सरकार के निरंकुश चरित्र पर प्रहार करते रहें । वे कहते थे कि सरकार को (सिविलाईज्ड) होना चाहिए । स्वतन्त्रता व समानता सभी नागरिकों का अधिकार है – कोई अपराध नहीं । जो जुल्म ब्रिटिश सरकार ढ़ा रही थी ये कोई 'सिविलाईज्ड" सरकार के प्रारूप में नहीं आते । अन्त में लालाजी स्वयं इसके शिकार हुए ।।

5.1 लालाजी का राष्ट्रीय ध्येय

लालाजी स्वराज्य को ध्येय मानते थे, लेकिन पूर्ण स्वतन्त्रता की बात उन्होंने नहीं की थी । इस मायने में हम कह सकते हैं कि उनके विचार ध्येय को लेकर नरम दल कांग्रेस वाले ही थे लेकिन स्वराज्य के लिये जो तैयारी – राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक पुर्नजागरण व कार्यक्रम की होनी चाहिये उसमें वे गरम दल विचारकों के साथ थे । स्वदेशी, बाईकॉट व राष्ट्रीय शिक्षा उनके राष्ट्रीय कार्यक्रम के मुख्य अंग थे । ये कार्यक्रम आत्मनिर्भरता और संघर्ष दोनों की तैयारी से ही सम्भव वे मानते थे । राष्ट्र का नैतिक व आध्यात्मिक जागरण ही संघर्ष को ठोस बना सकता है, ऐसा उन्होंने प्रतिपादित किया व उसके लिये मृत्युपर्यत कार्य भी किया । यह मानना पड़ता है कि भारत के पूर्ण विकास हेतु उन्होंने कार्य किया ।

5.2 लालाजी के साध्य और साधन

लालाजी की 'साध्य और साधन" दोनों की पवित्रता पर विश्वास करते थे । ('दि एण्ड जस्टीफाईड दी मीन्स)" पर उनका कोई विश्वास नहीं था । भाषा में हो या कार्यकलापो में हो, उनके अनुसार हिंसा का प्रयोग कतई नहीं होना था । वे हृदय परिवर्तन चाहते और मानसिक परिवर्तन भी चाहते थे । सिद्धान्तों पर अडिग रह कर ही राष्ट्रीय ध्येय की प्राप्ति उनका साध्य थी । इनके बिना भारत के लिये किसी भी राजनीतिक क्रांति की बात वे खोखली ही समझते थे।

वे आतंकवाद (टैररिस्म) के सख्त खिलाफ थे । भारत के सन्दर्भ में गांधीजी का अहिंसात्मक आन्दोलन का तरीका ही वे सही समझते थे ।

लालाजी ने राष्ट्र को चेताया कि बेडियां चाहे सोने की ही क्यों न हो, बेडियां ही होती है। उन्होंने प्रश्न उठाया कि क्या स्वतन्त्रता और आत्म सम्मान को संसार भर की दौलत से तोला जा सकता है? नहीं ! उनके अनुसार इन दो गुणों का कोई मूल्य नहीं दिया जा सकता है। ये अमूल्य है । वे कहते थे कि गुलाम में कोई आत्मा नहीं बचती बल्कि उनका तो शरीर तक अपना नहीं होता, उनके मालिक का होता है । ऐसा गुलामी का जो जीवन भारतवासी जी रहे हैं, वह व्यर्थ है, ऐसा वे मानते थे ।

अमेरिका, इंगलैड और जापान के लम्बे प्रवास में उन्होंने इन देशों की राजनीतिक संस्थाओं, नेताओं और जनता को देखा था । भारतवासी किसी से कम नहीं है, ऐसा उनका विश्वास और दृढ़ हुआ था – यही बात वे भारत की जनता से कहते रहे थे।

भारतीय जनमानस से हीनता की ग्रन्थि को नष्ट करने हेतु उनके ये विचार मूल्यवान साबित हुये। नई चेतना, नया स्फुरण और रचनात्मक कार्य के लिये देशवासियों को प्रेरित कर सकना उनकी विशेषता थी। राष्ट्र की अंदरूनी जड़ें मजबूत करने के श्रेय उन्हें जाता है ।

सारांश में यह कि वे एक महान राष्ट्रवादी, स्वतन्त्रता संग्रामी – देशभक्त, विचारक, समाज–सुधारक व 'स्टेटमैन 'साबित हुए । भारत ने उन्हें इस शताब्दि के तीसरे दशक में ही खो दिया, परन्तु उनका रचनात्मक कार्यक्रम भारत के लिये आज भी उतना ही महत्व रखता है । लालाजी के व्यक्तिव व कृतित्व का मूल्यांकन अभी पूरा हो नहीं पाया है, और इसमें गहन गम्भीर शोधकार्य की अभी और आवश्यकता है ।

6. उपयोगी संदर्भ ग्रन्थ सूची

एम. ए. बुच : राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डिया मिलिटेन्ट नेशनलिस्म

लाजपतराय : आइडियल्स ऑफ नॉन – कोओपरेशन एण्ड अदर एसेज

पुरुषोत्तम नाग़र : लाला लाजपतराय दी मेन एण्ड हिज अइडियाज दी मोडर्न रिव्यू, जन 1920

7. अभ्यास प्रश्न

1. भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में लाला लाजपत राय की क्या भूमिका रही, मूल्यांकन कीजिये।
2. लालाजी के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार समझाइये । आपके अनुसार वे 'नरम' या 'गरम' किस दल के नेताओं में माने जायेंगे?
3. स्वराज्य 'स्वदेशी, बॉईकॉट' पर लालाजी इतना जोर क्यों देते थे? टिपणी करें ।

इकाई – 12
मुस्लिम राजनीतिक चेतना के विविध वैचारिक संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. परम्परागत मुस्लिम राजनीतिक विचारधारा
4. प्रमुख भारतीय मुस्लिम राजनीतिक विचारक
   - 4.1 सर सैयद अहमद खां
   - 4.2 मौलाना मोहम्मद अली
   - 4.3 मोहम्मद इकबाल
   - 4.4 मोहम्मद अली जिन्ना
   - 4.5 मौलाना अबुल कलाम आजाद
5. स्वतंत्र भारत की धर्मनिरपेक्षता तथा बदले हुए संदर्भ
6. निष्कर्ष
7. संदर्भ ग्रन्थ
8. अभ्यास – प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्धेश्य है –

(i) मुस्लिम राजनीतिक चेतना के नियामक तत्वों के प्रतिसमझ का विकास

(ii) इस्लाम समेत समस्त परम्परागत व्यवस्थाओं के योगदान का बोध

(iii) प्रमुख मुस्लिम विचारकों के वैचारिक पक्षों की विवेचना तथा समीक्षा; तथा

(iv) स्वतंत्रता उपरान्त प्रस्तुत धर्म निरपेक्ष परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम चेतना के परिवर्तित संदर्भ की समझ ।

2. प्रस्तावना

हुमायूं कबीर के अनुसार लगभग एक हजार वर्षों के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पारस्परिक सम्पर्क के उपरान्त भी मुसलमान अपने व्यक्तित्व की पृथकता को समाप्त नहीं कर पाये । एक अन्य लेखक ने भी ये विचार व्यक्त किये हैं कि मुसलमान पूरे तौर से वर्तमान प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के बराबर के साझीदार नहीं बन पाये है और उनके हीन भावना आज भी विद्यमान है भारतीय धर्म निर्पेक्ष, प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप जानने हेतु मुस्लिम राजनैतिक मान्यताओं का ज्ञान आवश्यक है ।

भारतीय जनंसख्या का, लगभग दस प्रतिशत, सबसे बड़ा अल्पवर्ग मुसलमानों का है । संसार के लगभग 28 देशों में जहाँ–जहाँ मुसलमान बसे है उनमें से इन्डोनेशिया, बंगला देश के पश्चात् तीसरी सबसे बड़ी जनसंख्या भारतीय मुसलमानों की है क्रमानुसार पाकिस्तान की जनसंख्या भारत के पश्चात आती है ।

वैसे तो किसी भी मुस्लिम विचारक को राजनैतिक चिन्तक कहना कठिन है क्योंकि अधिकतर नेताओं व विचारको ने परिस्थिति वश अपने विचार व्यक्त किये है तथा उन्होंने धर्म एवं राजनीति को एक दूसरे से सम्बन्धित करके ही अपने विचार प्रकट किये हैं । मुख्य बात तो यह है कि वर्तमान मुस्लिम विचारधारा में हमें धर्म के राजनीति पर व्यापक प्रभाव, एवं धर्म निर्पेक्षता, उदारवाद, तर्क, आधुनिकतावाद आदि तथ्यों का प्राय: अभाव ही मिलता है । हम मुस्लिम राजनैतिक विचारधारा का वर्णन 19वी एवं 20वीं शताब्दियों के प्रमुख विचारकों के प्रतिनिधि विचारकी के आधार पर करेंगे । सर सैयद मुस्लिम पुनर्जागरण व आधुनिकता के जनक कहे जा सकते है तथा मौहम्मद अली जिन्ना पृथकतावाद के आधार पर द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त विचारधारा के स्वरूप में मुस्लमानों के केवल इस्लामी राज्य में ही रहे जाने की भावना के प्रतीक थे । किन्तु वर्तमान भारत में सामूहिक राष्ट्रवादी विचार कहीं तक मुसलमानों को धर्म निर्पेक्षता एवं प्रजातन्त्रीय स्वरूप के अनुरूप बना सके है यह प्रश्न आज भी पूर्णरूप से हल नहीं हो सका है । अत: मुस्लिम राजनैतिक विचार आज भी गतिमान तथा विकसित विषय है । इस विचारधारा की मुख्य समस्या इसके आधुनिकीकरण करने की है । यदि सर सैयद का पुनर्जागरण सम्बन्धी प्रयोग सफल हो जाता तो सम्भवतया इसके स्वरूप कुछ और ही होता । वहाबी, अलीगढ़, खिलाफत अथवा मुस्लिमलीग के पृथकतावादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में धर्म के प्रमुख रूप से किसी न किसी प्रकार से महत्वपूर्ण स्थान रहा है ।

मुस्लिम उदारवाद ने यद्यपि धर्म और राजनीति को पृथक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया, सर सैयद ने राष्ट्रवाद की भी कल्पना की किन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस संस्था का विरोध भी किया । बीसवीं शताब्दी में विकार - उल – मुल्क, मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना आजाद आदि ने मुस्लिम उदारवादी विचारों में अभिवृद्धि की । विशेषकर आजाद ने राष्ट्रवाद् प्रजातन्त्र और समाजवादी विचारों का प्रतिपादन किया फिर भी मुस्लिम समाज को वे अपने विचारों के अनुरूप बनाने में पूर्णतया सफल नहीं हो सके ।

स्वतन्त्र भारत के चिन्तन में जहाँ एक ओर मुस्लिम समाज में अपने आपको राष्ट्रीयधारा में समाये जाने की भावना है वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग के प्रभुत्व से सशंकित हो अपनी पृथकता को बनाये रखे हैं जिसका उदाहरण उनके परम्परागत व्यक्तिगत विधि से चिपके रहने की भावना है इसके अतिरिक्त यदा–कदा होने वाले साम्प्रदायिक दंगों से भी मुसलमानों में धर्म निर्पेक्षता अथवा प्रजातन्त्रीय विचारों को ठेस पहुचती है ।

भारतीय मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन का आधार कुरान व "हादिस" पर ही है किन्तु फिर भी प्रत्येक विचारक ने इन्हें परिस्थिति व अपनी मान्यता के आधार पर अपने ही दृष्टिकोण से इन्हें प्रस्तुत किया है

मुस्लिम राजनैतिक विचारधारा का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन इस अध्याय में प्रस्तुत किया है । प्रमुख मुस्लिम विचारकों के माध्यम से मुस्लिम जागृति मुस्लिम आधुनिकतावाद,

मुस्लिम राष्ट्रवाद व द्वि–राष्ट्र सिंद्धात तथा पाकिस्तान निर्माण एवं अन्त में धर्म निर्पेक्षत के वर्तमान संदर्भ में मुसलमानों की राष्ट्रीयता व भारतीयकरण आदि विचारों का परिचय इस अध्याय में कराया है ।

3. परम्परागत मुस्लिम राजनीतिक विचारधारा :–

इस्लाम का भावार्थ "ईश्वर के प्रति समर्पण" है । शाहरस्तानी ने पैगम्बर मौहम्मद साहब के एक संवाद के प्रसंग में कहा है कि इस्लाम, ईश्वर व उसके पैगम्बर के प्रति आस्था, पाँच बार नमाज पढ़ने, दस दिन रमजान में रोजे रखने तथा मक्का की हज–यात्रा में निहित है।

परम्परागत मुस्लिम राजनैतिक विचारधारा पूर्णत: मजहब पर ही आधारित है । बिना ईश्वर में पूर्ण आस्था के किसी प्रकार की मुस्लिम राजनैतिक कल्पना सम्भव नहीं हो सकती । कुरान की शाहदत के अनुसार मनुष्यों के सामाजिक एवं राजनैतिक सम्बन्धों का निर्माण व्यक्ति व ईश्वर के मध्य एक समझौते "निसाक" पर आधारित है । अल्लाहताला में पूर्ण–रूपेण विश्वास रखना पर ही व्यक्ति के राजनैतिक व सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण होता है इस्लाम की यह मान्यता है कि बिना ईश्वरीय कृपा के मनुष्य के अस्तित्व की कल्पना भी सम्भव नहीं है तथा बिना ईश्वर में आस्था रखे किसी भी प्रकार के सामाजिक स्वरूप की स्थापना भी नहीं हो सकती। इस्लाम के मतानुसार ईश्वर एक है तथा मोहम्मद उनके पैगम्बर के रूप में है तथा कुरान ईश्वरीय वाक्य के रूप में मुसलमानों के लिये सर्वमान्य है ।

इस्लामानुसार ईश्वर के प्रति आस्था रखने वालों के द्वारा आदर्श समाज – "उम्मा" – की स्थापना होती है । यह "उम्मा", सामूहिक "मातृत्व की भावना" पर आधारित होते हुए भी इसकी शक्ति के स्रोत को ईश्वरीय आज्ञा में ही स्वीकार किया गया है इस्लामी विचारधारा के चार परम्परागत स्रोत हैं : (i) कुरान; (ii) "हदीस" । पैगम्बर साहब द्वारा प्रतिपादित कहावतें परम्परा, रीति रिवाज आदि; (iii) "इज्मा" (विभिन्न उल्माओं अर्थात् धर्म–विदों की सर्व सम्मतियाँ) तथा; (iv) "कियास', (विभिन्न कानूनी तार्किक मान्यतायें एवं न्याय सम्बन्धी विचार) । वर्तमान लेखक अजीज अहमद ने मूलत: यही प्रश्न उठाया है कि क्या इस्लाम को आज भी उपरोक्त प्रथम दों स्रोतों के आधारपर राजनीति की पृष्ठभूमि माना जाय अथवा अन्तिम दो स्रोतों को अधिक महत्व देकर, इस्लाम के आधुनिकीकरण व उदारवादिता के स्वरूप को प्रतिपादित करने का प्रयास किया जाय ।

संक्षेप में, इस्लामी परम्परागत राजनैतिक विचारधारा तो मूलत: कुरान' सुन्ना (पैगम्बर के आदर्शवादी व्यवहारो एवं "शरिया" (धर्म के आधार पर बनी विधि) पर ही आधारित है । अतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि परम्परावादी मुस्लिम राजनीति पूर्णतया धर्म के संकीर्ण स्वरूप पर ही आधारित थी ।

पैगम्बर की मृत्यु के उपरान्त समाज की आवश्यकता हेतु "हादिस" (परम्पराओं) का विकास हुआ और इसमें आस्था रखने वालों को "अहम–अल–सुन्ना" कहा गया तथा "खलीफा" पद प्रतिनिधि के रूप में विकसित हुआ जो कालान्तर वंश परम्परा पर आधारित हुआ । रशोदीन खलीफाओं के काल के पश्चात एक तन्त्रीय राजतन्त्र आपसी पारिवारिक कलह, दास प्रथा आदि भी विकसित हुए । फलत: कुरान के मौलिक अर्थ को बनाये रखना कठिन हो गया । तथा

परिवर्तित वातावरण में बहु अर्थवादिता के आधार पर कुरान की आयतों तथा अन्य परम्पराओं मान्यताओं आदि को खलीफाओं, उल्माओं आदि ने आवश्यकतानुसार नये संशोधित अर्थ में प्रकट किया । कुरान के एक महत्वपूर्ण "शूरा–(विचार) पर आधारित "सार्वजनिक इच्छा" के अस्तित्व को सर्वदा के लिये अमान्य मानकर "उलुल–अभ्र" के विचार को विकसित किया गया जिसके आधार पर खलीफा सर्वशक्तिशाली एक छत्र शासकों के रूप में अवतरति हुए ।

इस्लाम ने नैतिक एवं राजनैतिक विचारधारा के अतिरिक्त एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को भी जन्म दिया । मुस्लिम परिवार पितृ–प्रधान, बहु–विवाहवादी बने । स्त्री की अपेक्षा पुरुष को अधिक महत्व दिया गया । विवाह एक समझौते के रूप में स्वीकार किया गया तथा चार पत्नियों को रखने तक की अनुमति दी गई यद्यपि यह व्यवस्था आजकल मिटती जा रही है । अनेक प्रतिबन्धों के विकसित होने के उपरान्त भी आज भी पति इकतरफा रूप से पत्नी को तलाक दे सकता है । मुस्लिम उत्तराधिकार व्यक्तिगत विधि के अनुसार पुत्री के 1/3 अथवा पुत्र के भाग का आधा; विधवा को 1/8 हिस्सा प्राप्त करने का प्रावधान है ।

अंतत: मौटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस्लामी सामाजिक व्यवस्था 'मातृत्व' की भावना पर सदृढ रूप से संगठित है तथा एकेश्वरवादिता ने इनको आज भी परम्परागत राजनैतिक सामाजिक व नैतिक मूल्यों को बनाये रखा है ।

भारत तथा इस्लाम

16 जुलाई 622 ई0 हिजरी सन् का प्रथम दिवस है । तत्पश्चात जिस तीव्र गति से संसार में इस्लाम का प्रसार हुआ है व तत्कालीन समाज की क्षीण राजनैतिक, सामाजिक दशा का परीचायक तो है ही किन्तु इसके साथ साथ इस्लामी नवसंदेश की प्रभावशीलता को भी सिद्ध करता है । फलस्वरूप 14वीं 15वीं शताब्दी में संसार के बहुत बड़े भाग में "दार–उल–इस्लाम" (मुसलसानी भूमिप्रदेश) की स्थापना हुई ।

भारत में मुस्लिम अभ्युदय इतिहास की एक महान घटना है । स्मरणीय तथ्य यह है कि जिस रूप में इस्लाम भारत में आया वह उसका मौलिक स्वरूप नहीं था । राजतन्त्र, शान शौकत, विलासिता, दास प्रथा आदि का विकास हो चुका था । भारत में राजा को ईश्वर के प्रतिनिधि के स्वीकार किया गया एवं सबल केन्द्रीय सरकार की स्थापना की गई जिसमें जनता के किसी भी प्रकार के कोई अधिकारों का कैसा भी अस्तित्व नहीं था तथा कठोर सैनिकवाद के आधार पर मुस्लिम राजनैतिक व्यवस्था का संचालन किया गया । अकबर महान् जैसे शासन काल के अपवाद; के अतिरिक्त सारे ही मुस्लिम काल में विशेषकर बहुसंख्यक हिन्दू जनता के लिये तो किसी भी प्रकार के राजनैतिक अधिकारों का अस्तित्व ही नहीं था ।

कुछ लेखकों ने मुस्लिम राजतन्त्र के शरीयत (धार्मिक आधार) पर शासन यन्त्र के संचालन के तर्क को प्रस्तुत कर भारतीय मुस्लिम शासन को सीमित प्रजातन्त्रीय स्वरूप बताया है । किन्तु यह वास्तविकता नहीं है क्योंकि मुसलमान राजाओं की शक्ति के मन्त्री परिषद, दरबारी और यहां तक कि 'उल्मा" वर्ग भी सीमित नहीं कर सके । इस संदर्भ मे अलाउद्दीन खिलजी का कथन राजा की स्थिति का सही रूप चित्रित करता है कि "मैं नहीं जानता कि क्या

वैध या अवैध है..... जो कुछ मै राज्य की भलाई अथवा संकट काल में मानता हूं वही मै । आज्ञा देता हूँ ।

पैगम्बर की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात ही लगभग 8वी शताब्दी मे मुसलमान व्यापारी के रूप में पश्चिमी तट पर आकर बसे तथा इसी काल में मुहम्मद बिन कासिम की आधीनता में सिन्ध पर आक्रमण हुआ । 11वीं शताब्दी में गजनी व गौरी के आक्रमणों के उपरान्त तुर्कों, पठानों, सैयद लोदी ने दिल्ली में सल्तनत की तथा 16वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई । 18वीं 19वीं शताब्दी के अन्त में मुगल सभ्यता का पतन हुआ ।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात मुसलमान समाज में काफिर, मौमिन, दसस्उन–हर्ब–दार–उल–इस्लाम, इनायत, खिलाफत, जिहाद आदि मुद्दों ने जोर पकड़ा तथा देश में अराजकता का वातावरण बना । शाह–वली–उल्लाह (1703–1763) जैसे विचारकों ने इस्लाम के मूल्यों का आधुनिक दृष्टिकोण से पुननिर्माण पर बल दिया तथा भ्रष्ट समाज को पुन: न्याय, शान्ति के आधार पर संगठित करने के विचार पर बल दिया । उनके द्वारा संचालित "वहाबी आन्दोलन" इसी विचार की एक कड़ी थी । बंगाल में "फरजिया" तथा अन्य भागों मे, "वहाबी" आन्दोलनों ने फिरगियां के निष्कासन तथा मुस्लिम समाज के पुर्ननिर्माण हेतु उग्र स्वरूप लिया । उदाहरण दू मियां के नेतृत्व में कृषकों के 1838, 1841, 1844 तथा 1846 में अंग्रेज विरोधी सफलता पूर्वक विद्रोह हुए विद्वानों मे वहाबी आन्दोलन के स्वरूप के प्रति मतभेद होने 'पर भी यह कहा जा सकता है कि मुस्लिम समाज में यह नवचेतना का थम प्रतिक था और इसका प्रभाव 1857 तक बना रहा । हंटर के अनुसार 1857 के उपरान्त भी वहाबी साम्राज्य के प्रति 'खतरा बने रहे।

भारतीय मुसलमान अधिकतर हिन्दू धर्म परिवर्तनकारी ही थे तथा इस देश में जन्म–जनमान्तर रहते के कारण भारतीयता का प्रभाव उनसे अछूता नहीं रहा । अंग्रेजों के विरुद्ध 1854 में असफलता के उपरान्त तथा अलगढ आन्दोलन के दिन होने के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी में धीरे–धोरे समाप्त हुई तथा मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन ने एक नई धारा ली ।

सर सैयद अहमद खां (1817–1898) आधुनिक मुसलमान विचारकों में अग्रदूत व मुस्लिम पुनर्जागरण के जनक थे । चिराग अली, महंदी अली खां, मुहसीन–अल–मुल्म आदि भी आधुनिकीकरण की दिशा में प्रारम्भिक चिन्तक थे । शिबाली नूमानी (1857–1914) तथा अमीर अली (1848–1928) ने इस्लामी इतिहास की पुर्नव्याख्या करके पुन: परम्परावादी स्वरूप को अपनाये पर बल दिया । प्रतिक्रियावादी रूप में आधुनिक प्रवृतियों के विरूद्ध पुन कट्टर रूढ़िवादी 'मुस्लिम समाज की स्थापना में अदल–ए–हादिस ने प्रयास किये । बीसवीं शताब्दी में आधुनिकतर के प्रतीक स्वरूप मुहम्मद इकबाल (1875–1938) ने आधुनिक मूल्यों के संदर्भ में इस्लाम की व्याख्या की तथा "इज्मा" को महत्व देकर मुस्लिम राष्ट्रवाद के विचार को प्रतिपादित करके पाकिस्तान आन्दोलन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की । इसी विचार का बीसवीं शताब्दी के चौथे शतक में मुहम्मद अली जिन्ना (1876–1948) ने द्वि राष्ट्रीय "विचारधारा के रूप में विकसित किया जिसके आधार पर देश का विभाजन व पाकिस्तान का

जन्म हुआ । राष्ट्रीय विचार धारा के प्रतीक अबुल–कलाम आजाद (1881–1958) ने जिन्ना का विरोध कर 'सामुहिक राष्ट्रीयता' के विचारों पर बल दिया । मुस्लिम समाजवाद की कल्पना उदायर्दअल्लाह सिन्धी के लेखों में मिलती है । आगाखां में हमें उदारवाद की झलक तथा राष्ट्रीय विचारणा का दिग्दर्शन तथा मौलाना मौहम्मद अली, डा0 एम. ए अंसारी, हकीम अजमलखां, जफरअली खां के चिन्तन में मिलती है । मौलाना कासिम नानोत्वी (1832–1880) ने राष्ट्रीय विचारधारा को विशेषरूप से धार्मिक आधार पर "देव बन्द" विचार को प्रतिपादित किया ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान द्वारा धर्म निरपेक्षता के आधार पर सभी नागरिकों को समान रूप से स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, व व्यक्तिगत गरिमा और न्याय के लिये दृढ़ संकल्प हो देश में सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य की स्थापना की गई है । अत: मुस्लिम चिन्तन में जागरूकता एवं पुनर्विचार की अधिक आवश्यकता है । पाकिस्तान निर्माण व किसी न किसी प्रकार से अधिकतर भारतीय मुसलमानों का कोई न कोई सम्बन्धी पाकिस्तान में रहने के कारण हिन्दुओं में उनके प्रति अविश्वास तथा देश के प्रति निष्ठा मे संदेह व्यक्त की भावना ने मुस्लिम राजनैतिक विचारों में उलझन पैदा की । दूसरी ओर यदा कदा हिन्दुओं में धर्म निरपेक्षता के आधार पर सरकार के विरुद्ध लांछन लगाया गया कि सरकार तो मुस्लिम समर्थक अधिक है । आज यहां एक प्रजातंत्रीय व्यवस्था में सभी धर्मावलम्बियों तथा सम्प्रदायों को सभी प्रकार की स्वतंत्रता उपलब्ध है वहां उनसे राष्ट्रीयता व देश प्रेम की भी अपेक्षा करना भी स्वाभाविक है । मुसलमानों में आज भी हिन्दूओं की तुलना में अधिक पिछड़ापन, रूढ़िवादिता तथा धर्मान्धता है और वे वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के सक्रिय भागीदार नहीं बन सके है, अत: आज की मुस्लिम राजनैतिक विचारधारा अस्पष्ट व अनिश्चित तो अवश्य है किन्तु फिर भी वर्तमान संदर्भ में भारतीयकरण व भारतीयता एवं प्रजातंत्रीय मूल्यों में विश्वास मुस्लिम राजनीति विचारधारा का अभिन्न अंग बन चुका है ।

अत: भारतीय मुस्लिम विचारधारा के उपरोक्त विहंगम वर्णन के उपरान्त प्रमुख मुस्लिम राजनैतिक विचारकों के संदर्भ में भारतीय मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन का वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

4. प्रमुख मुस्लिम राजनीतिक विचारक

4.1 सर सैयद अहमद खां और आधुनिकता (1817–98)

सर सैयद अहमद खां भारतीय मुस्लमान सुधारकों ने महानतम थे । वे पूर्णतया अपने युग के शिशु थे । मुस्लिम समाज में पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर उन्होंने उदारवादी दृष्टिकोण के आधार पर पुनर्जागरण किया । उन्होने 'नये' का अर्थ केवल राजनैतिक ही नहीं वरन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के रूप में लिया । उनका तत्कालीन मुस्लिम समाज से आग्रह था कि वे बदले हुए वातावरण को समझें तथा युग की चुनौती स्वीकार करके अपने जीवन–दर्शन को परिवर्तित करें । सैयद अहमद वर्तमान मुस्लिम राजनैतिक, सामाजिक विचारधारा के अग्रदूत थे।

यद्यपि मुस्लिम नवजागरण का शुभारम्भ अकबर महान ने किया था । मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात शाहवली उल्ला तथा उनके मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र शाह अब्दुल अजीज तथा शिष्य मौलाना सईद अहमद ने इस कार्य को गतिवान किया । वहाबी आन्दोलन इसी क्रम में एक जीवनन्त घटना बना प्रभावशाली कार्य करता रहा । पुर्जागरण की मशाल सर सैयद के दृढ़ करों में आने के बाद उन्होंने नवीन और प्राचीन के सम्मिलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया। पाश्चात्य शिक्षा तथा पवित्र इस्माल के आदर्शों को उन्होंने समन्वित करके मुस्लिम समाज से एक नई जीवन पद्धति को अपनाने का आग्रह किया । उनके आग्रह और प्रयत्न दोनों ही सफल हुए । सही अर्थो में यह एक नये नक्षत्र का जन्म था ।

इनका जन्म 17 अक्तूबर 1817 को दिल्ली के एक सम्मानित परिवार में हुआ । पैगम्बर मौहम्मद साहब इनकी वंशावली से सम्बन्धित थे । मुगल सम्राट शाहजहाँ (1627–1658) के काल में इनके पूर्वज भारत आये । इनकी प्रारम्भिक शिक्षा परम्परागत आधार पर ही हुई थी । प्रमुखता उनका जीवन–काल चार भागों में विभाजित किया जा सकता है (i) शिक्षा–दीक्षा काल (1817–1837); (ii) ईस्ट इण्डिया कम्पनी में सफलतापूर्वक सेवा काल (1837–57) इसी काल में 1857 में अंग्रेजों की जान बचाकर अपनी पद प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि की; (iii) (1857–1877) काल में उन्होंने न्यायिक पद पर कार्य किया तथा मुस्लिम शिक्षा के सम्बन्ध में अथक चिन्तन किया (18 69–70) में वे इंग्लैंड गये; (iv) अपने अंतिम चरण (1877–1898) में उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय धार्मिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक कार्यो में लगाया ।

उन पर विशेष कर इन तत्वों का विशेष प्रभाव हुआ । वहाबी आन्दोलन के फलस्वरूप नवीन विचारधारा का प्रभाव। पाश्चात्य विचारक जैसे बर्क, बैथम, मैकॉले, जे एस. मिल आदि का उदारवाद । राजा राम मोहन राय के हिन्दुओं में सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव । कट्टर मुसलमान होने पर भी वे वैज्ञानिकता तथा तर्क के समर्थक थे । व्यक्ति की गरिमा के महत्व के आधार पर "अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता" के आधार पर उन्होंने सभी प्रकार की रूढ़िवादिता से स्वतन्त्र होने का आग्रह किया । मुस्लिम समाज की दयनीय दशा तथा उनको भी हिन्दुओं के समान पाश्चात्य सम्पर्क के आधार पर ब्रिटिश शासन का एक महत्वपूर्ण अंग बनाना उनके जीवन के महान लक्ष्य थे।

सैयद अहमद खाँ की इंगलैंड यात्रा के उपरान्त यह आकांक्षा थी कि मुसलमान ब्रिटिश सभ्यता, संस्कृति और विज्ञान के अधिक निकट पहुच जाये फलत: रूढ़िवादिता के मोह से मुक्त करने हेतु उन्होंने अलिगढ को केन्द्र बनाकर पुनर्जागरण के लिये एक महान आन्दोलन प्रारम्भ किया । फलतः प्रतिक्रियावादी रूढ़िवादी शिविर में उनकी आलोचना की गई और उन्हें "काफिर" तक कहा गया नाजिर अहमद ने "इब्न अलन्वक्त" उपन्यास में तथा कवि अकबर अल्लहावादी ने उनका मजाक बनाया मौलवी इमदाद–उलअली मौलवी अली बख्श खां आदि मौलवियों ने उनके स्कूल तथा उनके पश्चिमी समर्थन का घोर विरोध किया । किन्तु सैयद अहमद खां अपनी मान्यताओं पर अडिग रहे तथा उनके द्वारा स्थापित स्कूल शीघ्र ही विश्व विद्यालय के रूप मे विकसित होकर भारतीय मुसलमान समाज में एवं आधुनिकीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण आधार बना ।

शिक्षा व सांस्कृतिक विचार :

सैयद अहमद की शिक्षा सम्बन्धी देन के लिय मुस्लिम समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा। उनके इस सम्बन्ध में सुधारों का सुत्रपात 1859 में अंग्रेजी के अधिकाधिक प्रयोग के समर्थक से प्रारम्भ हुआ ।

1864 में उन्होंने मुस्लिम समाज में विज्ञान के प्रति रूचिजागरूक करने हेतु "साइन्टिफिक सोसाइटी" की स्थापना की जिसके द्वारा उनका प्रयास सभी नवीन विषय जैसे भौतिक, रसायन आदि के अतिरिक्त इतिहास, राजनीति आदि अंग्रेजी साहित्य का उर्दू में अनुवाद करके मुस्लिम समाज में ज्ञान की अभिवृद्धि करना था । 1864 में ही उन्होंने गाजीपुर में स्कूल तथा अन्तोगत 1875 में अपने जीवन की महान उपलब्धि अलीगढ़ में स्कूल स्थापित करके की । आगे चलकर अलीगढ़ का एंग्लो–मुहम्मदन ओरियेन्टल कालेज, दी अलगढ विश्व विद्याय के रूप में विकसित हुआ जहां से शिक्षित अंग्रेजी पढे लिखे मुसलमानों की संख्या सरकारी नौकरियों में तो निरन्तर बढ़ती ही गई इसके अतिरिक्त यह नव चेतना व आधुनिकीकरण का मुख्य केन्द्र बना । 186 में उन्होंने मुहम्मदन एंग्लो–ओरियेन्टल एजूकेशनल "कांग्रेस" के माध्यम से मुसलमानों में अंग्रेजी भाषा में अधिकाधिक प्रवीणता व दक्षता प्राप्त करने की प्रेरणा दी । मुसलमान समाज को आधुनिक बनाने तथा तर्क एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा देने तथा उनमें नवीन जानकारी देने के उद्देश्य से उन्होंने "तहज़ीब अल–अखलाक" पत्रिका का प्रकाशन किया जिससे उर्दू पत्रकारिता में क्रांति तथा उर्दू गद्य का भी विकास हुआ ।

उनका पाश्चात्यीकरण

सैयद अहमद एक युग–दृष्टा थे और उन्होंने मुसलमान समाज में, हिन्दुओं के पुनर्जागरण की भाँति, आधुनिकीकरण हेतु पाश्चात्य सम्पर्क का प्रबल समर्थन किया । शाहवली उल्ला द्वारा प्राचीन एवं नवीन विचारों के समन्वयकारी पुनर्जागरण के विचारों से वे अत्यधिक प्रभावित थे । युवावस्था में ही उन्होंने यह स्वीकार किया कि बिना मुस्लिम समाज में सुधार किये किसी भी प्रकार से मुसलमानों का विकास सम्भव नहीं है । उन्होंने बाइस वर्ष की आयु में पिता की मृत्यु के उपरान्त 1838 में पारिवारिक इच्छा के विरुद्ध ब्रिटिश सेवा डिप्टी रीडर पद से प्रारंभ की । नौकरी काल में उन्होंने धर्म एवं इतिहास का चिन्तन नहीं छोड़ा । मानवीय भावना के आधार पर एक ओर जहां उन्होंने 1857–58 अनेक अंग्रेजों की जान बचाई वहाँ दूसरी ओर उनकी यह मान्यता थी की भारत में अंग्रेजी शासन शीघ्र ही समाप्त नहीं होने वाला है । अत: उनका यह प्रयास था कि मुसलमान अंग्रेज–विरोधी भावना को छोड़ दें तथा अंग्रेज भी मुसलमानों के प्रति अधिक उदार हों।

सैयद अहमद के जीवन का महानतम तथ्य उनका पाश्चात्यीकरण के प्रति लगाव था । ब्रिटिश सेवा काल में तथा 1857 में अंग्रेजों की जान बचाने के उपरान्त 1869–70 की विदेशी प्रवास–यात्रा में उन्हें ब्रिटिश शासन एवं जनता के मित्र के रूप में जाना गया । इंग्लैंड जाकर उन्होंने वहाँ का स्वच्छन्द वातावरण ही नहीं देखा वरन यह संकल्प भी किया कि बिना पश्चिमी सम्पर्क के मुस्लिम समाज का पिछड़ापन दूर नहीं किया जा सकता इंगलैंड में उन्होंने लार्ड

लॉरेन्स, सर जे. डबलू के आदि के अतिरिक्त युवराज तथा सम्राज्ञी विक्ओरिया से भी सम्पर्क स्थापित करके ब्रिटिश शासन को निकट से जाना तथा अंग्रेजों के मुस्लिम दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया ।

उनको रायसल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य चुना गया तथा उन्होंने कैम्ब्रिज जाकर वहाँ के विश्वविद्यालय का विशेष रूप से अध्ययन किया ।

अगस्त 1870 में भारत लौअने पर वे अंग्रेज अधिकारियों के निकट सम्पर्क में आये और स्वयं पाश्चात्य तौर–तरीके से रहने लगे ।

1878 से 1882 तक वे भारतीय वाइसराय की कौंसिल के सदस्य रहे ।

धार्मिक कल्पना

शाह वली–उल्ला ने उनके प्रारम्भिक विचारों को प्रभावित किया था वे 'बाब एल–एतजिहाद" (व्यक्तिगत जीवन में तर्क के आधार) के समर्थक थे 1850 में उन्होंने "राह–ए–सुन्नत वरद्द–ए–बिदात पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उन्होंने धर्म को केवल नैतिकता स्थापित करने का साधन मात्र माना तथा धार्मिक अवस्था से अधिक सत्य के आधार को अधिक बल दिया । उन्होंने परम्परागत इस्लाम का नवीनीकरण के आधार पर पुनर्मूल्यांकन किया । उनके अनुसार एक ईश्वर व पैगम्बर के अतिरिक्त कुरान ईश्वरीय वाक्य तो है जिनके माध्यम से ज्ञान प्राप्ति होती है किन्तु उनकी यह भी मान्यता थी कि कुरान की आयतें प्राकृतिक विधि की किसी भी प्रकार से विरोधी नहीं हो सकती । उन्होंने इश्वरीय ज्ञान (ब्राह्म) प्राप्ति हेतु परम्परागत धर्म के साथ–साथ व्यक्तिगत तर्क व वैज्ञानिकता के सहारा लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया । उन्होंने धर्मकथाओं तथा परम्पराओं में वर्णित चमत्कारों की केवल प्रतीक स्वरूप स्वीकार किया तथा कुरान मे वर्णित "जिन" आदि को दुश्चरित्रात्मक रूप में ही माना है । दकियानूसी "हादिसों" का भी उन्होंने विरोध किया और कहा कि केवल तर्कसंगत "हादिस '(परम्पराओं) को ही स्वीकार करना चाहिए । निहाद, दान प्रथा, बहु विकार आदि कुरीतियों के प्रति भी उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया ।

संक्षेप में उनका धार्मिक आधुनिकवाद मूलत: एक ओर कट्टर धर्मान्धता से मुक्ति तथा दूसरी ओर उदारवाद एवं तार्किक दृष्टिकोण में निहित था । उनकी इस देन ने इस्लाम के आधुनिकीकरण में महान योगदान दिया और उन्होंने "इज्तिहाद" (तर्क) पर बल दिया ।

भारतीय राजनीति की विडम्बना – मुस्लिम जागृति एवं अंग्रेजी सत्ता का पासा :

अजीज अहमद के अनुसार सैयद अहमद की दृढ़ मान्यता थी कि अंग्रेजों के प्रति स्वामि–भक्ति मुस्लिम समाज में आधुनिकीकरण तथा राजनैतिक पृथकतावाद में ही मुस्लिम समाज का उद्धार सम्भव है ।–अंग्रेजों के प्रति उनकी निष्ठा का वृहद वर्णन हमें उनकी रचित तीन पुस्तकों में मिलता है (म्यूटीनी ऑफ बिजनौर (1858); असबव–ए–बगावत–ए–हिन्द (1858); लोयल मुहम्मडन्स) ऑफ इन्डिया (1860)) उनके जीवन की समस्त–शक्ति जहां एक ओर युवा मुस्लिम पीढ़ी में धर्म एवं राजनीति के समन्वयकारी दृष्टिकोण अपनाने की ओर रही वहां दूसरी ओर उन्होंने मुस्लिम वर्ग से अंग्रेजों के प्रति स्वामिभक्ति तथा सहयोग सद्भाव के दृष्टिकोण को भी अपनाने पर बल दिया ।

उनकी अंग्रेजों के प्रति निष्ठा सम्बन्धी नीति के तीन चरण थे । 1859–70 में उन्होंने मुस्लिम समाज में "विरोध की नीति" के स्थान पर सहयोग की भावना जागृत करने का प्रयास किया तथा अंग्रेजों में मुसलमानों के प्रति दमनकारी नीति के सानिध्य मे "पितृवत" नीति अपनाने हेतु वातावरण तैयार किया । 1870–84 में उन्होंने मुस्लिम समाज को संगठित करने हेतु पुन: इस बात पर बल दिया कि मुसलमान अंग्रेजी काल की शांति एवं अच्छे शासन को अपना सौभाग्य मानकर उनके प्रति निष्ठावान बने । इस युग में वे हिन्दू–मुस्लिम एकता के भी समर्थक रहे । वे मानते थे कि हिन्दू मुसलमानों को एक होकर कार्य करना चाहिए । 1884–1889 काल में वे कांग्रेस की स्थापना (1885) के कुछ समय उपरान्त उन्होंने हिन्दू विरोधी दृष्टिकोण अपना कर "मुस्लिम प्रथकतावाद" के विचारों को महत्व दिया । वे हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग के प्रभुत्व से आशांकित होकर यह मानते थे कि यह सम्भव नहीं कि कांग्रेस मुसलमानों की इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों का सही प्रतिनिधित्व कर सकेंगी । उन्होंने 1867 मे दोनों सम्प्रदाय की उर्दू–हिन्दी भाषा एवं सांस्कृतिक मतभेदों के आधार पर "सामूहिक राष्ट्रवाद" की स्थापना के विचारों की सफलता के सम्बन्ध में संदेह प्रकट किया था । 1884 में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा कि हिन्दू अथवा मुसलमानों के भारत में राज्य करने से कभी भी शान्ति स्थापित नहीं हो सकेगी । भारतीयों के लिये यह आवश्यक हो गया कि कोई तीसरा राष्ट्र ही उनपर शासन करे । 1887 में जब बदरुद्दीन तैयबजी कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये तो उन्होंने बहुसंख्यक वर्ग के प्रभुत्व की आड में कांग्रेस का तीव्र विरोध किया ।

सैयद अहमद के कांग्रेस विरोधी "पृथक मुस्लिमवादियता" के विचारों के पीछे अलीगढ़ कॉलेज के प्राचार्थ थ्योडोर बैंक का विशेष योगदान था । राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी पुस्तक "इन्डिया डिवाइडेड" (पृ0) में भी इसी मत का समर्थन किया है । उनकी आत्म–कथा के लेखक मौलाना सुलेमान तथा "मुसलमानों का रोशन मुस्तकबिल" के रचियता तुफैल अहमद एवं मीर विलायत हुसैन भी यह विचार प्रकट करते है कि अंग्रेजों के फूट डालो राज्य करो की नीति के आधार पर शक्ति सन्तुलन के तालमेल को बैठाने के लिये सैयद अहमद को, हिन्दी–उर्दू के आधार पर नहीं बल्कि अपने साम्राज्य विस्तार हेतु, बढ़ावा दिया

यहां इस बात पर ध्यान देने की बहुत आवश्यकता है कि उनके जीवन का निकटतम अध्ययन यह बताता है कि वे तार्किक, धर्म निर्पेक्ष देश भक्ति की विचार धारा तथा हिन्दूओं के प्रति सहयोगात्मक दृष्टिकोण रखते थे । अन्य लेखक ने उन्हें पाकिस्तान की वास्तविकता के विचारों में परिलक्षित पाया है । वस्तुत: उनका कांग्रेस का विरोध केवल बहुसंख्यक हिन्दू प्रभुत्व के भय पर ही आधारित ही था । वास्तव में उन्होंने पृथकतावादी विचारों का सृजन नहीं किया । पाकिस्तान के जन्म के लिये जिन्ना व इकबाल उत्तरदायी थे न कि सैयद अहमद ।

वे कोई मौलिक राजनैतिक चिंतक नहीं थे अत: परिस्थिति वश ही उन्होंने कांग्रेस की बहुत सी मांगों का विरोध किया तथा लोकप्रिय सरकार की स्थापना हेतु धारा सभाओं की सदस्यता में वृद्धि करने आदि विचारों का भी विरोध किया । वास्तव में उनके जीवन का लक्ष्य तो मुसलमान समाज को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक दृष्टि से गतिमान करने का था ।

सैयद अहमद अथवा अलीगढ़ आन्दोलन का मूल्यांकन

मुस्लिम राजनैतिक विचार धारा में अलीगढ़ आन्दोलन का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा । फिर भी सैयद अहमद को केवल तत्कालीन समाज की समस्या–प्रधानता को ही महत्व देना, आधुनिकीकरण की दुहाई देने पर भी उस दिशा में किसी एक निश्चित कार्यक्रम के अभाव तथा अंग्रेजी शासन को आदर्श एवं अन्तिम लक्ष्य स्वीकार करना अलीगढ़ आदोलन की कमजोरी है ।44 अलीगढ़ में शिक्षित वर्ग अपने आपको आधुनिक कहने के उपरान्त भी मूलत: कट्टर व तंग दिल रहे और उन्होंने इस्लाम को जीवन दर्शन न मानकर राजनीति का मोहरा बनाया ।

सैयद अहमद के पश्चात् आधुनिकतावाद की मशाल:

उनकी मृत्यु के उपरान्त मोहसिन–उल–मुल्क तथा विकराल मुल्क ने उनकी नीति को संचालित किया किन्तु आगे चलकर अमीर अली, खुदा बख्स और आगा खाँ जैसे उदारवादियों ने उनके विचारों के आधार पर मुस्लिम राजनीति में महान योगदान दिया ।

अमी अली (1884–1928) ने इस्लाम के प्रजातन्त्रीय स्वरूप के आधार पर मुस्लिम राजनैतिक विचारधारा में लोक कल्याण एवं समाजवाद तक की कल्पना की । उन्होंने सैयद अहमद के सामाजिक दृष्टिकोण के विपरीत राजनैतिक दृष्टिकोण से मुस्लिम राजनीति का विश्लेषण किया वे सांस्कृतिक पृथकतावादी के समर्थक होते हुए भी पृथक मुस्लिम राष्ट्रवाद के हामी नहीं थे । राम गोपाल के अनुसार अमीर अली का मुस्लिम राजनीतिक विचारधारा को सैयद अहमद खाँ से अधिक योगदान है अमीर अली ने "मुस्लिम एशोसिएशन" की स्थापना करके करांची से बंगलौर तक मुस्लिम समाज में जागरूकता फेलाकर मुसलमानों को राजनैतिक रूप से संगठित किया ।

आगाखां –19वीं शताब्दी के महान उदारवादी थे । एक प्रकार से वे सैयद अहमद और अमीर अली के बीच कड़ी थे । वे उग्रवाद के विरोधी थे । उनका मुसलमानों से आग्रह था कि वे भारत से बाहर की इस्लामी राज्यों से प्रेरणा लेना बन्द करके राष्ट्रीय दृष्टिकोण से चिन्तन करें और वे मुस्लिम भ्रातृत्व की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के अधिक पक्षपाती थे । वे अंग्रेज शासन के पक्षपाती थे तथा उन्होंने पृथक मुस्लिम निर्वाचन की मांग की । मोइन सरकार के अनुसार आगाखां प्रथम मुसलमान चिन्तक थे जिन्होंने भारतीय मुस्लिम राजनीति का वृहद दृष्टिकोण से अध्ययन किया ।

चिराग अली मोहसिन–उल–मुल्क, विका–उल–मुल्क आदि ने भी अलीगढ़ आन्दोलन की विचारधारा को प्रतिपादित किया किंतु मुस्लिम समाज में इसकी आधुनिकता का विरोध करके परम्परावादी विचारों को पूर्णत ने छोड़ने का आग्रह किया । इनमें मौलाना शिबली, रशीद अहमद गंगोई, मौलाना लुत्फ उल्लाह आदि प्रमुख थे । मौलाना शिबली (1857–1914) के अनुसार मुसलमानों को कांग्रेस की गतिविधियों में हिस्सा लेकर तत्कालीन गोखले जैसे उदारवादियों की नीति के समर्थन के लिये आग्रह किया । इस प्रकार से उन्होंने "मुस्लिम पृथकतावादी" राजनीति तथा मुहम्मदअली, मौलाना आजाद, डाक्टर अंसारी जैसे सक्रिय राजनीतिज्ञों के बीच एक कड़ी का कार्य किया ।

डाक्टर अन्सारी स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और उन्नति के प्रतीक थे और उनकी यह अपील थी कि राजनीति से धर्म के स्थान को सर्वथा समाप्त कर दिया जाय । उनके विचार में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के उपरान्त साम्प्रदायिक तनाव स्वत: समाप्त हो जायेंगे । क्योंकि वे स्वराज्य को हिन्दू अथवा मुस्लिम राज्य की अपेक्षा राष्ट्रीय राज्य के अधिक समर्थक थे । उन्होंने "सांस्कृतिक सहअस्तित्व" के विचार की कल्पना की और मोइन सरकार के अनुसार तो उनकी धर्म निरपेक्षता का आदर्श तो मौलाना अबुल कलाम आजाद के विचारों से भी बढ़कर था ।

"देवबन्द विचारधारा" भी अलीगढ़ आन्दोलन की प्रक्रिया स्वरूप विकसित हुई इसके । प्रवर्तक मौलाना कासिम ननोत्वपी (1832–1880) पाश्चात्य शिक्षा तथा अंग्रेजों की स्वामी–भक्ति का विरोध करके परम्परागत मुस्लिम परम्परा को न छोड़ने का आग्रह किया । उनके अनुसार अंग्रेजों के प्रति निष्ठा अंग्रेजों की दासता के सदृश्य है । अत: वे अंग्रेज विरोधी थे ।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी (1872–1944) आधुनिकता की अन्तिम कड़ियों में से थे । उन्होंने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इस्लामी राजनीति का ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । उन्होंने राष्ट्रीयता और धर्म के आधार पर मुस्लिम राजनीति के स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया । उन पर "देवबन्द" विचारधारा का प्रभाव था और उन्होंने इस्लाम के आधार पर मुस्लिम राष्ट्रवाद की कल्पना की । कांग्रेस के प्रति सहयोगात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुये उन्होंने गांधीजी के नेतृत्व का इसलिये विरोध किया कि उनके माध्यम से देश में हिन्दुओं का प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा किन्तु उन्होंने किसी भी प्रकार से पृथकतावादी मुस्लिम राजनीति का समर्थन नहीं किया। शाह–वली–उल्लाह और सर सैयद अहमद के पश्चात उनका मुस्लिम राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि उनके विचारों को इकबाल, जिन्ना, आजाद आदि राष्ट्रीय नेताओं के प्रभावकारी नेतृत्व के कारण अधिक महत्व नहीं मिल सकता ।

4.2 मौलाना मोहम्मदअली तथा मुस्लिम अध्यात्मवाद (1878–1931)

उन्होंने एक और जहां आधुनिकता व वैज्ञानिकता का समर्थन किया वहां दूसरी ओर इस्लामी मूल्य व मान्यताओं के प्रति आस्था को बनाये रखने पर बल दिया । एक प्रकार से वे भी अलीगढ़ आन्दोलन के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों के चिन्तक थे । उनके द्वारा स्थापित 'जामिया–मिलिया 'की स्थापना से उनकी अलीगढ़ स्वरूप के विरूद्ध कल्पना करना उचित नहीं होगा । लेकिन वे पाश्चात्य सभ्यता के अन्धविश्वासनीयता के विरोधी थे । वे एक ओर तर्क सत्य की खोज के समर्थक थे वहां दूसरी ओर परम्पराओं के विरोध के हामी नहीं थे । उनका विश्वास था कि शिक्षा राज्य द्वारा संचालित नहीं होनी चाहिये । यद्यपि उनपर सर सैयद का गहरा प्रभाव था और इसलिये उन्होंने "जामिया मिलिया" के माध्यम से शिक्षा में आधुनिकतावाद और परम्परावाद का समन्वय किया ।

वे तिलक से प्रभावित हुये और स्वराज्य हेतु उन्होंने लोकप्रिय आन्दोलनों के विचार को बल दिया किन्तु इनका अंग्रेज विरोधी दृष्टिकोण अंग्रेजों के मुसलमानी राज्यों के विरुद्ध अपनायी गई नीति के फलस्वरूप था । उन्होंने इस्लाम में शान्ति के महत्व को स्वीकार करके गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का भी समर्थन किया ।

उन्होंने इस्लाम के व्यापक धार्मिक स्वरूप को प्रस्तुत किया तथा उन्होंने केवल इस्लाम के सभी पहलुओं के राजनैतिक आधार का समर्थन किया है और इस प्रकार वे धर्मनिरपेक्षता विरोधी विचारक कहे जा सकते है उनकी यह धारणा थी कि धर्म निरपेक्षता एक पाश्चात्य विचार है जिसे पूर्वी देशों में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता । उनका विश्वास था कि परम्परागत राजनीतिक विचार धारा व्यवहारिक है । उनका "इस्लामी समर्थनकारी "विचार" (पैन–इस्लामिज्म एक ईश्वर एक पैगम्बर, एक काबा और एक पुस्तक (कुरान) में ही निहित है । यह एक भावात्मक विचार है जिसके अनुसार गैर मुसलमानों के प्रति घृणा का संचार रखना नहीं बल्कि अपने मजहब को मजबूत करना है । इस्लामी एकता अथवा इस्लामी भ्रातृत्व की भावना के आधार पर मौहम्मद अली की तुर्की का समर्थन किया और खिलाफत आन्दोलन को विकसित किया । जिसकी पृष्ठभूमि का आधार धार्मिक था ।

"पान इस्लामिज्म" की भावना मुस्लिम राजनैतिक विकास में घातक सिद्ध हुई क्योंकि यह भावना मध्ययुगीन थी । डबलू. सी. सिमथ के अनुसार यह एक यथार्थवाद से परे काल्पनिक एवं गलत विचारधारा थी । मौलाना मौहम्मद अली की सबसे बड़ी भूल तो उनकी धर्म निरपेक्षता के विचार की अवहेलना थी । यहां तक खिलाफत आन्दोलन के प्रतीक स्वरूप टर्की में धर्मनिरपेक्षता तथा आधुनिकता के लिये कमालपाशा प्रयत्नशील था ।

गांधीजी ने मौहम्मद अली के खिलाफत आन्दोलन का समर्थन केवल मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में आकर्षित करने के लिये किया था ।

मौहम्मद अली ने इस्लामी एकता के "पॉन इस्लामिज्म'' की भावना के आधार पर मुसलमानों में एक जनआन्दोलन के रूप में जनजागरण किया । वे मुसलमानों के साम्प्रदायिक पृथक व्यक्ति के समर्थक थे । उन्होंने अपनी "पॉन–इस्लामिज्म" भावना द्वारा मुस्लिम समाज को संगठित किया जिसका आधार केवल इस्लाम पर ही स्थापित हुआ जिसके कारण देश में पृथकतावादी मुस्लिम मनोवृत्ति को बढ़ावा मिला । यद्यपि मौलाना अपने आन्दोलन को मुस्लिम राजनैतिक आन्दोलन न कह कर धार्मिक पवित्रता की स्थापना हेतु विचार स्वरूप प्रस्तुत करते रहे । फिर भी वे पृथक निर्वाचित व्यवस्था के समर्थक थे जिससे उनके पृथक, स्वतन्त्र मुस्लिम अस्तित्व का परिचय मिलता है ।

मौलाना मौहम्मद अली के विशुद्ध मुसलमानवादी "पॉन–इस्लामिज्म" ने पृथकतावादिता विचारों की संरचना की और उन्होंने गांधीजी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का विरोध करते हुए कहा कि कांग्रेस आजादी नहीं वरन् सत्तर लाख मुसलमानों को हिन्दुओं का दास बनाने का प्रयत्न कर रही है । अन्ततोगत्वा तो यह इतिहास की एक दुखानत वास्तविकता है कि भविष्य में मौलाना मौहम्मद अली के विचार और आन्दोलन को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाकर पाकिस्तान निर्माण के लिये प्रयत्नशील में अभिवृद्धि हुई तथा पृथकतावादी विचारधारा अन्त में देश विभाजन के स्वरूप सफल भी हुई ।

4.3 मौहम्मद इकबाल 1876–1938 पृथकता एवं रचनात्मक स्वरूप में इस्लाम का पुनर्निर्माण

मूलत: एक दार्शनिक और एक कवि के रूप में इकबाल इंकलाब के गायक थे तथा उन्होंने पतन की दलदल से मुसलमानों को निकालकर उनके आत्म विश्वास, आत्म सम्मान तथा सृजनात्मक संघर्ष के पथ पर आगे ले चलने का प्रयास किया वे पूर्णत: इस्लामी परम्परावादी थे तथा कुरान उनकी प्रेरणा का स्रोत था । उनकी मान्यता थी कि शताब्दियों की परम्परा और रिवाजों के घेरे ने इस्लाम के मौलिक स्वरूप को धूमिल कर दिया है तथा उन्होंने बैचेन मुसलमानों में इस्लामिक चेतना के आधार पर नवसंदेश दिया ।

इकबाल का जन्म 22 फरवरी 1873 को स्यालकोट में हुआ । उनके पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे उनकी शिक्षा एम0 ए0 दर्शन शास्त्र व कैम्ब्रिज तथा म्यूनिख से पीएच0डी0 तक थी। प्राध्यापक से जीवन प्रारम्भ कर 1908 में उन्होंने बैरिस्टर के रूप में वकालात की । वे एक सफल शायर एवं दार्शनिक थे । उनकी प्रमुख रचनायें – "असरारे खुदी," "पयामे मशरिक", "रिकन्सट्रक्शन ऑफ फिलासफी इन इस्लाम", डेवेलपमैन्ट ऑफ मैटाफिजिक्क इन पर्शिया, लैक्चर्स ऑन मैटाफिजिक्स'' आदि उनकी विद्वत्ता को सिद्ध करती है ।

इकबाल के राजनीतिक चिन्तन का आधार – धार्मिक निष्ठा :

इकबाल का चिन्तन धर्म के भव्यतम एवं स्थाई पक्षों का सही प्रतिनिधित्व करता है । उन्होने जहाँ भारतीय संस्कृति के बौद्धिक और भावात्मक पक्ष की एकात्मकता के विषय में "हिन्दू और इस्लामी तत्वों के संगम को दो महासागरों के मिलन" की संज्ञा दी है । वहां मुस्लिम समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पृथकता के गीत गाकर अपने पृथक अस्तित्व के लिये संघर्ष का आह्यान देकर इकबाल ने नये अध्यायों की रचना की है । इकबाल ने जिस समाज व राजनीतिक चिन्तन की कल्पना की उसका आधार केवल इस्लाम पर ही आधारित था। एक मुसलमान विश्व भर के सर्वोत्तम गुणों का प्रतीक है उनका विश्वास था कि आत्म सम्मान, आत्म अभिव्यक्ति तथा आत्मविकास के द्वारा ही मुसलमान समाज संगठित व सबल हो सकेगा। वे प्रगतिशीलता के नाम पर अतीत की मान्यताओं की किसी भी प्रकार से अवहेलना करने के सर्वदा विरोधी थे । वे धर्मनिरपेक्ष राज्य के समर्थक थे । रामधारीसिंह दिनकर की भाषा में "इकबाल ने मुसलमानों के हृदय में जो भाव अस्पष्ट थे उन्हें सुस्पष्ट बनाया; मुसलमान बेचैन जरूर थे, किन्तु उन्हें पता नहीं था कि वे चाहते क्या है? इकबाल ने उनके मन में एक ख्वाहिश दी..... तदनुसार उन्होंने इस्लाम के साहसी एवं संघर्षशील रूप को ताजा कर दिया और मुसलमानों के सामने शूरतत्व के आदर्शों को चमका कर रख दिया ।

इकबाल ने धर्म के प्रति निष्ठा को तर्क की अपेक्षा धारणा में विश्वास को अधिक महत्व दिया । वे संसार की सभी कृतियों को ईश्वरी शक्ति का प्रतीक स्वीकार करते हुए मनुष्य को ईश्वर की सर्वोतम सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं और इन आधार पर वे मानते है कि ईश्वर ने मनुष्य को निरन्तर आगे बढ़ने के लिए बनाया है । उन्होंने कुरान के मतानुसार मनुष्य की तीन विशेषताओं के महत्व पर बल दिया कि वह ईश्वर का पृथ्वी पर प्रतिनिधि है; वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिये एक ट्रस्टी है तथा वह ईश्वर का विशेष कृपा पात्र है इस आधार पर उन्होंने

इस्लाम के मूल्यों का पुर्ननिर्माण करके मुसलमानों में नव चेतना व नव–प्रेरणा प्रदान की । फलस्वरूप मुस्लिम समाज में साहस एवं आत्म गौरव का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ । निम्न एक शेर के माध्यम से उन्होंने निराशावादिता को छोड़ संघर्षमय युग के सूत्रपात करने का आह्यान किया:

"सितारों से आगे जहाँ और भी हैं,
अभी इयक के इम्तिहाँ और भी हैं ।
कनाअत न कर कर आचमें–रंगों–बू पर,
चमन और भी, आशियाँ और भी हैं।
तू शाही है, परवाज है काम तेरा,
तेरे सामने आसमाँ और भी है ।

इकबाल का अहंवाद:

उनके "व्यक्ति" व "निस्वार्थता" के आधार पर व्यक्तित्व (खुदी) के विचारों का विशेष महत्व है जिसका बृहद् वर्णन उन्होंने अपने फारसी के दो महाकाव्यों ("असरार–ए–खुदी" था "समुज–ए–बिखुदी") में किया है । 1923 में उन्होंने "पयाप–ए–मशरिक" तथा 1927 में "जबूर–ए–आजम" के माध्यम से व्यक्तिगत गरिमा एवं व्यक्ति की महानता को स्वीकार किया है । उन्होंने निराशावादी, धर्मान्ध मुस्लिम समाज में तदबीर बनाने के विचारों को बल देने की प्रेरणा दी । इकबाल ने बर्गसून से प्रभावित होकर यह कहा है कि विकास में पशुओं की तो अन्तर्जात प्रवृतियों की प्रधानता होती है जब कि मानवीय विकास में तर्क का प्राबल्य रहता है ओर देवपुरुष का विकास धारण पर आधारित है । धारण को महत्व देते हुए इकबाल ने कहा है यह "इबूक", "मुकीन" एवं "इमान" पर आधारित है । उनकी कविताओं में एक "मुमीन" या "कलन्दर" के प्रतीक स्वरूप पर युग पुरुष की अवधारणा की गई है । इसी विचार को महत्व देकर आगे उन्होंने कहा है कि स्वतंत्रता की आवश्यकता देव पुरुष को ही नहीं वरन साधारण व्यक्ति को भी है । लेकिन मानव ईश्वरीय मूर्ति है और इसलिये ईश्वर के अतिरिक्त किसी और की आज्ञा पालन उसके लिये आवश्यक नहीं हैं । यह धारणा उनकी स्वतंत्रता के सम्बन्ध में थी।

इकबाल की ईश्वरीय आस्था में संकल्पवादी विचार मुखरित हुए । उन्होंने अहं तथा आत्मा (खुदी) के विचारों को इतना उभारा कि उनकी कवितामयी वाणी आत्म–सम्मान की भावना से ओत प्रोत हुई । उनका युग पुरुष "मर्दे मोमिन" किसी के समक्ष पराजय स्वीकार नहीं करता बल्कि साहस पूर्वक हर मुश्किल का मुकाबला करता है जैसा कि उनके एक शेर से यह भावना प्रकट होती है ।

"खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले
खुदा बन्दे से खुद पुछे बता तेरी रजा क्या है?

अत: "मर्दे मोमिन" के माध्यम से उन्होंने पराधीन मुस्लिम समाज में साहस व आशावादिता का संचार किया उनके अंहभाव के समक्ष व्यक्ति खुदा के मुकाबले में अपनी श्रेष्ठता व्यक्त करने में भी संकोच नहीं करता ।

उनके अहंवाद की पृष्ठभूमि में व्यक्ति से यह आशा की है कि वह ईश्वरीय गुणों को विकसित कर दीनता की भावना छोड़ पैरों पर खडे होकर व्यक्तिगत श्रमभावना के महत्व को स्वीकार करे अत: इकबाल ने अहं को साधक के धर्म के रूप में, आत्मा चेतना और नियंत्रण के रूप में तथा ईश्वर के प्रतिनिधि के स्वीकार किया है । उनके अहंवादी विचारों ने दीनता की भावना से मुक्ति तथा कर्मठ एवं ईश्वर में निष्ठावान भावना को प्रज्वलित किया उनकी गतिशीलता में ।

अहंवाद के अतिरिक्त समय की गतिशीलता के माध्यम से उन्होंने आशावादिता के विचारों को प्रस्तुत किया । अपनी पुस्तक "जावेद–नामा" में उन्हें स्वीकार किया है कि काल स्वयं अपनी प्रशस्ति में गीत गाता है । इकबाल जर्मन प्रगतिशील परम्पराओं से प्रभावित हो इतिहास की गतिशीलता में विश्वास रखते थे इस आधार पर उन्होंने आग्रह किया कि मुसलमान केवल बगदाद के अतीत वैभव से ही प्रेरणा न लें वरन वे अनजाने भविष्य के प्रति भी सजग हो।

इकबाल का राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद एक राजनैतिक विचार है जिसकी मान्यता इस्लाम में नहीं हैं कुरान (शूरा 49:10) में कहा गया है कि विश्व भर के मुसलमान भाई हैं । अत: इकबाल ने उस राष्ट्रवादी विचारधारा का विरोध किया जिसके द्वारा देश कि शक्ति में तो अभी वृद्धि हो किन्तु जिससे इस्लामी भावना पीछे ढकेल दी जाय । इकबाल राष्ट्रवाद को केवल पराधीन देश की स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार करता है ।

इकबाल राजनैतिक रूप में राष्ट्रवाद के पाश्चात्य अर्थ के संदर्भ स्वीकार करके भारत की एक राष्ट्र नहीं मानते । वे पृथकता व विभिन्नताओं के समर्थक थे । उनका "मुस्लिम राष्ट्रवाद" भाषा धर्म, संस्कृति, आदि कीं एकता पर आधारित था, यह एक विडम्बना थी कि जहां एक ओर उन्होंने अपने तराना–एक–हिन्द में अपने प्रारम्भिक युग में राष्ट्रवादी विचारों ले निम्न भावना में व्यक्त किया

"सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा,
हम बुलबुले है इसकी ये गुलिस्तां हमारा ।
गुरबत में हों अगर हम, रहता है दिल वतन में,
समझों वही हमें भी दिल हो जहां हमारा,
मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,
हिन्दी हैं हम वतन हैं हिन्दोस्ताँ हमारा । ।

वही इकबाल बीसवीं शताब्दी के तीसरे शतक मे, सम्प्रदायवादी, धर्म सापेक्षवादक बन गये और उन्हें 'पाकिस्ताना का जनक 'कहा जा सकता है ।

न्यायोचित दृष्टिकोण से इकबाल को समझाने के लिये यह आवश्यक है कि वे तत्कालीन परिस्थितियों के प्रतीक थे और उन्होंने केवल समकालीन मुस्लिम भावना, जो मूक अथवा अस्पष्ट थी, उसे भाषा व वाणी देकर मुसलमान समाज को आशावादिता एवं कर्मठता का पाठ पढ़ाया । उनकी भावुक कवि कल्पना में परम्परावादिता, आधुनिकता, युवा वर्ग की

समाजवादी कल्पना और मुस्लिम लीगियों के शूरत्व की भावनाओं का सम्मिश्रण है । वे राष्ट्रवादिता की स्थापना हेतु धर्म की अवहेलना के किसी भी प्रकार से पक्षपाती नहीं थे । उनकी मान्यता थी कि इस्लाम में ही राज्य और धर्म दोनों ही निहित है अत: राष्ट्रवाद की कल्पना करना सर्वदा अनुचित है । इस्लाम में क्षेत्रीय अथवा जाति के आधार पर राष्ट्रीयता की कल्पना स्वीकार नहीं की गई है । इस्लाम के अनुसार तो संसार में केवल दो राजनैतिक आधारों पर ही विभाजन की रेखा खींची जा सकती है–मुसलमान गैर मुसलमान। हमारे संसार के मुसलमानों में- भ्रातृत्व की भावना ', "तबहीद" (एकेश्वरवादिता), कुरान एवं "सयुत्रा" के द्वारा एकता स्थापित हो सकी है । इकबाल ने कुरान के आधार पर स्थापित राज्य में ही आदर्श राज्य की कल्पना की जिसमें ईश्वरीय प्रतिनिधि के रूप में प्रत्येक कर्तव्य परायणता से समस्त मानवता हेतु धन का उपार्जन का अपने ट्रष्ट को पूरा करे ।

उपरोक्त आदर्श ता उनकी भावी कल्पना थी किन्तु उन्होंने मुसलमानों की तत्कालीन दशा को सुधारने हेतु यह स्वीकार किया कि समस्त संसार की मुस्लिम जाति की एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना तो असम्मव है किन्तु क्षेत्रीय आधार पर इस्लामी राज्य की स्थापना सम्भव है । अपने इस विचार को उन्होंने 1930 में मुस्लिम लीग के अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट किया जिसके आधार पर आगे चलकर पाकिस्तानी की मांगी की गई ।

विभाजन व पृथकतावादी

1930 में अपने अध्यक्षीय भाषण द्वारा उन्होंने पृथक मुस्लिम राज्य की स्थापना के लिए प्रस्ताव रखा ।

"इस्लाम की धार्मिकता एवं नैतिकता के आधार पर ही भारतीय मुसलमानों में भावात्मक एकता स्थापित हुई, क्या राष्ट्रीय राजनीति के आदर्श में मुसलमान अपना पृथक धार्मिक अस्तित्व बनाये रख सकेंगे? इस्लामी सामाजिक व्यवस्था की अवहेलना कर राष्ट्रीय सरकार की कल्पना मुसलमान सोच तक नहीं सकते ।

इकबाल ने अर्नेस्ट रेनान के विचारों के आधार पर स्वीकार किया कि हिन्दू–मुस्लिम एकता के माध्यम से 'राष्ट्रीयता सम्भव नहीं । वे कहते थे कि दोनों सम्प्रदायों में भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक एकता का सर्वथा अभाव है । विभिन्नताओं के आधार पर भारत एशिया का ही एक छोटा स्वरूप है

इकबाल की स्पष्ट "द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त" की विचारधारा अस्पष्ट रूप से सर सैयद अहमदखां व मौलान मौहम्मद अली ने उनसे पूर्व तथा जिन्ना ने उनके पश्चात् प्रतिपादित किया था । इकबाल ने स्पष्ट भाषा में कहा था कि "पाश्चात्य प्रजातन्त्र की स्थापना बिना साम्प्रदायिक समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार किये नहीं हो सकती..... अत: मुसलमानों की मुसलमान राज्य स्थापना की मांग सर्वथा न्यायप्रिय है..... मैं चाहूँगा कि पंजाब, उत्तर–पश्चिमी सीमान्त प्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान एक राज्य के स्व में संगठित कर मुस्लिम भाग्य का निर्णय किया जाय ।

1936–37 में इकबाल और जिन्ना राजनैतिक रूप में एक दूसरे के निकट आये । जिन्ना को लिखे अनेक पत्रों में इकबाल ने कहा कि भारत की शांशी व मुसलमानों के हित में

यह आवश्यक है कि एक पृथक मुस्लिम राज्य की स्थापना कर दी जाय । जिन्ना ने इकबाल का समर्थन करते हुए 1940 में मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में पाकिस्तान निर्माण की मांग की ।

मोइन सरकार ने इकबाल को देश विभाजन का दोषी नहीं माना है क्योंकि इकबाल ने स्पष्ट रूप से देश विभाजन की मांग नहीं रखी । दूसरे, चौथे शतक के लोग मुस्लमान जिस हिन्दू–विरोधी भावना से द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त प्रतिपादन कर रहे थे वैसी वैमन्सयता एवं हिनद विरोधिता हमें इकबाल में नहीं मिलती ।

इकबाल के प्रजातन्त्रीय विचार :

उनकी मान्यता थी कि पाश्चात्य प्रजातन्त्रीय भावना की स्थापना मुस्लिम व्यवस्था में पूरे तौर से स्थापित नहीं की जा सकती क्योंकि इस्लाम में जनता की सार्वभौमिकता के सापि पर केवल ईश्वर की संप्रभुता स्वीकार की गई है तथा "इज्मा" के विचार के आधार पर जनमत को महत्व नहीं दिया जा सकता । दूसरे, इकबाल का पाश्चात्य प्रजातन्त्र के विरुद्ध यह आरोप था कि यह भौतिकवाद पर आधारित है जिसमें कुछ व्यक्तियों के आर्थिक एकाधिकार को समाप्त करना सम्भव नहीं है । प्रजातन्त्र में सिर गिने जाते है ने कि तोले । प्रजातन्त्र के बहुमत को आधार सदैव उपयुक्त नहीं है । उनकी यह धारणा थी कि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता केवल एक दिखावा है तथा यह साम्राज्यवादिता को बढ़ावा देती है । वे मानते थे कि "डेमोक्रैसी" वास्तव में "डेमन ऑफ ऑटोक्रेसी" है जिसमें पूंजीपति का प्रभाव सदैव रहता है ।

उन्होंने पाश्चात्य प्रजातन्त्र को इसलिए भी अपूर्ण माना क्योंकि इसमें आध्यात्मवादिता का पूर्णत: अभाव है । इकबाल ने इस्लामी प्रजातन्त्रीय आधार को धार्मिक एवं नैतिक पृष्ठभूमि पर स्वीकार किया है । एक प्रकार से इकबाल के प्रजातन्त्रीय विचारों का आधार बहुत अथवा जनमत पर नहीं था वरन यह एक प्रकार से बुद्धिजीवी सभ्रान्त वर्ग द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था पर होगी । उनके अनुसार एक ईश्वर (तवहीद) की कल्पना के आधार पर स्थापित सरकार अधिक मान्य तथा स्थाई हो सकेगी । इस्लामी प्रजातन्त्र के अन्य आधारों की कल्पना उन्होंने "कानून के प्रति निष्ठा", "सार्वभौमिकता" तथा "सद्भावना" में की ।

इकबाल की उपरोक्त धारणा केवल कल्पना मात्र ही रही । मूलत: उनका प्रजातन्त्रीय विरोध प्रजातन्त्र के दोषों के दूर करने की भावना के उद्देश्य से किया गया था । कानून के प्रति निष्ठा व आज्ञा पालन से उनका अभिप्राय युग पुरुष की आज्ञा से था दूसरे शब्दों में वे राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र के गुणों के समन्वयकारी विचारों के आधार पर इस्लामी प्रजातन्त्र की स्थापना के चिन्तक थे । वे जर्मन विचारधारा से भी प्रभावित थे जिससे उनकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी कानूनों के आज्ञा पालन में थी और कानूनों की कल्पना उन्होंने दैवीय व चिरकालीन विधि से की थी ।

इकबाल का समाजवाद :

वे मार्क्स व रूसी साम्यवाद के भी विरोधी थे यद्यपि उनकी मान्यता थी कि साम्यवाद द्वारा पूंजीपति व्यवस्था, प्रजातन्त्र एवं राष्ट्रीयता की समाप्ति होती है लेकिन इकबाल की धार्मिक निष्ठा ने उनको वैज्ञानिक समाजवाद का समर्थक नहीं बनाया । उनका मार्क्स से विरोध इसलिए था कि यह धर्म व आत्मा का विरोध कर केवल भौतिकवाद पर आधारित है । उन्होंने इस्लामी समाजवाद की कल्पना इस्लामी समानता व मातृत्व की भावना पर की जिसमें

व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक ट्रस्ट के रूप में स्वीकार किया गया है तथा पूंजी के संग्रहीकरण का विरोध किया गया है । इस्लामानुसार समाजवाद के द्वारा ऐसी समानता सीमित हो सकेगी जिसमें व्यक्ति के कार्यों के द्वारा ही उसको कुछ प्राप्त हो सकेगा ।

डबलू0 सी0 स्मिथ के अनुसार इकबाल को समाजवाद का ज्ञान ही नहीं था वे तो केवल एक नैतिक समाजवादी थे । उन्होंने समाजवाद का विरोध किया किन्तु यह कहा कि यदि मुस्लिम राज्य के तानाशाह बना दिये जाय तो उनका सर्वप्रथम कार्य समाजवादी राज्य की स्थापना करना होगा98 । फिर भी हमें अपने समाजवाद विचारों में विरोधाभास की अनुमति होती है क्यों कि धर्मनिष्ठा के कारण वे व्यवहार में पाश्चात्य समाजवाद के भी विरोधी थे ।

इकबाल के चिन्तन पर बहुत कुछ लिखा–पढ़ा गया है । पाकिस्तान निर्माण के उपरान्त उन्हें "भावात्मक रूप से पाकिस्तान का जनक" माना गया है । किन्तु स्वयं इकबाल की यह मान्यता थी कि कोई भी उन्हें समझ नहीं पाया । इकबाल में हमें परम्परावादी इस्लाम तथा आधुनिकतावादी पाश्चात्य की झलक मिलती है किन्तु इन दोनों विचारधाराओं का समन्वयकारी चिन्तन का सर्वथा अभाव उनकी विशेषता थी । इकबाल मुस्लिम पुनर्जागरण का शिशु मात्र ही था न कि उसका अग्रदूत । फिर भी उन्होंने मुस्लिम जन–जागृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया । इकबाल ने जहाँ एक ओर नवीनता को स्वीकार करने का आग्रह किया वहाँ वे परम्परावादी नैतिकता के सार्थक थे ।

इकबाल के राजनैतिक चिन्तन का दूसरा पहलू यह था कि वे केवल कवि की कल्पना करने वाले दार्शनिक मात्र ही थे क्योंकि उन्होंने इस्लामी परम्परावादिता का समर्थन तो किया किन्तु यह नहीं सोचा कि वर्तमान जटिल समाज में इसकी स्थापना कैसे सम्भव हो सकेगी । अत: उनकी इतिहास सम्बन्धी अभिधारणा अपूर्ण थी । प्रजातन्त्र, समाजवाद और राष्ट्रवादिता सम्बन्धी विचारों में हमें उनका विरोधाभास मिलता है । अन्तत: यह कहा जा सकता है कि उनका प्रभाव एक नये राष्ट्र के निर्माण स्वरूप उनकी वास्तविकता को, सिद्ध करता है । इकबाल की चमत्कार पूर्ण सूफीवादी युग दृष्टि पाकिस्तान निर्माण स्वरूप में आज भी महत्वपूर्ण है ।

4.4 मौहम्मद अली जिन्ना (1876–1948) पृथक मुस्लिम राष्ट्रवादिता :

मुस्लिम राजनैतिक विचारों में विशेष रूप से पृथकता, देश विभाजन एवं मुस्लिम राष्ट्र–पाकिस्तान निर्माण के संदर्भ में जिन्ना की भूमिका का विशेष स्थान है । उनके राजनैतिक चिन्तन के दो युग रहे । अपने प्रारम्भिक काल में (1897–1929) में वे एक उदारवादी, धर्मनिरपेक्षक, हिन्दू–मुस्लिम एकता के समर्थक तथा प्रजातन्त्रवादी रहे । जबकि 1920 के पश्चात् उन्होंने धीरे–धीरे पृथकतावादी द्विराष्ट्रीय सिद्वान्त को तूल देकर फासीवादी साधनों के माध्यम से एक नव–मुस्लिम राष्ट्र का निर्माण किया । अत: उनका जीवन एवं विचारधारा गूढ़ रहस्यमय स्वरूप में उभरती है । स्वयं "यूरोपियनों में एक यूरोपियन" स्वभाव के होते हुए भी उन्होंने भारतीय मुसलमानों को एक पृथक मुस्लिम राष्ट्र की देन दी ।

इनका जन्म 23 दिसम्बर 1876 को करांची में हुआ था । समृद्ध परिवार के बड़े पुत्र थे । जिनकी आरम्भिक शिक्षा के उपरान्त 16 वर्ष की आयु में इन्हें अध्ययन करने इंग्लैण्ड

भेजा गया । वहाँ उदारवादी भारतीय दादा भाई नौरोजी के निकट सम्पर्क में आये । 1897 में इन्होंने बम्बई में वकालत प्रारम्भ की । प्रारम्भ में वे कांग्रेस समर्थक थे 1916 के लीग कांग्रेस समझौते का अभिलेख उन्हीं के द्वारा तैयार किया गया । किन्तु 1928 के लगभग ये पूर्णयता पृथकतावादी विचारक बन गये । इसी वर्ष में उन्होंने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षत में 'चौदह सूत्रीय कार्यक्रम 'के माध्यम से पृथक निर्वाचन, मुसलमानों में शिक्षा, धर्म व्यक्तिगत विधि तथा वक्फ आदि सुविधाओं की मांग प्रस्तुत करके एक मुस्लिम नेता के रूप में अपना स्थान बनाया, 1935 में इन्होंने सिंध प्रांतीय मुस्लिम लीग अधिवेशन में द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त पर बल दिया तथा 1940 में इसी विचार को 'टाइम एण्ड टाइड" पत्रिका में विस्तृतरूप से प्रतिपादित किया जिसके आधार पर 1947 में पाकिस्तान का निर्माण हुआ तथा ये पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर–जनरल बने । 10 दिसम्बर 1948 में इनकी मृत्यु हो गई ।

अपने प्रारम्भिक चरण में ये इंग्लैंड प्रवासकाल में ही स्पैन्सर, कांट, बैथम वमिल से अत्याधिक प्रभावित हुए तथा उनकी इच्छा थी कि वे मुसलमानों में गोखले जैसा नेता बने उन पर दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी तथा सी0 आर0 दास आदि का भी प्रभाव पड़ा ।

इस युग में वे व्यक्ति की गरिमा, आत्मा की स्वतन्त्रता, व्यक्ति के नैतिक विकास की आवश्यकता आदि के समर्थक थे । वे इस युग में अंग्रेजों के प्रति सद्भावना एवं संवैधानिक तरीकों से ही आन्दोलन करने के पक्षपाती थे । वे अंग्रेजों के प्रति देश में पुनर्जागरण, आधुनिकीकरण, राष्ट्रीय विचार एवं देश प्रेम सम्बन्धी देन के लिये आभार प्रकट करते थे उनका विश्वास था कि केवल अंग्रेजों की मित्रता एवं कृपा के आधार पर ही देश में इंगलैण्ड जैसी प्रजातन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना की जा सकेगी ।

प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि धर्मनिर्पेक्षता उदार दृष्टिकोण के आधार पर ही इस व्यवस्था का निर्माण सम्भव हो सकेगा । और वे अलीगढ़ आन्दोलन विचारधारा के विपरीत यह मानते थे कि अंग्रेजों के देश निष्कासन के उपरान्त किसी भी प्रकार से हिन्दू राज्य की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि लगभग 70 लाख मुसलमानी मत की अवहेलना कोई भी सरकार नहीं कर सकती । अत: उनकी मान्यता थी कि मुसलमान कांग्रेस का समर्थन कर प्रजातन्त्र एवं स्वतन्त्रता प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न करें ।

इस युग में जिन्ना का राजनैतिक चिन्तन "शिक्षा, आन्दोलन व संगठन" के आधार पर उदारवादी दृष्टिकोण था । वे "अलीगढ़ आन्दोलन" के जन–आन्दोलन स्वरूप के भी विरोधी थे क्योंकि उनका विचार था कि मध्यम के बुद्धजीवी वर्ग के परिवर्तनशील उदारवाद की पृष्ठभूमि में ही राजनैतिक विकास सम्भव हो सकता है । इसलिये उन्होने व्यापक दृष्टिकोण अपना कर हिन्दू–मुस्लिम एकता के विचारों का समर्थन किया था । उनका प्रारम्भिक उदारवाद दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, गोखले एवं बदरूद्दीन तैयबजी के विचारों से मेल खाता था ।

उन्होंने 1909 में कौंसिल की सदस्यता निर्वाचन के उपरान्त प्राप्त की थी तथा वहां एक उदारवादी, निर्भीक सदस्य की भूमिका निभाई । इस युग में वे पूर्णरूपेण कांग्रेस समर्थन रहे और उनका कथन था कि वे प्रथम, द्वितीय एवं अन्तिम रूप से राष्ट्रवादी हैं । यद्यपि उन्होंने मौलाना मोहम्मद अली और सैयद वजीर हसन के प्रयासों के फल स्वरूप 22 मार्च 1913 को

मुस्लिम लीग की सदस्यता ग्रहण की । फिर भी उनका प्रयास लीग और कांग्रेस को निकट लाने का रहा और उनके प्रयत्नों के कारण 1916 में "लखनऊ पैक्ट" के माध्यम से लीग कांग्रेस समझौता सम्भव हो सका । उनकी इस युग में मान्यता थी हिन्दू–मुस्लिम एकता व सहयोग के द्वारा ही अंग्रेजों से कोई रियायतों व राजनैतिक मांगों की पूर्ति होना सम्भव हो सकेगा ।

परिवर्तित संदर्भ : द्वि–राष्ट्रीय सिद्धान्त का अभ्युदय :

लीग की सदस्यता ने धीरे–धीरे उनके उदारवादी उत्साह को मध्यम किया और वे धीरे–धीरे साम्प्रदायिकता–समर्थक बनते गये । खिलाफल आन्दोलन के प्रति उनका दृष्टिकोण प्राय: मौन रहा । माइन सरकार के अनुसार 1920 उनके राजनैतिक जीवन की विभाजन रेखा थी उस वर्ष के उपरान्त वे धीरे–धीरे कट्टर साम्प्रदायिक बन गये ।

मूलत: गांधीजी का कांग्रेस में आगमन और जिन्ना की उदारवादी राजनीति की कांग्रेस में प्रभावहीनता के कारण जिन्ना के नेतृत्व में शिथिलता आने के कारण जिन्ना ने मुस्लिम लीग के माध्यम से मुस्लिम राजनैतिक मुद्दों के आधार पर प्रथम राजनैतिक क्षेत्र को अपनाकार अपने प्रभाव बनाये रखने के आधार पर नये राजनैतिक चिन्तन के क्षैत्र को अपनाकर अपने प्रभाव बनाये रखने के आधार पर नये राजनैतिक चिन्तन के क्षेत्र को अपनाया । प्रान्तीय स्वायत्ता, 1937 के निर्वाचन तथा प्रांतों में कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बनाने के रूख ने जिन्ना के प्रारम्भिक विचारों को सर्वथा नई दिशा दी और कालान्तर में वह, 'द्विराष्ट्रयवादिता' का जनक न होने पर भी उसका प्रबल समर्थक बना । यह इतिहास की विडम्बना है कि पचास वर्ष पुरानी पृथकता की राजनीति पुन: जिन्नाह के प्रबल नेतृत्व में सबल होती गई । कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कांग्रेस के साथ साथ हिन्दू बहुमत का भय, मुस्लिम आशंका, पृथक निर्वाचन, हिन्दू–मुस्लिम वैमनस्यता, हिन्दू महासभा, गांधीजी के कांग्रेस पर एकाधिकार व राम–राज्य की कल्पना आदि कारणों के फलस्वरूप भी मुसलमानों के राजनैतिक विचार पूरे तौर से राष्ट्रीय विचारधारा के अनुरूप नहीं बन सके थे और ऐसे अनिश्चयपूर्ण समाज के नेतृत्व की बाग डोर जिन्नाह ने बहुत आसानी से सम्हाल ली ।

जिन्ना के समक्ष मोटे तौर पर दो ही विकल्प थे कि क्या वे मोहम्मद अली के 'इस्लाम पुर्निमाणवादी" आन्दोलन को आगे बढ़ाये अथवा देश की तात्कालीन राजनैतिक स्थिति का लाभ उठाते हुए मुस्लिम समस्याओं के समाधान का प्रयास करें । प्रथम महायुद्ध के उपरान्त "पेन इस्लामिक" आन्दोलन के उपरान्त भी मुस्लिम समाज में यह भावना बैठ गई थी कि केवल इस्लाम की प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों की स्वर्णिम कल्पना किसी भी प्रकार से मुसलमानों का हित नहीं कर सकेगी । इसके विपरीत जिन्नाह ने इस्लाम बैसाखियों के सहारे धर्म की आड में अपनी जाति एवं आन्दोलन को मजबूत करने की भावना पर मुस्लिम लीग को सबल बनाया। "द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त की कल्पना जिन्ना के पूर्व काल से ही स्थापित हो चुकी थी किन्तु उन्होंने इसे राजनैतिक शास्त्र के साध स्वरूप मुसलमानों के लिये पृथक इस्लामी राष्ट्र स्थापना की इसके द्वारा कल्पना की ।

डा0 एस. ए. लतीफ का तर्क था कि हिन्दू धर्म कोई धर्म न होकर विभिन्न धर्मों एवं समुदायों का सामूहीकरण है तथा देश में किसी भी प्रकार से कोई सर्वमान्य सांस्कृतिक एकता

नहीं है । फिर हिन्दू–मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति में तो बहुत अधिक अन्तर है और इसलिये हिन्दू और मुसलमानों के प्रथक राज्य होने चाहियें । इसके साथ साथ 1937 के निर्वाचन के पश्चात् कांग्रेसी प्रमुख नेताओं ने मुस्लिम लीग को जब कुछ कम महत्व देना प्रारम्भ किया तो जिन्ना ने यह कहना प्रारम्भ किया कि कांग्रेस मुस्लिम जनमत के प्रति जागरूक नहीं है और वह तो केवल एक हिन्दू संस्था है तथा गांधीजी का अन्तिम लक्ष्य हिंदू राज्य की स्थापना करना है । स्वभावता जिन्नाह नें द्विराष्ट्रीय सिद्धांत की पृष्ठभूमि में धर्म का पुट देकर मुस्लिम लीग में अपने नेतृत्व को सबल बनाने हेतु द्विराष्ट्रीय विचारधारा को विशेष रूप से महत्व दिया । उन्होंने कांग्रेस पर आरोप लगाते हुए मुसलमानों को सचेत करते हुए अपना प्रभाव बढ़ाया कि कांग्रेसी राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य हिन्दू राज्य की स्थापना करना है । हिन्दू–मुस्लिम वैमनस्यता के फलस्वरूप दोनो ही सम्प्रदाय अपनी अपनी निजी प्राइवेट सेनायें रखेंगे और इसलिए देश के विभाजन को जिन्ना ने अपना अन्तिम लक्ष्य बनाया ।

जिन्नाह ने "ऐतिहासिक" व "आध्यात्मिक" स्वरूप से द्विराष्ट्रीय सिद्वांत के औचित्य को सिद्ध किया, उनका कहना था कि एक हजार वर्षो के पारस्परिक सहवास व सम्पर्क भी हिंदू–मुस्लिम एकता को स्थापित करने में असफल रहे तथा दोनों धर्मों के सामाजिक एवं आधात्मिक आधार एक दूसरे से विभिन्न है अत: दोनों का पृथक रहना दोनों ही के हित में हैं और इस प्रकार जिन्ना जिसके प्रारंभिक उदारवादी विचारों की पृष्ठभूमि से एक महान् उदारवादिता की आशा की जाती थी अब वह अपने राजनैतिक एवं व्यक्तिगत महत्वकांक्षा के फलीभूत संकीर्ण धार्मिक दृष्टिकोण को उकसा कर वादी बन गया । विशेषकर पिछड़े, गरीब, अनपढ़, मध्ययुगीन विचारधारा से परिपूर्ण मुस्लिम समाज ने जिन्नाह की "पृथक राष्ट्रवाद" की नीति का समर्थन किया । जिन्नाह ने मुस्लिम अल्पवर्ग की रक्षार्थ भावना के सन्दर्भ में राष्ट्रवाद का तीव्र प्रचार किया ।

पृथक मुस्लिम राष्ट्रवाद की स्थापना हेतु जिन्नाह ने अपने प्रजातंत्रीय विचारों को भी बदल दिया और वे अब यह कहने, लगे कि भारतीय वातावरण में पाश्चात्य प्रजातंत्रीय संस्थाओं की स्थापना असम्भव है । यद्यपि इस तर्क के पीछे उन्होंने अशिक्षा, गरीबी, धर्मानधता आदि को प्रमुख–कारण माना फिर भी उनकी भावना मूल रूप से हिन्दू वर्ग के प्रभुत्व की आशंका के फलीभूत होकर मुस्लिम पृथकतावाद के प्रसार हेतु धीरे धीरे सबल हुई । 1936 में उन्होंने कहा था कि प्रतिनिधि सरकार का अर्थ बहुमत का शासन होता है और बहुमत शासन करने वाले शक्ति पाकर मदान्ध होगे ऐसी स्थिति में मुस्लिम अल्पवर्ग की रक्षा हेतु विशेष प्रावधानों की स्थापना की आवश्यकता है । अनत में मुसलमानों की रक्षा तो उनके एक पृथक इस्लामी राष्ट्र में ही सम्भव हो सकेगी ।

द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त की रचना का आधार वैसे तो किसी न किसी रूप में सर सैयद मौलाना मौहम्मद अली आदि के विचारों में मिलता है किन्तु इकबाल ने भारत को विभिन्नता के संदर्भ में यह कहा था कि भावात्मक एवं मनोवैज्ञानिक एकता के प्रति स्वरूप में हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक रूप से एक देश मे, नहीं रह सकते और इसलिये दोनों वर्गों की स्थिति एवं सुदृढ़ता हेतु द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त एक व्यवहारिक विचार है । 1936–37 में इकबाल ने अपने जिन्ना को लिखें अनेक पत्रों में मुसलमानों हेतु पृथक राष्ट्र की स्थापना के विचार को बल

दिया । जिन्ना ने भी इकबाल के विचारों का समर्थन करते हुए मुस्लिम समाज के भावीनिर्माण हेतु पृथक मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना के विचार को स्वीकार किया । जिन्ना का तर्क था कि मुसलमान राष्ट्रवाद की परिभाषा के किसी भी दृष्टिकोण से एक पृथक राष्ट्रीयता है और उसका अपने पृथक मुस्लिम राष्ट्र होना चाहिए । मीरजादा के अनुसार पृथक मुस्लिम राष्ट्रवाद की कल्पना इकबाल और जिन्ना से पूर्व 1880 के लगभग जमाल–अल–दीन–अल–अफगानी ने मध्य एशियाई एवं उत्तरी भारत के कुछ मुस्लिम बहु–जनसंख्या प्रदेश को एक पृथक राष्ट्र निर्माण का विचार किया था । 124 1928 में नेहरू कमेटी के समक्ष "भारतीय राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत" एक मुस्लिम राष्ट्र निर्माण का सुझाव रखा गया था । तथा 1930 में गोलमेज परिषद में मौलाना मौहम्मद अली ने भी इस मांग का समर्थन किया तथा 1930–32 में इकबाल ने इस विचार को मुस्लिम समाज में लोकप्रिय बनाया । तत्पश्चात कैम्ब्रिज में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी चौधरी रहमत अली ने नवनिर्मित मुस्लिम राष्ट्र का नाम "पाकिस्तान" देकर इस विचार को और अधिक लोकप्रिय बनाया । उनका विचार उन सब बहुसंख्यक मुस्लिम प्रदेशों को मिलाकर पृथक मुस्लिम राष्ट्र बनाने की कल्पना के आधार पर पंजाब, अफगानिया (उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश), काशमीर, सिंध और बलूचिस्तान को सम्मिलित कर देश के विभाजन का था ।

अक्टूबर 1938 में सिंघ मुस्लिम लीग के करांची अधिवेशन में पृथक मुस्लिम राष्ट्रवाद की स्थापना की जोरदार मांग रखी गई । डॉ0 लतीफ, सैयद जफर अल–हसन, अफजल हुसैन कादरी तथा सिकन्दर हयाद खां आदि ने इस विचार का जोरदार प्रचार प्रारंभ किया । 17 मार्च 1940 को लाहौर में मुस्लिम लीग ने मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेशों को मिलाकर एक "स्वतंत्र मुस्लिम राष्ट्र" की स्थापना की मांग की, कालान्तर में "मुक्ति दिवस" एवं "प्रत्यक्ष दिवस" आदि जन आंदोलन के माध्यम से पाकिस्तान की मांग बल पकड़ती गई । 15 सितम्बर 1944 को जिन्नाह ने गांधीजी को दोनों सम्प्रदायों की विभिन्नताओं को स्वीकार करते हुए पाकिस्तान की मांग को स्वीकार करने का आग्रह किया और अनत में यह कितने आश्चर्य की बात है कि इस शीघ्रता से देश के सभी महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने इस मांग के औचित्य को स्वीकार किया । यह मांग मुस्लिम राजनीति का एक प्रमुख राजनैतिक साधन बनी और अंग्रेज सरकार, कांग्रेस एवं लीग की आपसी बातचीत का आधार इसी मांग पर निश्चित हुआ ।

पाकिस्तान निर्माण हेतु यद्यपि जिन्नाह के पूर्ण विचारकों का भी योगदान था फिर भी जिन्नाह के नेतृत्व में इस स्वप्न के साकार रूप होने के कारण इन्हें पाकिस्तान का जन्मदाता कहा जा सकता है । उन्होंने "मुस्लिम हितों की रक्षा" के आवरण में मुस्लिम जन समुदाय को भड़का कर एक सफल जन आदोलन प्रारम्भ किया था । फलस्वरूप कहा जा सकता है कि पाकिस्तान का निर्माण साम्प्रदायिक दंगों और एक दूसरे की घृणा के वातावरण में हुआ । अंग्रेज सरकार के हिन्दू और मुसलमानों के मध्य समझौता या नही समझौता के उपरांत भी शीघ्रता में भारत छोड़ने के निर्णय ने भी पाकिस्तान निर्माण का आवश्यमभावी बनाया । जिन्ना ने पाकिस्तान निर्माण व देश विभाजन का दोष गांधीजी पर थोपा और कहा कि यदि गांधी का कांग्रेस पर एकाधिकार नहीं होता तो संभवतया पाकिस्तान निर्माण की आवश्यकता नहीं होती ।

किन्तु यहां हमें यह बात ध्यान रखना चाहिए कि जिन्ना एक कुशल राजनैतिक नेता था और वह येन केन प्रकारेण अपना नेतृत्व स्थापित रखना चाहता था तथा जन भावना के संचार हेतु उसने साम्प्रदायिकता को उभार कर एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जिसमें देश विभाजन के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रहा था । आर्थिक एवं राजनैतिक संदर्भ में जिस प्रकार से मुसलमानों को पाकिस्तान समर्थक बनाया गया वह केवल राजनैतिक चाल थी और जिन्ना का अंतिम लक्ष्य महत्वाकांक्षा की पूर्ति तथा तात्कालीन लाभ की भावना थी ।

द्विराष्ट्रीय सिद्धांत एवं पाकिस्तान की मांग वास्तविकता से परे विचार था हिन्दू मुस्लिम विभिन्नताओं को कोई भी स्वीकार नहीं करता किंतु ये अन्तर सांस्कृतिक, राजनैतिक की अपेक्षा धार्मिक अधिक है और थे और यही इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी विडम्बना है कि केवल धर्म के आधार पर एक देश का विभाजन किया जाय । यदि भारतीय इस्लाम का बारीकी से अध्ययन किया जाय तो यह पूर्णरूपेण भारतीय है और डा0 अन्सारी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि राष्ट्रवाद धर्म से भी अधिक सबल है । द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त तो केवल एक आवरण मात्र है । अशोक मेहता एवं अच्युत पटवर्धन का विचार है कि पाकिस्तान मांग का आधार धार्मिक न होकर सामाजिक अधिक था । संभवतया मुसलमानों की आशंका एवं उनमें विश्वास बढ़ाने हेतु यदि संघात्मक व्यवस्था स्वीकार करके बहुत संख्यक मुस्लिम क्षेत्र में अधिक धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करके संभवतया पाकिस्तान निर्माण व देश विभाजन का विकल्प बचाया जा सकता था ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिन्नाह बीसवीं शताब्दी का एक सफल व्यवहारिक राजनेता था जिसने देश विभाजन कर पृथक इस्लामी राज्य की स्थापना तो की किंतु उसके राजनैतिक चिन्तन में सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा एक जन आन्दोलन भड़काने तथा जन मनोविज्ञान के आधार पर दलित एवं पिछड़े मुस्लिम समाज को उत्तेजित करने की भावना का प्राबल्य था तथा उनके चिन्तन में विरोधाभास अधिक तथा राजनैतिक सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा व्यक्तिगत महत्वकांक्षी, व्यक्तिगत तुनक मिजाजी एवं व्यक्तिगत सम्मान एवं निष्ठा की भावना का प्राबल्य था ।

4.5 मौलाना अबुल कलाम आजाद (1889–1958) समन्वयकारी राष्ट्रवाद

मौलाना आजाद मुस्लिम राजनैतिक विचारकों में पूर्व एवं पाश्चात्य के समन्वयकारी तथा सामूहिक राष्ट्रवाद के समर्थक थे । उनकी प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा न केवल पूर्वी देशों में हुई वरन उनके वंशज भी अरब एवं भारत के प्रसिद्ध व्यक्ति थे । उदाहरणार्थ उनके पूर्वज मौलाना जमालउद्दीन ने सम्राट अकबर की दीन इलाही सम्बन्धी घोषणा पर हस्ताक्षर करने से मना किया था । उनके दादा मौलाना मुनव्वर उद्दीन मुसलमानों मे, गैर इस्लामी तौर तरीकों के विरोधी थे तथा उनके पिता मौलाना खैरूद्दीन वहाबी आन्दोलन के कट्टर आलोचक थे । अत: मौलाना आजाद पर परम्परावादिता की गहरी छाप पड़ी थी फिर भी वे नवीन विचारों के विरोधी ही नहीं थे वरन् उनमें मौलिक चिन्तन करने, में आधुनिकता को स्वीकार करने की भी क्षमता थी । वे सर सैयद के इन विचारों के कायल थे कि आधुनिक शिक्षित व्यक्ति बिना पाश्चात्य विज्ञान दर्शन व साहित्य को अध्ययन के पूरी तौर से शिक्षित नहीं कहा जा सकता ।

आजाद ने सर सैयद के अलीगढ़ आन्दोलन को संकीर्ण मानकर ऐसे सार्वभौमिक चिन्तन की कल्पना की जिसे समस्त इस्लामी संसार में फैलाया जा सके वे सैयद अहमद खां के इस विचार के समर्थक थे कि "कुरान" एवं "विज्ञान" एक दूसरे के विरोधी नहीं है तथा उन्होंने सैयद अहमद के "तकलीद" (नकलकरना) एवं "एतहाद" के विचारों का समर्थन किया । इसके अतिरिक्त उनपर साम्राज्यवादी विरोधी जमालउद्दीन अफगानी ने भी प्रभावित किया । मौलाना मौहम्मद अली के "पास इस्लामिज्म" के प्रभाव से भी वे अछूते नहीं रहे ।

मौलाना आजाद ने अपने इस्लामी राजनैतिक विचारों की संरचना अपनी पत्रिका "अलहिलाल" के माध्यम से की ।

उनका प्रारम्भिक जीवन ईश्वर के सम्पूर्ण प्रभुत्व, ईश्वरीय राज्य की स्थापना तथा शांति, सत्य तथा एक आदर्श राज्य की स्थापना हेतु कुरान के आधार पर एक काल्पनिक आदर्श प्राप्ति के विचार प्रस्तुत किये उन्होंने भारतीय राजनीति का धार्मिक दृष्टिकोण से सिंहावलोकन किया तथा उन्होंने "धार्मिक आस्थावान" तथा गैर धार्मिक आस्थावान के माध्यम से यह कल्पना की कि सभी धर्मनिष्ठों को एक होकर भारतीय राजनीति के दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए इसी आशय से उन्होंने 1914 में सभी उल्माओं'' के सामूहिक संकल्प के द्वारा इस्लाम में प्रतिपादित समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व के आधार पर राजनीति को धार्मिक आधार पर प्रतिपादित करने के लिये सम्मेलन किया किंतु प्रथम महायुद्ध के उपरान्त उन्होंने काल्पनिक दृष्टिकोण का परित्याग करके तात्कालीन वस्तु स्थिति का मूल्यांकन करके अपने विचारों को अधिकाधिक व्यवहारिक बनाया । इस परिवर्तन के लिए इस काल में उनके द्वारा इराक, मिश्र, सिरिया और तुर्की देशों के भ्रमण के उपरान्त उनका यह अध्ययन कि इन देशों ने आधुनिकीकरण के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में जो विकास किया उसके आधार पर उन्होंने भी वस्तु स्थिति एवं यर्थाथ को सम्मुख रख के अपने विचारो को भी बदला। और इस आधार पर उन्होंने मुसलमानों के भविष्य की कांग्रेंस के नेतृत्व में सुरक्षित मान कर यह स्वीकार किया कि कांग्रेंस द्वारा प्रतिपादित लक्ष्य ही मुसलमानों में स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व की भावना का संचार करने में समर्थ हो सकेंगे । खिलाफत आन्दोलन के उपरान्त आजाद पूर्णतया उदारवादी, धर्म निरपेक्षता एवं हिन्दू–मुस्लिम एकता के समर्थन बन गये तथा इसके उपरान्त वे पाश्चात्य विरोधी न होकर मुसलमानों से वास्तविकताओं को पहचानने के आग्रहवादी बने ।

उनकी यह दृढ़ मानता थी कि धर्म के मार्ग में तर्क एवं ज्ञान बाधक न होकर सहायक ही होता है । आजाद की धार्मिक धारणा के तीन आधार थे एक ओर वे ईश्वर के सर्वशक्तिमान, सार्वभौमिक स्वरूप के, प्रतिपादक थे उनका कथन था कि मनुष्य की कितनी भी विभिन्न धार्मिक मान्यताएं क्यों न हों फिर भी वे ईश्वर के एकाधिकारी स्वरूप को, विभाजित नहीं कर सकती उनकी मान्यता थी कि ईश्वरीय रूप वृक्ष की जड़ के समान एक ही है जब कि विभिन्न महजब पत्तियों की भांति अलग अलग हो सकते हैं इस अन्तर का कारण उन्होंने ज्ञान एवं सामाजिक दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार किया तथा सभी धर्मों में आत्मा की शुद्धिकरण के

आधार एक ही स्वरूप में अनन्तोगत्वा ईश्वर के सार्वभौमिक स्वरूप की कल्पना की गई है । अतः ईश्वर के हिन्दू एवं मुस्लिम स्वरूप में मौलिक रूप से कोई अन्तर नहीं है ।

आजाद के धार्मिक चिन्तन का दूसरा आधार उचित कर्म पर बल देने की भावना में निहित है और इस भावना के अन्तर्गत सभी धर्मों का उद्देश्य एक आदर्श समाज की स्थापना में निहित है ।

उनका तीसरा आधार मृत्यु उपरान्त की कल्पना से संबधित है । मृत्यु को उन्होंने जीवन का अनत स्वीकार नहीं किया है तथा वे मानते, थे कि पूर्व जन्म का अगले जन्म में व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है । अत: इस आधार पर उन्होंने अच्छे कर्मो के करने पर बल दिया।

आजाद ने उपरोक्त आधार पर 'मोमिन 'एवं 'काफिर' शब्दों का पुर्नमूल्यांकन किया और यह माना कि जो धर्मनिष्ठ नहीं है उनके सुधारने हेतु ईश्वर का द्वार सदैव खुला रहता है तथा वे मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे जो भी धर्म क्यों न माने यदि उसके कर्म सद्भावना एवं सत्कर्म हैं तो वह धर्मनिष्ठता की परिभाषा में आता है ।

मौलाना आजाद का धार्मिक चिन्तन तर्क एवं उदारवादी था । वे मानते थे कि तर्क ही मानवता का सर्वोत्तम गुण है तथा इसी के, द्वारा मनुष्य में सर्वोत्तम गुणों का विकास होता है। इस प्रकार से उनकी तर्क में आस्था होते हुए भी वे धार्मिक प्रेरणा के पक्षपाती थे और इस प्रकार से उनकी मान्यता थी कि इस प्रकार के सार्वभौमिक धर्म का मानव विकास में कभी भी महत्व कम नहीं होगा ।

मौलाना अबुल कलाम आजाद के राष्ट्रवादी विचारों के दो पहलू थे एक तो उनके अंग्रेजों के प्रति विचार तथा दूसरे अपने देशवासियों के प्रति 1905 से बंगभंग से पूर्व वे भी सर सैयद की भांति अंग्रेज प्रभाव एवं अंग्रेजी न्याय के समर्थन थे किन्तु धीरे धीरे उन्होंने अंग्रेजों की सम्राज्यवादिता की नीति का विरोध करना प्रारम्भ किया तथा अपने प्रारम्भिक काल में उन्होंने मुसलमानों में कुरान के आधार पर अपने जीवन लक्ष्य को निर्धारित कर संगठित होने के आग्रह किया किन्तु "पान इस्लामिज्म", इकबाल के मुस्लिम राष्ट्रवाद आदि के वातावरण में जब आजाद गांधीजी के सम्पर्क में आये तो उन्होंने देश की राजनीतिक का यर्थाथवादिता के आधा पर अध्ययन किया और उन्होंने प्रजातन्त्र, धर्म निर्षेक्षता को राष्ट्रीयता का आधार स्वीकार करके "सामूहिक राष्ट्रवादी" विचारधारा का प्रतिपादन किया और उन्होंने यह स्वीकार किया राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता देश का तत्कालीन परिस्थितियों में अंतिम लक्ष्य है तथा अंग्रेजी यातनाओं एवं दमन से मुक्ति देश की प्रथम आवश्यकता है और इस हेतु देश के सभी धर्मावलम्बियों को एक मत होकर राष्ट्रीय आदोलन में हिस्सा लेना चाहियें । सामूहिक राष्ट्रवादी विचार धारा उदारवादी होगा और यह सर्व विश्व की कल्पना के अनुरूप होते हुए सभी धर्मावलम्बियों के लिए साथ 2 रहने की भावना के अनुरूप होगी । गांधीजी के अनुसार आजाद की राष्ट्रवाद में आस्था उतनी ही गहरी थी जितनी कि उनकी धर्म में विश्वास था । वे मानने थे कि प्रत्येक मुसलमान को भारत का सच्चा राष्ट्रवादी होते हुए अपने देश की एकता को मजबूत करना चाहिये । वे सम्प्रदायिक सद्भावना के प्रतीक थे इस दिशा में हिन्दू मुसलमान प्रश्न को राजनैतिक आधार पर सोचने की अपेक्षा एवं सामाजिक दृष्टिकोण से सोचने की भावना पर बल देते थे । उनका

कहना था कि लगभग ग्यारह सौ वर्षो के पारस्परिक सहवास के कारण भारत में समूहिक एवं सामान्य संस्कृति का विकास हुआ है और देश के इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति, भाषा, वेशभूषा और यहां तक दैनिक जीवन यापन समन्वयकारी दृष्टिकोण से ओत प्रोत है । इस आधार पर उन्होंने निर्वाचन, नौकरियों, में स्थानों की सुरक्षित आदि विषयों को केवल आर्थिक समस्या मानकर एक सार्वभौमिक समन्वयकारी राष्ट्रवादी की कल्पना की ।

आजाद देश विभाजन तथा पाकिस्तान निर्माण के विरोधी राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक आधार के साथ साथ धार्मिक आधार पर भी विरोधी थे उनका कहना था कि पैगम्बर के अनुसार समस्त विश्व एक मस्जिद है और इसलिये पृथक मुस्लिम राष्ट्र मुसलमानों की समस्याओं की समाप्त करने की अपेक्षा अधिक समस्यापूर्ण बनायेगा ।

इस संदर्भ में उन्होंने कुरान की मान्यताओं के आधार कि यह प्रस्तुत किया इस्लाम युद्धों के औचित्य को, केवल उस दशा को, छोड़कर जब कि वे अनिवार्य हो जाय, स्वीकार नहीं करता । बहुचर्चित 'जिहाद' का आशय उन्होंने' बलिदान, शांति व प्रतिक्षा' से लिया । उनका कुरान का अध्ययन एवं उसकी व्याख्या उनके गहन चिन्तन का आधार था उन्होंने कुरान में माध्यम से सहिष्णुता पूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के विचार को बल दिया । उनके उदारवादी समन्वयकारी धार्मिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में उन्होंने समूहिक राष्ट्रवाद की कल्पना की उनका कहना था कि यदि धर्मान्धता और संकुचित भावना का परित्याग कर यदि उदारवादिता को अपनाया जाय तो यह राष्ट्र उत्थान हेतु एक महान शक्ति बनेगी वे माने थे कि राष्ट्रवाद भी संकुचित न होकर सर्वमानव कल्याण हेतु विश्व बंधुत्व की भावना के अनुरूप होना चाहिए ।

आजाद ने देश की आजादी हेतु भिक्षावृति, प्रस्ताव प्रस्तुत करनें अथवा डेपूटेशन संगठित आदि करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप से सरकार पर दबाव डालने के विचारों का समर्थन करके गांधीजी के अत्यन्त निकट आ उन्होंने धार्मिक निष्ठा एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु असहयोग एवं अहिंसा के आन्दोलनों को स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन स्वीकार किया । अहिंसा के सम्बन्ध में उनका विचार था कि यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु एक साधन मात्र है और यदि आवश्यकता हो तो शक्ति के प्रयोग में भी हिचकना नहीं चाहिए किन्तु शक्ति का प्रयोग अंतिम, असहाय स्थिति में ही करना चाहिए उन्होंने गांधीजी को निष्ठावादन सहयोगी के रूप में अहिंसा एवं सत्याग्रह आन्दोलनों में अपना सक्रिय सहयोग दिया ।

आजाद एक महान उदारवादी, धर्मनिर्पेक्षक समन्वयकारी विचारक थे “अलहिलाल” पत्रिका के माध्यम से उन्होंने मुस्लिम समाज से प्रजातंत्रीय पारस्परिक सहयोग, सद्भावना के विचारों को प्राप्त करने की दशा में जनमत तैयार किया । ईश्वरीय आस्था की एकता के संदर्भ में उन्होंने सभी धर्मावलम्बियों के सार्वभौमिक दृष्टिकोण के आधार पर प्रजातन्त्र की कल्पना की प्रजातंत्रीय व्यवस्था का आधार शक्ति न होकर सहिष्णुता होता हैं इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता मानवीय विकास हेतू एक परमावश्यक तत्व है अत: आजाद के धार्मिक राष्ट्रवाद एवं प्रजातन्त्र के विचारों की पृष्ठभूमि में विश्वास, निष्ठा, सद्भावना एवं सहिष्णुता की भावना का आधार था प्रजातन्त्र की “साधन एवं साध्य” के दृष्टिकोण से भी आजाद ने मीमांसा की ओर इस बात पर बल दिया कि उचित शांतिपूर्ण तरीकों से ही स्वतन्त्रता प्राप्ति कर प्रजातन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना करना चाहिए । उनका कहना था कि देश सभी नागरिकों का है अतः सभी नागरिकों को

उदारवादी दृष्टिकोण के, आधार पर प्रजातंत्रीय व्यवस्था को स्वीकार करना चाहिए आजाद संस्दात्मक एवं संघात्मक व्यवस्था को स्वतन्त्रता उपरान्त भारत में स्थापित करने के पक्षपाती थे तथा उनकी मान्यता थी कि प्रजातन्त्रीय व्यवस्था ही देश की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का एक मात्र उपाय है ।

आजाद एक वे मुस्लिम राजनैतिक चिन्तक थे जिन्होंने मुस्लिम समस्या का यर्थाथावादिता एवं वास्तविकता के आधार पर अध्ययन करके वस्तुस्थिति को समक्ष रख व्यवहारिकता के आधार पर चिन्तन किया । उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि प्रजातन्त्र की स्थापना के उपरान्त सांस्कृतिक एवं अल्पवर्ग की समस्याओं का स्वत: ही समाधान हो जायगा उन्होंने समाजवाद को नैतिक दृष्टिकोण से अपनाने के माध्यम से सामूहिक राष्ट्रवादी कल्पना को और अधिक व्यवहारिकता दी तथा धर्म निर्पेक्ष देश में उन्होंने भारत के शिक्षा मंत्री होने के नाते विभिन्न विद्यालयों में धार्मिक व नैतिक शिक्षा का विरोध ही नहीं किया वरन इस प्रकार की नैतिक शिक्षा को प्रजातन्त्रीय आधार का एक आवश्यक तत्व स्वीकार किया और अन्त में उन्होंने सर्व मानवीय वृहद् अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनाने पर बल दिया ।

आजाद का चिन्तन "सत्य, तर्क एवं बुद्धि" पर आधारित था यद्यपि वे एक परम्परावादी चिन्तक थे किन्तु उनके विचार पूर्णतया आधुनिक थे ।

5. स्वतंत्र भारत की धर्म–निर्पेक्षता तथा बदलते हुए संदर्भ

भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के संदर्भ में वैध स्वरूप में हमारी व्यवस्था ने धर्म निर्पेक्ष स्वरूप तो स्वीकार किया ही है किन्तु इसके उपरान्त भारतीय समन्वयकारी सांस्कृतिक विकासमयी भावना के कारण यह केवल आदर्श या कल्पना नहीं होकर आज हमारी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । संविधान की 15वीं तथा 16वीं धारा धार्मिक विभेदों को समाप्त कर समानता स्थापित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं जब कि 25 से 28 धारा में विभिन्न धार्मिक सुविधाएं प्रदान की गई है और 29वी धारा में धर्म के आधार पर सभी को बिना धार्मिक भेद भाव में शिक्षा सम्बंधी सुविधाओं के प्रदत्त करने का प्रावधान रखा गया है ।

भारत में मुसलमानों के अतिरिक्त पारसी, ईसाई के अतिरिक्त पिछड़े वर्ग एवं स्वयं हिन्दू समाज में अनेक जातियां हैं तथा देश में विभिन्नताओं के वातावरण में 'भावात्मक एकता' की अत्यधिक आवश्यकता है । राष्ट्र के प्रति प्रेम, सभी देशवासियों के प्रति प्रेम, सहानुभूति, सदभावना के आधार पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने की भावना ही भावात्मक एकता का प्रतीक है ।

उपरोक्त संदर्भ मुसलमानों की स्थिति पाकिस्तान निर्माण तथा किसी न किसी प्रकार से भारतीय मुसलमानों का पाकिस्तान से सम्पर्क आदि के संदर्भ में नाजुक बन गई है । मध्य युग में जहां मुसलमान देश के शासक थे तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में दो विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर महत्वपूर्ण स्थान रखते थे आज स्वतंत्र, प्रजातंत्रीय व्यवस्था में मुसलमानों का दायित्व बराबर के साझीदार बनने का तो है ही इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय विकास व एकता के संदर्भ में हिन्दू वर्ग का भी कर्तव्य है वे सदाकाल से अपनाई समन्वयकारी भावना के अनुरूप मुसलमानों को अपने और अधिक निकट लाकर एक नई दिशा ज्ञान को मार्ग निर्देशन दें ।

बदर–उद–दीन तैयबजी ने मुसलमानों से धर्म निर्पेक्ष राज्य में अधिकाधिक जागरुक एवं कर्तव्य परायणता के आधार राष्ट्रीय, उदारवदिता को अधिकाधिक अपनाने की भावना पर बल दिया है । मुसलमानों में वर्तमान भारतीय संदर्भ में अपनी हीनता, दयनीयता अथवा गरीबी की भावना भुलाकर प्रजातंत्र की सच्ची भावना से कर्तव्यनिष्ठ नागरिकों की भूमिका निभाने की आवश्यकता है । भारतीय मुसलमानों में पाकिस्तान निर्माण की याद अभी भी भूली नहीं है । तथा वे भारतीय संविधान के अन्तर्गत संचालित प्रजातंत्रीय व्यवस्था में अभी हिन्दू बहुसंख्यक वर्ग से सशक्तिप्रायः हैं ।

स्वतंत्र भारत में सबल मुस्लिम नेतृत्व की भी कमी रही । मौलाना आजाद, रफी अहमद किदवई, हुमायूं कबीर, बदरू–उद–दीन तैयबजी आदि कुछ ही प्रमुख नाम है शिक्षा के क्षेत्र में अलयारजंग, नुरुलहसर, रशीद–उद–दीन खां के अतिरिक्त भूतपूर्व राष्ट्रपति जाकिरहुसैन एवं भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश हिदायत उल्लाह आदि के नाम प्रमुख है । किन्तु नेतृत्व की दृष्टि से पंडित जवाहर लाल नेहरू का आधुनिक मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन की दिशा के विकास में महान योग दान रहा है । नेहरू के जीवनकाल तो साधारणतया मुस्लिम जनमत कांग्रेस के पक्ष में मतदान देते रहे किन्तु नेहरू की मृत्यु के उपरान्त मुस्लिम समाज राष्ट्रव्यापी दृष्टिकोण के आधार पर नेतृत्व विहीन सा ही रहा । फल स्वरूप "मजलिस–ए–मशावरात" जैसे राष्ट्रव्यापी मुस्लिम संस्था का उदय हुआ जिसका मुख्य उदेश्य विभिन्न सम्प्रदायों के साथ सहयोग पारस्परिक स्नेह की भावना में अभिवृद्धि करना है । इसके साथ साथ "मुस्लिमलीग" का भी उदय हो गया है । किन्तु और अब "मुस्लिम मजलिस" की भी स्थापना हो गई है । किन्तु इन सब प्रयासों की मौलिक समस्या सम्प्रदायिकता की भावना की मुक्ति में हैं ।

अंत में वर्तमान मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन के रूप में "भारतीकरण" की समस्या भी प्रमुख है । धर्म निर्पेक्षता के आधार पर उदारवादिता भारत को अपना राष्ट्र स्वीकार करना ही प्रमुखतया भारतीयकरण भावना है । वैसे तो पाकिस्तान निर्माण एंव अंग्रेजों के भारत से निष्कासन के उपरान्त भारतीयकरण की समस्या स्वत: ही हल हो गई थी किन्तु पाकिस्तान निर्माण के उपरान्त आज भी मुसलमानों में भारत को हृदय से भावात्मक रूप में अपनाने की पृष्ठभूमि में भारतीयकरण विचारधारा के सम्बन्ध में भी गहन चिन्तन की आवश्यकता है । इस संदर्भ में शिक्षा सहिष्णुता एवं उदारवादी दृष्टिकोण अपनाने की अत्याधिक आवश्यकता है ।

6. निष्कर्ष

मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन स्वयं अपने में एक बड़ा विषय है । यहां संकेतमात्र संदर्भ में इसकी मूल विशेषताओं के, संक्षिप्त स्वरूप का प्रस्तुतिकरण किया गया । मुस्लिम समाजवाद, उल्माओं के प्रभाव, देवबन्द एवं अहमदिया आन्दोलनों के अतिरिक्त शिया–सुन्नी विभेद, तजिम एवं तबलिग आन्दोलन, खाकसार और लाल कुर्ती आन्दोलनों के साथ साथ मुस्लिमलीग, मुस्लिम आदि की निर्वाचन तथा भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में मुसलमानों की वर्तमान स्थिति का चित्रण जानबूझकर इस पाठ में सम्मिलित नहीं किया गया न ही इस लेखक का उद्देश्य साम्प्रदायिक वर्गो अथवा हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयासों की सफलता अथवा असफलताओं का मूल्यांकन करना था । जैसा कि भूमिका में संकेत दिया गया था इस पाठ के

माध्यम से, वर्तमान मुस्लिम , राजनैतिक विचारों के आधुनिकीकरण, उदारवाद मुस्लिम नव निर्माणवाद, समूहिक राष्ट्रवादी कल्पना के साथ–साथ वर्तमान भारतीय संदर्भ में मौलिक समस्याओं के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है । वर्तमान काल में मुस्लिम राजनैतिक किस दिशा मार्ग को अपनाये यह अभी भी सुनिश्चित विषय न होकर भावी विकास से सम्बन्धित मौलिक प्रश्न है । अन्ततोगत्वा मुस्लिम राजनैतिक चिन्तन की मूल समस्या भारतीयता एवं राष्ट्रवादिता की भावना में निहित है ।

7. संदर्भ ग्रन्थ

अफजल, रफीक	:	स्पीचेज एण्ड स्टेटमेंट ऑफ जिन्ना
अलबिरूनी, ए.एच	:	मेकर्स ऑफ पाकिस्तान एण्ड मोडर्न मुस्लिम इंडिया
अली एस. ए.	:	इकबाल : हिज पोइट्री एण्ड मेसेज
अली एस. ए.	:	ऐमिनेन्ट मुसलमान्स
कन्सल, जी. डी.	:	जिन्ना : दी जेन्टलमेन

8. अभ्यास – प्रश्न

1. सर सैयद अहमद खां के व्यक्तित्व एक कृतित्व की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
2. इकबाल के राजनैतिक चिन्तन की व्याख्या करते हुए बतलाइये कि पाकिस्तान का निर्माता इकबाल था अथवा जिन्ना?
3. मौलाना अबुल कलाम आजाद एवं मोहम्मद अली जिन्ना के राजनीतिक एवं धार्मिक विचारों की तुलना करते हुए मूल्यांकन कीजिये ।

इकाई–13
विनायक दामोदर सावरकर

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना तथा जीवन परिचय
3. कृतित्व
4. सावरकर की भारतीय इतिहास व्याख्या
5. सावरकर का हिन्दुत्व सिद्धान्त
6. निष्कर्ष
7. संदर्भ ग्रन्थ
8. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य निम्नलिखित है–

(i) सावरकर के हिन्दु परिप्रेक्ष्य का बोध

(ii) हिन्दुवाद व हिन्दुत्व में भेदकारी वैचारिक श्रेणियों की समझ; तथा

(iii) सावरकर की इतिहास व्याख्या से अन्तरंगता

2. प्रस्तावना एवं जीवन परिचय

विनायक दामोदर सावरकर भारत के अग्रगण्य क्रान्तिकारी नेता थे। भारत की स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने महाराष्ट्र में और इंग्लैंड में धूम मचा दी और विदेशों में भी इसके लिये प्रचार करवाया था । सावरकर के जन्म के समय भारत में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो चुकी थी आर्य समाज के प्रचार की धूम थी और दो वर्ष बाद कांग्रेस की स्थापना होने वाली थी ।

विनायक दामोदर सावरकर का जन्म 28 मई 1883 में नासिक जिले के भागुर नामक गांव में हुआ था । इनके पिता दामोदर पन्थ सावरकर ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी परन्तु वे संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे । विनायक की माता राधा बाई बड़ी धार्मिक महिला थी । सावरकर चितपावन ब्राह्मण थे । इसी जाति में लोकमान्य तिलक का जन्म हुआ था । विनायक दामोदर सावरकर छः वर्ष की अवस्था में ही स्कूल में दाखिल कर दिये गये थे । प्रारम्भिक शिक्षा की समाप्ति के बाद उन्होंने नासिक के हाई स्कूल में प्रवेश किया । उसी समय महाराष्ट्र में ऐसी घटनायें हुई जिनके कारण बालक विनायक के विचार सरकार विरोधी और क्रान्तिकारी बन गये । सन् 1897 में पूना में प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ । उस समय सफाई के और रोग निवारण के नाम पर सरकार ने जनता पर बढ़े अत्याचार किये । सैनिकों ने घरों को आग लगा दी । लोगों को बेघरबार कर दिया और स्त्रियों के साथ अत्याचार किया । लोकमान्य तिलक ने इसका विरोध किया परन्तु सरकार तो अत्याचार पर तुली हुई थी, इसलिये कोई सुनवाई नहीं हुई । पूना में रेण्ड नामक एक अंग्रेज को प्लेग कमिश्नर नियुक्त किया गया था ।

उसने जनता पर बड़े अत्याचार करवाये जिससे क्रुद्ध होकर चापेकर नामक दो भाइयों ने रेण्ड की और एक दूसरे अंग्रेज अफसर की, जिसका नाम आर्यस्ट था 22 जून 1897 के दिन पूना में हत्या कर डाली । उसी दिन महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनाई जा रही थी । इन हत्याओं से सरकारी हलकों में बड़ी सन–सनी मच गई । दामोदर पन्थ चापेकर को पकड़ लिया गया और मुकद्दमा चलाकर उसको फांसी लगा दी गई । उसने गीता का पाठ करते हुए अपने प्राणों का त्याग किया । इस घटना से विनायक दामोदर सावरकर के हृदय पर बड़ा आघात हुआ। उस समय उनकी आयु 16 वर्ष की भी नहीं थी परन्तु उन्होंने व्रत धारण किया कि मैं देश को स्वतन्त्र करूंगा ।

दामोदर पन्त चापेकर को पूना के द्रविड़ भाइयों ने पकड़वाया था । उनको चापेकर के छोटे भाई ने गोली से मार डाला । तब इस छोटे भाई को भी फांसी का दण्ड दिया । तब तो सावरकर के हृदय में ज्वाला धधक उठी । उन्होंने सन् 1900 में देश भक्त नवयुवकों का एक मण्डल बनाया जिसका नाम मित्र मेला रखा । सर वेलन्टाइन चिरोला ने लिखा है कि यह मेला क्या या, क्रान्तिकारियों का मक्खियां का छत्ता था । फिर यही मित्र मेला 1904 में अभिनव भारत सोसायटी कहलाने लगा और गुप्तरूप से इसकी शाखायें पश्चिम भारत और मध्य भारत में फैल गईं और इंग्लैंड में इसने गदर पार्टी का रूप धारण किया जिसकी शाखायें फ्रांस जर्मनी, अमरीका, ह्यांग सांग, सिंगापुर और ब्रम्हा में फैल गईं ।

मित्र मेला की साप्ताहिक सभाओं में उग्र राजनीतिक भाषण हुआ करते थे । सन् 1901 में सम्राट एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक होने वाला था । उस समय इस सभा में बहस हुई कि महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर शोक प्रस्ताव और सम्राट एडवर्ड के प्रति स्वामिभक्ति का प्रस्ताव पास किया जावे या नहीं । तो विनायक ने कहा सम्राज्ञी हो या सम्राट, प्रश्न तो यह है वह किसका सम्राट है । इंग्लैंड का सम्राट हमारे शत्रुओं का सम्राट है । ऐसे व्यक्ति के प्रति स्वामी भक्ति का प्रस्ताव करना दासता की बाईबल पढ़ना है । अन्त में कोई प्रस्ताव पास नहीं हुआ । मित्र मेला के सदस्यों में कई अच्छे महाराष्ट्र के कवि, वक्ता और देश भक्त थे ।

मैट्रिक पास करने के बाद सावरकर सन् 1902 में फरगुसन कालेज पूना में दाखिल हुए। वहां भी उन्होंने देश भक्त नवयुवकों का एक मण्डल बनाया और एक हस्तलिखित साप्ताहिक जारी किया । सावरकर का अध्ययन विस्तृत था । संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य में उनका अच्छा प्रवेश था । इसलिए उनका सब विद्यार्थियों पर प्रभाव था । उन्होंने स्वदेशी प्रचार किया । उनके साथी सब स्वदेशी कपड़े पहनने लगे । पूना की जनजागृति के कामों में भी विनायक भाग लिया करते थे । वे बड़े प्रबल वक्ता थे, इसलिए उनका सर्वत्र स्वागत किया जाता था । इन दिनों मैं सावरकर का लोक मान्य तिलक से सम्पर्क हुआ । उस समय सावरकर नवयुवकों के नेता माने जाने लगे थे । उस समय भारत में अपूर्व जागृति शुरू हो गई थी । तिलक कहने लग गये थे कि राजनीतिक स्वाधीनता भारतीय जनता के बल से ही प्राप्त होगी । यह अंग्रेजों से नहीं मिलेगी यह भावना लाला लाजपतराय की भी थी । उसी समय जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की थी । भारत में एक नई उमंग उत्पन्न हो गई थी । सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कहा था कि अब स्वतंत्रता के सूर्य का उदय हो गया है । बंगभंग के कारण सारे देश में क्षोभ था ।

सावरकर के उग्र भाषणों से पूना में हलचल सी मच रही थी । सावरकर और उनके साथी स्वदेशी के प्रबल प्रचारक थे और बंगभंग के बड़े विरोधी थे । सावरकर ने विदेशी चीजों के बहिष्कार का झण्डा खड़ा किया और सुझाव दिया कि अंग्रेजी कपड़ों का बहिष्कार ही नहीं उनकी होली मनानी चाहिए । 1905 में उन्होंने पूना में इस विषय में एक लम्बा जुलूस निकाला जिसमें तिलक भी कुछ दूर तक शामिल हुए । एक गाड़ी भर विदेशी कपड़ों को जलाया गया । अब सावरकर ने मित्र मेला का अभिनव भारत नाम रखा । यह संगठन मैजिनी के यंग इटली के ढंग का था । इसके सदस्य यूरोप के गुप्त सोसायटियों के साधनों का अध्ययन किया करते थे ।

1905 में बी.ए. पास करने के बाद सावरकर कानून पढ़ने के लिए बम्बई गये । वहां भी विविध कालेजों में उन्होंने उग्र राजनीतिक सभायें बनाई । बी. जी. खेर जो आगे चलकर 1935 में बम्बई चीफ मिनिस्टर बने अभिनव भारत सोसाइटी से बड़े प्रभावित थे । और जे. बी. कृपलानी भी इसमें दीक्षित हुए थे ।

इस समय प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा लन्दन में रहते थे । उन्होंने ऐसे विद्यार्थियों को जो यूरोप में अध्ययन करना चाहते हों और जो सरकारी नौकरी करने की अभिलाषा न रखते हों कुछ छात्रवृत्तियां देना चाहा । सावरकर ने इसके लिए प्रार्थना पत्र भेजा और लोकमान्य तिलक ने उनकी सिफारिश की । सावरकर को एक छात्रवृत्ति मिल गई और 1906 को वे बम्बई से इंग्लैंड के लिए रवाना हो गये । जाने से पहले तिलक और परंजपे ने सावरकर को अपने साथ भोजन करने को बुलाया और उनको आवश्यक सलाह दी । इसी वर्ष ढाका में मुस्लिमलीग की स्थापना हुई । इसी वर्ष बरिन्द्र नाथ ने कलकत्ते के पास मणिकटोला में एक क्रान्तिकारी दल बनाया और इसी वर्ष **अनुशीलन समिति** नामक क्रान्तिकारी संस्था की स्थापना हुई ।

सावरकर जुलाई 1906 में लन्दन पहुंचे और इण्डिया हाऊस में ठहरे जो श्याम जी कृष्ण वर्मा ने स्थापित किया था । सावरकर बेरिस्टर बनने के लिए ग्रेजइन में प्रविष्ट हो गये । श्याम जी कृष्ण वर्मा बचपन से ही बड़े देश भक्त थे । उनका जन्म 1857 में हुआ था । बम्बई में उन्होंने मैट्रिक पास किया था और फिर स्वामी दयानन्द से प्रभावित होकर उन्होंने गुजरात में आर्य समाज का प्रचार किया था । उन्होंने इंग्लैंड जाकर केम्ब्रिज से बी.ए. पास किया और फिर बैरिस्टर बने । वे संस्कृत के बड़े विद्वान थे । और रायल एशियाटिक इंग्लैंड के निर्वाचित सदस्य थे । 1881 में बर्लिन में प्राच्य विद्या विषारदों की काँफ्रेंस हुई तो भारत सचिव ने श्यामजी को भारत का प्रतिनिधि बना कर भेजा था । भारत वर्ष वापिस लौटकर श्यामजी कृष्ण वर्मा रतलाम, उदयपुर और जूनागढ़ के दीवान रहे । श्यामजी पर तिलक का बड़ा प्रभाव था । सन् 1897 में जब लोकमान्य तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया तो श्यामजी लन्दन चले गये और वहां उन्होंने **इण्डिया हाउस** स्थापित किया और वहीं **होमरूल सोसाइटी** का भी संगठन किया जो स्वराज्य के लिए आन्दोलन करती थी । फिर उन्होंने छात्रवृत्तियों की घोषणा की जिनमें से एक छात्रवृति प्राप्त करके सावरकर इंग्लैंड गये ।

सन् 1906 में सावरकर ने लन्दन में फ्री **इण्डिया सोसाइटी** शुरू की और भारतीय विद्यार्थियों का संगठन करने लगे । वहां भाई परमानन्द, लाला हरदयाल और वीरेन्द्रनाथ

चटोपाध्याय जो सरोजनी नायडू के भाई थे सावरकर के प्रभाव में आये । फ्री इण्डिया सोसाइटी में रैवा भाई राणा भी आया करते थे जो लिमड़ी महाराजा के कुटुम्बी थे । वे भारतीय स्वतन्त्रता के बड़े समर्थक थे और पेरिस में उन्होंने इसके लिए एक मीटिंग की थी । ज्ञानचन्द वर्मा अभिनव भारत सोसाइटी लन्दन के मंत्री थे । 'मैडम कामां इसकी सदस्या थीं और क्रान्तिकारी साहित्य का वितरण किया करती थीं । सेनापति बापट एक दूसरे सदस्य थे । उनका सिद्धान्त था कि न्याय प्राप्ति के लिए हत्या करना उचित बात है । मदनलाल धींगड़ा इस सोसाइटी के जोशीले सदस्य थे । रवि शंकर शुक्ल जो फिर मध्य प्रान्त के मुख्य मन्त्री बनें इस सोसाइटी में आया करते थे । सिकन्दर हयातखां और आसफ अली की अभिनव भारत सोसाइटी से सहानुभूति थी । यह सोसाइटी शिवाजी, गुरू गोविन्द सिंह और गुरू नानक के जन्म दिन पर उत्सव मनाया करती थी । दशहरा पर भी इसका अधिवेशन होता था । ग्रेट ब्रिटेन में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी इसमें सम्मिलित होते थे । जवाहरलाल नेहरू और दो तीन अन्य विद्यार्थी इससे सम्पर्क नहीं रखते थे । उस समय उनके विचार राष्ट्रीय नहीं थे । सारे विद्यार्थी प्राय: उग्र राजनीतिक विचार के थे । सावरकर का विचार था कि भारत वर्ष हिन्दुओं का देश है । दूसरी जातियां यहां आकर बस गई है । इसलिए भावी स्वतन्त्रता में हिन्दुओं का आधिपत्य होना चाहिये और अन्य जातियों के अधिकार सुरक्षित रहने चाहिए ।

इंग्लैंड़ में पढ़ने वाले मुसलमान विद्यार्थियों के विचार और ही प्रकार के थे । उस समय जियाउद्दीन ने जो अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के कुलपति बने, अबदुल्ला सुहरावर्दी को लिखा था, 'हमारी नीति सर सैयद की नीति होनी चाहिये । आप क्षण वर्मा की स्थापित की हुई इण्यिन होमरूल सोसाइटी के उप प्रधान हैं जो सोसाइटी अलीगढ़ की नीति के विरुद्ध है । यही सुहरावर्दी फिर बंगाल के मुख्य मंत्री बने और इन्ही के समय में कलकत्ते में हिन्दुओं का बड़ा संहार हुआ । आसिफ अली ने श्याम जी को सर 1909 में लिखा था । 'मैं कुछ मुसलमान मित्रों के साथ रहता हूं । उनको पंसद नहीं है कि राष्ट्रीय लोगो से मेरा सम्पर्क रहे । इसलिए उनको नाराज नहीं करना चाहता ।

3. कृतित्व

सावरकर क्रांतिवादी विचारों से ओतप्रोत थे । उन्होंने मैजिनी पर एक पुस्तक लिखी जो महाराष्ट्र में बड़ी लोकप्रिय हुई । सरकार ने उसको जब्त कर लिया और 40 वर्ष तक नहीं बिकने दिया । इंग्लैंड में 1 मई को प्रतिवर्ष 1857 के दमन का दिवस मनाया जाता था । सावरकर ने इसके विरोध में विद्रोह की रजत जयन्ती मनाने का निश्चय किया । 1907 में ब्रिटेन में भारतीयों ने सभायें की, उपवास किए, स्वतन्त्रता प्राप्त करने का व्रत धारण किया, 1857 के वीरों के प्रति सम्मान प्रकाशित किया और अपने सीनों पर अभिमान के साथ उनकी स्मृति में तमगे लगाये । इसकी अंग्रेजी प्रेस में बड़ी निन्दा की गई और सबने श्याम जी वर्मा का घोर विरोध किया । तब श्याम जी लन्दन छोड़ कर पेरिस चले गये और वहां से भारतीय स्वतन्त्रता का प्रचार करते रहे । श्याम जी सावरकर से बड़ा प्रेम करते थे । इसलिए लन्दन से प्रस्थान करते समय उन्होंने इण्डिया हाउस सावरकर के सुपुर्द कर दिया । सावरकर के समय में इण्डिया हाउस का वायुमण्डल और भी उग्र हो गया । आसफअली ने लिखा है कि मुझे आश्चर्य

है कि 22 वर्ष के लड़के का लोगों पर इतना प्रभाव कैसे हैं ! इसमें शिवाजी की भावना मालूम होती है । सावरकर ने न्यूयार्क के एक पत्र में भारत के विषय में लेख लिखे और जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, रसियन और पौर्चगीज भाषा के उनके अनुवाद करके उन देशों में छपवाये । सन् 1907 में अगस्त में जर्मनी की स्टूट गार्ट नामक नगर में इन्टर नेशनल सोशलिस्ट कांग्रेस हुई। जिसमें सावरकर ने मेडम कामां और सरदार सिंह राणा को भारत का प्रतिनिधि बना कर भेजा । अंग्रेज सदस्यों ने इनका बड़ा विरोध किया । तथापि मेडम कामां जो क्रांतिकारी विचारों की बम्बई की पारसी महिला थीं भारत पर एक प्रस्ताव करने के लिए खड़ी हुईं और भारतीय स्वतन्त्रता का ध्वज फहराया । उन्होंने कहा कि भारतवर्ष में अंग्रेजों के राज्य से देश का बड़ा अहित हो रहा है । इस दासतां का अन्त करने के लिए संसार के सारे स्वतन्त्रता प्रेमी लोगों को सहयोग देना चाहिए । अंग्रेज सदस्यों के विरोध से प्रस्ताव पास न हो सका, परन्तु भारत के विषय में हलचल अवश्य शुरू हो गई । 1907 में भारत के उग्र विचारों का उदय हुआ तो लाला लाजपतराय और सरदार अजित सिंह को देश से निर्वासित कर दिया गया । 1907 की सूरत कांग्रेस में तिलक ने उग्र लोगों का नेतृत्व किया तो कांग्रेस में गड़बड़ मच गई । उग्र विचार वालों ने तिलक के नेतृत्व में अलग सभा की । यह खबरें सुनकर अभिनव भारत सोसाइटी और भी जोर से काम करने लगी । भारत के पुस्तकों के पार्सलों में पिस्तौल भेजे गए । सावरकर ने बापट और हेमचन्द्र को बम बनाना सीखने के लिए नियत किया । हेमचन्द्र ने रसियन भाषा में लिखी हुई बमु मैंनुवल के फोटो लिए और उसको एक रूसी लड़की से अंग्रेजी में अनुवादित करवाया । फिर बापट और हेमचन्द्र दास को सावरकर ने भारत भेजा । उसके साथ उस पुस्तक की साइकलोस्टाइल प्रतियां थीं ।

फिर सावरकर ने "हे शहीदों" नामक एक पुस्तक लिखी । वह 1857 के वीरों को आह्वान था जिसमें लिखा था कि हमारे कानों में धर्म और देश भक्ति की गूंज भर दो । धर्म वही है जो देश भक्ति सिखाता हो । तुम लोगों ने अल्प साधनों से अत्याचार का सामना किया था, वही प्रकाश हमको भी प्राप्त हो । 10 मई 1908 को 1857 विद्रोह का दमन दिवस मनाया गया जिसमें यूरोप के विभिन्न भागों से 100 भारतीय विद्यार्थी सम्मिलित हुए ।

मार्च 1908 में बाट, हेमचन्द्र दास और मोतीलाल वर्मा भारत पहुंचे और बम मैन्यूअल की प्रतियां उन्होंने क्रांति में पहुंचाई । सर वैलेंटाइन चिरौन ने लंदन टाइम्स में एक लेख लिखा जिसमें लिखा था कि चितपावन ब्राम्हण चुप रहता है परन्तु उसका काम बंगालियों से ज्यादा तेज है । इस समय दक्षिण में गुप्त संस्थाओं का जाल बिछ गया है । बंगाल में शोर होता है परंतु पूना में चुपचाप काम किया जाता है । वास्तव में बंगाल के क्रांतिकारी को पूना से ही प्रेरणा मिलती है।

सन् 1908 के दिसम्बर में लंदन में दादा साहिब खापरड़े की अध्यक्षता में नेशनल कांफ्रेस हुई जिसमें मेडम कामां ने प्रस्ताव किया कि भारत में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाय । इसका अनुमोदन ज्ञानचन्द वर्मा ने किया । इस कांफ्रेंस में सावरकर ने कहा कि स्वराज्य का अर्थ है पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता । इस बात को समझ कर आप स्वराज्य के प्रस्ताव का समर्थन करें । इसका परिणाम होगा—जेल और काल कोठरी । आसफअली ने

सावरकर के विषय में लिखा कि सावरकर एक बड़े ही प्रभावशाली वक्ता हैं । भारत में और इंग्लैंड में ऐसा कोई बड़ा वक्ता नहीं है जिसका भाषण मैंने नहीं सुना हो ।

अब इंग्लैंड और भारत में उग्र राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध बड़ा शोर मचा । लन्दन में बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर लॉड लेमिंगटन की अध्यक्षता में एक सभा हुई । जिसमें बड़ी गड़बड़ रही तो सर विलियम लीवार्नर ने कुंज बिहारी भट्टाचार्य को कहा "तू काला आदमी है" तो बासूदेव भट्टाचार्य ने जो कलकत्ते के युगांतर का सम्पादक रह चुका था, लीवार्नर के मुख पर जोर का थप्पड़ मारा । इसके बाद सावरकर का इंग्लैंड में कड़ा विरोध होने लगा और सावरकर भी अंग्रेजी सरकार का बड़ा विरोधी बन गया । उसने मिर्जा अब्बास और सिकन्दर हायात के द्वारा भारत में पिस्तौल भेजे । फिर चतुर्भुज अमीन के द्वारा भी पिस्तौल भेजे गए । यह प्रत्यक्ष में रसोईदार था परन्तु सावरकर का बड़ा भक्त था ।

जुलाई 1909 को मदनलाल धीगंडा ने सर कर्जन बायली को गोली से मार दिया । कर्जन बायली एक सभा में बैठा हुआ था । धीगंडा को तत्काल ही पुलिस ने पकड़ लिया । वह पंजाबी नवयुवक था और इण्डिया हाउस में रहा करता था । तुरन्त ही राजभक्त हिन्दुस्तानियों की लन्दन के केक्सटन हाल में एक सभा हुई जिसमें मदनलाल धीगंडा के कार्य की बड़ी निन्दा की गई । इस सभा से सर आगा खां, फजल भाई, करीम भाई और महाराज कुमार कूच बिहार उपस्थित थे, निन्दा का प्रस्ताव पास होने ही वाला था कि सावरकर ने उसका विरोध किया । एक अधकचरे अंग्रेज ने सावरकर के सिर पर चोट मारी जिससे खून बह निकला । सावरकर ने भी उसके चोट मारी ।

धीगंड़ा ने इंग्लैड़ की वेस्टमिनिस्टर अदालत में बयान दिया कि "जैसे जर्मन लोगों को इंग्लैंड में राज करने का कोई अधिकार नहीं है उसी प्रकार अंग्रेजी को भी भारतवर्ष पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है । हमको यह उचित मालूम होता है कि जो हमारे पवित्र देश को दबाय हुए हैं हम उनकी हत्या करें । मुझे अंग्रेजों के मिथ्याचार पर बड़ा आश्चर्य होता है ।"

सावरकर धीगंड़ा से मिलने के लिये जेल में गए और कहां मैं आपके दर्शन करने के लिये आया हूं । वास्तव में सावरकर की प्रेरणा से ही मदनलाल ने कर्जन वायली को मारा था । अब लन्दन में सावरकर से सब डरने लगे । अंग्रेज इन ने उनको बेरिस्टर नहीं बनाया । इण्डिया हाउस बन्द कर दिया गया । सावरकर निवास की तलाश में इधर–उधर भटकने लगे । फिर बड़ा प्रयास करने पर उसको अस्थाई रूप से कमरा मिला । इसके बाद उन्होंने मदनलाल धीगंड़ा का बयान पत्रों में प्रकाशित करवाया । हत्या करते समय मदनलाल के पास लिखित बयान था । परन्तु पुलिस ने उसको दबा लिया था । अब सावरकर ने वह प्रकाशित करवाया । उसमें लिखा था "मैं यह स्वीकार करता हूं कि भारत के देश भक्त नवयुवकों को अमानुषिक ढंग स देश निर्वासित किया गया है और फांसी पर लटकाया गया है, इसका छोटा सा बदला लेने के लिए मैंने अंग्रेजों का रक्त पात करने का प्रयास किया है । "मेरा विश्वास है कि जिस कौम को शस्त्र बल से दबाकर रखा जाता है उसको निरन्तर युद्ध करने का अधिकार है । ऐसी कौम को निशस्त कर दिया जाता है । इसलिये वह खुले तौर पर युद्ध नहीं कर सकती । हमको बन्दूकें रखने का अधिकार नहीं है । इसलिये मैंने पिस्तौल चलाया ।" भारत और इंग्लैड़ कें बीच यह स्वतन्त्रता संग्राम चलता रहेगा और जब तक दोनों कौमें जीवित है तब तक रहेगा इंग्लैंड के

लोग समझ गये थे कि धीगंड़ा का बयान सावरकर का लिखाया हुआ था । सावरकर ने पुन: कहा था कि अंग्रेज लोग हम पर संगीनों द्वारा शासन कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में वैध आन्दोलन की बात विडम्बना मात्र है । जब विधान है ही नहीं तो वैधानिक आंदोलन कैसे हो सकता है । हमको बन्दूकें नहीं मिलती इसलिये हम पिस्तौल का उपयोग करते हैं । हम प्रकाश में काम नहीं कर सकते इसलिए अपनी मातृभूमि की बेड़ियों को तोड़ने के लिये हम अन्धेरे में काम करते हैं ।"

सावरकर ने इंग्लैंड में ही 1857 के विद्रोह का इतिहास लिखा । उनको इन्डिया आफिस के पुस्तकालय में अध्ययन करने के इजाजत मिल गई थी । सन् 1908 में उन्होंने मराठी भाषा में प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम लिखा । अभिनव भारत सोसाइटी ने इसके प्रकाशन के लिये चन्दा किया । फिर इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया परन्तु इसके प्रकाशन में बड़ी रुकावटें आईं। तब 1909 में इसको हॉलेण्ड में छपाया गया । सन् 1910 में इस पुस्तक का फ्रेंच भाषा में अनुवाद हुआ जो मेडम कामां ने किया था । अंग्रेजी की प्रतियां गुप्त रूप से भारत भेजी गईं जिनको लोगों ने छिप–छिप कर पढ़ा ।

इन्हीं दिनों में विनायक सावरकर के बड़े भाई बाबा राय को आजन्म देश निर्वासन का दण्ड मिला । इसका बदला लेने के लिये अत्यन्त कनहरे नामक नवयुवक ने नासिक के कलेक्टर जैकसन को गोली से मार डाला । उसी वर्ष अहमदाबाद में मोहनलाल पाण्डिया ने भारत के वायसराय लार्ड मिन्टो की हत्या का प्रयत्न किया जो असफल रहा । इस सम्बन्ध में विनायक सावरकर के छोटे भाई नारायण राव क भी गिरफ्तार किया गया परन्तु उनका अपराध सिद्ध नहीं हुआ इसलिये वह छोड़ दिये गये ।

अब विनायक सावरकर की विपत्तियां बढ़ती जाती थीं । उनका लन्दन में रहना कठिन हो गया था । तब उनके मित्रों ने आग्रह करके उनकों पेरिस चले जाने को कहा । अत: जनवरी 1910 में वे लन्दन से पेरिस पहुंचे और मेडम कामां के पास रहने लगे । जैक्सन की हत्या के मुकद्दमे में प्रकट हुआ कि उसको ब्राउनिंग पिस्तौल से मारा गया था । ऐसे पिस्तौल अभिनव भारत सोसाइटी ने इंग्लैंड से भारत में भेजे थे और सावरकर की इसमें मुख्य प्रेरणा थी । अत: बम्बई के गवर्नर लार्ड सीडनहेम सावरकर पर भारत में मुकदमा चलाया और नासिक मजिस्ट्रेट ने चाहा कि विनायक सावरकर को भारत में बुलाया जावे। तब बम्बई सरकार ने सावरकर के लिये वारन्ट जारी करवाया । जब सावरकर को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने पेरिस में रहकर मुकद्दमें से बचना मुनासिब नहीं समझा । वे 13 मार्च 1910 को जब लन्दन पहुंचे तो पुलिस ने उनको तत्काल हो गिरफ्तार कर लिया । इस समय उनके पुत्र का देहांत हो चुका था और उनके बड़े भाई बाबा राव को आजन्म देश से निर्वासिन कर दिया था । इंग्लैंड की अदालत ने सावरकर को भारत सरकार के सुपुर्द करने का आदेश दे दिया । जुलाई 1910 में मांया नामक स्टीमर में बिठाकर उनको भारत के लिये रवाना कर दिया गया । स्टीमर के इन्जिन में कुछ गड़बड़ हो गई., इसलिए फ्रांस के मार्सिलीज नामक बन्दरगाह में उसको मरम्मत के लिये ठहरना पड़ा । वहां स्टीमर के शौचालय की खिड़की से कूदकर तैरते हुए सावरकर फ्रांस पहुंच गए । अन्तर्राष्ट्रीय नियम के अनुसार अब वे फ्रांस में राजनीतिक शर्णाथी माने जाने चाहिए थे । परन्तु अंग्रेज पुलिस जो उनका पीछा कर रही थी वह उन्हें घसीट कर वापिस जहाज पर ले

आई। जुलाई 1910 में सावरकर बम्बई पहुंचे और उन्हें यरवदा जेल में रखा गया । फिर वहां से उन्हें डोंगरी जेल में पहुंचाया गया । हाईकोर्ट ने उनको आजन्म कारावास और सम्पत्ति की जब्ती क दण्ड दिया । फिर उन पर एक और दूसरा मुकद्दमा चलाया गया और फिर उनको भी आजन्म कारावास का दण्ड मिला । इस प्रकार उन्हें पचास वर्ष का देश निर्वास दिया गया । सावरकर पर यह आरोप था कि उन्होंनें सम्राट के विरुद्ध युद्ध की तैयारिया की थी और वे अंग्रेजी राज्य को उलट देना चाहते थे । सावरकर को अण्डमान भेज दिया गया । वहां कारागार का अध्यक्ष बेरी था । वह बड़ा ही क्रूर और कठोर था । सावरकर को कल्पनातीत कष्ट और यातनायें दी गई । यहां तक कि उनको तेल की धानी से जोत दिया गया जो उनको बैल की भांति घुमाना पड़ी । फिर सावरकर ने कैदियों को संगठित करके हड़ताल करवाई । जिसकी खबर भारत मे पहुंची तो होम मिनिस्टर क्रडोक अण्डमान गया और सावरकर आदि कुछ कैदियों से उसकी बातचीत हुई, जिसके परिणामस्वरूप सरकर ने निश्चय किया कि, जिन कैदियों को आजन्म कारावास नहीं है उन्हें भारत में बुला लिया जाय और जिन्हें आजन्म कारावास है परन्तु जिनका बर्ताव सन्तोषप्रद है उन्हें मुक्त करके अण्डमान में बसने की इजाजत दे दी जाये । कैदियों को कपड़ा और भोजन अच्छा दिया जाय और पांच वर्ष के बाद उन्हें खर्च के लिए कुछ रुपया भी दिया जाय । अण्डमान में अधिकांश अफसर मुसलमान थे जो हिन्दुओं को मुसलमान बनाया करते थे । सावरकर ने इसका भी विरोध किया। उसी समय जब जनगणना होने लगी तो सावरकर ने आर्य समाजियों और सिक्खों को समझाया की वे अपने को हिन्दू लिखवायें । सावरकर अन्तर्राज्यीय विवाह के पक्ष में थे परन्तु वे नहीं चाहते थे कि हिन्दू अंग्रेज स्त्रियों से विवाह करें । जब विश्व युद्ध की सफल समाप्ति पर राजनीतिक बन्दियों को, मुक्त किया गया तो सावरकर को मुक्त नहीं किया गया। भारत सरकार उनको बहुत खतरनाक मानती थी । तब भारत के उग्र नेताओं ने उनकी मुक्ति के लिये बड़ा प्रयास किया और नर्म नेताओं ने भी उनका साथ दिया । तब सन् 1921 में सावरकर और उनके बड़े भाई बाबा राव को अण्डमान में महाराजा नामक जहाज में बिठाकर भारत भेज दिया गया। बाबा राव को स्वास्थय की दृष्टि से 1922 में मुक्त कर दिया परन्तु सावरकर को रतनागिरी जेल में रखा। रतनागिरि जेल में बम्बई का गवर्नर सर जॉर्ज लोयड उनसे मिलने आया और कुछ शर्ते करके उन्हें मुक्त कर दिया। शर्ते यह थी कि वह रतनागिरी जिले से बाहर न जायेंगे और राजनीतिक हलचल में शामिल न होगें ।

रतनागिरी जिले में सावरकर ने महज हिन्दूओं का उद्धार किया और उन्हें मुसलमान होने से बचाया । उन्होंने महर हिन्दुओं के साथ चाय पी । रतनागिरी में सावरकर से राष्ट्रीय स्वयं सेवक के संस्थापक डा हैडगेवार मिले । सावरकर वहां बी. जी. खरे के मकान में रहते थे। उन्होंने हिन्दू सभा का प्रचार किया। डा. अम्बेडकर ने भी सावरकर का साथ दिया । जब गांधी जी 1927 के मार्च मे रतनागिरी गये तो वे भी सावरकर से मिले और दोनों ने लगभग 1 घन्टे तक बातचीत हुई । इसके पश्चात् दोनों नेता कभी नहीं मिले ।

रतनागिरी जिले में सावरकर ने ऐसे स्कूल खुलवाये जिनमें अछूत लोग भी पढ़ सकते थे। पहली बार सन् 1928 में एक स्कूल में एक अछूत अध्यापक नियुक्त हुआ । रतनागिरी की हिन्दू सभा मे ऐसे कितने ही हिन्दूओं को वापिस अपने में मिला लिया जो मुसलमान और

ईसाई हो चुके थे । सावरकर ने यह भी प्रसार किया कि अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश करने दिया जाय । उन्होंने ऐसे भोजों की व्यवस्था की जिनमें अछूत भी सम्मिलित हुआ करते थे । कट्टर हिन्दुओं ने इसका विरोध किया, परन्तु वे पीछे नहीं हटे । सावरकर का एक प्रयत्न यह था कि नेपालियों को हिन्दुओं में मिलाया जावें इसलिए आल इण्डिया गुरखा लीग के प्रधान डा. चन्दन सिंह और नेपाल के शाही घराने के प्रतिनिधि हैम चन्द समुहजंग रतनागिरी आये थे । जब डा. अम्बेडकर ने प्रस्ताव किया कि अछूतों को बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेना चाहिये तो सावरकर ने इसका विरोध किया था । वह नहीं चाहते थे कि हिन्दू लोग दूसरा धर्म स्वीकार करें। सावरकर हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहते थे व उन्होंने इस संदर्भ में स्वामी दयानन्द का उदाहरण दिया करते थे जिन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में ही लिखा था। सावरकर रूढ़िवाद, अन्धविश्वास, मंत्र, तंत्र आदि के विरोधी थे । उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। फिर सावरकर की रिहाई के लिये 1935 में बड़ा आन्दोलन हुआ तब 10 मई 1937 को उन्हें मुक्त कर दिया गया । हिन्दू सभा ने उनका स्वागत किया । राजगोपालाचार्य, श्री नेहरू, सुभाष बोस और एम. एन. रॉय ने उनकी रिहाई पर हर्ष प्रकट किया । फिर तुरन्त ही सावरकर हिन्दू महासभा के सदस्य बन गये और उन्होंने घोषित किया कि भारत की पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता और हिन्दुओं का उद्धार उनके ध्येय हैं । तब नासिक, तौलपुर, पूना, नागपुर आदि नगरों में उनका भव्य स्वागत हुआ और हिन्दु महासभा के अहमदाबाद वाले अधिवेशन में (1937) उन्हें अध्यक्ष निर्वाचित किया गया । फिर 1938 के फरवरी मास में दिल्ली में उनका अपूर्व स्वागत हुआ । उनका जुलूस 5 मील लम्बा था । जब तक स्वास्थ्य ने साथ दिया सावरकर हिन्दू सभा के प्रधान बने रहे । उन्होंने लाहौर, अमृतसर, अजमेर, ग्वालियर, सिन्ध, बिहार, जबलपुर आदि स्थानों का दौरा किया और सर्वत्र हिन्दुओं ने उनके विचारों का स्वागत किया ।

1938 में हिन्दू महासभा का अधिवेशण कलकत्ते में हुआ । उस अवसर पर महाराजा नेपाल को पार्टी दी गई और हिन्दू महासभा की ओर से अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया, जिस पर सावरकर के हस्ताक्षर थे ।

सावरकर के राजनीतिक विचार सारतः निम्नलिखित थे–

1. भारत के सब नागरिकों को पूर्ण अधिकार होने चाहिये और प्रत्येक नागरिक को भारत के प्रति वफादार होने चाहिये ।
2. अल्पसंख्यक लोगों की भाषा, धर्म और संस्कृति की रक्षा होनी चाहिए, परन्तु वे भारत में अपना कोई अलग राज्य स्थापित नहीं कर सकते ।
3. एक आदमी को एक मत देने का अधिकार होना चाहिए ।
4. निर्वाचन मण्डल संयुक्त होने चाहिये ।
5. राज्य सेवाये योग्यतानुसार दी जावें ।
6. हिन्दी लोक भाषा और नागरिक राष्ट्रीय–लिपि होनी चाहिए ।

इस विषय में सावरकर, राजगोपालचार्य, मौलाना आजाद, वॉयसराय आदि से मिले थे । सावरकर भारत विभाजन के घोर विरोधी थे । 1942 में सावरकर ने हिन्दू महासभा की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया । तथापि इस संस्था में उनका ऊंचा स्थान बना रहा । 1943 में

उनकी पूना में हीरक जयन्ती मनाई गई और सवा लाख रूपये की थैली उन्हें भेंट की गई । इसके पश्चात् सावरकर को हिन्दू महासभा प्रति वर्ष अपना प्रधान निर्वाचित करती रही ।

15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ, परन्तु उसके उत्सव में सावरकर को निमंत्रित नहीं किया गया ।

19 अप्रेल 1950 में सावरकर को बम्बई में गिरफ्तार किया गया । कारण यह था कि उस समय पाकिस्तान के प्रिमीयर के साथ बातचीत चल रही थी और यह आशंका थी कि यदि सावरकर बाहर रहे तो वातावरण अनुकूल नहीं रहेगा । फिर सावरकर को जुलाई में मुक्त कर दिया गया ।

1949 में पूना विश्वविद्यालय ने सावरकर को डॉक्टर आफ लेटर्स की उपाधि से अलंकृत किया । सावरकर उपस्थित नहीं हो सके थे । इसलिये वाईस चासलर ने उनके मकान पर आकर डिग्री अर्पित की । 1911 में बम्बई विश्वविद्यालय ने उनकी बी. ए. की डिग्री जब्त करली थी जो 1960 में उन्हें वापिस दे दी गई । परन्तु उनकी 20 हजार की सम्पत्ति जो सरकार ने छीन ली थी वह वापिस नहीं की गई ।

लाल बहादुर के समय में सावरकर को खर्च के लिए 300) रू 0 दिया जाने लगा । 26 फरवरी 1966 को प्रात: काल वीर सावरकर का देहान्त हो गया तो सारे देश में शोक मनाया गया । उनकी शव यात्रा में 50 हजार के लगभग लोग सम्मिलित थे।

4. सावरकर की भारतीय इतिहास व्याख्या

भारतीय इतिहास विधेयक सम्बन्धी सावरकर की प्रमुख कृति है **सिक्स ग्लोरियस् एपोक्स ऑफ इंडियन हिस्टरी** । भारतीय ऐतिहासिक व्याख्या क्रम मैं सावरकर वैदिक हिन्दुवाद के सघन तथा भाव प्रखर पक्षधर रहे है । वे बौद्धधर्म द्वारा प्रतिपादित शांति, करूणा, क्षमा तक उदारता कें मूल्यों कें विरूद्ध थे । उन्होंने बौद्धों को अक्सर भारतीय स्वतंत्रता तथा भारतीय समाज प्रसार में अवरोधी होनें के लिए उत्तरदायी ठहराया । वह चंद्रगुप्त मौर्य को 'सुपर सिकन्दर 'मानते थे जबकि अकबर की महानता के दर्जे को मानने में उन्हें इस आधार पर संकोच था कि वह हिन्दु जीवन दर्शन और शैली के क्रम में 'विदेशी 'था ।

अपनी कृति **हिन्दु पद–पदशाही** में सावरकर ने मराठा शक्ति कें अभ्युदय को राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य में देखा–भाला । उनके आकलन में हर्षवर्द्धन तथा पुलकेशिन की अपेक्षा मराठों के पास अधिक उदात्त आदर्शवाद की धरोहर विद्यमान थी । मराठों ने अपने राज्य–शक्ति संयोजन मैं **स्वधर्म** तथा **स्वराज** की नींव डाली । सावरकर के अनुसार मराठा राज–व्यवस्था में लोकतंत्र के तत्व विद्यमान थे ।

1857 की क्रांति को सावरकर **प्रथम स्वतंत्रता संग्राम** मानते थे । उसे केवल "सिपॉय म्यूटिनी" मानना उनकी दृष्टि में उसकी महत्ता को कम आंकना था । उन्होंने विस्तार से इस क्रांति के भारत–व्यापी चरित्र कों प्रतिपादित किया यद्यपि उनकी यह भी मान्यता थी कि इस क्रांति की कुछ संगठनात्मक विडम्बनाएं भी थी जैसे रचनात्मक दर्शन की शिथिलता जो इसकी सफलता में निर्णायक रूप से बाधाएं बनी ।

5. सावरकर का हिन्दुत्व सिद्धान्त

हिन्दुत्व सिद्धान्त के अपने प्रतिपादन मैं सावरकर हिन्दुओं में व्याप्त अलगावाद का स्पष्ट खण्डन करते है । वह हिन्दुओं में सामुदायिक तथा सहयोग भावना के प्रसार के प्रबल समर्थक थे । इसी भाव की आधारशिला पर हिन्दू अपने हितों तथा दायित्वों को संरचित–संगठित कर सकते है, ऐसा उनका अटूट विश्वास था ।

सावरकर नें 1923 में हिन्दुत्व नामक पुस्तक लिखी जो आधुनिक काल में हिन्दु राजनीतिक विचारधारा पर एक प्रामाणिक कृति मानी जाती है । इसमें सावरकर ने, हिन्दु से सागर तक फैले भारत देश कों अपनी पुण्य–भूमि तथा पितृ–भूमि मानने वाले लोगों को हिन्दु माना क्योंकि इसी भू–भाग पर उनका धर्म पल्लवित व विकसित होता है । सावरकर ने हिन्दू होनें के तीन मापदण्डों का प्रतिपादन किया–(1) भौगोलिक इकाई तथा 'राष्ट्र 'भाव की प्राथमिकता; (2) जातीय आधार अथवा खून का रिश्ता; (3) हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति–पर गर्व का अनुभव । इस तरह सावरकर हिन्दुवाद की अपेक्षा हिन्दूत्व को एक व्यापक अवधारणा तथा प्रक्रिया मानते है । उनके अनुसार हिन्दुवाद हिन्दुओं कें धर्म, रीति–रिवाज आदि की महत्ता प्रतिपादित करता है जबकि हिन्दुत्व सावयविक आधार पर सामाजिक–राजनीतिक एकता का सूत्रपात करता है । हिन्दुत्व इस एकता के आधार पर राष्ट्रीयता कों परिपुष्ट करता है । इसमें सामूहिक जीवन के सामाजिक, नैनिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी प्रसंग सम्मिलित है । यह सोद्देश्यपूर्ण सामूहिक क्रिया–कलापों का एक समन्वयकारी कार्यक्रम है ।

6. निष्कर्ष

विनायक दामोदर सावरकर एक निर्भीक, दृढ़–निश्चयी तथा मौलिक दृष्टि से समन व्यक्ति थे । हिन्दू अंसगठन से प्रेरित होकर हिन्दू संगठन की वैचारिक विकला निर्मिति उनका एक सुसंगत वैचारिक अभ्यास था । इस अभ्यास के कम में उन्होंने एक ओर भारतीय इतिहास की व्याख्या की तों दूसरी ओर हिन्दुवाद से स्वतंत्र हिन्दुत्व का वैचारिक संदभ भी निर्मित किया। उनकी ऐतिहासिक व्याख्या विचारोंत्तेजक थी परन्तु वह सर्वमान्य नहीं थी । यद्यपि कोई भी ऐतिहासिक व्याख्या सर्वमान्य नहीं हो सकती, उसके मंतव्य व्यापक आधार पर अभिस्वीकृत होने अपेक्षित होते है ताकि उसकी महत्ता प्रतिपादन हो सके । बौद्ध व अकबर सम्बन्धी आकलन सावरकर की ऐतिहासिक व्याख्या कें विवादास्पद ?? है । 1857 की क्रांति सम्बन्धी व्याख्याएं आज सभी 'राष्ट्रीय 'इतिहासकार प्राय: स्वीकार कर रहे है, यह सावरकर की ऐतिहासिक व्याख्या का उज्जवल पक्ष है ।

हिन्दुवाद तथा हिन्दुत्व में भेद एक मौलिक वैचारिक पक्ष है । प्रो. वी. पी. वर्मा राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से इसे एक उल्लेखनीय भेद मानते है यद्यपि सावरकर की हिन्दु विषयक समरूपी नस्ल की धारणा को वे ऐतिहासिक दृष्टि से आप्रामाणिक ठहराते है । साथ ही उनकी यह भी मान्यता है कि उनका हिन्दुत्व सिद्धान्त लोकतंत्र कें सिद्धांत और व्यवहार से असंगत है ।

7. संदर्भ ग्रन्थ

1. वी. डी. सावरकर : **सिक्स ग्लोरियस एपोक्स ऑफ इंडियन हिस्टरी**
2. वी. डी. सावरकर : **हिन्दुत्व**
3. वी. पी. वर्मा. : **मॉडर्न इण्डियन सोशल एण्ड पोलिटिकल थॉट** (विशेषतः भाग IV अध्याय 19, "हिन्दु रिवाइवलिज्म एण्ड फिलॉसफिक आइडिएलिज्म)"

8. अभ्यास प्रश्न

1. 'सावरकर के हिन्दु प्रसंग 'पर एक लेख लिखिए ।
2. हिन्दुवाद तथा हिन्दुत्व में क्या भेद है? स्पष्ट कीजिए ।
3. सावरकर की भारतीय इतिहास व्याख्या के क्या प्रमुख पक्ष है? विवेचना कीजिए ।

इकाई–14
रवीन्द्र नाथ टैगोर

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. पारिवारिक पृष्ठभूमि
4. वैचारिक पृष्ठभूमि
5. राजनीतिक विचार
   - 5.1 सुविधा या आवश्यकता की राजनीति नहीं
   - 5.2 साध्य और साधन
   - 5.3 व्यक्ति की प्रधानता
   - 5.4 र्वहित
   - 5.5 तंत्रता की अवधारणा
   - 5.6 स्वतंत्रता और अन्तर्सम्बन्धता
   - 5.7 राष्ट्रवाद की समालोचना
   - 5.8 अन्तर्राष्ट्रीयता
   - 5.9 अधिकार
   - 5.10 उदारवाद बनाम उग्रवाद
   - 5.11 राज्य और समाज
   - 5.12 लोकतंत्र
   - 5.13 भारत में ब्रिटिश शासन
   - 5.14 हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्ध
6. सामाजिक विचार
   - 6.1 जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता
   - 6.2 स्त्रियों की स्थिति
   - 6.3 शिक्षा
7. टैगोर तथा गांधी : वैचारिक मेल–बेमेल के विविध पक्ष
   - 7.1 वैचारिक समानता
   - 7.2 वैचारिक विवाद
8. मूल्यांकन एवं निष्कर्ष
9. संदर्भ ग्रन्थ सूची
10. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर आप यह जान सकेंगे कि_

(i) टैगोर के राजनीतिक विचारों का क्या स्वरूप है?

(ii) उनकी स्वतंत्रता व राष्ट्रवाद की संकल्पनाओं की क्या विशेषताएं है?

(iii) उनके विचारों का सामाजिक संदर्भ क्या है?

(iv) टैगोर व गांधी के वैचारिक प्रतिमान क्या है तथा उनकी क्या उपादेयता है? तथा,

(v) राजनीतिक–सामाजिक वैचारिक जगत में टैगोर का क्या स्थान है?

2. प्रस्तावना

अमेरिका के राष्ट्रपति जॉनसन ने एक बार कहा था—"भारत को देखने के लिये देहात जाना जरूरी है, भारत को समझने के लिये टैगोर पढ़ना जरूरी है।" रवीन्द्रनाथ टैगोर एक महान कवि, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, देशभक्त और मानवतावादी थे।

वे विश्व कवि के रूप में प्रसिद्ध थे। उनकी काव्य प्रतिभा को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता नोबेल पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुई थी। भारत के राष्ट्रगीत "जन–गण–मन" की रचना उन्होंने ही की थी। गांधी जी ने एक बार कहा था "यह महान् कवि भारत का अमूल्य हीरा है।"

वह भारतीय पुनर्जागरण के प्रमुख निर्माता थे। उन्हें भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सबसे बड़ा वक्ता कहा जा सकता है। टैगोर ने न केवल बंगाल में बल्कि सारे देश में पुनर्जागरण की भावना को नई दिशा दी। उन्होंने आधुनिक भारतीय राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा में प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम का सम्मिश्रण किया। टैगोर ने उपनिषदों के अध्ययन से भारत के अतीत का ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति पर गर्व था परन्तु ब्रह्म समाज तथा पश्चिमी उदारवाद के प्रभाव ने उनके दृष्टिकोण को आधुनिक बना दिया था। अतीत को ग्रहण करते हुए उन्होंने वर्तमान का तिरस्कार नहीं किया। अतीत से प्राप्त ज्ञान के आधार पर उन्होंने आधुनिक भारत की समस्याओं को नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया। इसीलिये उन्हें भारतीय पुनर्जागरण का पूर्ण प्रतीक कहा जाता है। उन्होंने रूढिवादिता का नहीं बल्कि प्रगतिशीलता का सहारा लिया। उनकी कविताओं, गीतों, नाटकों, कहानियों तथा उपन्यासों से पूर्व तथा पश्चिम का सम्मिश्रण कर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। उन्होंने पूर्व तथा पश्चिम के मध्य के फासले को दूर करने के लिये एक पुल की तरह कार्य किया।

वह एक महान देश भक्त भी थे। अपनी लेखनी के माध्यम से उन्होंने देशवासियों को विदेशी शासन के चंगुल से मुक्त होने की प्रेरणा दी। यद्यपि टैगोर गांधी जी के स्वदेशी और बहिष्कार कार्यक्रमों के समर्थक नहीं थे। उनकी राष्ट्रवाद की व्याख्या गांधीजी से भिन्न थी। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अपना वह प्रसिद्ध निबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने राष्ट्रवाद के अतिवादी प्रचलन से सारी मानवता के लिए खतरे का इशारा किया था। जलियांवाला बाग में ब्रिटिश सरकार द्वारा किये गये अत्याचारों के विरोध में उन्होंने सरकार द्वारा प्रदत्त "नाइट" की उपाधि को वापस करके देशभक्ति और अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन शान्ति निकेतन में विश्व भारती की स्थापना है। उनके प्रयोगों से आकृष्ट होकर यूरोप के बड़े–बड़े विद्वान उनकी विश्व भारती में आ गए थे। इस शिक्षा संस्थान का मुख्य उद्देश्य बाह्य जगत को भारतीय ज्ञान से परिचित कराना था। टैगोर का विचार था कि एक ऐसी विशिष्ट संस्था होनी चाहिए जो भारत की सम्पूर्ण संस्कृति को विदेशियों के समक्ष प्रस्तुत कर सके।

3. पारिवारिक पृष्ठभूमि

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई, 1861 को कलकत्ता में हुआ था। टैगोर परिवार कलकत्ता के सर्वाधिक सुसंस्कृत परिवारों में से था। मूलत: वे कन्नौज के शांडिल्य गोत्र के राधे ब्राह्मण थे । उनका उपनाम वन्ध्योपाध्याय था। यह माना जाता था कि सत्रहवीं शताब्दी में मुस्लिम शासन के दौरान उनके पूर्वज अपने सरकारी उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिये मुसलमानों के साथ खाते–पीते थे। इसलिये रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उनके साथ सब तरह के सामाजिक सम्बन्ध तोड़ दिये थे।

रवीन्द्रनाथ के दादा द्वारकानाथ ने बहुत धन कमाने में सफलता प्राप्त की थी। इसलिये उन्हें "राजा" कहा जाता था। उनका तत्कालीन सरकारी अधिकारियों पर काफी प्रभुत्व था और जनहित कार्यों में उनकी सलाह का सम्मान किया जाता था। अपने जीवन काल में वे दो बार इंगलैण्ड और यूरोप गये। जिन देशों में वे गये वहां उनका भव्य स्वागत किया गया। 1846 में उनकी लंदन में ही मृत्यु हुई।

रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्र नाथ एक धार्मिक गुणों के व्यक्ति थे। उन्हें 'महर्षि 'कहा जाता था। राजाराम मोहन राय की मृत्यु के बाद उनके मुख्य अनुयायी होने के कारण वे ब्रह्म समाज के मुखिया बन गये।

रवीन्द्रनाथ अपने माता–पिता की चौदहवीं सन्तान थे। रवीन्द्रनाथ की अल्पआयु में ही उनकी माता का देहान्त हो गया था। इसलिये माता की अपेक्षा उन पर पिता का ही अधिक प्रभाव पड़ा जैसा कि उनकी लेखनी से स्पष्ट होता है।

टैगोर का जन्म यद्यपि एक धनी और समृद्ध परिवार में हुआ था परन्तु उनका और उनके भाइयों का पालन–पोषण सादा तरीके से हुआ था। देवेन्द्रनाथ ने अपने बच्चों को "सादा जीवन उच्च विचार" के गुणों को सिखाया और उन्हें किसी भी कीमत पर "सत्य" और "ईश्वर" को प्राप्त करने के लिये उत्साहित किया। देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में उनके परिवार के बच्चे नियमित रूप से उपनिषदों का अध्ययन करते थे; प्रात: और सायंकालीन प्रार्थनाओं में भाग लेते थे। कवि ने लिखा है "हमारा भोजन बिल्कुल सरल होता था हमारे कपड़ों की सूची को देखकर एक आधनिक बालक नाक सिंकोडेगा। दस वर्ष की आयु से पहले हम किसी भी दशा में जूते और मोजे नहीं पहन सकते थे। सर्दी के दिनों में मात्र एक सूती जैकेट और पहन लेते थे। यह सब होते हुए भी हम स्वयं की अवहेलना नहीं समझते थे।" सादा जीवन बिताने की यह प्रेरणा टैगोर परिवार को देवेन्द्र नाथ ने ही दी। यद्यपि स्वयं उनके पिता द्वारकानाथ बहुत शाही ढंग से रहते थे।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने जीवन के प्रति एक धार्मिक दृष्टिकोण अपने पिता के प्रभाव के कारण ही अपनाया। रवीन्द्रनाथ की लेखनी से पता चलता है कि देवेन्द्रनाथ ने कभी भी अपने बच्चों की धार्मिक स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डाली और उन्हें "सत्य" को स्वयं पहचानने और स्वीकार करने के लिये प्रेरित किया। इस तरह बाल्यकाल से ही रवीन्द्रनाथ को अपने पिता से विरासत में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ वह उनको मिले जीवन पर्यन्त आध्यात्मिक खजाने के रूप में काम आया।

सात वर्ष की आयु में रवीन्द्रनाथ को स्कूल भेजा गया। परन्तु वे जैसा स्कूल, कालेज चाहते थे वह उन्हें तभी मिला जब उन्होंने अपना स्कूल सब से पहली बार शान्ति निकेतन में खोला जो अब विश्वभारती विश्वविद्यालय है। अपने स्कूल के प्रति असन्तोष ने ही उनको शान्ति निकेतन में एक नवीन विद्यालय खोलने के लिये प्रेरित किया जहां वे विद्यार्थियों को एक नवीन पद्धति के अनुसार शिक्षा प्रदान कर सकते थे।

रवीन्द्रनाथ पर पारिवारिक महिलाओं में उनकी भाभी कादम्बनी देवी का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा उन्होंने कादम्बनी देवी को अपनी जीवन की "प्रथम महिला'' के रूप में याद किया था। रवीन्द्र की कविताओं में मातृत्व और मातृप्रेम का अधिक दर्शन नहीं होता। रवीन्द्रनाथ का काव्य तथा संगीत प्रतिभा उसी दिन से मुखरित होनी शुरू हुई जब उन्होनें अपने भाई तथा भाभी के घर को अपना घर बनाया। उन पर माता की मृत्यु से अधिक भाभी की आत्म हत्या का अधिक प्रभाव पड़ा।

4. विचारधारा की पृष्ठभूमि

प्रत्येक व्यक्ति के विचारों पर उस काल की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और रवीन्द्रनाथ टैगोर भी इसका अपवाद नहीं थे। रवीन्द्रनाथ का जन्म 1857 के महान विद्रोह के लगभग चार वर्ष बाद हुआ था। यह काल भारतीय इतिहास में 19 वीं शताब्दी के "आध्यात्मिक पुनर्जागरण का काल" कहलाता है। रवीन्द्रनाथ का जब जन्म हुआ उस समय भी राजा राममोहन राय के द्वारा सुधार की जिस भावना को प्रारम्भ किया गया था वह पूरे प्रभाव पर थी। रवीन्द्रनाथ ने अपने काल में सुधार की भावना का वर्णन करते हुए लिखा था "मैं 1861 में पैदा हुआ था। वह इतिहास की कोई महत्वपूर्ण तिथि नहीं थी परन्तु वह बंगाल में एक महान युग से सम्बन्धित है। उस समय देश के जीवन में तीन आन्दोलन की लहरें मिल रही थी।"

यह तीन आन्दोलन थे आध्यात्मिक, साहित्यिक, और राष्ट्रीय आन्दोलन। आध्यात्मिक आन्दोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। दूसरे आन्दोलन का सूत्रपात बंकिमचन्द्र चटजी ने किया था। उनका विरोध अंग्रेजी.भाषा के प्रति था जो कि भारतीय संस्कृति के विकास को निरन्तर रोक रही थी और स्वअभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट कर रही थी। तीसरा था राष्ट्रीय आन्दोलन, जिसका उद्देश्य अतीत में मूल्यों का तिरस्कार करने की उस प्रवृत्ति का विरोध करना था जो उस समय शिक्षित वर्ग में आम तौर से पाई जाती थी।

राजा राममोहन राय को रवीन्द्र नाथ टैगोर एक महान हिन्दू कहते थे। और अपना आध्यात्मिक गुरू मानते थे। राम मोहन राय ने भारत की प्राचीन उपनिषदों की संस्कृति का उत्थान किया और 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसे "प्रथम हिन्द एकात्मक चर्च"

कहा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था "यह नया धर्म नहीं था बल्कि प्राचीन हिन्दू विचारधारा को पुनर्जीवित करने का प्रयास था जो कि सुधार और प्रगति की नयी भावना पर आधारित था और वास्तविक हिन्दू प्रथा से मेल खाता था।" रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज के संस्थापक थे। राम मोहन राय से टैगोर ने उदारता तथा विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात करने की आवश्यकता का पाठ सीखा। टैगोर को राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज आन्दोलन का आध्यात्मिक वंशज कहा जा सकता है। जहां उपनिषदों के ज्ञान ने उनके विचारों में प्राचीनता की छाप छोडी वहीं नवीनता का तत्व ब्रह्म समाज की शिक्षाओं से लिया गया।

टैगोर केवल लेखक ही नहीं थे बल्कि पाठक भी थे। उन पर वेदों, उपनिषदों, गीता और अन्य धार्मिक साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। टैगोर ने बाल्यकाल से ही एक धार्मिक वातावरण पाया था जहां दैनिक उपासना में उपनिषदों का पाठ किया जाता था। रवीन्द्र का उपनिषद में विश्वास "–उनकी कृतियों नैवेद्य, गीतांजलि, गीतमाल्या और गीताजी से झलकता है।

यद्यपि टैगोर की रचनाओं में गीता का सन्दर्भ अधिक स्पष्ट नहीं होता परन्तु वे गीता को भारतीय जीवन और विचारधारा के लिये एक मूल पुस्तक समझते थे और उसे ज्ञान व बुद्धि का एक मुख्य स्रोत मानते थे।

टैगोर पर बौद्ध धर्म, जैन धर्म, वैष्णव धर्म और मध्यकालीन भारत के कबीर और नानक जैसे उदारवादी विचारकों का भी प्रभाव पड़ा। टैगोर के चिन्तन में प्रेम तथा भावुकता के तत्व वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण ही हैं। वे कबीर की शिक्षाओं से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे जिसने कि हिन्दू धर्म तथा इस्लाम दोनों के संस्कारवाद का खण्डन किया था।

भारत के प्राचीन धार्मिक साहित्य और विचारों से इतना प्रभावित होने के बावजूद वे पश्चिमी प्रभाव से अछूते नहीं थे। अपने बचपन से ही टैगोर अंग्रेजी साहित्य से परिचित थे। 14 वर्ष की अल्प आयु में ही उन्होंने मैकबैथ का रूपान्तर किया था। टैगोर पर बर्क, मैकाले और बायरन के लेखों का और 19 वीं शताब्दी की ब्रिटिश राजनीति के उदारवाद का भी प्रभाव पड़ा था। टैगोर ब्रिटिश और पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों को समझते थे।

एक विचारक अपने युग और परिस्थितियों की उपज होता है, यह बात रवीन्द्रनाथ पर पूरी तरह से लागू होती है। उनके विचारों को उनकी पारिवारिक और वैचारिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

5. टैगोर के राजनीतिक विचार

टैगोर का लेखन कार्य इतना अधिक बहु–पक्षीय है कि उनके राजनीतिक विचारों का विश्लेषण करना सरल नहीं है। गांधीजी की तरह रवीन्द्रनाथ के राजनीतिक विचार उनके आध्यात्मिक आदर्शों और धार्मिक विश्वासों पर केन्द्रित हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन का उच्चतम सत्य स्व–अनुभूति है अर्थात् अपने अन्दर के देवत्व को पहचानना है।

टैगोर के राजनीतिक दर्शन का विकास उनके आध्यात्मिक मानवतावाद पर आधारित था। वे राजनीतिक कार्यों को आवश्यकता या अवसरवादिता से नहीं जोड़ना चाहते थे। इस तरह वे मैकियावली द्वारा प्रतिपादित राज कला के विरोधी थे। परन्तु यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि टैगोर जब राजनीति को धर्म पर आधारित करने की बात करते थे तो वे "धर्मसत्ता" की स्थापना की बात नहीं कर रहे होते थे। उनका तात्पर्य केवल राजनीति में नैतिक मूल्यों के समावेश से था। टैगोर के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचार पुरानी बाईबल की इस बात पर आधारित थे कि अपनी आत्मा को खोने से विश्व को खोना अधिक अच्छा है।

टैगोर के राजनीतिक चिन्तन का आधार समझने से ही उनके स्वतन्त्रता, अधिकार, राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद इत्यादि पर विचारों को समझा जा सकता है। टैगोर का राजनीति के प्रति दृष्टिकोण मूलत: आध्यात्मिक था जो कि उनके इस धार्मिक विश्वास पर टिका था कि 'मनुष्य आवश्यक रूप से आध्यात्मिक होता है।"

टैगोर का यह भी विश्वास था कि मनुष्य के जीवन और समस्याओं को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक जैसी पृथक–पृथक श्रेणियों में नहीं बांटा जा सकता है। उनका विश्वास था कि मानव जीवन एक आध्यात्मिक सम्पूर्ण है। उन्होंने बताया कि यूरोपियन सभ्यता, "संघर्ष" और "पृथकता" की भावना पर आधारित है जबकि भारतीय सभ्यता "आत्मा की एकता" की भावना पर आधारित है।

टैगोर के अनुसार" मुझे प्रत्यक्ष रूप से राजनीति से कुछ भी लेना नहीं है। मैं अपने राजनीतिक सिद्धान्तों में कोई राष्ट्रवादी, उदारवादी या उग्रवादी नहीं हूँ।' वह उस राजनीति के विरूद्ध थे, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को दबाती थी तथा असत्य, दुखों और अन्याय को बढ़ाती थी।

5.1 सुविधा या आवश्यकता की राजनीति नहीं:

टैगोर राजनीति को "उपयोगिता की भावना" पर आधारित नहीं चाहते थे। उनके अनुसार मानवीय सम्बन्धों का आधार "प्रेम'' होना चाहिये न कि "उपयोगिता"। उनके अनुसार व्यक्ति विश्व को जब अपनी इच्छाओं के जरिये देखता है तो वास्तविक "सत्य" को नहीं समझ सकता और विश्व को छोटा और संकीर्ण बना देता हैं। उनके अनुसार 'भौतिकता' की अपेक्षा 'आध्यात्मिकता' अधिक वास्तविक है। इस तरह टैगोर की राजनीति मैकियावली की 'सुविधा की राजनीति' और मार्क्स व एजिल्स की "मानव इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या" के विरूद्ध है।

5.2 साध्य और साधन:

गांधी की तरह टैगोर के लिये साध्य और साधन समान शब्द थे। "साध्य" की प्राप्ति में "साधनों" की शुद्धता मूल सिद्धान्त है। "विज्ञान" या "यथार्थवाद" के नाम पर राजनीति का नैतिक सिद्धान्तों से पृथक्करण उन्हें स्वीकार्य नहीं था और वे इसे "आत्मा" की हत्या के लिये एक जाल समझते थे।" उनके अनुसार किसी आदर्श की पूर्ति की अपेक्षा सफलता उस आदर्श की प्राप्ति के लिये किये गये एक ईमानदार प्रयास में निहित हैं।

टैगोर राजनीति को जीवन के उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन मानते थे साध्य नहीं। उनके लिये राजनीति मनुष्य की श्रेष्ठता और सर्वोच्चता के लिये खोज थी।

5.3 व्यक्ति की प्रधानता

टैगोर व्यक्ति को समस्त प्रकार की संस्थाओं और संगठनों से ऊपर मानते थे। संस्था की प्रकृति चाहे राजनीतिक सामाजिक या आर्थिक हो, उनके अनुसार मनुष्य उस व्यवस्था से ऊपर है जिसकी वह रचना करता है। टैगोर का कहना था कि मनुष्य की लड़ाई सैद्धान्तिक लड़ाई है और वह सदा स्वयं को उन सगठनों या व्यवस्थाओं से स्वतन्त्र कराने के लिये लड़ा है जिन्हें उसने अपने चारों तरफ बुन लिया है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार पश्चिम में "संगठन" से मनुष्य पहले है जबकि भारत में "संगठन" व्यक्ति के बाद में है।

5.4 सर्व हित

अपने व्यापक सन्दर्भ में इसका अर्थ है "सर्वभूतहित" या बहुत की भलाई की अपेक्षा सब का भव्य। टैगोर की विचारधारा लॉक के बहुमतवाद, मार्क्स और इंजिल्स की वर्ग अवधारणा और बैथम के "अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख" के सिद्धान्त की विरोधी है।

5.5 स्वतंत्रता की अवधारणा

टैगोर बौद्धिक दासतां को राजनीतिक दासतां से अधिक खतरनाक समझते थे। स्वतन्त्रता की उनकी एक आध्यात्मिक अवधारणा थी और 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' तथा 'आध्यात्मिक स्वतन्त्रता' में वे कोई भेद नहीं करते थे। उनके अनुसार दोनों एक–दूसरे की पूरक थी। टैगोर का कहना था कि 'जो स्वराज्य' को आन्तरिक रूप से प्राप्त नहीं कर पाते वे इसे बाह्य विश्व में भी प्राप्त नहीं कर पाते है।

टैगोर के अनुसार यदि भारत अन्य सब बातों को छोडकर केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता को ही प्राप्त करने का प्रयास करता है तो वह एक सम्प्रभु राज्य तो बन जायेगा परन्तु यह एक ऐसा राज्य होगा जिसमें पुरानी सामाजिक और नैतिक समस्याओं का शुद्धीकरण नहीं बल्कि उन्हें बढावा ही दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' की संकीर्ण इच्छा भारत के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने में भी बाधा डालेगी। यह वास्तविक लक्ष्य है व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति।

टैगोर के अनुसार हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि किन लोगों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है वे वास्तव में स्वतन्त्र भी हो गये हैं बल्कि केवल मात्र शक्ति सम्पन्न ही हुए हैं। उनकी वासनायें स्वतन्त्रता के नाम पर दासतां के विशाल संगठनों को जन्म दे रही हैं। स्वतंत्र कहलाने वाले देशों में जनता का बहुमत नहीं होता है। वे अधिकतर कुछ अल्प संख्यकों के द्वारा निर्धारित ऐसे लक्ष्यों के अनुसार कार्य कर रहे होते है जिनसे वे वास्तव में परिचित भी नहीं होते हैं। अधिकांश जनता नैतिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता को नहीं समझती है जबकि व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति में ही है।

टैगोर के अनुसार हमारे सामाजिक आदर्श मानवीय विश्व की रचना करते हैं परन्तु जब मानव मन सत्ता के लालच में आ जाता है तो हम एक असामान्य जगत में रह रहे होते हैं जहां ताकत की वास्तविक स्वतंत्रता आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति में ही है।

5.6 स्वतन्त्रता और अन्तर्सम्बन्धता

टैगोर के अनुसार स्वतंत्रता लाइसेन्स नहीं । इसे मानवीय सम्बन्धों में तारतम्यता स्थापित करके ही प्राप्त किया जा सकता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर "द रिलीजन ऑफ मैन" में स्वतंत्रता की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते है 'सत्य एकता में है' और इसलिये स्वतंत्रता इसकी अनुभूति में है।...। यद्यपि यह विरोधाभास प्रतीत हो सकता है परन्तु हम जानते हैं कि यह सत्य है कि मानव जगत में अन्तर्निर्भरता की एक पूर्ण व्यवस्था ही स्वतंत्रता की जन्म देती है। अत्यधिक व्यक्तिवादी व्यक्ति जो अपना कोई भी उत्तरदायित्व नहीं समझते हैं वे असभ्य होते है जो कि पूर्णता को प्राप्त करने में असफल रहते हैं। वे अन्धकार में उसी तरह लिप्त रहते हैं जैसे बुरे ढंग से जलने वाली आग स्वयं को धुंए के घेरे से मुक्त नहीं कर पाती है। केवल यह ही ग्रहण लगी पृथकता के जीवन से स्वतंत्रता के विकास का इतिहास मानवीय सम्बन्धों की पूर्णता का इतिहास है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक समन्वय के इस विचार का सुझाव विवेकानन्द के द्वारा दिया गया था, फिर इसे अरविन्द ने विकसित किया और गांधी ने इसे भारत के सामाजिक संघर्ष में लागू किया। टैगोर ने इन सब प्रयासों का स्वागत किया पर उन्होंने इस विचार को एक दूसरी दिशा में विकसित करने पर बल दिया जिसने कि उनके युग और आधुनिक भारतीय राजनीति के प्रमुख विश्वास 'राष्ट्रवाद' को भी चेतावनी दी।

टैगोर के अनुसार सम्बन्धों की पूर्ण एकता ही पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करती है। अर्न्तनिर्भरता की व्यवस्था ही स्वतंत्रता को जन्म देती है। स्वतंत्रता के उपभोग के लिए एकता के साथ सहानुभूति भी आवश्यक है। स्वतंत्रता जीवन और प्रगति के लिये एक पूर्व दशा है। इसे समाज के बाहर नहीं बल्कि समाज के भीतर ही प्राप्त करना संभव है। स्वतंत्रता वास्तविक अर्थ में मनुष्य के मस्तिष्क की मुक्ति है।

टैगोर धन और संगठित प्रचार को स्वतंत्रता में बाधयक मानते थे। उनके अनुसार ये अविश्वास का वातावरण पैदा करते है। जाति व्यवस्था दूसरी बाधा है जो कि मन और आत्मा की स्वतंत्रता को समाप्त करती हैं। वास्तविक स्वतंत्रता को धन की शक्ति, संगठित प्रचार और जाति व्यवस्था के द्वारा पैदा की गई बाधाओं की हटा देना चाहिये तभी प्रजातंत्र और प्रजातांत्रिक संस्थायें वास्तविक रूप में कार्यान्वित हो सकती हैं।

5.7 राष्ट्रवाद की समालोचना:

टैगोर के राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पहलू राष्ट्रवाद के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष का आलोचनात्मक मूल्यांकन था। टैगोर ने राष्ट्रवाद के बुरे प्रभावों को आंकने का प्रयास किया। उनका मानवता वाद और ब्रह्माण्डवाद मनुष्यों को राष्ट्रों और राष्ट्रवाद के कृत्रिम वर्गों में बांटने की आज्ञा नहीं देता था। टैगोर को भौगोलिक सीमाओं पर आधारित एकता का विचार प्रभावित नहीं करता था। उनके विचार से इस प्रकार का राष्ट्रवाद केवल मात्र

"संगठित स्वार्थता" और "सब लोगों का संगठित स्वहित' है। उनके अनुसार राष्ट्र 'राजनीति और वाणिज्य के संगठन का दूसरा नाम है। टैगोर राष्ट्रवाद की अवधारणा को अमानवीय और आध्यात्मिकता से परे मानते थे। टैगोर के अनुसार राष्ट्रवाद की आधुनिक विश्व को भेंट है "विश्वव्यापी सन्देह, लालच और भय का गहरा वातावरण"। टैगोर ने कहा था: "राष्ट्रवाद जीवन की उच्च आकांक्षाओं को लाभ और सत्ता के लिये समृद्ध करता है जो कि मानवीय सम्बन्धों की अच्छाई, न्याय और सत्य को समाप्त करती है।"

अरविन्द ने ब्रह्माण्ड के सामंजस्य के विचार को विकसित किया था परन्तु उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को उस आदर्श के लिये खतरा नहीं समझा था। उनकी आलोचना पश्चिमी राष्ट्र राज्य तक सीमीत थी। टैगोर इस तरह का कोई भेदभाव नहीं करते थे और 'राष्ट्रवाद को एक बड़ा खतरा' समझते थे। प्रारम्भ में टैगोर का भी राष्ट्रवाद के प्रति विरोध पश्चिम राष्ट्र–राज्य व्यवस्था के विरोध में था। और इस विचार का आधार बोएर युद्ध था। इस युद्ध की नृशंसता और व्यर्थता से प्रभावित होकर ही टैगोर ने 19वीं शताब्दी के अन्तिम दिन एक कविता की रचना की थी।

प्रथम विश्व युद्ध ने टैगोर के राष्ट्रवाद के प्रति विरोध को और भी दृढ़ किया जिन्हें उन्होंने 1916 में राष्ट्रवाद के ऊपर तीन भाषणों में स्पष्ट किया। ये तीन भाषण थे 'पश्चिम में राष्ट्रवाद' 'जापान में राष्ट्रवाद' और 'भारत में राष्ट्रवाद'। इन भाषणों का मुख्य सार यही था कि राष्ट्रवाद का बहाव व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अवरूद्ध कर देता है।

टैगोर का विश्वास था कि राष्ट्रवाद की अवधारणा पश्चिम के साथ–साथ भारत के लिये खतरनाक है। उनके अनुसार भारत में वास्तविक समस्या सामाजिक है राजनीतिक नहीं। राष्ट्रवादी आकांक्षायें राजनीतिक लक्ष्यों को बढ़ावा देती हैं और सामाजिक समस्याओं की अवहेलना करती है । टैगोर के अनुसार राष्ट्रवाद की भावना यद्यपि भारत के स्वतंत्रता संग्राम को तीव्र कर देगी परन्तु यह देश की वास्तविक आवश्यकता नैतिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता को रोक देगी। टैगोर के इसी विचार से भारत के महान् राष्ट्रवादी गांधी विचलित हुए और दोनों में इसे लेकर वैचारिक मतभेद प्रकट हुए। टैगोर को उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था—'भारतीय राष्ट्रवाद पृथक नहीं है, न ही आक्रमक है और न ही विनाशात्मक। यह स्वास्थ्यवर्द्धक धार्मिक है और इसलिये मानवतावादी है।

टैगोर का अपने देश के प्रति–प्रेम' किसी दूसरे के प्रति घृणा पर आधारित नहीं था। यहां तक कि ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध भी नहीं। टैगोर का कहना था 'मैं भारत से प्रेम करता हूं, इसलिये नहीं कि में भूगोल को महत्व देता हूं, न ही इसलिये क्योंकि मुझे इसकी भूमि पर पैदा होने का संयोग प्राप्त हुआ है बल्कि शान्ति, एकता और विश्व बन्धुत्व के उन आदर्शों के लिये जिनके लिये भारत ने प्रयास किया है।' टैगोर ने देशभक्ति और मानवतावाद को मिला दिया और दोनों में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं देखा। रवीन्द्रनाथ किसी विशेष देश के नहीं बल्कि मानव के प्रेमी थे।

रवीन्द्रनाथ पश्चिमी राष्ट्रवाद की भर्त्सना करते थे। उनके अनुसार उसका प्रमुख आधार आर्थिक था। पश्चिमी राष्ट्रवाद की आन्तरिक भावना ऐशिया और अफ्रिकी के कमजोर देशों का शोषण करना था। रवीन्द्रनाथ पश्चिमी राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद मानते थे।

उनका कहना था कि राष्ट्र किसी जाति का एक राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन है और जब यह संगठन शक्ति सम्पन्न हो जाता है तो अपराध करने को तैयार हो जाता है। राष्ट्र का उद्देश्य सफलता होता है, अच्छाई नहीं। सामाजिक मनुष्य का आदर्श निस्वार्थता होता है किन्तु राष्ट्र का आदर्श स्वार्थ होता है। जब राष्ट्र, जो कि राजनीति तथा व्यापार के लिए संगठित जनता से अधिक कुछ नहीं है, विशाल तथा सुसंगठित बन जाता है तो वह शक्तिशाली बन जाता है। जिस अनुपात में उसकी शक्ति बढ़ जाती है उसी में उसके सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम हो जाती है। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता खो देता है क्योंकि वह मशीन के पहिये में एक दांता मात्र बन कर रह जाता है। इसीलिए टैगोर राष्ट्र को एक यान्त्रिक तथा कृत्रिम वस्तु समझते थे।

5.8 अन्तर्राष्ट्रियतावाद:

राष्ट्रवाद को विश्वशान्ति के लिए एक खतरा मानते हुए टैगोर विश्व तथा भारत की समस्याओं का निराकरण अन्तर्राष्ट्रीयता वाद में देखते थे। उन्होंने अपने देशवासियों को नवयुग की भावना को समझने की प्रेरणा दी। नवयुग की भावना थी अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय तथा सामंजसय की भावना। 1921 में उन्होंने लिखा था "अब हम यह जानने लगे हैं कि हमारी समस्या विश्वव्यापी है, और संसार का कोई भी राष्ट्र अपने आपको दूसरों से पृथक रखकर अपना कल्याण नहीं कर सकता। या तो हम सब साथ–साथ सुरक्षित रहेंगे या साथ–साथ ही विनाश के गर्त में जा गिरेंगे।"

5.9 अधिकार:

टैगोर व्यक्ति के अप्रतिबन्धित अधिकारों के पक्ष में नहीं थे। टैगोर का कहना था कि व्यक्ति एक समाज में ही अपने साथियों के साथ एकता से अपने "स्व" की अनुभूति कर सकता है। यह 'सामाजिक चेतना' या सहानुभूति व्यक्ति के अधिकारों का आधार है। टैगोर का यह विश्वास था कि अधिकारों की सर्वाधिक अनुभूति व्यक्ति के द्वारा अपने सहयोगियों के प्रति स्वयं द्वारा अपनाये गये कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को पूरा करने में है। यह स्वहित का अधिकांश के लिए स्वेच्छा से समर्पण है।

उनके विचार में अधिकांश किसी व्यक्ति की अपनी निजी सम्पत्ति नहीं है। वह तो सामाजिक कल्याण की वृद्धि में निष्काम योगदान देने से ही उत्पन्न होता है।

5.10 उदारवाद बनाम उग्रवाद:

टैगोर में उदारवाद और उग्रवाद की मूल विशेषताओं का सम्मिश्रण था। यद्यपि वे न तो स्वयं को उदारवादी मानते थे न ही उग्रवादी। उन्होंने लिखा था "हमारे देश के उदारवादी हाथ जोड़कर भीख मांगते है और उग्रवादी क्रोध से लाल आखों से मांगते है, दोनों में यही अन्तर है।

उदारवादी अपने मालिक की मेज के सामने पूंछ हिलाते है और उग्रवादी केवल भौंकते है। उदारवादी यह सोचते है कि वे बहुत वीर है परन्तु ब्रिटिश हाथों के मुक्के और जूतों की किक दोनों की पीठ पर समान रूप से पड़ती है। उनके मालिक की मेज से झूठन के टुकड़े भी दोनों पर समान रूप से गिरते हैं और दोनों टुकड़ों को बांटने की लड़ाई में व्यस्त है। उनके पास देश की भलाई के कामों के लिए समय नहीं है। वास्तविक कार्यों की अवहेलना होती रहती है।" टैगोर राजनीतिक समस्याओं के लिए दलीय भावनाओं और संकीर्ण दृष्टिकोण को समाप्त करना चाहते थे।

टैगोर का मानना था कि भारत की वास्तविक आवश्यकता को न तो उदारवादी समझते हैं न ही उग्रवादी। उदारवादियों का कोई रचनात्मक विचार नहीं था, उन्हें इसका ज्ञान नहीं था कि भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता आन्तरिक रचनात्मक कार्य थी। उग्रवादी इस प्रकार का दावा करते थे कि उनके कार्यक्रमों की जड़ें परम्परागत भारतीय सत्य में है परन्तु वास्तव में वे केवल पश्चिमी राष्ट्रवाद के समर्थक हैं। उन्हें भारत की विशिष्ट समस्याओं से कोई सहानुभूति नहीं है।

5.11 राज्य और समाज:

टैगोर समाज को राज्य से पूर्व मानते थे और दोनों में भेद करते थे। टैगोर के अनुसार समाज मनुष्य की सामूहिक कृति है। उसका उद्देश्य मनुष्य की पूर्णता और उसके मनुष्यत्व की दैवीय भावनाओं की पहचान करवाना है। समाज का कार्य मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करना है। इसलिए समाज को सदा मनुष्य के आध्यात्मिक आदर्श को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिए और उसे अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रता की पहचान करने के योग्य बनाना चाहिए।

टैगोर के अनुसार राज्य का प्रमुख कार्य कानून और व्यवस्था की स्थापना करना है। पश्चिम और भारत में यही अन्तर है कि पश्चिम राज्य को प्रमुखता देता है और भारत समाज को। अत: भारत में समाज कल्याण का स्त्रोत है। समाज और धर्म की रक्षा ही स्वरक्षा का एक मात्र मार्ग है । समाज एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को अपने अहं से ऊपर उठने में सहायता देता है। समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। वह उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों की तुष्टि करता है क्योंकि वह अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों का एक सूक्ष्म ताना बाना है।

रवीन्द्रनाथ द्वारा समाज तथा राज्य के बीच किया गया भेद और उनके द्वारा समाज को दी गई प्राथमिकता उनके राजनीतिक चिन्तन के महत्वपूर्ण तत्व हैं। हीगल तथा मार्क्स भी समाज और राज्य के बीच भेद करते हैं किन्तु वे राज्य को अधिक महत्वपूर्ण बना देते हैं। हीगल के लिए राज्य सामाजिक जीवन की शर्त है। वह एक ऐसा समन्वय है जिसमें कि व्यक्ति तथा समाज विलीन हो जाता है, मार्क्स के लिए भी यह सामाजिक जीवन की शर्त है। इसके विपरीत टैगोर के लिए राज्य एक सहायक संस्था के रूप में कार्य करता है जिसका मुख्य कार्य शान्ति तथा व्यवस्था की रक्षा करना है। समाज राज्य का आधार है।

5.12 लोकतन्त्र:

रवीन्द्रनाथ के विचारों में लोकतन्त्र का प्रभाव भी विद्यमान है। यद्यपि उनका जन्म एक कुलीन परिवार में हुआ था किन्तु उनका पालन–पोषण बहुत सादा तरीके से हुआ था और वे जनसाधारण की भावनाओं को समझते थे। रवीन्द्रनाथ ने यह आग्रह किया कि जनसाधारण को संगठित किया जाना चाहिए और उनको अपने अधिकारों तथा शक्ति के प्रति सचेत किया जाना चाहिए। रवीन्द्रनाथ एक ऐसे समानतावादी समाज के हामी नहीं थे जिसमें कि कोई भी वर्ग भेद न हो। मनुष्यों के बीच जन्मजात गुणों तथा शक्तियों के ऐसे अन्तर होते है जिन्हें कि किसी भी प्रकार की शिक्षा दूर नहीं कर सकती, इसलिए आदर्श समाज वह होगा जिसमें कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष को अपने स्वाभाविक गुणों को पूर्ण रूप से विकसित करने का अवसर मिलता हो। लोकतन्त्र को अवसरों की समानता की व्यवस्था करनी चाहिए। टैगोर का विश्वास था कि लोकतन्त्र का परीक्षण केवल तभी किया जा सकता है जब महत्वाकांक्षा अनुशासित और संयत हो जाये। विभिन्न व्यक्तियों तथा दलों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष सच्चे जनतन्त्र के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है।

5.13 भारत में ब्रिटिश शासन

रवीन्द्रनाथ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल सिद्धान्त मानते थे इसलिए वे भारत में ब्रिटिश शासन के दूरगामी प्रभावों की वास्तविकता को नजर–अन्दाज नहीं करते थे। भारतीय पुनर्जागरण की महान भावना का स्वागत करते हुए रवीन्द्रनाथ यह स्वीकार करते हैं कि भारत के पश्चिम के साथ सम्बन्ध और विशेष रूप से ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध ने भारतीय जनता के मस्तिष्क में उत्साह की उस गर्मी को पैदा किया है जो कुछ समय के लिए सर्द हो गई थी। ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध ने देश की जनता में अपने धर्म, दर्शन और संस्कृति के प्रति विश्वास को ताजा कर दिया है। अपने कई लेखों में रवीन्द्रनाथ ने पूर्व और पश्चिम के मिलन का स्वागत किया है। रवीन्द्रनाथ पश्चिमी विचारधारा के स्वतन्त्रता, उदारवाद और मानवता के आदर्शों से बहुत प्रभावित थे।

परन्तु वे ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था के आन्तरिक दोषों के आलोचक भी थे जो कि उनके अनुसार भारत और इंगलैण्ड के लोगों के वास्तविक मिलन में बाधा थे। वे अंग्रेजों की जातीय अहंकार की नीति के आलोचक थे। उन्हें जातीय असमानता के किसी सिद्धान्त में विश्वास नहीं था।

गांधी जी की तरह टैगोर के विचारों में भी इस सम्बन्ध में जलियांवाला बाग घटना के बाद अन्तर आया। ब्रिटिश सरकार के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए उन्होंने "नाइट" की उपाधि को वापस कर दिया। इस घटना ने उन्हें भारत में ब्रिटिश प्रशासन के प्रति असहयोगी बना दिया।

5.14 हिन्दू–मुस्लिम सम्बंध

टैगोर गांधी की तरह हिन्दू–मुस्लिम एकता को एक लक्ष्य मानते थे। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि हिन्दू मुस्लिम एकता न केवल अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है

बल्कि आन्तरिक विकास और भारतीय संस्कृति की समृद्धि के लिए भी आवश्यक है जो कि वस्तुत: हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का मेल है। उनके अनुसार हिन्दू और मुस्लिम रक्त सम्बन्धी हैं, उनका जन्म एक ही देश में हुआ है, उनके पूर्वज इसी देश में जीवित रहे और मरे। टैगोर ने मध्यकालीन सूफी सन्तों की काफी प्रशंसा की है। कवि ने वर्णन किया है कि यह 'ईश्वर के प्रति प्रेम' और व्यक्ति के प्रति प्रेम ही था जिसने कबीर और नानक जैसे मध्यकालीन सन्तों को वास्तविक एकता के लिए कार्य करने को प्रेरित किया।

अपने कई निबन्धों और लेखो में हिन्दू मुस्लिम एकता के बारे में लिखते हुए टैगोर ने अपने हिन्दू भाईयों से मुसलमानों के प्रति अविश्वास की भावना को खत्म करने की अपील की है।

टैगोर हिन्दू–मुस्लिम समस्या को ब्रिटिश कालीन भारत की एक कृत्रिम समस्या समझते थे। अपने कई लेखों और भाषणों में रवीन्द्रनाथ ने ब्रिटिश प्रशासकों से हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों से सम्बन्धित बातों में हस्तक्षेप न करने की अपील की। वह दोनों सम्प्रदायों के मध्य कटुता को अस्थायी स्थिति मानते थे।

रवीन्द्रनाथ का विश्वास था कि हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए पारस्परिक सहिष्णुता और जातीय समानता आवश्यक है। टैगोर का मानना था कि वास्तविक एकता तभी प्राप्त हो सकती है जब हिन्दू और मुसलमानों को एक समान स्तर पर रखा जाये। मुसलमानों को हिन्दुओं की तरह समान अवसर देकर ही अविश्वास, भय और निराशा की मूल जड़ को समाप्त किया जा सकता है। टैगोर ने अपने हिन्दू मित्रों से मुसलमानों को नौकरियों के अवसर, शिक्षा और सामाजिक तथा सरकारी स्थानों पर सम्मान योग्य स्थान देने की अपील की जिससे मुसलमान मनोवैज्ञानिक रूप से सन्तुष्ट हो सकें।

6. सामाजिक विचार:

टैगोर के सामाजिक विचार भी उनके धार्मिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं। उनके अनुसार हमारे सामाजिक सम्बन्ध प्रेम, सामंजस्य तथा सहानुभूति के ऊपर आधारित होने चाहिए। उपनिषदों से उन्होंने सीखा था कि प्रेम से ही संसार का जन्म हुआ है तथा प्रेम से ही वह जीवित रहता है। टैगोर भारत में समाज सुधार को प्राथमिक आवश्यकता मानते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्य नेताओं के विपरीत वे सामाजिक बुराईयों को दूर करने पर बहुत जोर देते थे। देश के राजनीतिक तथा आर्थिक पतन के लिए वह उन्हीं को उत्तरदायी समझते थे। वह गांवों को भारत के सामाजिक जीवन का आधार मानते थे, इसलिए सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनरुद्धार उनके अनुसार आवश्यक था। अंग्रेजी राज्य ने गांवों के उद्योगों को नष्ट करके सन्तुलित अर्थव्यवस्था को भंग कर दिया। रवीन्द्रनाथ जनता में आत्म–सम्मान तथा आत्म–निर्भरता की भावना विकसित करना चाहते थे। जनगणना के लिए टैगोर ने मेलों तथा तीर्थ यात्रा का सुझाव भी दिया। ग्रामीण पुनर्निर्माण के विषय में महाकवि के विचार एक बहुत बड़ी हद तक उनके एक जमींदार होने के अनुभव से प्रभावित थे। उन्होंने ग्रामीण पुनर्निर्माण का जो कार्यक्रम तैयार किया उसमें सहकारिता के सिद्धान्त का प्रमुख स्थान था। टैगोर देश में सहकारी खेती के सबसे पहले समर्थक थे। उनका विश्वास था कि

उत्पादन के वितरण में सहकारिता के सिद्धान्त को अपना लेने से जनसाधारण की दरिद्रता की समस्या एक सीमा तक समाप्त हो जायेगी।

6.1 जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता:

गाँधी जी तथा अन्य समाज सुधारकों की भांति रवीन्द्रनाथ भी जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता की निन्दा करते थे। उनके अनुसार जाति का विचार रचनात्मक नहीं है, यह केवल संस्थात्मक है । यह किसी यान्त्रिक व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में तालमेल बिठाने का प्रयत्न करता है। यह व्यक्ति के नकारात्मक पहलू अर्थात उसकी पृथकता को महत्व देता है। यह व्यक्ति में निहित सत्य को आघात पहुंचाता है। अपनी "जाबाल सत्यकाम" शीर्षक कविता में उन्होंने वंशानुगत अधिकारों के विरूद्ध उपदेश दिया और इस बात का समर्थन किया कि समाज के निम्नतम वर्गों को शिक्षा की समान सुविधायें दी जानी चाहिए। उनका कहना था कि जाति प्रथा वंशानुक्रम के नियम को अत्यधिक महत्व देती है और सामाजिक नम्यता के नियम की अवहेलना करती है। इसलिए उन्होंने जाति–प्रथा के उन्मूलन का समर्थन किया। उनके अनुसार वर्तमान जाति प्रथा एक जड़ तथा निष्प्राण व्यवस्था है जो व्यक्ति को कुचल देती है, गतिशीलता को दबा देती है और अनुदारता तथा निष्क्रियता को जन्म देती है।

टैगोर गाँधी की तरह अस्पृश्यता को एक सामाजिक बुराई मानते थे। वह अस्पृश्यता को एक गैर–हिन्दू व्यवहार मानते थे। उनका कहना था कि प्राचीन हिन्दू समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित थे। रवीन्द्रनाथ का गांधी की तरह अछूतों के प्रति करुण भाव था। रवीन्द्रनाथ का यह भाव उनकी सह नृत्य नाटिका "चांडालिका" में प्रदर्शित होता है। अपने कई लेखों में उन्होंने सवर्ण हिन्दूओं को अस्पृश्यता के व्यवहार से होने वाले बुरे परिणामों के प्रति चेतावनी दी। रवीन्द्रनाथ इसे भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मुख्य बुराई मानते थे। उनके अनुसार यह दासतां का रूप था।

6.2 स्त्रियों की स्थिति:

टैगोर के अनुसार स्त्री पुरुष की प्रतिस्पर्धिनी नहीं है और न ही उससे कमजोर या निम्न है बल्कि वह पुरुष की पूरक है। रवीन्द्रनाथ का मानना था कि स्त्री की मानसिक और शारीरिक रचना पुरुष से भिन्न है, इसलिए उसका कार्य क्षेत्र भी पुरुष से भिन्न होना चाहिए। परन्तु इससे उनका तात्पर्य यह नहीं था कि स्त्री को घर तक सीमित कर देना चाहिये। "घर" या "घरेलू कार्य" रवीन्द्रनाथ के लिए गूढ अर्थ लिये हुए थे।

एक स्त्री को पुरुष की भांति समाज की सेवा करने की समान सुविधायें व अवसर देने चाहिये परन्तु उसका कार्य क्षेत्र पुरुष से भिन्न होना चाहिये। रवीन्द्रनाथ स्त्री के लिए पुरुष के द्वारा किये जाने वाली किसी प्रकार के भारी कार्य को उचित नहीं समझते थे। उनके अनुसार स्त्री के लिए समाज कल्याण कार्य, शैक्षणिक, नर्सिग और विभिन्न प्रकार के गांव समाज के लिए विकासात्मक कार्य उचित हैं। रवीन्द्रनाथ ने भारत की स्त्रियों से अपील की उन्हें अपनी सेवा और शक्ति अपने घर, समाज और देश की भलाई में लगानी चाहिए न कि धन कमाने के

लिए या अपने पुरुष साथियों से होड़ करने में खर्च करनी चाहिए। उनके अनुसार स्त्रियों में पुरुषों के साथ प्रतिद्वन्द्विता की भावना उनकी कमजोरी का चिन्ह है।

टैगोर स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए बाल विवाह और दहेज प्रथा के विरोधी थे। रवीन्द्रनाथ विधवा स्त्रियों की स्थिति से भी पूर्ण परिचित थे और "स्वैच्छिक वैधव्य" और "लादे गये वैधव्य" में भेद करते थे। वह "बलात वैधव्य" के भी विरोधी थे। उनके अनुसार यदि हिन्दू परिवार में एक विधुर को पुनर्विवाह की अनुमति थी तो एक विधवा को भी समान सुविधा प्राप्त होनी चाहिये। रवीन्द्रनाथ ने अपने प्रसिद्ध लेख "पश्चिम और पूर्व" में स्पष्टत: कहा था कि एक मध्यमवर्गीय हिन्दू परिवार में विधवा कभी भी स्वयं की अवहेलना नहीं समझती है और पश्चिम की विधवाओं की भांति उसे अकेलेपन की यातना नहीं सहनी पड़ती है।

6.3 शिक्षा:

टैगोर साक्षरता और सच्ची शिक्षा में भेद करते थे। रवीन्द्रनाथ का कहना था कि उच्चतम शिक्षा वह नहीं है जो "सूचना" देती है बल्कि जो व्यक्ति के जीवन को सब के साथ मिलाती है। उनके अनुसार केवल मात्र तथ्यों का संग्रह बाह्य विश्व से सम्बन्ध रखता है। जबकि वास्तविक शिक्षा का सम्बन्ध आन्तरिक आत्मा से है। टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य अन्धविश्वास, अज्ञानता, संकीर्णता जैसे गुलामी के बन्धनों से मुक्त करवाना था। ज्ञान और सत्य के ऐसे आदर्श वातावरण को पैदा करना था जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के सर्वोत्तम हित के साथ विकसित हो सके।

टैगोर अपने समय के स्कूलों के पढ़ाई के परम्परागत तरीके के आलोचक थे, उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनो के स्कूली जीवन ने ही उनमें "स्वतन्त्रता" के लिए प्यास पैदा की जिसने उन्होंने शान्ति निकेतन में स्कूल स्थापित करने के लिए प्रेरित किया जहां बच्चे अधिकतम स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते थे।

परंतु इसका अर्थ यह नहीं है किये विद्यार्थियों में अनुशासन विहीनता पैदा करना चाहते थे। रवीन्द्रनाथ ने अपने स्कूल में भारत के प्राचीन "ब्रह्मचर्य" आदर्शों को लागू करने पर बल दिया। टैगोर किताबी ज्ञान की अपेक्षा कार्यात्मक शिक्षा पर बल देते थे। भारत की प्राचीन "आश्रम व्यवस्था" जो कि "करो और सीखो" पर आधारित थी, टैगोर को पसन्द थी। रवीन्द्रनाथ ने इस बात पर बल दिया कि भारत की शैक्षणिक संस्थायें समाज से जुड़ी होनी चाहिये।

टैगोर ने 1892 में ही अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा दिये जाने के दोषों की ओर इंगित कर दिया था और वे मातृभाषा में शिक्षा दिये जाने के पक्षपाती थे। उनके अनुसार भारत के युवा वर्ग का मस्तिक विदेशी भाषा के बोझ से कुण्ठित हो गया है।

7. टैगोर तथा गाँधी: वैचारिक मेल–बेमेल के विविध पक्ष

गांधी और टैगोर आधुनिक भारत की आत्मा की दो आंखें है। 'प्लेटो और अरस्तु की तरह वे एक साथ एक दूसरे के पूरक और विरोधी प्रतीत होते हैं। कई दृष्टियों से वे विरोधी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, परन्तु दोनों में काफी कुछ समानता भी है। नेहरू ने टैगोर की गांधी जी से इन शब्दों में तुलना की थी— 'टैगोर और गांधी 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के

भारत के नि:सन्देह दो असाधारण और प्रभावशाली चरित्र रहे हैं। उन दोनों में तुलना और विरोध रूचिप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने विचारों में एक दूसरे से इतने अलग नहीं हो सकते।"

वे एक सामान्य जीवन के ढंग से रहे और चिन्तन किया। उनके समान मूल्य थे उनकी आलोचना भी समान चीजों के विरूद्ध थी यद्यपि वे अलग–अलग दृष्टियों से आलोचना करते थे। आधुनिक भारत के इन दोनो निर्माताओं की समझने के लिए दोनों के मतभेद और समानताओं को जानना प्रासंगिक होगा।

7.1 वैचारिक समानता

दोनों चिन्तकों के राजनीतिक विचार उनके आध्यात्मिक आदर्शों और धार्मिक विश्वासों पर आधारित थे। वे सुविधा या आवश्यकता की राजनीति में विश्वास नहीं करते थे। दोनों के लिए साध्य और साधन समान शब्द थे। दोनों ही साधनों की शुद्धता को किसी भी आधार पर छोड़ने को तैयार नहीं थे। टैगोर और गाँधी दोनों व्यक्ति को संस्था से ऊपर मानते थे। टैगोर और गांधी दोनों का विश्वास था कि अधिकार की वास्तविक अनुभूति स्वयं द्वारा स्वीकार किये गये उत्तरदायित्वों को पूरा करने में है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी दोनों के समान विचार थे। दोनों राजनीतिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में कोई स्पष्ट भेद नहीं करते थे। उनके लिए वे एक दूसरे की पूरक थीं।

गांधी की तरह रवीन्द्रनाथ अहिंसा के पुजारी थे। दोनों का विश्वास था कि यद्यपि अहिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने में लम्बा समय लगेगा परन्तु वह स्वतन्त्रता प्राप्त करने का निश्चित और स्थायी रास्ता होगा। हिंसा का रास्ता यद्यपि सुविधाजनक प्रतीत होता है जो कि शीघ्र स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता देगा उसके परिणाम स्थायी और लाभदायक नहीं होगे।

परन्तु टैगोर और गांधी दोनों ही कायरता की अहिंसा में विश्वास नहीं करते थे। हिंसा और कायरता दोनों में चुनाव की अवस्था में वे हिंसा को ही उचित मानते थे।

भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति भी दोनों के समान विचार थे और दोनों के विचारों में कुछ घटनाओं के कारण परिर्वतन आया और वे ब्रिटिश सरकार के प्रति असहयोगी बने। टैगोर और गांधी दोनों हिन्दू–मुस्लिम एकता को एक साध्य मानते थे और दोनो सम्प्रदायों में वास्तविक हार्दिक एकता स्थापित करना चाहते थे। उनके अनुसार अंग्रेज अपनी "फूट डालो और शासन करो" की नीति के कारण दोनों सम्प्रदायों के मध्य फूट की खाई को बड़ा कर रहे है। उनके अनुसार यह फूट एक अस्थायी घटना है। दोनों हिन्दु मुस्लिम एकता के लिए पारस्परिक सहिष्णुता और जातीय समानता को आवश्यक मानते हैं।

रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी "दो राष्ट्र" सिद्धान्त के विरोधी थे। टैगोर पाकिस्तान का जन्म देखने के लिए जीवित नहीं रहे। उनका देहान्त 1941 में ही हो गया था और गांधी को भारत विभाजन की कीमत अपने खून से देनी पड़ी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी दोनों साक्षरता और वास्तविक शिक्षा में भेद करते हैं। दोनों विचारक किताबी ज्ञान की अपेक्षा कार्य पर आधारित शिक्षा पर बल देते थे। दोनों भारत की

प्राचीन आश्रम व्यवस्था पर विश्वास करते थे। दोनो मातृ भाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर विश्वास करते थे।

टैगोर और गांधी दोनों स्त्री को पुरूष की प्रतिद्वन्द्विनी के स्थान पर पूरक मानते थे। स्त्री–पुरूष में मध्य पाये जाने वाले प्राकृतिक अन्तरों को दोनों ही स्वीकार करते थे। स्त्री के लिए एक भिन्न कार्य क्षेत्र की योजना दोनों ने ही प्रतिपादित की थी। यद्यपि वे स्त्री को केवल मात्र घर की सीमा में बांधना नहीं चाहते थे।

7.2 वैचारिक विवाद

रवीन्द्रनाथ और गांधी में गहरी मित्रता थी। दोनों एक दूसरे के तब से प्रशंसक थे जबकि दोनों प्रत्यक्ष रूप में मिले भी नहीं थे परन्तु इसके बावजूद 1921–25 के वर्षों में उनमें कई सार्वजनिक विवाद के बिन्दु प्रकट हुए।

टैगोर एक कवि थे और गांधी जैसा कि एक सामान्य व्यक्ति उनको जानता था एक महान राजनीतिज्ञ थे। कुछ के अनुसार दोनों के मध्य तुलना एक व्यर्थ की मेहनत है यह उसी प्रकार की तुलना है जैसे राजनीति के व्यक्ति, नेहरू और विज्ञान के व्यक्ति होमी भाभा में तुलना करना है।

रवीन्द्रनाथ के सामाजिक दर्शन में राजनीति का केवल एक गौण स्थान था। देश की समस्याओं के सामाजिक मूल तक जाने में उनकी अधिक दिलचस्पी थी। उन्हें इस बात पर गहरा दुख था कि गांधी जी ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अपव्यय कर दिया और इस बात को वह भारत के लिए एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझते थे।

यद्यपि टैगोर देश में चलने वाले विभिन्न राजनीतिक संघर्षों के प्रति उदासीन नहीं थे और स्वयं अपनी युवावस्था में देश को स्वतन्त्र करवाने के लिए कई संगठनों के सदस्य थे। बंगाल विभाजन आन्दोलन में भी वे सक्रिय थे। उन्हें अहिंसक सविनय अवज्ञा आन्दोलन से भी सहानुभूति थी। परन्तु वे इसे आवश्यक रूप में नैतिक नहीं मानते थे। टैगोर के अनुसार लोगों की बिना किसी पर्याप्त आध्यात्मिक तैयारी के यह आन्दोलन लोगों में पागलपन बढ़ायेगा, लोगों में जातीय घृणा और बदले की भावना पैदा करेगा।

गांधी जी ने टैगोर को असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित करने का बहुत प्रयास किया परन्तु वे उसमें सफल नहीं हुए। टैगोर इस आन्दोलन को नाकारात्मक प्रकृति का मानते थे। यह आन्दोलन जनता से उपाधियों तथा पदों का परित्याग करने, स्कूल–कालेजों का बहिष्कार करने, न्यायालयों विधान मण्डलों तथा विदेशी समाज का बहिष्कार करने की मांग करता था। रवीन्द्रनाथ इन्हें रचनात्मक कार्य नहीं मानते थे। उनके अनुसार यह आन्दोलन स्वतन्त्रता की भावना और सत्य के अनुसार नहीं है। उन्हें भय था कि असहयोग आन्दोलन असहिष्णुता की भावना पैदा करेगा और प्रत्येक विदेशी वस्तु के प्रति विरोध भाव उत्पन्न करके पूर्व तथा पश्चिम के मेल में बाधक बन जायेगा।

रवीन्द्रनाथ भारतीय गांवों में बेकारी दूर करने के लिए गांधी जी के उपाय "चर्खा" के भी बहुत आलोचक थे। गांधी गांवों में बेकारी दूर करने के लिए चर्खे को एकमात्र साधन मानते थे। परन्तु टैगोर का विश्वास था कि कोई भी कृत्रिम थोपी हुई चीज जनता के दिमाग पर स्थायी

प्रभाव नहीं डाल सकती है। टैगोर चर्खे को कई साधनों में एक साधन के रूप में स्वीकार करते थे।

टैगोर गांधी की भांति जन्म दर नियंत्रित करने के लिए केवल संयम को ही पर्याप्त नहीं मानते थे।

राष्ट्रवाद की भावना को लेकर भी दोनों में मतभेद थे।

टैगोर तथा गांधी के बीच मतभेद का मूल कारण यह था कि टैगोर एक कवि थे और गांधी एक कर्मयोगी थे।

8. मूल्यांकन एवं निष्कर्ष

टैगोर की प्रतिभा बहुमुखी समन्वयात्मक तथा मौलिक थी। वे महान देशभक्त थे। बंग–भंग विरोधी आन्दोलन के दिनों में उनकी वाणी ओज से गूंज उठी और बाद में वे राष्ट्रीय कवि के रूप में पूजे जाने लगे। उन्होंने समाज सुधार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय एकता का पक्षपोषण किया। वे राजनीतिज्ञ नहीं थे, बल्कि राजनीतिक सन्देशवाहक थे जिन्होंने एकता, सामंजस्य, शांति तथा सहयोग का उपदेश दिया।

राजनीति के प्रति रवीन्द्रनाथ का दृष्टिकोण उनके समकालीनों के दृष्टिकोण से बहुत अधिक भिन्न था। वह भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष को एक नवीन दृष्टिकोण से देखते थे। उनका कहना था कि यह केवल संविधान को बदल देने या देश को विदेशी शासन से मुक्त कर देने का ही प्रश्न नहीं था।

राष्ट्रवाद के प्रति टैगोर के दृष्टिकोण में एक पक्षीयता दिखाई देती है। राष्ट्रवाद को एक कृत्रिम वस्तु तथा मनुष्य की सामाजिक भावनाओं को निरपेक्ष समझना उनकी एक भूल थी। टैगोर का राजनीतिक दर्शन गम्भीर आध्यात्मिक मानवतावाद से प्रभावित है। वे मैकेविलयान शासन शैली के हर रूप में विरोधी थे।

प्लेटो, बर्क तथा गांधी की भांति टैगोर ने भी यह मानने से इन्कार किया कि राजनीति अनैतिकता का क्षेत्र है।

9. संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कृष्णा कृपलानी : **टैगोर– ए लाइफ।**

2. सचिन सेन : **द पोलिटिकल थॉट आफ टैगोर।**

3. शसघर सिन्हा : **सोशल थिकिंग ऑफ टैगोर।**

4. टैगोर : नेशनलिज्म

5. रवीन्द्रनाथ टैगोर : **द रिलीजन ऑफ मेन।**

6. महाजन : लीडर्स आफ **द नेशनलिस्ट मूवमेंट।**

7. राय चौधरी : **गांधी एण्ड हिज कांटेम्परेरीज।**

8. आर.एन.सक्सैना : **इण्डियन सोशल थॉट।**

9. डेविस डाल्टन : **इण्डियन आइडिया ऑफ फ्रीडम।**

10. जी.एन.वर्मा व मोइन शकीर : **पॉलिटिक्स एण्ड सोसाइटी।**

10. अभ्यास प्रश्न

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर के राजनीतिक विचारो पर एक निबन्ध लिखिये।
2. टैगोर – गांधी सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
3. जाति प्रथा, अस्पृश्यता तथा स्त्रियों की स्थिति पर टैगोर के क्या विचार थे? स्पष्ट कीजिए।
4. स्वतन्त्रता के विषय में टैगोर की क्या प्रमुख वैचारिक संकल्पनाएं थी? विवेचना कीजिए।

इकाई - 15
महात्मा गांधी का विश्व – दृष्टिकोण

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. अन्तर्निर्भरता तथा आत्म – निर्भरता
4. आन्तरिक स्वराज तथा सामाजिक सदभाव
5. अस्मिता बनाम अलगाव
6. सर्वोदय
7. 'शैतानी' आधुनिक सभ्यता
8. उद्धरण
9. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं –

(i) भारतीय चिंतन परम्परा तथा हिन्दू - विश्व – दृष्टिकोण का बोध;

(ii) महात्मा गांधी के उस परम्परा में स्थान से परिचय;

(iii) गांधीजी द्वारा पुर्नव्याख्या किए गए भारतीय विचारों, अवधारणाओं, प्रतीकों आदि से अन्तरंगता।

(iv) सर्वोदय की विचार – भूमि तथा सामाजिक – सांस्कृतिक प्रक्रिया का विश्लेषण

(v) आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की गांधी – आलोचना के मूल स्वरों की पहचान; तथा

(vi) इन आधारों पर गांधीजी के विश्व – दृष्टिकोण का वर्णन तथा आकलन।

2. प्रस्तावना

महात्मा गांधी ने अपने सामाजिक दर्शन अथवा विश्व – दृष्टिकोण पर कोई विधान नहीं रचा। व्यक्ति के समाज से सम्बन्ध की समस्या उनके चिन्तन व कर्म में केन्द्रीय है। इस पाठ का उद्देश्य व्यक्ति व समाज विषयक गांधी जी के विचारों का परीक्षण है। यह परीक्षण गांधी जी के लिखे व बोले शब्दों तथा उनके कर्म के आधार पर किया जाएगा। उन्होंने किसी भी क्षण यह नहीं भुलाया कि व्यक्ति अनिवार्य रूप से एक सामाजिक प्राणी है।[1] व्यक्ति व समाज के विषय में गांधीजी के विचार, उनके धार्मिक विश्वास व स्वयं समाज के विषय में गांधीजी के विचार उनके धार्मिक विश्वास में गहरे पैठे हुए हैं। इसलिए वह जब व्यक्ति के सामाजिक प्राणी होने की बात करते हैं तो इस संदर्भ में वे "व्यक्ति की सृष्टि अथवा ब्रह्माण्ड से अनिवार्य एकता" की चर्चा करते हैं क्योंकि उनका कहना है कि "हम एक ही ईश्वर से पैदा हुए हैं और ऐसा होने के

कारण किसी भी रूप में प्रकट समस्त जीवन अनिवार्यत: एक है"।[2] यह स्थिति हमें तुरन्त उस उपनिषद के चिंतन से अन्तरंग कराती है जिसमें ईश्वर तथा वैयक्तिक आत्मा को "तत्वमसि" (तुम वह हो) के रूप में उद्घाटित किया गया है तथा जो वैयक्तीकृत हर तत्व की मूल अस्मिता पर बल देती है।[3] यह गांधीजी के विश्व दृष्टिकोण की मूल आत्मा है जो समाज प्रकृति तथा अंतिम यथार्थ (ब्रह्म) से व्यक्ति के सम्बन्धों की अद्वैत विचारधारा पर आधारित है।

गांधीजी के विश्व–दृष्टिकोण में हमारी समझ के क्षितिज हमारें समस्त विश्वासों, व्यवहारों बल्कि समस्त.जीवन की सीमाओं तक फैले हुए हैं। यह विस्तार न केवल मानव जीवन बल्कि "समस्त संवेदन समर्थ जीवों (तक व्याप्त है) क्योंकि समस्त जीवन एक ही सार्वभौमिक स्रोत से प्रकट होता है।" इसमें सम्पूर्णता तथा समग्रता की स्थिति पर बल दिया गया है। गांधीजी के अनुसार व्यक्ति चेतन अथवा अचेतन रूप से "अपनी स्वयं की अध्यात्मिकता के पल्लवित होने" की ओर प्रगति करना है। इस प्रगति द्वारा व्यक्ति को उसके वर्तमानकालिक अस्तित्व के परे उच्चतर अवस्था तक पहुंचने में सहायता मिलती है (ब्राह्मणी स्थिति)। [4]"

यह स्थिति हमें "ऐतिहासिक चेतना" के विपरीत ' ब्रह्माण्डिक चेतना" की ओर ले जाती है; गांधीजी जिस हिन्दू विश्व–दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं उसका एक ब्रह्माण्डिक परिप्रेक्ष्य है विसवत अर्थ है कि समय की मुख्य प्राणी ब्रह्माण्ड है तथा ब्रह्माण्ड की व्यवस्था ऋत सत प्रतिबिम्बित करीत है (सत् ही ब्रह्म अथवा परमात्मा है) । इसके विपरीत ऐतिहासिक चेतना का विश्व–दृष्टिकोण परिवर्तनशील यथार्थ को घटनाओं अथवा क्रियाओं के दृष्टिकोण से ग्रहण करता है।[5]

'इस विश्व–दृष्टिकोण में जो कुछ "सत्य" अथवा "वास्तविक" है वह घटनाओं की प्रवृत्ति से, अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। "सत्य" का अभिप्राय उस तत्व से है जो वास्तव में घटित से संगत है।[6] यह दृष्टिकोण प्रत्येक चीज़ या तत्व को उस व्यक्ति के सम्बन्ध में देखता–भालता है जिसे भाग अथवा अंश के रूप में स्वीकार किया जाता है। हिन्दु ब्रह्माण्डिक दृष्टि के अनुसार यह दृष्टिकोण आंशिक है। चीजों को उनकी वास्तविकता सम्पूर्णता अथवा समग्रता के परिप्रेक्ष्य से प्राप्त होती है। अत: हिन्दू विश्व–दृष्टिकोण के अनुसार वह सब कुछ यथार्थतः: वास्तविक है जो एकीकरण को सुलभ कराता है और आंशिक पक्षों से उबारता है।[7] यह मत स्पष्टतः परिलक्षित करता है कि गांधीवादी विश्व–दृष्टिकोण वस्तुत: ब्रह्माण्डिक विश्व–दृष्टिकोण अथवा ब्रह्माण्डिक परिप्रेक्ष्य है। गांधीजी की दृष्टि का एक अन्य पक्ष यह है कि "पारम्परिक इतिहास" तो केवल इसमें रूचि रखता है कि मनुष्य की दुनियां में क्या कुछ घटित होता है या जो कुछ घटित हुआ सर्वत्र कारण क्या है। उसकी इस बात में कतई रूचि नहीं कि दुर्गम तथा संकरे आध्यात्मिक पथ पर चलते व्यक्ति कैसी और कितनी प्रगति करता है।

इस प्रकार गांधीजी इतिहास के प्रति आभासित रूप से अतिसरलवादी दृष्टि अपनाते हुए उसे राजाओं– महाराजाओं के क्रिया कलापों का काल–क्रमिक वृत्तान्त मानते है, उसे दुनियां की लड़ाइयों का अभिलेख स्वीकार करते हैं तथा उसे प्रत्येक अवरोध का एक ऐसा लेखा–जोखा मानते हैं जो आत्म–बल अथवा प्रीति–बल की सहज क्रियाशीलता कों दुष्प्रभावित करता है।[8]

इतिहास की इस अपेक्षाकृत संशयवादी व्याख्या का मूल स्वर उनके इस विश्वास पर आधारित है कि मानव समाज एक अविरत विकास है, अध्यात्म के संदर्भ में एक पल्लवन। उनका यह तर्क है कि यदि उत्कर्ष नहीं होगा तो अपरिहार्य रूप से अपकर्ष होगा।[9] गांधीजी का यह मत है कि "मानव इतिहास में प्रगति बोधगम्य प्रेम के परिचालन से सम्भव हुई है; अपने सार में समस्त जीवन एक है तथा ब्रह्माण्ड तथा मानवता समग्र व सम्पूर्ण है। " गांधीजी के अनुसार "पारम्परिक इतिहास का मूल तत्व केवल नामरूपा है और ऐसा होने के कारण घटनाओं पर ध्यान केद्रित करने वाला इतिहासकार मानव इतिहास के सकारात्मक तथा सार्वभौतिक लक्ष्य से विचलित हो जाता है।"[10]

अत: गांधीजी यह मत प्रतिपादित करते हैं कि "व्यक्ति का सच्चा इतिहास तो व्यक्ति के ईश्वर परायण होने की अविरत साधना पर ध्यान देता है; उसमें अच्छा होने पर बल दिया गया है क्योंकि ईश्वर न केवल 'सत् ' है बल्कि वह अच्छा तथा प्रेममय भी है; (सच्चा इतिहास) व्यक्ति के आध्यात्मिक पल्लवन की गाथा है, उसकी यह अनुभूति कि सभी का अभिज्ञान अन्तर्निहित है।"[11]

अपरिहार्य अभिज्ञान की यह अवधारणा अथवा यह "हिन्दू एकात्मवाद " मूर्तिपूजा विषयक उस संशय का निराकरण करता है जो एरिक फ्रॉम ने उठाया और जिससे प्राय: हिन्दू धर्म को जोड़ा जाता रहा है।[12] एरिक फ्रॉम के अनुसार मूर्तिपूजा में व्यक्ति स्वयं, मूर्ति बनाता है और उसकी पूजा करता है। ऐसा करते हुए वह अपनी स्वयं की रचना को शीश झुकाता है। "मूर्ति एक अलगावी रूप में उसकी अपनी जीवन–शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है; (मूर्तिपूजा की अवस्था में) व्यक्ति स्वयं को केन्द्र के रूप में महसूस नहीं करता, उसे यह अनुभूति नहीं होती कि उसकी रचना ईश्वर के अनुरूप हुई है।" ऐसी स्थिति में एरिक फ्रॉम यह सुझाते हैं कि मार्क्स की अलगाव –

अवस्था के समान मूर्तिपूजा में भी व्यक्ति की स्वयं अपनी क्रिया ही उसकी पराई शक्ति बन जाती है जो कि उसके विरूद्ध उसके ऊपर स्थित होती है। व्यक्ति उस शक्ति का नियामक नहीं होता, वह शक्ति उसका नियमन करने लगती है। इस प्रकार मूर्तिपूजा आत्म–अलगाव की क्रिया का सृजन करती है। यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि "हिन्दू मूर्तियाँ" ब्रह्म का पृथक अभिव्यक्त रूप हैं। इन मूर्तियों की पूजा करने वाले सदैव उस सार्वभौमिक जीवन के प्रति सचेत रहते हैं जो तत्काल ही कार्यव्यापी तथा अनुभवातीत है। ये मूर्तिया ब्रह्म के परे नहीं है, कोई भी हिन्दू अप्तपक्षा के द्वारा ईश्वर, व्यक्ति तथा विश्व के अपरिहार्य अभिज्ञान के विषय में आश्वस्त होता है जिसकी द्वैतवाद के उपनिषदिक दर्शन में स्पष्ट अभिव्यपद हुई है। गांधीजी के इस कथन में इसी विचार की अभिव्यक्ति हुई है: "ईश्वर की असंख्य रूप विद्यमान है क्योंकि उसके प्रकट रूप असंख्य हैं। ये असंख्य रूप व परिभाषाएं मुझे विस्मय व श्रद्धा से अभिभूत करते हैं, एक क्षण के लिए तो मैं स्तब्ध हो जाता हूं लेकिन मैं ईश्वर की केवल सत्य रूप में पूजा करता हूं।' [13] 'गांधीजी ने अक्सर यह कहा कि ईश्वर–प्राप्ति का एकमात्र मार्ग यह है कि उसे उसकी रचना में देखा जाए और उससे एकाकार हुआ जाए। ईश्वर एक ऐसी सर्वज्ञानी जावंत शक्ति है जो विश्व में ज्ञात सभी अन्य शक्तियों में निवास करती है। उसे मैं मानवता से

अलग कहीं और नहीं पा सकता। ईश्वरत्व से तादात्मय की गांधीजी द्वारा अभिव्यक्त यह सच्ची चेतना "अलगाव" अथवा "आत्म–विरक्ति" की समस्याओं का निराकरण करने में समर्थ है। इस पाठ का उद्देश्य विस्तार से यह बताना नहीं है कि भारतीय दर्शन को कैसे और क्यों उन विविधतापूर्ण घटकों का सहारा लेना पड़ा जो एक ब्रह्म की बहुरूपी उपस्थिति की व्याख्या करने में सक्षम हुए। यहां केवल इतनी ही अभिव्यक्ति पर्याप्त है कि गांधीजी भारतीय दर्शन की मूल अवधारणा पर बल देते है जब वह स्पष्टतः यह मत प्रतिपादित करते हैं कि "मुझे पता है कि ईश्वर न तो स्वर्ग में है और न कहीं नीचे, (बल्कि) वह तो (हम) सब में हैं।" वह ईश्वर–पूजा तथा मानवता की सेवा के बीच कोई गहरी विभाजक रेखा ही नहीं खींचते। इसके विपरीत, उनका तो कहना है कि " मैं मानवता की सेवा द्वारा ईश्वर को देखने का प्रयास करता हूं"।[14]

3. अन्तर्निर्भरता तथा आत्म–निर्भरता

मानवता की सेवा का यह विचार न केवल सभी व्यक्तियों की अपरिहार्य अस्मिता की अवधारणा से पैदा हुआ है बल्कि वह इस भूमिका से भी प्रकट है कि व्यक्ति का विकास प्रोत्साहित किया जाना चाहिए क्योंकि उसी व्यक्ति से अंतत: समाज बनता है। इस संदर्भ में गांधीजी की–6–दृष्टि में व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध को उन संकेन्द्रित केन्द्रों (Concentric circles) के रूप दर्शाया गया है जिसका केन्द्र–बिन्दु व्यक्ति है। ऐसे केन्द्रों में " सतत प्रसारित, कभी भी ऊपर न उठने वाले केन्द्र होंगे तथा व्यक्ति इनकी (मूल) इकाई होगा।" इस सम्बन्ध को "असंख्य गांवों की" ऐसी संरचना की उपमा से समझाया गया है "जिसमें जीवन कोई ऐसा शीर्ष नहीं होगा जो नीचे के आधार पर टिका हुआ हो (बल्कि) जीवन एक ऐसा सामुद्रिक वृत्त होगा जिसका केन्द्र–बिन्दु व्यक्ति गांवों के बहुत केन्द्रों के लिए मिटने को सदैव तत्पर होगा।" जीवन को कठोर विभाजक खण्डों में नहीं बांटा जा सकता। गांधी जी की यह दृढ़ मान्यता थी कि सभी व्यक्ति भाई–भाई हैं और उन्होंने सभी में इस भ्रातृत्व भाव को विस्तार दिया।[15] यहां बल सदैव व्यक्ति तथा समाज के बीच सहयोग पर दिया गया न कि संघर्ष और तनावों पर यह सद्भाव स्थापित किया जा सकता है यदि अन्तर्वर्ती केन्द्र बाहरी परिधि की दुर्दमनीय शक्ति द्वारा न कुचला जाए; इसके विपरीत एक केन्द्र दूसरे को बल प्रदान करे। गांधीजी यह स्पष्ट करते हैं कि सम्पूर्ण समाज स्वयं को कुछ इस प्रकार संगठित – समन्वित करे कि सभी वैयक्तिक इकाईयां एक व्यक्ति के रूप में कार्य करने की क्षमता अर्जित कर सकें। इस सम्बन्ध में गांधीवादी विश्वास यह है कि प्रभुत्व तथा निर्भरता का तब तक कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा जब तक समाज का "सामुद्रिक वृत्त" बनाने वाले व्यक्ति आक्रामक नहीं होंगे। उन्हें तो सतत विनम्र होते हुए उस सामुद्रिक वृत्त की तेजस्विता में सहभागिता लेनी होगी जिसकी वे अखण्ड इकाई हैं"।[16]

इस दर्शन का मूल स्वर यह है कि जब तक व्यक्ति सभी की अनिवार्य अस्मिता तथा उसके अभिज्ञान के प्रति सजग है, वह अपनी अन्तर्निमित क्षमताओं का उपयोग करते हुए उच्चतर आध्यात्मिक स्तर तक उठ सकता है। जब यह स्तर उपलब्ध होता है तो व्यक्ति और समाज विषयक सभी भेद मिट जाते है। ऐसी स्थिति में सब एक साथ प्रेम के सामाजिक बंधन

में बंधे प्रकट होते है। गांधीजी कहते हैं कि "अन्तर्निर्भरता व्यक्ति का उतना ही बड़ा आदर्श है और होना चाहिए जितना कि आत्मर्निर्भरता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के साथ अन्तर्सम्बन्धों के अभाव में वह ब्रह्माण्ड अथवा सृष्टि के साथ न तो अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है और न अपने अहंवाद से मुक्ति ही पा सकता है.....समाज पर निर्भरता उसे मानवता का पाठ पढ़ाती है ।"[17]

समाज पर यह निर्भरता बंधन अथवा दासता नहीं है बल्कि वह तो मानवता की सेवा के आदर्श की स्वीकृति है। इस सेवा की देश–निर्मित सीमाओं के परे कोई हद नहीं है, वह असीमित है । इसके अतिरिक्त, समाज पर निर्भरता से सम्बन्धित गांधीजी का यह विचार उनके "सच्चे लोकतंत्र" के आदर्श से भी जुड़ा हुआ है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सभी को समान मानते हुए उन्हें "प्रेम के रेशमी जाल" में लिपटा हुआ ग्रहण करता है।[18] स्पष्टत: इसका निहितार्थ यह है कि व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से सचेत हों तथा नैतिक दृष्टि से विकसित भी। गांधीजी ने अक्सर यह स्पष्ट किया कि उनके द्वारा इंगित इस आदर्श–प्राप्ति का मार्ग नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन से सुगम होता है।[19] ऐसे ही मत द्वारा आइन्सटीन यह संकेत देते हैं कि आधुनिक सभ्यता में आध्यात्मिक विकास तथा नैतिक साध्य की इच्छा में क्या तत्व अथवा प्रवृत्तियां अवरोधक है तथा हमारे समय के संकट के मूल में क्या है। उनके अनुसार व्यक्ति पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अपनी सामाजिक निर्भरता के प्रति सचेत हो गया है। वह निर्भरता की इस अनुभूति को सार्थक पूंजी के रूप में नहीं ग्रहण करता। वह उसे आंगिक समन्वयकारी बन्धन अथवा सुरक्षाकारी बल के रूप में स्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत, वह इस निर्भरता को उसके प्राकृतिक अधिकारों को चुनौती देने वाला मानता है। आइन्सटीन आगे कहते हैं कि मनुष्य की समाज में ऐसी स्थिति है कि उसके अहंवादी संवेग उत्तरोत्तर ऊँचे उठते जा रहे हैं और उसके सामाजिक संवेग लगातार बिगड़ते जा रहे हैं, उनका उफान ठंडा होता जा रहा है; इसके परिणामस्वरूप सभी व्यक्ति आज असुरक्षित महसूस करते हैं। वे जीवन के सरल सहज तथा कोई अर्थ पर सकता है जब वह अपने को समाज के प्रति समर्पित कर दे तथा अपनी अहंवादी मान्यताओं में कमी लाए। यही गांधीजी तथा आइन्सटीन का आग्रह है। इसमें समाज की सेवा को व्यक्ति व समाज के सद्भावी सम्बन्धों की पूर्व–शर्त माना गया है जो कि अपने स्तर पर सबके सुख का संवर्द्धन करती है। ऐसा करते हुए व्यक्ति को यह सजगता प्रदर्शित करनी होगी कि वह "ब्रह्माण्डिक यथार्थ" अथवा सार्वभौमिक बल का एक अखण्ड भाग है। यह चेतना ही उसे उन समस्त संकीर्णताओं, क्षुद्रताओं तथा अलगावों से मुक्ति दिलाएगी जिन्हें गांधीजी ने आधुनिक राष्ट्रों के सभी झगड़ों की जड़ माना है।

4. आन्तरिक स्वराज तथा सामाजिक सदभाव

यह गांधीवादी योजना उनके स्वराज के सिद्धान्त पर आधारित है जो कि अपनी व्यापक अर्थ–व्यंजना में दूसरे देशों के वैशेषिक विचारों तथा आदर्शों के तीव्र प्रवाह से स्वतंत्रता का आग्रह करता है। गांधीजी ने कहा था, "हममें यह सामर्थ्य और साहस तो होना ही चाहिए कि हम हमारी अपनी जमीन की पैदाइश पर जीवन–यापन कर सकें न कि विदेशी दया–दान पर। यदि ऐसा न हुआ तो हम एक स्वतंत्र देश के रूप में अस्तित्व पाने के अधिकारी नहीं रहेंगे।

यही बात विदेशी विचारधारा पर भी लागू होती है। मैं उन्हें केवल उतना ही स्वीकार करूंगा जितना कि मैं भारतीय संदर्भ में आत्मसात कर सकूंगा लेकिन मुझे उनके आधिपत्य को तो अस्वीकार करना ही होगा।[20] इसका अर्थ है आन्तरिक इतिहास, तौर–तरीकों तथा शक्ति–सामर्थ्य के बूते राष्ट्र–निर्माण का प्रयास, और इसलिए इसमें विदेशों, विदेशी पूंजी तथा विदेशी प्राविधिकी से आयातित साजो–सामान पर अत्यधिक निर्भरता से स्वतंत्रता सम्मिलित है।

अपने संगी–साथियों के प्रति सेवा का यह विचार गांधीजी ने "सर्वोदय" अथवा सब के कल्याण के रूप में अभिव्यक्त किया है। सर्वोदय दर्शन "अधिकतम सम्भावित संख्या के अधिकतम सुख" सम्बन्धी उपयोगितावादी सिद्धान्त को अस्वीकार करता हे क्योंकि इसमें आत्म–त्याग समाहित नहीं है। यह सम्भव है कि इस सिद्धान्त के आधार पर अर्हत: विचारित बहुसंख्या की खातिर अल्पसंख्यकों के अधिकार उन्मूलन को न्यायोचित ठहराया जाए। इसी कारण गांधीजी ने "सर्वोदय" को अंगीकार किया जिसका शाब्दिक अर्थ है "सभी का उदय" (संस्कृत भाषा के अनुसार सर्व सभी (समस्त) तथा उदय, उठान, उत्थान, आदि । इस आधार पर "सभी का कल्याण")। सार्वभौमिक सेवा के इस विचार को गांधीजी ने अपने तथाकथित शत्रुओं तक प्रसारित किया। इस संदर्भ में उनका कथन है कि "मुझे भारत की स्वतंत्रता नहीं चाहिए यदि इसका अर्थ इंग्लैण्ड की समाप्ति या अंग्रेजों का विलोप हो ..... जिस प्रकार देशभक्ति का पंथ हमें यह सिखता है कि व्यक्ति को परिवार के लिए मरना होगा, परिवार को गांव के लिए कुर्बान होना होगा, गांव को ज़िले के लिए, जिले को प्रांत के लिए तथा प्रांत को देश के लिए मर मिटना होगा; (ठीक उसी प्रकार) किसी देश को आजाद होना होगा इसलिए ताकि जरूरत पड़ने पर वह विश्व के लाभ के लिए अपने आप को कुर्बान कर सके। " [21]

सर्वोदय, त्याग तथा सामाजिक सद्भाव पर गांधीजी द्वारा दिए गए बल के फलस्वरूप अनेक पर्यावेक्षक उन्हें व्यक्तिवाद का विरोधी मानते है। दार्शनिक बी. के. मलिक ने वस्तुत: "व्यक्तिवाद पर कुठाराघात" की गांधीजी की दृष्टि का स्वागत किया है और तदुपरान्त उन्होंने भारतीय समूह सभ्यता तथा पश्चिमी मानववाद की द्वैत हताशा का वर्णन किया है। यह एक ऐसी हताशा थी जो गांधीजी के जीवन और निधन में प्रकट हुई और जिससे एक ऐसे युग का प्रारम्भ हुआ जो इन विरोधाभासों के परे था।[22] स्वयं गांधीजी की अंतिम हताशा तथा निधन को इन विरोधाभासी सिद्धान्तों की पारस्परिक हताशा के प्रतीक रूप में ग्रहण किया जाता है। इस द्वैतवाद पर बल देने के दौरान मलिक गांधीजी के जीवन तथा विचारों के अस्तित्ववादी पक्षों पर विचार नहीं कर सकते। यह अस्तित्ववादी पक्ष ही गांधीजी के वैयक्तिक अध्यात्मवाद का मूल कथानक है। मलिक की व्यक्तिवाद की रूपरेखा पश्चिमी मानववाद के साथ जुड़ी हुई है तथा गांधीजी उस स्थिति में नैतिक अवस्था के प्रतिनिधि–रूप में व्यक्तिवाद का प्रतिरोध करते हैं। लेकिन यह स्वयं अपने आप में पश्चिमी शैली के अन्तर्गत एक द्वैधाभास है जो भारतीय दर्शन की तत्विषयक अवधारणा से बिल्कुल न्याय नहीं करता जिसमें आध्यात्मिक व्यक्तिवाद का सामाजिक व्यवस्था से सह–अस्तित्व सम्भव है।

आध्यात्मिक व्यक्तिवाद की यह अवधारणा सभी की अनिवार्य अस्मिता सम्बन्धी गांधीजी के उस अन्तर्निहित विश्वास पर आधारित है जो अरस्तु की मानवविषयक मूल प्रकृति

तथा उसके उन्नतिशील बन सकने की सामर्थ्य के प्रतिकूल है। अरस्तु के अनुसार व्यक्ति की प्रकृति तो भला बनने की है परन्तु व्यापक वातावरण उसे उसके इस बुनियादी सार से विचलित कर सकता है।,[23]

इस सार को संसाधित करने के लिए व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने को इस प्रकार अनुशासित करे ताकि आत्मा के 'उन्नयन" की सभी इंद्रियां अपने उच्चतम स्तर तक पहुंच सकें। यह नैतिक आदर्श "आत्म–शुद्धीकरण" के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। गांधीजी कहते हैं कि "सम्पूर्ण समाज की भलाई की खातिर सामाजिक मर्यादाओं के प्रति स्वैच्छिक समर्पण व्यक्ति तथा समाज (जिसका कि व्यक्ति सदस्य है) दोनों को समृद्ध करता है ..... (इस स्थिति में) यदि कोई व्यक्ति असफल रहता है तो उस अनुपात तक सम्पूर्ण विश्व असफल माना जाता है।[24]

वैयक्तिक आत्म–सुधार की महत्ता एक ऐसा स्वर हे जो गांधीजी के चिंतन में बारम्बार प्रकट होता है। गांधीजी के अनुसार इस "आत्म–सुधार" की प्राप्ति व्यक्ति के अधिकार सम्बन्ध किसी भी दावे से पहले आवश्यक है। एक बार ऐसा हो जाए तो संभवत: व्यक्ति व समाज के हितों में कोई संघर्ष ही नहीं प्रकट होगा। इसके अतिरिक्त, धर्म भी समाज को एकता की ऐसी आवश्यक मात्रा उपलब्ध कराता है जिसमें हितों की विविधता समाहित होती है। इस संदर्भ में गांधीजी की यह मान्यता है कि "कोई व्यक्ति जो मर्यादाओं से स्वतंत्रता का मार्ग चुनता है (उदाहरण के लिए आत्म–आसक्ति) वह वस्तुत: अपनी भावनाओं का बंधुआ–गुलाम हो जाएगा जबकि नियमों तथा मर्यादाओं से बंधे रहने वाला कोई भी व्यक्ति अपने आप को स्वतंत्र (बंधन–मुक्त) कर लेगा। इस सृष्टि में व्याप्त प्रत्येक सत्ता–सूरज, चांद, सितारे–कुछ सुनिश्चित नियमों के अधीन होती है। इन कानूनों के मर्यादाकारी प्रभाव की अनुपस्थिति में दुनियां एक पल के लिए भी नहीं चल सकती।[26]

5. अस्मिता बनाम अलगाव

गांधीजी के जीवन के प्रति दृष्टिकोण का यह एक मौलिक प्रतिमान है। इसके साथ ही यह गांधीजी के उस विश्व–दृष्टिकोण तथा सभी की एकता अवधारणा से भी जुड़ा हुआ है जो कि हिन्दू सांस्कृतिक परम्परा में रची–पगी हुई है। गांधीजी का चिंतन भारतीय संगीत से तुलनीय है जिसमें समस्त आरोह–अवरोध तथा सुर–वैविध्य एक ही राग से बंधे होते है और मूल स्वर सदैव यथावत रहता है। गांधीजी का मूल स्वर यह विश्वास है कि जीवन अपने सार में एक है तथा सार्वभौमिक जीवन–शक्ति तत्काल ही सर्वव्यापी तथा आत्मोत्कर्षकारी है।

इस बात की छान्दोग्य उपनिषद में तत्वमसि (वह तुम हो) की सात्त्विक अभिव्यक्ति द्वारा व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में यह मत प्रतिपादित है कि अन्तर्व्यापी सार के रूप में मानव–आत्मा (सत) वास्तव में व्यक्ति–इतर आत्म है। वही ब्रह्म है जिसे गांधीजी ने "ईश्वर सत्य है" की संज्ञा दी। अभिज्ञान सम्बन्धी यह उपनिषद – दर्शन अपने मूल तत्वों में किसी भी तरह शिक्षित धर्मशास्त्रियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि सम्पूर्ण भारत तक वह व्याप्त है। " [27]

सभी मनुष्यों की सर्वव्यापी एकता के इस गांधीवादी विश्वास को अक्सर उस समय कसौटी पर कसा गया जब गांधीजी को वैयक्तिक क्रियाओं तथा सामाजिक व्यवस्था में अन्तर्निहित समत्त्व के अव्यवस्थित होने से उत्पन्न संघषों की समस्याओं को झेलना पड़ा। उस स्थिति में भी उनका यह दृढ़ मत तथा विश्वास था कि आध्यात्मिक एकता हर हालत में एक ऐसी ठोस आधारशिला प्रदान करती है जो व्यक्तियों के चिंतन तथा कर्म को समन्वित करती है। ऐसी पुनरावर्ती समस्याओं के समाधान के लिए गांधीजी के पास सत्याग्रह एकमात्र साधन था। यहां यह स्पष्ट किया जा सकता है कि मार्क्स की भांति गांधीवादी चिंतन का भी यह निहितार्थ था कि "भारतीय समाज की व्याख्या के लिए एक विशिष्ट सिद्धान्त की आवश्यकता है"। मार्क्स ने भी व्यक्ति के रूप में मनुष्य तथा समाज की अवधारणा के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या का सामना किया था। उसका यह तर्क था कि समाज को एक अमूर्त–निर्मिति के रूप में नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि उस स्थिति में वह एक व्यक्ति के रूप में मनुष्य से संघर्षरत पृथक व अद्‌वितीय सत्ता के रूप में प्रकट होगा। मार्क्स के अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और उसकी समस्त गतिविधियां सामाजिक जीवन का ही मूर्त–रूप हैं तथा उसकी ही पुष्टि करती हैं। व्यक्ति के रूप में मनुष्य तथा प्रजाति के रूप में मनुष्य अलग नहीं है। वस्तुत: मनुष्य वैयक्तिक मनुष्य है ही नहीं, वह तो प्रजातीय प्राणी होते हैं। सामाजिक होना, इस प्रकार, मनुष्य की एक अन्तर्निहित विशेषता बन जाता है, वही उसका जातिगत चरित्र प्रकट होता है।

मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के गुण–धर्म को मार्क्स ने व्यक्ति की जातिगत प्रकृति माना है क्योंकि यह प्रकृति वास्तव में मनुष्य को समाज के सदस्य–रूप में अंगीकार करती है। इससे विविध समाजों में अन्तर करने की क्रिया जटिल हो जाती है। क्योंकि सामाजिक प्राणी होने का गुण–धर्म प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित है वह इसे समाज के सदस्य–रूप में सहज प्रक्षेपित करता है तथा ऐसा करते हुए वह अपने सामाजिक अस्तित्व की पुनर्पुष्टि करता है। प्रजाति तथा समाज में एकीकृत मनुष्य की यह प्रतिमा मृत्यु द्‌वारा झकझोरी जाती है जो कि मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप में अलग दर्शाती है। मार्क्स इसकी व्याख्या यह जोर देते हुए करता है कि प्रजाति के सुनिश्चित भाग–रूप में प्रकट केवल कोई विशिष्ट व्यक्ति ही नैतिक होता है।[28]

इसके विपरीत, गांधीवादी चिंतन में यह समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि इसमें व्यक्ति वैयक्तीकरण की विशिष्टताओं का अतिक्रमण कर चुका होता है। उसकी आत्मा उत्कर्षशील तथा सर्वव्यापी ब्रह्म (सर्वोच्च चेतना) का एक भाग होती है। मृत्यु मोक्ष या निर्वाण मानी जाती है जो कि भारतीय चिन्तन में सम्पूर्ण व्यक्ति का पूर्ण ब्रह्म में विलय माना जाता हैं। गांधीजी ने अपने विचारों को सदैव ऐसे आध्यात्मिक दृढ़ मंतव्यों के रूप मे प्रकट किया जिनके अनुसार सांसारिक जीवन से मुक्ति के बाद भी पर–कल्याण में लीन व्यक्ति दुनियां का भला करते रहते हैं और ऐसा वे दैविक सार्वभौमिक भाव के अनुरूप करते हैं।

गांधीजी ने यह स्पष्ट किया है कि वैयक्तिक–मोक्ष तथा सामाजिक–उद्धार किस प्रकार तात्कालिक हो सकते हैं। उनका कहना है : "सम्पूर्ण समाज की भलाई के उद्देश्य से सामाजिक

मर्यादाओं के प्रति स्वैच्छिक समर्पण व्यक्ति तथा समाज (जिस समाज का स्वयं व्यक्ति एक सदस्य है) दोनों को समृद्ध करता है ..... यदि एक भी व्यक्ति आध्यात्मिक लाभ पाता है तो पूरी दुनियां उसके साथ लाभान्वित होती है और यदि एक भी व्यक्ति असफल हो जाता है तो पूरी दुनियां उसके साथ उस हद तक असफल हो जाती है।"[29] व्यक्ति की अन्तर्निर्भरता, उसकी अपनी पृथक इच्छा का अतिक्रमण तथा समान नैतिक सत्ता आदि पर गांधीजी द्वारा दिया गया यह बल मार्क्स के उन विचारों से तुलनीय है जो व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास तथा समाज के विकास से आत्म–मुक्ति की अविभाज्यता का आग्रह करते हैं। मार्क्स के अनुसार व्यक्ति उत्पादन के भौतिक सम्बन्धों की प्रक्रिया पर पकड़ा जाता है। वह अपने को अलगाव की दासतां से मुक्त करते हुए तथा 'क्रांतिकारी क्रिया के माध्यम से विद्यमान सामाजिक–आर्थिक यथार्थ का मानवीकरण करते हुए उन्हें बदलते हुए' अपने आप को "पूर्णमानवीय" सम्भावनाओं से मुक्त कर सकता है।[30] मार्क्स का यह दावा है कि मनुष्य का अलगाव कर्म–प्रक्रिया तथा श्रम–विभाजन से बद्धमूल है। ये दोनों मिलकर निजी स्वामित्व का मार्ग सुलभ करते है तथा "सम्पूर्ण व्यक्ति वास्तव में तब पैदा होता है जब वर्गहीन समाज में व्यक्ति का जीवन तथा समाज के जीवन में परस्पर कोई विरोध नहीं रहता।" 31 व्यक्ति की आत्म–अनुभूति तभी सम्भव है जब वह अपने आप को अलगाव के सभी प्रकारों से उन्मुक्त कर लेता है। मार्क्स ने इस प्रकार अलगाव के प्रश्न का सामना किया है: " .....जब तक विशिष्ट तथा समान हित में विभेद विद्यमान रहता है, उसके फलस्वरूप जब तक कोई गतिविधि स्वैच्छिक नहीं बल्कि नैसर्गिक रूप से विभाजित रहती है, व्यक्ति की स्वयं की क्रिया उसके विरूद्ध एक अजनबी/पराई शक्ति बन जाती है जो उसे अपना गुलाम बना लेती है बजाय इसके कि व्यक्ति उस पर अपना नियंत्रण स्थापित करे।"[32]

मार्क्स की दृष्टि में अलगाव कोई आध्यात्मिक तथ्य नहीं है जैसा कि गांधीवादी दर्शन में है। यह एक अस्तित्ववादी तथ्य है जिसकी जड़ें सामाजिक जीवन की सुनिश्चित स्थितियों में पैठी हुई हैं; यह मनुष्य की सामाजिक नियति है। गांधीजी के अनुसार मनुष्य लोभ तथा धन लोलुपता के वशीभूत होकर अपने बुनियादी अस्तित्व–सार से दृष्टि गंवा कर स्वयं को उसके प्रति अलगावी बना लेता है। ऐसा उस स्थिति में और सहज हो जाता है जब वह आत्म–शुद्धीकरण तथा आत्म–सुधार का अभ्यास नहीं करता।

व्यक्ति का विकास बाह्य मुक्ति से नहीं बल्कि आन्तरिक परिष्कार से सम्भव होता है। इसलिए गांधीजी मनुष्य के अलगाव का स्रोत जीवन की भौतिक स्थितियों में नहीं ढूंढते। वे उसे समस्त जीवन की सच्ची अस्मिता के प्रति व्यक्ति के अज्ञान में पाते हैं। जिसकी चेतना व्यक्ति सर्वोदय तथा संयास के माध्यम से पा सकता है।[33] इस स्थिति की गांधीजी ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्ति की: "इस महान सृष्टि में हम जो कुछ भी देखते हैं उसमें ईश्वर व्याप्त है। उसका परित्याग करों तथा उसका आनन्द लो या ईश्वर जो कुछ भी देता है उसका आनन्द उठाओ। किसी दूसरे की सम्पत्ति अथवा जायदाद के लिए लालच नहीं करो"।[34] गांधीजी के अनुसार यहां जिस परित्याग की किया पर बल दिया जा रहा है वह केवल कोई भौतिक क्रिया ही नहीं है बल्कि वह "एक नए अथवा दूसरे जन्म का प्रतिनिधित्व करती है। यह एक संकल्पित क्रिया है

जो अज्ञानवश नहीं की जाती। इसीलिए यह एक आत्मोन्नति है .....किसी दूसरे की जायदाद पर लोभ न करो। जिस क्षण तुम इन नीति–वचनों को चरितार्थ करते हुए एक बुद्धिमान विश्व–नागरिक बन जाते हो।"[35]

6. सर्वोदय

गांधीजी के विश्व–दृष्टिकोण में 'सर्वोदय ' द्वारा अभिव्यक्त अन्तर्निर्भरता तथा संगी साथियों के लिए सेवा का विचार सामाजिक तथा नैतिक प्रगति के संदर्भ में व्यक्ति की भूमिका की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सर्वोदय–दर्शन अधिकाधिक संख्या के अधिकाधिक सुख सम्बन्धी उपयोगितावादी सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। इसके साथ ही वह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से प्रकट सामाजिक उन्नति को भी अस्वीकार करता है क्योंकि उपयोगितावादी आत्म–त्याग तथा परित्याग की किसी भी सम्भावना को स्वीकार नहीं करते। उपयोगितावादी सिद्धान्त में अमूर्ततः विचारित बहुसंख्या के पक्ष में अल्पसंख्यकों के अधिकार–उन्मूलन को न्यायोचित ठहराया जा सकता है। इस कारण गांधीजी ने सर्वोदय को चुना जिसका शाब्दिक अर्थ है "सब का उदय" (संस्कृत भाषा के शब्द सर्व का अर्थ है सब तथा उदय का अभिप्राय है उत्थान, विकास इस दृष्टि से सर्वोदय का निहितार्थ है एक उन्नत चेतना या अन्त: शुद्धीकरण की एक प्रक्रिया जो कि सभी की अनिवार्य एकता से बद्धमूल होते हुए मानवता की आन्तरिक गहनता को समर्पित है। सर्व–कल्याण की प्राप्ति की चेष्टा में व्यक्ति को अपने आप को ऐसे अनुशासित करना होता है ताकि उसकी आत्मा का अन्तरतम सात्विक 'तत्व उच्चतम स्तर तक उठ सके। इसका अर्थ है आन्तरिक शक्ति का विकास; व्यक्तियों में निहित समस्त शक्तियों का पूर्णतम् उन्नयन। यह नैतिक आदर्श आत्म–शुद्धीकरण के सिद्धान्त पर टिका हुआ है।

व्यक्तियों की उस समानता तथा एकता में विश्वास रखने के रूप में जो कि सृष्टि की विविधता में व्याप्त है, गांधीजी सभी को सम दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए वे विभिन्न समुदायों अथवा मानवीय भातृत्व भाव के प्रति महत्वपूर्ण रूप से चिंतित थे। गांधीजी ने भारतीय ईश्वरत्व के प्रतिनिधि राम की ठीक उसी प्रकार व्याख्या की जिस प्रकार की व्याख्या तत्त्वमीमांसक अभिज्ञान अथवा वेदान्तवादी एकात्मवाद में निहित है। विवेकानन्द के विषय में लिखते हुए नेहरू ने इस विचार को स्पष्ट किया है; उनका कहना है कि "उन्होंने (विवेकानन्द ने) अद्वैत दर्शन के एकात्मवाद का पाठ पढ़ाया तथा वे आश्वस्त थे कि केवल वही विचारशील मानवता का भविष्य सम्बंधी कोई धर्म हो सकता है ..... वेदान्त का यह विचार व्यक्ति तथा उसकी जन्मजात दैविक प्रकृति में एकता का प्रतिपादन करता है।"[36] यह वैचारिक योजना केवल दार्शनिक विचार–केन्द्रों का ही एकाधिकार नहीं है बल्कि साधारण जन भी इसे आत्मसात करते हैं तथा इस रूप में वह वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन दोनों को दिशा प्रदान करता है। गांधीजी के विश्व–दृष्टिकोण का यह एक अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य है।

सर्वोदय में अन्तर्निहित वैयक्तिक तथा समाजगत सद्भाव के इस तथ्य विषयक स्तर को कोई नाम नहीं दिया जा सकता और न ही इसे पूर्णत: प्रतिपादित ही किया जा सकता है लेकिन

इसने गांधी–चिंतन से सांस्कृतिक रूप से जुड़े लोगों को पर्याप्तत: प्रभावित किया। अत: व्यक्तिगत सदभाव से शुरू होकर यह एकात्मवाद की भारतीय अवधारणा पर आधारित था।

गांधीजी के अनुसार इस अन्तर्निहित सार को पाने के लिए व्यक्ति का इस प्रकार अनुशासित होना अपेक्षित है ताकि वह सामाजिक संयम के विचार को अपनाने में सक्षम हो सके।

गांधीजी का "सामाजिक प्रतिबन्ध" का विचार रूसो विषयक व्यक्ति की वह इच्छा नहीं है जिसके अन्तर्गत वह समग्र समाज की सामान्य इच्छा के प्रति अपने आप को अपरिवर्तनीय रूप से समर्पित कर देता है। रूसो के चिंतन में व्यक्ति आभासित रूप से उस अनुपात में एक दोहरा चरित्र अपनाता है जिस तक वह अपने लाभ के लिए तो विशिष्ट इच्छा" का प्रयोग करता है लेकिन समाज के सदस्य–रूप में वह समाज कल्याण की इच्छा करता है और इसकी एक इकाई के रूप में वह एक समान अस्मिता ग्रहण करता है। इसके विपरीत, गांधी के लिए व्यक्ति अपनी वैयक्तिक विशिष्टता का अतिक्रमण कर चुका होता है क्योंकि उसे यह अनुभूति हो चुकी होती है कि उसकी आत्मा अनुभवातीत तथा सर्वव्यापी ब्रह्म (परमात्मा) का एक भाग है। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध की भांति इसमें किसी सहमति का कोई प्रश्न ही नहीं है कि व्यक्ति अपनी स्वयं की इच्छा का एक भाग छोड़ दे क्योंकि भारतीय चिंतन में तो व्यक्ति को केवल अपने धर्म का ही अनुसरण करना होता है।

धर्म का सरोकार केवल अच्छाई अथवा कर्त्तव्य पालन से ही नहीं है बल्कि वह तो उस सार्वभौमिक धर्म–विधि से भी सम्बन्धित है जिस पर यह ब्रह्माण्ड टिका हुआ है। धर्म का अनुवाद सात्त्विक नीतिशास्त्र के रूप में किया जा सकता है। राधाकृष्णन का यह मत है कि "धर्म जीवन की विविध गतिविधियों को संसक्ति या निर्देश प्रदान करता है ..... यह समग्र व्यक्ति के सद्भाव तथा जीवन की यह सम्पूर्ण विधि है जिससे मनुष्य को जीवन–यापन का सही व न्यायसंगत आधार प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह, आत्मा, मानस, जीवन तथा काया अपने–अपने धर्म से परिचालित हैं।[37]

ऐसी स्थिति में कोई बाह्य शक्ति मनुष्य के स्व धर्म–पालन के लिए आवश्यक नहीं है बल्कि उसके अपने प्रयास ही आवश्यक हैं जो जीवन को एक यज्ञ के रूप में प्रचलित करें; गांधीजी के अनुसार ऐसी स्थिति में सामाजिक सद्भाव की प्राप्ति कठिन ही होगी, वह एक तपस्या प्रकट होगी। यदि व्यक्ति यह महसूस करे कि सभी की भलाई के लिए अपने अधिकारों का एक भाग स्वेच्छा से दे देना उसका धर्म है तो सामूहिक उत्पीड़न की कही कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। इसी प्रकार, यदि सभी सामूहिक रूप से अपने–अपने धर्म का पालन करें तो व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत निर्णय छोड़ने की कोई बाध्यता विद्यमान ही नहीं होगी।

अपने धर्म का पालन करते हुए व्यक्ति "समान इच्छा" के अधिकार का भी सूत्रपात कर सकता है। यह उसकी सनक अथवा कोरी कल्पना–शक्ति पर आधारित नही है बल्कि उसकी धर्म–विषयक स्वीकृति पर निर्भर है। समाज में अपने स्वधर्म पालन की क्रिया द्वारा व्यक्ति अपनी पृथक इच्छा का अतिक्रमण करता है तथा समान नैतिक सत्ता का एक भाग बन जाता है। यह एक ऐसी दोहरी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत समाज अपनी संघटक इकाई (व्यक्ति) के

प्रति अनुकूल अनुक्रिया करता है। ऐसा समग्र रूप से सामाजिक धर्म के पालन से सम्भव होता है क्योंकि समाज के प्रत्येक सदस्य के स्वधर्म पालन से ही सामाजिक धर्म का सूत्रपात होता है और उसकी गतिविधि को संसक्ति प्राप्त होती है। समाज तथा व्यक्ति द्वारा धर्म परायणता के क्रम में प्रकट खींच–तान से स्थायित्व प्राप्त होता है तथा अधिकारों व उत्तरदायित्व के दोनों क्षेत्रों में संतुलन स्थापित होता है।

यद्यपि समाज में सहज क्रियाशीलता स्थापित करने वाला सामूहिक धर्म कोई स्थिर अथवा जड़ अवधारणा नहीं है। धर्म द्वारा स्थापित समत्त्व उन सभी व्यक्तियों की अन्तर्निर्भरता पर आश्रित है जिन्हें आपने अधिकार एवं उत्तरदायित्व संसाधित करने होते हैं। यह समत्त्व "स्वचालित" नहीं है और यह डगमगा सकता है। इस अवधारणा की निकटतम अभिव्यक्ति एरिक फ्रॉम द्वारा हुई है। फ्रॉम की "सामाजिक चरित्र" की धारणा का अभिप्राय है "एक ही संस्कृति के अधिकांश सदस्यों द्वारा सहभागितायुक्त किसी चरित्र–संरचना का कोई केन्द्र।"[38] इसमें "सामाजिक चरित्र" पर बल दिया गया है। ठीक उसी प्रकार धर्म का कार्य वैयक्तिक इकाईयों के स्वधर्म को दिशा प्रदान करना है।

इस व्यवस्था में वैयक्तिक सदस्य एक ओर केन्द्र में अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखते हैं तो दूसरी ओर वे अपने संगी–साथियों के साथ एकता की अनुभूति भी करते हैं। इस क्रम में व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करता है कि उसे इस अन्तर्निहित एकता की प्राप्ति के लिए सजग प्रयास करना होगा तथा यह चेतना भी विकसित करनी होगी कि ईश्वर समूची सृष्टि में व्याप्त है; गांधीजी जब "इच्छा को विकसित करने" तथा "किसी आदत को घटाने" की बात करते हैं तो उनका यही मंतव्य प्रकट होता है। उनका यह मत उल्लेखनीय है :" यह मानते हुए कि व्यक्ति वास्तव में आदत के आधार पर जीवन–यापन करता है, मेरा यह मत है कि उसके लिए अपनी इच्छा के अभ्यास द्वारा जीवन–यापन बेहतर है। मेरा यह भी विश्वास है कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं को उस अनुपात तक विकसित करने में सक्षम है जहां शोषण न्यूनतम हो जाए।[39]

तथ्यतः मानव समाज में संघर्षो का बाहुल्य है। यह बाहुल्य सभी की अस्तित्व सम्बन्धी अनिवार्य एकता पर आधारित समग्र मानवता के कल्याण से सम्बन्धित गांधीजी के विचार का निषेध करता है। यहां यह स्मरणीय है कि अछूतों के विशेष संदर्भ में गांधीजी ने किस प्रकार भारतीय समाज में जाति संघर्षो के निराकरण का प्रयास किया; किस प्रकार उनके विरूद्ध प्रवर्तित भेदभाव को जग–जाहिर किया, कैसे "हरिजन" की संज्ञा दी और उनके लिए उपवास आदि रखा। अपनी वैशेषिक शैली में गांधीजी यह कहते हैं कि "दुनियां के सभी धर्मों ने ईश्वर को प्रधानत: बंधुहीन का बंधु तथा असहायों का सहाय, अनाथों का नाथ माना है .... पूरी दुनियां एक तरफ, भारत में चालीस करोड़ हिन्दुओं से, ज्यादा बंधुहीन, असहाय तथा कमजोर और कौन होगा जिन्हें अछूत माना जाता है।" गांधीजी इस तथ्य से भी भली भांति परिचित थे कि केवल हरिजन पद से ही अछूतों के दर्जे में कोई बदलाव नहीं आ जाएगा। वे तो 'अछूत ' में निहित प्रताड़ना के कलंक को ही मिटाना चाहते थे। उनके द्वारा दी गई नई संज्ञा 'हरिजन ' प्रतीकात्मक परिमल का अतिक्रमण करते हुए प्रवचन के संदर्श का प्रसार करती है

तथा सामाजिक रूपान्तरण की वास्तविक समस्या के लिए और अधिक प्रांसगिक प्रतीत होती है। अछूतों को "हरिजन" (ईश्वर की संतान) पुकारने के दौरान गांधीजी का आशय भारतीय दर्शन के उस समताकारी मूलभाव को उच्चवर्गों तक पहुंचाना था जिसकी पहले चर्चा की जा चुकी है तथा जिसे नेहरू ने यह कह कर प्रतिपादित किया था कि " (यह समताकारी मूलभाव) जीवन शक्ति का पूरातन पण्डिताऊ आदर्श है जो कि प्रत्येक अस्तित्ववान सत्ता का अन्तर–आधार है"?[40]

जिस अनिच्छुक श्रद्धा से नेहरू इस अवधारणा को "पुरातन पण्डिताऊ आदर्श" की संज्ञा देते हैं वह इस बात का सूचक है कि समस्त जीवन विषयक अभिमान का यह दर्शन हिन्दुओं के लिए सतह प्रवाही आत्मीय विचार है जो उनकी अन्त: स्मृति तक व्याप्त है। इसे ध्यान मैं रखते हुए गांधी जिनको भी सम्बोधित करते हैं (विशेषत: हिन्दू समाज को) उनसे यह अपेक्षा रखते हैं कि वे अपने चेतन क्षितिज का प्रसार करते हुए हरिजन मे निहित भाव व तत्व को आत्मसात करें।

गांधीजी का विश्वास है कि इस संज्ञा द्वारा प्रकट अन्तर्निहित समता का भाव यदि समझ लिया जाए तो अछूतों के प्रति उच्च जातियों का भेदभाव तथा उस भेदभाव से प्रकट संघर्षशील स्थितियों के निराकरण का प्रभावी आधार निर्मित हो सकेगा।

यद्यपि आजकल अस्पृश्य (दलित वर्ग) स्वयं अपने आप को हरिजन स्वीकार करने से अनिच्छा व्यक्त कर रहे हैं क्योंकि उनका यह विश्वास है कि यह नाम "उच्च वर्ग के अहंकार या घमण्ड" का आभास कराता है। दलितों की ओर से उनके प्रवक्ता यह तर्क देते हैं कि हरिजन की अपेक्षा उन्हें "दलित" संज्ञा अपेक्षाकृत सहज ग्राह्य है हालांकि गांधीजी द्वारा प्रयुक्त हरिजन तथ्यतः समस्या के बोध के लिए अधिक उपयुक्त शब्द है। यह स्पष्ट करना अनावश्यक सा है कि अस्पृश्यता एक ऐसी बुराई है जिसका आधार न केवल सामाजिक बल्कि धार्मिक व्यवहार में भी निहित है। हरिजन शब्द के प्रयोग द्वारा गांधीजी समस्त भारतीयों की कानून के सम्मुख तथा स्वयं ईश्वर के समक्ष समानता पर बल देते हैं।

गांधीजी की दृष्टि में समानता का विचार केवल सार्वलौकिक अवधारणा के रूप मे नितान्त अधूरा है क्योंकि वह अपने अन्य परिप्रेक्ष्य धार्मिक परिप्रेक्ष्य से न तो कोई संवाद करता है और न ही उसको कोई चुनौती ही देता है। तथ्यतः यह धार्मिक परिप्रेक्ष्य चिंतन व कर्म का एक अधिक टिकाऊ प्रकार है। असमानता के अपने अतिवादी तथा अपरिवर्तनीय रूप में अस्पृश्यता अमानवीय धार्मिक विश्वासों तथा व्यवहारों से परिचालित होती हैं इसको चुनौती देने के लिए समानता के लौकिक संदर्भ से कुछ अधिक अभीष्ट है। हरिजन शब्द का प्रयोग इस प्रकार यह निहितार्थ प्रकट करता है कि हरिजनों को न केवल निश्चयात्मक सार्वलौकिक शक्ति प्राप्त हो बल्कि इससे अधिक महत्वपूर्ण रूप से मानव गरिमा सम्बन्धी उनके दावों की भी अभिस्वीकृति हो (उच्च जातियां ये दोनों प्रसंग स्वीकार करें)। सभी व्यक्ति ईश्वर द्वारा समान बनाए जाते हैं (हरिजन के रूप में) जबकि मानव–निर्मित कानून उनमें से कुछ को असमान बना देते हैं (उदाहरणार्थ धर्मशास्त्र के प्रयोगगत कानून)। इस दूसरी स्थिति के औचित्य को चुनौती देना अपरिहार्य है।

ऐसा करने के लिए दलित जैसी विशुद्ध प्रत्यक्षवादी तथा सार्वलौकिक अवधारणा स्वष्टत: अपर्याप्त है । इसके स्थान पर, धार्मिक संवेद–शक्ति के उच्चतर तथा अधिक सार्वभौमिक प्रकार पर आधारित कोई प्रति–अवधारणा कार्यशील हो, गांधीजी का ऐसा ही आग्रह है ।

इसके अतिरिक्त, गांधीजी के हरिजनों से तादात्म ने इस दूरी को पर्याप्तत: घाटा यह कोई बेतरतीब तादात्मय नहीं बल्कि केन्द्रीय सामरिक महत्व का तादात्म था । राष्ट्रीय नेता तथा स्वयं जाति से हिन्दू गांधीजी ने स्वेच्छा से यह निर्णय लिया कि वे प्रकट रूप में तथा वास्तविक जीवन–स्तर के क्रम में अछूतों में से एक बनने के लिए उनके साथ ही रहेंगे । गांधीजी के इस तादात्म से जाति–व्यवस्था विकृत रूप से रूपांरित हो चली थी ।

7. 'शैतानी' आधुनिक सभ्यता

गांधीजी की चिंता का मूल केन्द्र व्यक्ति है और यह विचार कि वह अपनी अस्मिता अक्षुण रखते हुए सभी की अन्तर्निर्भरता के अनुरूप क्रियाशील हो, वस्तुत: उनके आध्यात्मिक व्यक्तिवाद पर आधारित है। गांधीजी के प्रतिकार का बिन्दु यूरोपीय व्यक्तिवाद उतना नहीं है जितना कि यूरोपीय सभ्यता है। गांधीजी यूरोपीय सभ्यता के प्रतिरोधी हैं क्योंकि उसने अपने "भ्रष्टकारी प्रभाव" से व्यक्ति की मानसिक तथा नैतिक उन्नति को अवरूद्ध किया है। अपनी कृति हिन्द–स्वराज में गांधीजी दृढ़तापूर्वक यह कहते हैं कि पश्चिमी सभ्यता नें व्यक्ति के दिल और दिमाग को आक्रान्त किया है तथा उसे 'कपड़ा, मकान व फैक्टरी में कैद, कर दिया है। पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता के प्रभाव में व्यक्ति पर जो, कुछ भी घटित होता है उसकी व्याख्या किसी लेखक ने इस प्रकार की है: "उद्योग में रत कोई भी व्यक्ति एक आर्थिक अणु बन' जाता है जो आण्विक प्रबन्ध की धुन पर नाचने को बाध्य है।" समसामयिक अर्थ व्यवस्था में जो अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह बात है कि व्यक्ति की अधिकाधिक वस्तुओ के लिए अधिकाधिक आवश्यकताएं होती जाती हैं, उसका उपयोग सतत बढ़ता जाता है और वह स्वयं उसके द्वारा निर्मित शक्तियों का "एक कैदी" बन कर रह जाता है। इसलिए गांधीजी "मशीनों के लिए दीवानगी" की निन्दा करते हैं जो कि औद्योगिक सभ्यता की एक उपज है तथा जो लाखों–करोड़ों की पीठ पर केवल कुछ को चढ़–बैठने का अवसर प्रदान करती है तथा सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को बढ़ावा देती है। गांधीजी कहते है "एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि मशीनरी मानवता की समस्त जरूरतों को पूरा कर सकती है फिर भी उससे कुछ विशेष क्षेत्रों में उत्पादन तो सघन होगा ही तथा इससे भारी उत्पादन को बढ़ावा मिलेगा।"[41] इसी प्रकार, मशीनीकरण पर आधुनिक बल जैसा कि गांधीजी बताते हैं, आदमी के जोड़ों को क्षीण करता है; फिर भी गांधी जी कुछ "बुद्धिमान अपवादों" की अपेक्षा करते हैं।

गांधीजी ऐसी मशीनों को लागू करना चाहते हैं जो मजदूरों की स्थितियों में बदलाव ला सकने में सक्षम हो। उनकी अनुशंसा है कि "पैसे के लिए पागल होड़ रुकनी ही चाहिए, मजदूरों को न केवल पर्याप्त जीवन–यापन की मजदूरी मिलनी चाहिए बल्कि उन्हें ऐसे श्रमिक कार्य भी मिलने चाहिए जो केवल नीरस ही न हों। इन स्थितियों में मशीन इतनी ही उस आदमी के लिए मददगार होगी जिस पर वह काम करता है जितनी कि वह राज्य के लिए अथवा उस आदमी के

लिए जो उस मशीन का स्वामी है – (यदि ऐसा हो तो) वर्तमान पागल होड़ रूकेगी और मजदूर (जैसा मैने पहले कहा) आकर्षक व आदर्श स्थितियों में काम कर सकेंगे। "[42]अतएव गांधीजी मनुष्य को रोजगार दिलाने में दिलचस्पी रखते हैं जिससे वह भुखमरी का शिकार न हो और उन्हें दु:ख है कि "भारत में करोड़ों अर्द्व–रोजगार प्राप्त व्यक्ति" विद्यमान हैं। हथकरघा उन लोगों की समस्या का समाधान होगा जो साल में करीब छ: माह आरोपित निठल्लेपन की समस्या से ग्रस्त हैं (और ऐसे बहुसंख्यक भारतीय हैं); गांधीजी का यह तर्क है कि चरखा अपने आप में एक बहुमूल्य मशीन का उदाहरण है।[43]

औद्योगीकरण तथा आधुनिक मशीनों के प्रति गांधीजी की बुनियादी आपत्ति यह है कि वे भारत में गांवों के पुनरूद्धार पर अंकुश लगाते हैं तथा गांव वालों के शोषण को बढ़ावा देते हैं। क्योंकि "प्रतियोगिता तथा बाजार की समस्याएं" उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं। अतएवं गांधीजी का यह सुझाव है कि गांव आत्म–परिपूर्णता पर ध्यान दें तथा उतना ही उत्पादन करें जितना कि वे इस्तेमाल कर सकें । उनका मत है इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि गांव वाले आधुनिक मशीनों तथा उपकरणों का प्रयोग करें लेकिन दूसरों के शोषण के साधन–रूप में उनका प्रयोग नहीं होना चाहिए।" इसी प्रकार, औद्योगीकरण तथा भौतिक जीवन के प्रति उनकी केन्द्रीय आपत्ति यह है कि वे उच्च विचार तथा दुनियां के साथ शांति व सद्भाव से जीने की इच्छाईयों से असंगत हैं। वर्तमान अव्यवस्था का कारण गांधीजी यह मानते हैं कि न केवल शक्तिशाली राष्ट्र निर्बल (राष्ट्रों) का शोषण करते हैं बल्कि समान आदर्श व विचारधारा वाले देश स्वयं एक दूसरे का सचेष्ट शोषण करते हैं। उनकी मान्यता यह है कि मशीन ने इन राष्ट्रों को पर–शोषण की सामर्थ्य प्रदान की है।[44]

यही–प्रौद्योगिकी की प्रतिनिधि आधुनिक औद्यागिक सभ्यताओं से पैदा हुआ यही जटिल भौतिक जीवन शोषण के बीज बोता है, गांधीजी का इस मंतव्य पर अटूट विश्वास था। इसलिए उन्होंने व्यक्ति व समाज को आधुनिक सभ्यताकी इन ज़ंजीरों व खतरों से मुक्त कराने पर बल दिया। व्यक्तियों, परिवारों, गांवों इत्यादि की आत्मपरिपूर्णता तथा आत्म–निर्भरता को बढ़ावा देकर यह काम अंजाम देने की आवश्यकता को गांधीजी ने स्वीकार किया। गांधीजी के इसी आदर्श की प्रगतिशील अभिव्यक्ति ई.एफ.शुमैकर ने की जब उन्होंने अपने कृतित्व में "अहिंसक अर्थशास्त्र तथा मानव चेहरे से युक्त प्रौद्योगिकी" की चर्चा की। गांधीजी की भांति शुमैकर पश्चिमी समाज का निर्माण करने वाली मूल आधारशिला को चुनौती देते हुए उसके दो आधार स्तम्भों–अर्थशास्त्र तथा प्राविधिकी–पर आक्रमण करते हैं। शुमैकर गांधीजी को "बीसवीं सदी के महानतम् अर्थशास्त्री" की संज्ञा देते है क्योंकि गांधीजी का प्रबल आग्रह है कि "विकास अनिवार्यत: सरल प्राविधिकी पर आधारित होना चाहिए और यह प्राविधिकी गांव के लोगों के हाथ में होनी चाहिए।[45] कुछ सुनिश्चित स्तर तक आधुनिक सभ्यता की प्रकृति को गांधीजी द्वारा दी गई चुनौती उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में व्याप्त सामान्य वातावरण का परिणाम है जिसका गांधीजी कें चिंतन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। प्रथमत: वह सभ्यता की आलोचना तथा सुधारवाद की उन विविध प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए जिनकी तत्कालीन ब्रिटेन में जोरों पर चर्चा थी। उपयोगितावादी उदारवाद अपना स्थान क्रमश: गंवाता जा रहा था। सामाजिक तथा

राजनीतिक विकास–क्रमों के कारण उदारवादी सिद्धान्त तथा उदारवादी व्यवहार परस्पर दूर हो चले थे तथा स्वयं उदारवाद या तो अनुदारवाद के शिकंजे में पहुंच गया था या वह समाजवाद की ओर बढ़ चला था।[46] व्यक्ति व समुदाय के सम्बन्धों का प्रश्न गहन जांच–पड़ताल के अधीन था। लंदन विविध वादों–प्रतिवादों के सिद्धान्तकारों का केन्द्र बन गया था। क्रांतिकारी, उदारवादी, टोरी अथवा सुधारवादी हर किसी के लिए यह आवश्यक सा हो गया था कि वह दूसरों के विचारों व दृष्टिकोणों को अपने कार्यक्रम में समाहित करे। इस प्रकार सत्तरहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड से जुड़ी उपयोगितावादी अवधारणा का उदारवादी–लोकतांत्रिक चिंतन से सम्मिश्रण हुआ – "ये दो अवधारणाएं तथा दो अधिकतम संवर्द्धनकारी सिद्धान्त (इस प्रकार) एक साथ लाए गए।"

अभिनव नैतिक लोकतंत्र के इस वातावरण में अधिकतम सम्भावित लाभ पाने के उपकरण रूप में व्यक्तियों की शक्ति व क्षमता सम्बन्धी आरम्भिक उदारवादी दृष्टि जॉन स्टुअर्ट मिल ऐसे व्यक्तियों के लिए अरूचिकर प्रकट हुई जो "बाजार–समाज के निपट भौतिकवाद" को नापसन्द करते थे। अतएवं, उदारवादी–लोकतांत्रिक सिद्धान्त में गतिविधि के माध्यम से वैयक्तिक शक्तियों के विकास के विचार के साथ उपयोगिताओं का समतावादी अधिकतम् संवर्द्धन भी जुड़ गया। ये दोनों ही विचार वैयक्तिक व्यक्तित्व पर आधारित हैं।"इसी प्रकार, रोमांटिक समालोचकों ने व्यक्ति की गरिमा पर विशेष बल के साथ प्लेटोवादी चिंतन को पुनर्स्थापित किया तथा उन्होंने समसामयिक सभ्यता की बुराईयों की भर्त्सना की।

इसके बावजूद, 'आर्थिक मान' के अमूर्त मिथक के विरूद्ध भावात्मक विरोध उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पष्टत: परिलक्षित हुआ। जिस समय गांधीजी लंदन पहुंचे उस समय लंदन विविध सिद्धान्तों पर उत्सुक बहस का विवादास्पद विचार–केन्द्र बन चुका था। समालोचक निबन्धों का लेखन व प्रकाशन वहां जोरों पर था। उदारवादियों ने यह प्रश्न किया था कि सभ्यता के विकास में व्यक्ति का क्या योगदान हो सकता था; उनकी अगली पीढ़ी का सवाल था कि व्यक्ति के उत्थान में सभ्यता क्या योगदान दे सकती है। पश्चिमी सभ्यता के कुछ कटु आलोचकों ने यह मत प्रतिपादित किया कि व्यक्ति के उन्नयन में सभ्यता कोई योगदान नहीं दे सकती, उसका तो केवल "भ्रष्टकारी प्रभाव" ही परिलक्षित हो सकता है। पृथक विश्व–व्यवस्था के लिए परम्परा के उद्धार सम्बन्धी विचार के अनेक समर्थक व पक्षधर तैयार हो चले थे जो कि अतीत व वर्तमानकालिक, दोनों थे : प्लेटो तथा रस्किन, थेरो तथा व्हिट्मन, टॉस्टॉय तथा मेज़िनी। पश्चिमी परम्परा के इस पक्ष का गांधी सृजनात्मक प्रयोग करने में समर्थ हुए। उनका **हिन्द स्वराज** (घोषणा पत्र, मेनिफेस्टो) इसी परम्परा की एक रचना है। इसमें जिन लेखकों के उन्होनें उद्धरण दिए तथा जिन कृतियों की उन्होनें अनुशंसा की वे सब इसी श्रेणी के हैं।[49] उदाहरण के लिए, सरकार तथा औद्योगिक सभ्यता की गांधीजी द्वारा प्रस्तुत आलोचना कार्पेन्टर की कृति **सिविलाईजेशन: इट्स कॉज़ेज़ एण्ड क्योर** पर आधारित थी। थॉरो तथा व्हिट्मन के स्वर में स्वर मिलाते हुए वे इस बाहरी बंधन से व्यक्ति की मुक्ति की वकालत करते हैं जिसने उसके दिल और दिमाग दोनों को बीमार बना दिया है। इस क्रम में वे पश्चिम की भौतिक उपलब्धियों को अस्वीकार कर देते हैं।

आधुनिक (औद्योगिक) सभ्यता के प्रति गांधीजी के अभ्यारोपण की सशक्त अभिव्यक्ति उनकी कृति **हिन्द स्वराज** में हुई है। गांधीजी का कहना है : "इसमें औद्योगिक सभ्यता में रहने वाले लोग काया के कल्याण को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं ..... इसे ही सभ्यता का प्रतीक मान लिया जाता है और यही वजह है कि इसमें शारीरिक सुख को सतत प्रोत्साहन दिया जाता है।"[50] यहां वह उपभोग के संवर्द्धन तथा शारीरिक सुख–सुविधाओं के रूप में व्यक्ति के सुख–संवर्द्धन सम्बन्धी उपयोगितावादी सूक्तियों का तिरस्कार करतें हैं। "आधुनिक सभ्यता के भ्रष्टकारी प्रभाव" की इस आधार पर निन्दा करतें हुए कि उससे आसक्त आदतों को बढ़ावा मिलता है, गांधीजी अपने इस विश्वास की पुष्टि करते हैं कि "आवश्यकताएं सरल हों तथा मानव हृदय की सुधा शान्त हो"। वह ज़ोर देकर कहते हैं कि शारीरिक आराम सामान्यत: नैतिक विकास के अनुकूल नहीं होते क्योंकि उससे सिर्फ इन आरामों के सतत बढ़ते स्तरों को पाने की लालसा ही पनपती है। गांधीजी के अनुसार कोई व्यक्ति जितना ही ऐश्वर्य–विलास के प्रति आसक्त होता है उतना ही उसके प्रभावी–संवेग बेलगाम होते हैं। ऐसी स्थिति में असन्तोष अधिकाधिक संचय को प्रेरित करता है और उससे अंतत: शोषण को बढ़ावा मिलता है ..... (इसीलिए) लाखो–करोड़ो लोग गरीब बने रहते हैं जबकि चंद लोग अमीर बन जाते हैं। ये विचार वैशेषिक रूप से समतावादी हैं।

अतएव, गांधीजी बाजार–प्रणाली को हतोत्साहित करते हैं क्योंकि उससे "जीवन–क्षयकारी प्रतियोगिता की व्यवस्था" का सूत्रपात होता हैं। हिन्द–स्वराज में वह इस विचार को विस्तार नहीं देते लेकिन उनका यह सुझाव प्रतिपादित है कि "हमारे पूर्वजों ने हमें विलास और सुखों का रास्ता तय करने से रोका था ..... हमारे झोपडे हमने अभी भी वैसे ही रखे हुए है जैसे वे पहले थे ..... ऐसा नहीं है कि हमें मशीन ईजाद करने के तरीकों का पता नहीं था लेकिन हमारे पूर्वजों को पता था कि अगर हम ऐसी चीजों में अपना दिल लगायेंगे तो हम उनके गुलाम बन जाएंगे और हमारा नैतिक चरित्र भ्रष्ट हो जाएगा।"[52] गांधी की हमसे यह अपेक्षा है कि अंग्रेजी शासन के दौरान हमने जो कुछ भी सीखा उसे हम भूल जाएं तथा सचेतन रूप से, धार्मिक विश्वासपूर्वक हम संकल्पत: किसान सरीखा सरल जीवन जिए, इस विश्वास के साथ कि यही जीवन हमें सन्तोष प्रदान करेगा और सन्तोष ही सच्चा सुख है। हिन्द–स्वराज में निहित यह भाव परित्याग तथा आत्म–सुधार का आग्रह करता है क्योंकि उससे ही व्यक्ति मानव–गरिमा के प्रति सजग हो सकता हैं। साथ ही, यह भाव पश्चिमी बाजार–प्रणाली से उपजी घोर असमानताओं को भी इंगित करता है।

"फैक्टरी सभ्यता" का उल्लेख करते हुए गांधीजी यह संकेत देते हैं कि पश्चिमी पूंजीवादी देशों की उदार–लोकतांत्रिक संस्थाएं व्यक्तियों के व्यापक समूहों के बीच समानता–स्थापना में कोई योगदान नहीं देती। वह इस विचार को मानने से इंकार करते हैं कि बाजार व्यक्ति की महत्ता निर्धारित करे। अत: उनके दृष्टिकोण से यह "फेक्टरी सभ्यता" मजदूरों को बाध्य करती है कि वे "अरबपतियों की खातिर अधिकाधिक जोखिम भरे काम" अंजाम दे तथा इसमें अपनी जान दाव पर लगा दें।[53] यहां वह उस उदार–लोकतांत्रिक अवधारणा पर उंगली उठाते हैं कि

"व्यक्ति की शक्ति उसकी वह क्षमता अथवा योग्यता है जिससे वह दूसरों की सेवाओं को अपने लिए निर्देशित कर पाता है।" गांधीजी के लिए यह पैसे की लालसा से उपजी दासतां है जो पैसे से खरीदे गए विलास" को सतत संवर्द्धित करती है।[54] गांधीजी बल देते हैं कि जीवन का यह प्रकार आदमी को फेक्टरियों अथवा खानों में कार्य–सम्पादन की दृष्टि से कैद कर देता है। इस प्रकार आदमी अपने व्यक्तित्व के विकास की स्वतंत्रता से वंचित रह जाता है। गांधीजी को यह दु:ख है कि जीवन का यह तरीका व्यक्ति की उन्नति में अवरोध पैदा करता है तथा "आदमी के दिल और दिमाग को बीमार बनाता है, उसे कपड़ों, मकान व फेक्टरी में कैद कर देता है।" ऐसी स्थिति में गांधीजी के अनुसार आदमी अपने आप को ईश्वर, मानव तथा संसार विषयक अभिज्ञान से प्रकट उसकी मूल प्रकृति से अलग कर देता है। यही वह प्रकृति है जो वेदान्तवादी एकात्मवाद विषयक हिन्दू परम्परा का मूलाधार है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, गांधीजी की मुख्य चिन्ता आदमी हैं। आधुनिक सभ्यता सम्बन्धी उनकी आलोचना, उसे 'शैतानी' करार देना तथा आधुनिक नवाचारों की अस्वीकृति आदि उनके इस विश्वास पर अवलम्बित हैं कि साधारण आदमी का जीवन वैयक्तिक शक्तियों के संवर्द्धन की उपयोगितावादी मूल्य–व्यवस्था से हतोत्साहित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उपयोगितावादी चिंतन के अनुसार सामाजिक स्थितियों में सुख पर बल दिया गया था। वैयक्तिक पीड़ा से मुक्ति तथा उपयोगिता के व्यक्तिवादी संचय एवं प्रतियोगी संवर्द्धन का इसमें आग्रह निहित था। इसके प्रति गांधीजी का रूख कटु तथा उत्तेजित शब्दों में प्रकट होता है यद्यपि वह अनुभविक विश्लेषण तथा वैधता की दृष्टि से कुछ कच्चा नजर आता है। सबसे पहले तो यह ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक सभ्यता की उनकी कटु आलोचना को उनके चिंतन सम्बन्धी 'उस परिवेश में समझना होगा जो कि तत्व–मीमांसा के अर्थ में नैतिक–धार्मिक प्रकृति का है तथा जिसमें 'समस्त अस्तित्व की अनिवार्य एकता' से चरितार्थ बाहरी दुनियां से व्यक्ति का विलक्षण सम्बन्ध प्रतिपादित है। दूसरे, गांधीजी आधुनिक सभ्यता के जिस केन्द्रीय बिन्दु की निन्दा करते हैं वह है भौतिक कल्याण की दृष्टि से संचय की अथक प्रतियोगिता तथा उपभोग के प्रति विद्यमान दृष्टिकोण लेकिन इस समस्या का उनके द्वारा प्रस्तुत समाधान विशिष्ट उपभोग के प्रतिमान में क्रांतिकारी परिवर्तन की अपेक्षा करता है। ऐसा ही परिवर्तन सम्पत्ति के विषय में व्यक्ति के उन मनोभावों में भी अपेक्षित है जो आज हिन्दुस्तान में उपजते दिखाई देते हैं। यदि आज कोई ग्रामीण क्षेत्रों में भी जाए तो वह वहां आधुनिक प्रौद्योगिकी के साजों–सामान के प्रति सहज स्वीकृति का अनुभव करेगा क्योंकि उनसे उत्पादन बढ़ रहा है और काम आसान होते जा रहे हैं। जन–निर्धनता के वशीभूत होकर गांधीजी ने आधुनिकीकरण को अस्वीकार किया था लेकिन यदि ग्रामीण जन–साधारण आज आधुनिक सभ्यता से सतत भ्रष्ट हो रहा है तो इस प्रक्रिया को कौन उलट सकता है और किस लिए? किस साध्य की दिशा में यह किया जा सकता है?

गांधीजी स्पष्ट रूप से आधुनिक प्राविधिकी को अस्वीकार करते हैं क्योंकि यह प्राविधिकी अथवा मशीने श्रम बचाने के कारण पुराने रोजगार समाप्त कर देती हैं तथा नए पैदा नहीं हो पाते। अंततः हम संभवत ऐसे विषम तथा पेंचदार चक्र में फंस जाते हैं जिसमें सही

उपभोग की अविरत व नासमझ दौड़ शुरू होती है जिसकी वजह से सम्पत्ति चंद हाथों में घिर कर रह जाती है' और जिसके परिणामस्वरूप केवल कुछ लोगों को उत्तरोत्तर ऊपर बढ़ने को प्रोत्साहन मिलता है तथा शोषण का बोलबाला होता है। यह प्रक्रिया केवल समन वर्ग की ही सहायक होती है और गांधीजी यह तर्क देते है कि वे "लाखों–करोड़ो गरीब लोगों की पीठ पर सवार हो जाते हैं" । इन सब बातों की वजह से अगर आधुनिक सभ्यता का गांधीवादी प्रतिकार एक बार सही मान भी लिया जाए तो क्या यह सम्भव है कि भारत की आत्मा में गहरे पैठे आधुनिकीकरण को खदेड़ दिया जाएगा"? गरीबी से ग्रस्त जनसाधारण की बुनियादी जरूरत गांधीजी द्वारा प्रतिपादित न्यास की अवधारणा से पूरी की जा सकती है। इसके साथ यह भी जरूरी है कि सम्पन्न वर्ग अपनी जरूरतों को परिसीमित करे परन्तु आज के भारत में यह कैसे क्रियान्वित हो सकता है जहां आधुनिक प्राविधिकी तथा विज्ञान के लिए सुस्पष्ट लालसा फैली हुई है? अपने वैशेषिक अंदाज में गांधीजी इस सवाल का इस प्रकार जवाब देते हैं: "हमारी स्वयं की सभ्यता में स्वाभाविक रूप से प्रगति, अवनति, सुधार तथा प्रतिक्रियाएं होंगी लेकिन इन सबके बीच एक प्रयास आवश्यक है और वह यह कि पश्चिमी सभ्यता को बाहर धकेल दिया जाए। बाकी सब कुछ बाद में होता रहेगा।"[56]

भारत जैसे जटिल समाज में जहां बहुल विश्वास संरचित है, गांधीजी का विश्व–दृष्टिकोण व्यापकतर निहितार्थ समाहित किए हुए है जिसका मूल स्वर भगवतगीता के इस भाव पर आधारित है कि "सम–दृष्टि से देखा जाए, सबको एक ही ब्रह्म में जाना जाए, इसी एकता पर लिया जाए तथा अस्तित्व के स्तर पर सभी के कल्याण के संसाधन हो।" [57] गांधीजी के सत्य से सम्बन्धित समस्त प्रयोग सभी के भ्रातृत्व भाव अथवा कल्याण के इसी विचार के इदगिर्द केन्द्रित थे। उन्होंने आत्म–शुद्धीकरण के प्रेम अहिंसा तथा सेवा के जीवन–माध्यम से 'ब्राह्मणवादी संतुलन' अर्जित किया था। यह उनके इस विश्वास पर अवलम्बित था कि धार्मिक जीवन भ्रातृत्व भाव की सतत प्रसारित, कभी भी ऊपर न उठने वाली लहरों मे समाहित है। यह मानव सम्बन्धों का सामुद्रिक वृत्त है। वे भारतीय जीवन में व्याप्त विविधता के प्रति सजग थे। साथ ही इस विशिष्ट निर्मिति के विभिन्न स्तरों के प्रति भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही गांधीजी ने अपने सत्य सम्बन्धी प्रयोगों को संसाधित किया और ये प्रयोग अन्य सभी निर्मितियों को समाहित किए हुए थे। उनके चिंतन के केन्द्र में धार्मिक भाव से युक्त व्यक्ति विद्यमान था। उन्होनें कई बार यह कहा कि "मानवता से पृथक किसी भी व्यक्ति की मैं संकल्पना नहीं कर सकता"[58] तथा जीसस के धर्म की भांति उनका धर्म भी प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता तथा अन्तः करण पर आधारित है। उन्होंने कोई धर्मग्रन्थ नहीं लिखा, कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया लेकिन उन्होंने मानव समुदाय के सम्बन्ध में एक ऐसी नई दृष्टि दी जिसमें यह समुदाय 'प्रेम के रेशमी जाल' में परस्पर बंधा हुआ था। इस संदर्भ में गांधीजी के चिंतन में हाइडेगर के चिंतन की अनुगूंज सुनाई देती है। हाइडेगर ने यह लाट घोषणा की थी कि "दुनियां में रहने का अर्थ है दूसरों के साथ रहना, दूसरों की चिंता करता और दूसरों द्वारा की गई चिंता से सुख पाना'। [59] यही विचार अपने शब्दों में स्वयं गांधीजी ने भली भांति इस प्रकार अभिव्यक्ति किया था, "सत्य की सार्वभौमिक तथा सर्वव्यापी भाव दृष्टि को संसाधित करने के

लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सृष्टि के, क्षुद्रतम प्राणी को अपने बराबर तथा अपने समान समझें ..... और कोई भी व्यक्ति जो यह आकांक्षा रखता है (और उसकी पूर्ति में लीन रहता है) अपने को जीवन के किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं रख सकता।" [60] इस प्रकार अपनी समग्र दृष्टि से संचालित होने हुए गांधीजी ने मानव समुदाय तथा मानव भ्रातृत्व की स्थापना का प्रयास किया।

8. उद्धरण

1. जी. रामचंद्रन तथा महादेवन (सं.), गांधी – हिज रेलेवेन्स फॉर आवर टाइम (नई दिल्ली, गांधी शांति प्रतिष्ठान, 1967), पृ. Xiii
2. गांधी, ऑल मेन आर ब्रदर्स (अहमदाबाद, नवजीवन, 1958), पृ.168 (कृपलानी द्वारा संकलित)
3. इंदिरा रॉदरमुंड, दि फिलॉसफी ऑफ रिस्ट्रेन्ट – महात्मा गांधीज़ स्ट्रेटेजी एण्ड इंडिन पॉलिटिक्स (बम्बई, पॉपुलर प्रकाशन, 1963), पृ. 45
4. गांधी, कॉरेस्पोंडेन्स विद दि गवर्नमेन्ट - 1942–44 (अहमदाबाद, नवजीवन, 1945) पृ. 88
5. फ्रेन्क्स डीसा, "दि चेलेंज ऑफ़ दि इंडियन रेलिजस ट्रेडिशन, "न्यू क्वेस्ट, अप्रैल 1985
6. वही
7. भगवदगीता, में सम्पूर्ण/समग्र कृष्ण को काल के रूप में वर्णित किया गया है (कालरूप दर्शन)
8. गांधी, हिन्द स्वराज (अहमदाबाद, नवजीवन, 1938), पृ.78
9. यंग इंडिया, सितम्बर 16, 1926 तथा हरिजन, अगस्त 11, 1946
10. डी.जी.तेन्दुलकर, महात्मा, खण्ड छ (बम्बई, झावेरी 1951–54), पृ.111
11. हिन्द स्वराज, पूर्वोक्त, पृ. सं. 65–66
12. एरिक फ्रॉम, दि सेन सोसायटी (लद. राउटलेज, 1956), पृ. 122
13. गांधी, फॉर पेसिफिस्ट्स (अहमदाबाद नवजीवन, 1940), पृ. 110
14. गांधी, पूर्वोक्त (कृपलानी संकलित), पृ. 78
15. वही, पृ. 111
16. वही, पृ. सं. 110–111
17. गांधी, पूर्वोक्त (कृपलानी), पृ. 78
18. वही, पृ. 98
19. एरिक फ्रॉम, पूर्वोक्त, पृ.232 (मन्थली रिव्यू, खण्ड 1 पृ. 1949 में प्रकाशित आइन्सटीन की "व्हाई सोशलिज़्म" से उद्धत)
20. गांधी, पूर्वोक्त (कृपलानी), पृ. 156, हरिजन, 29.8.1931 भी

21. इं. रॉदरमुंड, पूर्वोक्त, पृ. 25
22. बी.के. मलिक, गांधी ए प्रोफेट (ऑक्सफोर्ड, 1948), पृ. 34
23. जे. ई. सी. वेल्डन, दि नाइकोमेशियन एथिक्स ऑफ एरिस्टॉट्ल (लंदन, मेकमिलन, 1966)
24. गांधी; माई रिलिजन (अहमदाबाद, नवजीवन, 1955), पृ. 124 (संकलित)
25. हीरेन मुकर्जी, गांधी–ए स्टडी (दिल्ली, 1966), पृ. 207
26. गांधी, कॉन्क्वेस्ट ऑफ सेल्फ (अहमदाबाद, नवजीवन, 1943) पृ. सं. 27–28
27. इं. रॉदरमुंड, पूर्वोक्त, पृ. 45
28. एरिक फ्रॉम, दास मेन्शेनबिल्ड बेइ मार्क्स (फ्रेकफ़र्ट, 1963) पृ. सं. 116–117
29. गांधी, माई रिलिज़न, पृ. 124
30. कें. दामोदरन, "मार्कीसज़्म एण्ड एलीनेशन", मेनस्ट्रीम, मई 4, 1968, पृ. 12
31. आर. गेरॉडी, कार्ल मार्क्स – दि इवोल्यूशन ऑफ हिज़ थॉट (लंदन, लॉरेंस एण्ड विशर्ट, 1964), पृ. 75
32. एस. सरकार, " मार्क्स एण्ड मैन'', मेनस्ट्रीम, मार्च 28, 1968, पृ. 20। इसके अतिरिक्त आई. मेजारस, मार्क्स थ्योरी ऑफ़ एलीनेशन भी द्रष्टव्य।
33. आई. रॉदरमुंड, पूर्वोक्त, पृ. 25 (सर्वोदय का अर्थ है सबका कल्याण अथवा "सर्व उदय'')।
34. वही, पृ. 56
35. गांधी, हिन्दू धर्म, पूर्वोक्त, पृ. सं. 41–42
36. न्यूयॉर्क टाइम्स, सितम्बर 7, 1958. इं. रॉदरमुंड, पूर्वोक्त पृ. 35 में उद्धत।
37. आई.रॉदरमुंड, पूर्वोक्त, पृ 46
38. एरिक फ़ॉम, पूर्वोक्त, पृ. सं. 78–80
39. यंग इंडिया, मई 28, 1931, पृ. 304
40. न्यूयॉर्क टाइम्स, विस्तार के लिए देंखे उद्धरण संख्या 36
41. गांधी, पूर्वोक्त (कृपलानी), पृ. सं. 163–165
42. वही, पृ. 163
43. वही, पृ. सं. 166–167
44. ई. एफ. शुमैकर, स्मॉल इज़ ब्यूटीफुल (ऑक्सफोर्ड, 1973)
45. गांधी, पूर्वोक्त (सं प्रभु), पृ. सं. 28–29
46. जी.एम.यंग, विक्टोरियन इंग्लेण्ड (न्यूयॉर्क, 1953)
47. जी. एच. सेबाइन, ए हिस्टरी ऑफ़ पोलिटिकल थ्योरी (न्यूयॉर्क, 1937)
48. वही
49. जे.डी.हंट, गांधी इन लंदन (न्यू डेल्ही, 1978)
50. गांधी, हिन्द स्वराज (अहमदाबाद, 1938) पृ. 35

51. वही, पृ. सं. 61–62
52. वही
53. वही, पृ. 36
54. वही
55. वही
56. हिन्द स्वराज, पूर्वोक्त, पृ.93
57. इं.रॉदरमुंड द्वारा उद्धत, पूर्वोक्त
58. गांधी, दि स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमैन्टस विद ट्रूथ (नवजीवन, 1918), पृ.स 752–7 53
59. मार्टिन हाईडेगर, एग्जिस्टेन्ट एण्ड बीइंग (लंदन, विजन प्रेस, 1951)
60. गांधी, पूर्वोक्त ।

9. अभ्यास–प्रश्न

1. व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों पर गांधीजी के विचार क्या थे? विवेचना कीजिए
2. गांधीजी की सर्वोदय अवधारणा पर एक समीक्षात्मक टिपणी लिखिए ।
3. आधुनिक सभ्यता को 'शैतानी'संज्ञा प्रदान करनें के गांधी–चिंतन के क्या प्रमुख आधार थे? समीक्षा कीजिए ।
4. गांधीजी के चिंतन में आन्तरिक स्वराज का सामाजिक सद्भाव से कैसे समायोजन किया गया? स्पष्ट कीजिए ।
5. अन्तर्निर्भरता तथा आत्म–निर्भरता के अन्त: सम्बन्धों की गांधी विचार योजना की समीक्षा कीजिए ।

इकाई 16
पं. जवाहर लाल नेहरू

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. जीवन परिचय
4. नेहरू के वैचारिक आधार
5. राजनीतिक विचार
   - 5.1 राष्ट्रवाद
   - 5.2 साम्राज्यवाद और फासिज़्म
   - 5.3 प्रजातंत्र
   - 5.4 राज्य, शासन और व्यक्ति
   - 5.5 अन्तराष्ट्रिवाद
   - 5.6 पंचशील
6. आर्थिक विचार
   - 6.1 पंचवर्षीय योजना
   - 6.2 मिश्रित अर्थव्यवस्था
   - 6.3 सामुदायिक विकास
   - 6.4 उद्योग एवं कृषि
7. सामाजिक विचार
   - 7.1 धर्मनिरपेक्षता
   - 7.2 साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद का विरोध
   - 7.3 नारी–स्वतंत्रता
   - 7.4 सार्वजनिक शिक्षा
8. निष्कर्ष

10 संदर्भ ग्रन्थ

10. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप यह जान सकेंगे कि

(i) नेहरू के राजनीतिक चिंतन के क्या प्रमुख आधार हैं?

(ii) उनके विचारों के नियामक तत्व क्या हैं?

(iii) उन्होंने राष्ट्रवाद तथा अन्तराष्ट्रिवाद को कैसे संसाधित किया?

(iv) राष्ट्रीय विकास में आयोजना तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था विषयक नेहरू की क्या वैचारिक मान्यताएं थी?

(v) प्रजातंत्र सम्बन्धी नेहरू के क्या मंतव्य थे? आदि

2. प्रस्तावना

"For nearly fifty years India has lived in the shadow of two extraordinary men– Gandhi and Nehru. In this period the pattern of her thought and action was moulded and defined by these two men, in many ways dissimilar and in many respects strongly alike. India's good fortune lay in the fact that Nehru was not a conflicting but a complimentary element in the amalgam which made the Mahatma's political magic. Together they represented India. They were India."

"Frank Moraes"

पं. जवाहर लाल नेहरू ने युग बोध बनकर आधी शताब्दी से अधिक समय तक भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम तथा निर्माण के इतिहास को दिशा प्रदान की। वह इतिहास के देवता बनने से पहले बिनोबा के शब्दों में भारतीय जनता के 'लोक देव" बने। आज उनकी आकांक्षाएं, उनकी उपलब्धियां, उनका चिन्तन और उनकी मान्यताएं इस देश का समर्पित इतिहास हैं। जन–जन की पीड़ा समझने के लिए उनका मन सदैव व्यग्र रहा। यही व्यग्रता उनके मानवीय आदर्शो को अंगीकृत करने के निमित प्रेरणा बनी, इसी ने उन्हें 'महान मानव' एवं महान अन्तर्राष्टीयतावादी बना दिया। महात्मा गांधी नें उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुई 1929 में उनके महान व्यक्तित्व के विषय में कहा था; बहादुरी में कोई उनसे बढ़ नहीं सकता औद देश–प्रेम में उनके आगे कौन जा सकता है ? कुछ लोग कहते हैं कि वे जल्द बाज और अधीर हैं। यह तो इस समय एक विशिष्ट गुण है, फिर जहां उनमें एक वीर योद्धा की तेजी और अधीरता है वहां एक राजनीतिज्ञ का विवेक भी है। निःसंदेह वह अपनी परिस्थिति से बहुत आगे की बात सोचने वाले उग्रवादी है। वह स्फटिक मणि की तरह पवित्र हैं, उनकी सत्यशीलता सन्देह के परे है। वह अहिंसक और अनिंदनीय योद्धा हैं। राष्ट्र उनके, हाथ में सुरक्षित है।

पं. नेहरू का निर्माण राष्ट्रसेवा के निमित्त ही हुआ था। लाहोर कांग्रेस में रावी तट पर भारतीय स्वाधीनता संघर्ष ने उनके नेतृत्व मैं नया मोड़ लिया। यहीं कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का अपना लक्ष्य स्थिर किया। सन 1942 की क्रान्ति में जब देश ब्रिटिश शासकों के क्रूर दमन के बाद शांत एवं स्तब्ध हो गया था तब उस समय लोक नायक नेहरू ने ही देश में नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति का संचार किया। उन्होंने संपूर्ण भारत का दौरा करके 'जय हिंद' और 'दिल्ली चलो' के नारे से राष्ट्र में नयी जान फूंकी। देश के स्वाधीन होने पर नेहरू ने अपने देश का नेतृत्व सम्हाला और अन्त तक साहस, शक्ति और दुरदर्शिता से उसका निर्वाह किया। देश की कोटि–कोटि जनता में उन्होनें नव जीवन और नव निर्माण की भावना उत्पन्न करके, एक नवीन युग का प्रवर्तन किया है।

नेहरू जी न केवल भारत माता के ही अनोखे जवाहर थे, अपितु समस्त मानवता के भी वंदनीय पुरूष थे। शान्ति, समता और स्वतन्त्रता की ध्वजा को उन्होंने हमेशा उन्नत रखा। मनुष्य की शान्ति की अकांक्षा को मूर्त रूम देने का उन्होंने संसार के किसी भी अन्य नेता की अपेक्षा कहीं अधिक प्रयत्न किया । संसार को युद्ध की विभीषिका से बचाने में अपने निर्भीकता पूर्ण प्रयत्नों द्वारा उन्होंने समस्त मानव–जाति की सेवा की । उनके नेतृत्व में 'पंचशील' नीति का प्रवर्तन हुआ और विश्व में नयी राजनीति का उदय हुआ जिससे बड़े राष्ट्रों की गुटबन्दी औद उनकी आपसी तनातनी में कमी हुई । विश्व शान्ति को नया बल मिला और मानवता महायुद्ध के अभिशाप से मुक्त हुई ।

पं0 नेहरू मानव द्वारा मानव के शोषण कें विरोधी थे। अत: अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन्होंने फासीवाद, साम्राज्यवादी और उपनिवेशवाद का कड़ा विरोध किया । द्वितीय महायुद्ध के बाद जब इंडोनेशिया के राष्ट्रवादी नेता डज साम्राज्यवादियों से जूझ रहे थे तो दिल्ली में प्रथम एशिया सम्मेलन आयोजित करके उन्होंने इण्डोनेशियाई जनता की स्वतन्त्रता की मांग को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बुलन्द किया । अफ्रीकी राष्ट्रवादियों कें स्वतन्त्रता आंदोलन का उन्होंने समर्थन किया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनकी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न भी किये। वास्तव में भारत के राष्ट्रीय आदोलन से एश्यिा और अफ्रीका के राष्ट्रवादियों ने प्रेरणा ली और पं. नेहरू के अप्रतिभ व्यक्तित्व के कारण ही विश्व–सम्मेलनों में भारत अफ्रीका एवं एशिया कें नवोदित राष्ट्रों का नेतृत्व करने लगा ।

3. जीवन परिचय :

पं जवाहर लाल नेहरू का जन्म प्रयाग में 14 नवम्बर सन! 1889 को हुआ था । इनके कुल का वास्तविक नाम 'कौल' था । इनके पूर्वज 'राज कौल' को सम्राट फरुखसियर से जागीर और नहर के किनारे मकान मिला था । नहर के किनारे रहने के कारण संयोग से उनका नाम नेहरू पड़ गया जिससे 'कौल' परिवार नेहरू के रूप मे जाना जाने लगा । पं. जवाहर लाल नेहरू के पितामह पं. गंगाधर नेहरू दिल्ली कें शहर कोतवाल थे । 1857 की स्वतन्त्रता संग्राम की प्रथम चिंगारी के बाद नेहरू परिवार दिल्ली से आगरा स्थनान्तरित हो गया । आगरा में ही 6 मई 1861 को पं. गंगाधर नेहरू के घर पं. मोती लाल नेहरू का जन्म हुआ । पं. मोतीलाल नेहरू की शिक्षा इलाहबाद और कानपुर में सम्पन्न हुई । उन के कठोर परिश्रम के कारण वकालत के कार्य मैं उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। पहली पत्नी का शीघ्र ही स्वर्गवास हो जाने के कारण, उन्होंने दूसरा विवाह स्वरूप रानी से किया, जिनकी गोद का जवाहर, भारत का जवाहर बना।

जवाहर अपने पिता के अकेले पुत्र–रत्न थे । उनका बचपन आनन्द भवन के वैभव, विलास और माता पिता के अमित स्नेह के बीच बीता था । सोलह वर्ष की आयु तक उनका पठन–पाठन घर पर ही हुआ । उनके शिक्षकों में मिस्टर गार्डन तथा प्रसिद्ध थ्योसोफिस्ट फर्डिनन्ड टी. ब्रूक्स थे। ब्रूक्स ने जवाहर के जीवन में विशेष रुचि ली; परिणामस्वरूप उनकी विज्ञान के रहस्यों को जानने की प्रवृत्ति मुखरित हो उठी, उनमें अध्ययन करने की रुचि का भाव पैदा हुआ, तथा उन्होंने स्कॉट, डिकेन्स तथा थैकरे के बहुत से उपन्यास पढ़े। प. मोती

लाल नेहरू का संपर्क अधिकांशत: अंग्रेजो से था, वही उनके मित्रों के रूप में अतिथि बन कर आया करते थे अत: जवाहर भी, इन अतिथियों के प्रभाव के कारण पाशचात्य जीवन और रहन सहन के प्रवाह में बहने लगे। शिक्षक ब्रूक्स ने उन पर जिन उदात्त गुणों की छाप छोड़ी, उनकी जवाहर के जीवन–पर्यन्त संजोया और फिर उन्हें ही देश को समर्पित किया ।

1905 में इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध हैरो विद्यालय में जवाहर का नाम लिखवाया गया, जहां वे दो वर्ष तक रहे। 1907 में उन्होंने ट्रिनिटी कॉलेज कैम्ब्रिज में प्रवेश ले लिया, जहां विज्ञान के प्रति सहज आर्कषण होंने के कारण उन्होंने रसायन शास्त्र, भूगर्भ विज्ञान और वनस्पति विज्ञान के विषय चुनें । राजनीति और अर्थशास्त्र ने भी उन्हें आकर्षित किया । भारत के प्रसिद्ध राजनेताओं मे गोखले, लाला लाजपतराय तथा विपिन चंद्र पाल के विचार उन्होंने कैम्ब्रिज में रहकर सुने थे । 1910 में विज्ञान की आनर्स डिग्री प्राप्त करके उन्होंने कैम्ब्रिज को छोड़ा और वकालत की परीक्षा पास करने हेतु लन्दन आ गये तथा 1912 में वही से बैरिस्टरी की परीक्षा पास की ।

इंग्लैण्ड के प्रवास काल मे उन्होंने राजनीतिक चिंतन को वेब और शॉ के फेबियनबाद ने प्रभावित किया । अत: वे स्वयं सिन–फिन आंदोलन को देखने के लिए आयरलैंड गये । इंगलैड में चल रहे स्त्रियों के मताधिकार आन्दोलन ने भी उन्हें प्रभावित किया । दिसम्बर 1912 में वह स्वदेश लौट आर्ये बंगाल विभाजन की घटनाएं, कांग्रेंस–विभाजन के प्रसंग आदि उन्हें राष्ट्रीय चिंतन की और मोड़ रहे थे । अत: उन्होंने 1912 में ही विबार के बांकीपुर में कांग्रेस अधिवेशन में प्रथम बार एक प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया । 1913 में वह उत्तर प्रदेश कांग्रेस में शामिल हुए । मार्च 1916 में उनका विवाह कमला कौल से हुआ । फरवरी 1916 में लखनऊ कांग्रेंस में उनकी भेट गांधी जी से हुई । 1918 में उन्हें कांग्रेस महासमिति का सदस्य चुना गया । 'जलिया वाला बाग कांड' की जांच के लिए जब कांग्रेस द्वारा पं. मोती लाल नेहरू और चितरंजन दास नियुक्त किये गये तो पिता के साथ पुत्र को भी इस कार्य में समय देना पड़ा । 1919 में उन्होनें निकटवर्ती गांवों की यात्रा की, जिससे उन्हें किसानों के दुखो को समझने का अवसर मिला ।

गांधी जी के असहयोग आन्दोलन (1920) में पिता और पुत्र दोनों ने भाग लिया । ब्रिटिश शासन ने जब कांग्रेस को एक अवैध संस्था घोषित किया तो 6 दिसम्बर 1921 को पिता के साथ पुत्र जवाहर भी बन्दी बना लिए गया और दोनों को 6–6 माह के कारावास का दण्ड मिला । कारावास का जीवन पिता पुत्र के लिए नये आदर्शों और नये विश्वासों का प्रतीक बन गया । प्रथम मुक्ति के दो माह पश्चात् 11 मई 1922 को जवाहर फिर बन्दी बना लिये गये और इस बार उन्हें डेढ़ वर्ष का कारावास और 100 रु अर्थदण्ड मिला। जेल–यात्राओं का क्रम उनके जीवन मे सरलता से टूट नहीं सकता। 1922 में जवाहर प्रयाग नगरपालिका के सर्वसम्मत अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने अपने कार्य को पूरे लगन और आत्म विश्वास के साथ सम्पन्न किया। चोरी चोरा कांड के संदर्भ में गांधी जी द्वारा असहयोग आन्दोलन वापस लेना, पिता एवं पुत्र दोनों कों ही अच्छा नहीं लगा।

1927 में भारतीय राष्ट्रीय सभा के प्रतिनिधी के रूप मे साम्राज्य विरोधी संघ के जिनेवा अधिवेशन में जवाहर लाल नेहरू शामिल हुए और उनके सह अध्यक्ष भी चुने गये। सोवियत सरकार ने निमन्त्रण पर 1927 में उन्होंने रूस की यात्रा की और सोवियत संघ की दसवीं वर्ष गांठ के महोत्सव में भाग लिया। इसी वर्ष वह भारत लौटे और सन 1928 में स्वाधीनतालीग की स्थापना में योगदान किया। लखनऊ में 29 नवम्बर 1928 को साइमन के बहिष्कार में प्रदर्शन करते हुए पुलिस को लाठियों से वह घायल हो गये। 1929 में वह कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष बने तथा उन्होनें 'पूर्ण स्वाधीनता' के लक्ष्य की घोषणा करके स्वतन्त्रता–संघर्ष को तीव्रतर बना दिया । इसी वर्ष अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर अधिवेशन के अध्यक्ष भी चुने गये।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रारंभ में ही नमक सत्याग्रह में उनको 6 माह के कारावास का दंड मिला। जेल से छूटते ही किसान सम्मेलन में भाग लेने के कारण उन्हें दो वर्ष के कारावास का दंड मिला। 6 फरवरी 1931 को उनके पिता पं. मोतीलाल नेहरू का स्वर्गवास हो गया । गांधी–इर्विन समझौता होने के बावजूद प्रयाग में प्रवेश करने की निषेधाज्ञा उल्लंघन करने के बारे मे जवाहर को पुन दो साल के कारावास का दंड मिला; परन्तु अपनी माता की बीमारी के कारण शीघ्र मुक्त कर दिये गये। जनवरी 1934 में बिहार में भूकंप आने पर, उन्होनें भूकंप पीड़ित क्षेत्रों का भ्रमण किया, सहायता कार्य में योगदान देकर दुखी और विपन्न मानवता को सहारा दिया। फरवरी 1934 में उन्होंने पीड़ित मानवता के प्रति ब्रिटिश सरकार की अपेक्षा की कलकत्ता की जनसभा में कड़ी आलोचना की। परिणामत: उन्हें दो वर्ष की सजा मिली। 11 अगस्त 1934 को कमला जी की गम्भीर बीमारी के कारण कुछ दिनों के लिए रिहा कर दिया। 'विश्व इतिहास' की झलक', 'आत्म कथा' "भारत एक खोज" आदि ग्रन्थ उन्होंने जेल के बन्दी जीवन में ही लिखे हैं। 4 सितम्बर 1935 को कमला जी की बीमारी के कारण वह पूरी तरह मुक्त कर दिए गए। वह कमला जी के पास यूरोप चले गये जहां उनकी उपस्थिति में 28 फरवरी 1936 को कमला जी ने अपने जीवन की अन्तिम सांस ली। यूरोप से कमला की भस्म के कलश के साथ उड़कर भारत आते समय जवाहरलाल नेहरू अकेलेपन और थकान की भावना से अभिभूत थे। लेकिन इसके बावजूद उन्होनें हार नहीं मानी और अपना शेष जीवन राष्ट्र को सौंप दिया। 23 अप्रैल 1936 को वह लखनऊ कांग्रेस तथा 26 दिसम्बर 1936 को फैजपुर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। 1938 मे वह राष्ट्रीय योजना समिति के अध्यक्ष चुने गये । इसी वर्ष माता स्वरूप रानी का साया भी उन पर से उठ गया। 1939 में वह प्रथम बार चीन गये । 1940 में गांधी जी के व्यक्तिगत सविनय अथज्ञा आन्दोंलन में उन्होंने भाग लिया, जिसकी वजह से उन्हें चार: वर्ष के कारावास का दंड मिला। दिसम्बर 1941 में वह जेल से मुक्त कर दिये गये। 1942 में 'क्रिप्स मिशन' की बात चीन में उन्होंने भाग लिया। कांग्रेस अधिवेशन के काई अधिवेशन में 'भारत छोड़ो ' प्रस्ताव पास होन पर 9 अगस्त 1942 को उन्हें पुन: बन्दी बना कर अहमद नगर जेल में रखा गया। 'वेवल–योजना' के अन्तर्गत 15 जनवरी 1945 को मुक्त होनें पर उन्होंने शिमला सम्मेलन में भाग लिया। उसके पश्चात् चुनावों के लिए उन्होंने

सारे भारत का दौरा किया। उन्होंने आजाद हिन्द के फौज के अफसरों और सैनिकों की पैरवी का प्रबन्ध किया एवं मार्च 1946 में दक्षिण पूर्व एशिया का दौरा किया। उन्होनें केबीनेट मिशन द्वारा योजना के अन्तर्गत सरकार बनाने का प्रस्ताव स्वीकार किया एवं वायसराय की कौंसिल के उपाध्यक्ष एवं पर राष्ट्र विभाग के सदस्य बने। 30 दिसम्बर 1946 को उन्होंने संविधान सभा मे 'ध्येय प्रस्ताव' प्रस्तुत किया और 15 अगस्त 1947 को विभाजित भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने।

विभाजन के कारण उत्पन्न हुई अनेक समस्याओं का उन्होंने सफलतापूर्वक समाधान किया। साहसपूर्वक सांप्रदयिक दंगो पर विजय प्राप्त की। इन्ही दंगो की भूमिका में 30 जनवरी 1948 को महात्मागांधी की हत्या कर दी थी। सरदार पटेल की सहायता से उन्होंने देशी राज्यों की समस्या या समाधान किया । 17 फरवरी 1946 को संविधान सभा में उन्होंने तटस्थता की नीति की घोषणा की और जीवन पर्यन्त उसका पालन किया। 20 जनवरी 1949 को उन्होंने इंडोनेशिया में उच्च आक्रमण के विरोध में 11 एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया। पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण किये जाने पर उन्होंने यह मामला संयुक्त राष्ट्र को सौंपा जहां विश्व–शक्तियों के शीत–युद्ध के कारण दुर्भाग्य से मामला सुलझाने की अपेक्षा और उलझ गया।

प्रधानमंत्री के रूप में पं0 नेहरू ने युग को एक नई दिशा दी है। विश्व को उन्होंने तटस्थ राष्ट्रों का एक संघ दिया तथा राष्ट्रीय स्तर पर धर्म निरपेक्ष भावनाओं से निर्मित लोकतंत्रात्मक समाजवाद दिया। विश्व में शांति बनाए रखने के लिए उन्होंने 'पंचशील 'दिया। 25 जून 1954 को भारत और चीन में पंचशील समझौता हुआ। उन्होनें अफ्रीका के तथा विश्व के परतंत्र राष्ट्रों मुक्ति के लिए सतत् संघर्ष किया। उन्होनें नये भारत के निर्माण के लिए विशाल पंचवर्षीय योजनाएं लागू की ।

20 अक्टूबर 1962 को चीन के भारत पर अप्रत्याशित आक्रमण के शांति–स्वप्न को बुरी तरह झकझोर दिया। उन्होनें राष्ट्र की एकता का आह्वान किया और राष्ट्र को संगठित होने का संदेश दिया। भार–चीन विवाद पर 'कोलम्बो प्रस्तावों' को नेहरू द्वारा स्वीकार कर लिया गया; परन्तु चीन के शासकों ने उसे स्वीकार नहीं किया। जनवरी 1964 में भुवनेशवर कांग्रेंस अधिवेशन काल में ही पं0 नेहरू अस्वस्थ हो गये और 27 मई 1964 को पूरे भारत को विलखता छोड़ कर महा प्रयाण कर गये।

4. नेहरू के वैचारिक आधार

पं. नेहरू के अनुसार उन्हें तीन महापुरुषों ने सबसे अधिक प्रभावित किया – पंडित मोतीलाल नेहरू, महात्मा गांधी और रवीन्द्र नाथ टैगोर। उनके पिता मोतीलाल संशयवादी थे, वे बुद्धिवादी तथा यर्थार्थवादी भी थे। अपने पिता के पुत्र होने के कारण, कभी अपनी माता की धार्मिक निष्ठा को आत्मसात नहीं कर सके। श्रीमति एनी बेंसेंट, बुक्स और रसल के विचारों ने भी प्रभावित किया। अत: तीस वर्ष से भी अधिक गांधीजी जैसे धार्मिक व्यक्ति के निकट संपर्क में रहने पर भी वह संशयवादी ही बने रहे। नेहरू कांट संप्रदाय के ही नहीं बल्कि स्पेंसर संप्रदाय के संशयवादी थे। उनकी धारण केवल यह थी कि इस ठोस एद्रीयगम्य प्रपंच जगत् से परे और किसी सत्ता कल्पना नहीं की जा सकती । उनका कहना था :

"प्रकृति की विविधता तथा परिपूर्णता मुझे स्पंदित कर देती है और आत्मा का सामंजस्य उत्पन्न करती है। मैंने पुराने भारतीय अथवा यूनानी और सर्वश्वरवादी वातावरण में सुखी होने की कल्पना कर सकता हूं किन्तु इसके साथ ईश्वर अथवा देवताओं की जो धारणा सम्बद्ध थी वह मुझे प्रिय नहीं लगती।"

पं0 नेहरू 'अध्यात्मिक' शब्द का भी प्रयोग करते हैं किन्तु उनकी भाषा में वह शब्द 'नैतिक' अथवा 'मानसिक' शब्दों का पर्यायवाची है।

पं0 नेहरू पूर्ण भौतिकवादी भी नहीं थे। कार्ल मार्क्स के भौतिकवादी विचारों का प्रभाव उन पर दिखाई देता है, परन्तु भौतिक पदार्थ को ही वह अंतिम सत्य नहीं मानते। विज्ञान के विद्यार्थी होने के कारण भौतिक विज्ञान की चमत्कारी शोधों में उनकी रुचि जागृत हुई और आइन्स्टीन, प्लाक तथा हाइजनबर्ग के आधुनिक भौतिकीय अनुसंधानों से भी वे प्रभावित हुए। उन्होंने यह नहीं माना की कोई ऐसा भी जगत् है जो हमारी दृष्टि अथवा हमारे मस्तिष्क के चिंतन से परे है।

नेहरूजी के विचारों पर पीटर तथा आस्कर वाइल्ड का भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने मुख्यत: अपने अनुभवों के सम्बन्ध में मनन करके अपने विचारों का निर्माण किया था। जीवन तथा उसमें निहित अगठित सुअवसरों के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण आशावादी था। उनका विश्वास था कि मनुष्य में निहित क्षमताओं तथा शक्तियों का समुचित तथा सामंजस्यपूर्ण विश्वास होना चाहिए। यद्यपि उन्होंने वेदांतियों तथा बौद्धों की आत्मोत्सर्ग और इंन्द्रिय–निग्रह की आचार–नीति को स्वीकार नहीं किया, किन्तु आत्म–परितुष्टि के पूंजीवादी आदर्श को भी नहीं माना। वे सामाजिक आदर्शवादी थे और उसके मन में साधारण मनुष्य की भावनाओं के प्रति सहानुभूति थी। पं0 नेहरू पर महात्मागांधी और ईसामसीह के विचारों का भी प्रभाव पड़ा। उन्होनें गांधी जी के राजनीति को आध्यात्मिकता प्रदान करने के उद्देश्य की सराहना की। महात्मा गांधी द्वारा स्वतन्त्रता आन्दोलन को सत्य और अंहिसा के आधार पर चलाने से नेहरू पर्याप्त प्रभावित हुए।

इससे भी अधिक प्रभाव पं. नेहरू पर भगवद गीता के 'कर्म योग' के सिद्धांत का पड़ा। महात्मा गांधी की प्रेरणा से ही नेहरू की गीता में रुचि जागृत हुई।

नेहरू को मार्क्स की विश्व तथा इतिहास की धारणा से प्रेरणा मिली थी। उनको मार्क्स वादी दर्शन के वैज्ञानिक धर्म विरोधी तथा अन्य विश्वास विरोधी दृष्टिकोण ने विशेषकर प्रभावित किया। ऐताहासिक व्याख्या का मार्क्सवादी सिद्धांत तथा उसका सम्बन्धी दृष्टिकोण नेहरू को पसन्द आया। 1930–32 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट से उनका विश्वास और भी पुष्ट हुआ। परन्तु नेहरू को मार्क्स में पूर्ण विश्वास कभी नहीं हुआ। वे इतने अधिक संवेदनशील थे कि वे व्यावहारिक जीवन मे साम्यवादी की सत्तावादी कार्य प्रणाली को स्थायी रूप में कभी भी सहन न कर सकते थे। उन्होनें अपनी पुस्तक "भारत एक खोज" में यह स्पष्ट किया कि,

'सामाजिक विकास के सम्बन्ध में मार्क्स का सामान्य विश्लेषण असाधारण तौर पर सही जान पड़ता है, फिर भी अनेक ऐसी घटनाएं घटी है हैं जो निकट भविष्य को ध्यान मे रखते हुए उसके दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती।"

5. जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक विचार

पं. नेहरू को हम कोई मौलिक–राजनीतिक चिन्तक अथवा सैद्धान्तिक राजनीतिक होने का श्रेय नहीं दे सकते। उन्होंने मानव–जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर ही अधिकांशत: मनन किया और अपना सम्पूर्ण उनके समाधान में ही लगा दिया। उन्होंने भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना करनी चाही ताकि सभी भारतीयों को आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे 'शांति के मसीहा' कहलाए। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शांतिपूर्वक तरीकों से करने पर उन्होंने बल दिया एवं 'पंचशील' सिद्धांत का प्रतिपादन किया, श्री नेहरू व्यापक दृष्टिकोण वाले सच्चे राष्ट्रवादी थे। राष्ट्रवाद के नाम पर वे मानवता को बलि करने के लिए तैयार नही थे। अन्ध–विश्वास, धर्मान्धता, रुढ़िवादिता और सांप्रदायिकता से उन्हें चिढ़ थी। उन्होनें प्रचण्ड यौद्धा की तरह स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व किया, बल्कि देश को निर्माण की ओर अग्रसर करके विश्व मानवता की सेवा करने के लिए भी उद्यत किया।

5.1 राष्ट्रवाद

नेहरू में राष्ट्रवाद के बीच का आरोपण उनकी प्रारम्भिक अवस्था में ही हो गया था। इग्लैण्ड में पड़ते, समय भी देश में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन और ब्रिटिश शासन के दमन के समाचारों से उनका हृदय उद्वेलित हों उठता था। आयरिश स्वतन्त्रता संग्राम व विदेशों के जन–नायक देशभक्तों की जीवन चर्चाओं ने भी नेहरू को प्रभावित किया। अत: भारत आते ही वे कांग्रेस के सदस्य बन गये और भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन मे महात्मा गांधी के नेतृत्व में पूर्ण योग दान दिया। भारत को वह भावात्मक दृष्टि से निर्मित राष्ट्र की संज्ञा देते थे, "जिसमें अनेकता में विद्यमान हैं" यह अनेकता राष्ट्र की प्रगति में तब तक बाधा नहीं बन सकती जब तक की भावात्मक दृष्टि से हम राष्ट्र को समर्पित हैं। उनके लेख 'भारत की एकता' से प्रगट होता है कि वे भारत की आधारभूत एकता की वास्तविकता में विश्वास करते थे। उन्हें सांस्कृतिक बहुलवाद तथा समन्वय की धारणा से भी प्रेरणा मिली थी। टैगोर के समन्वयात्मक, विश्ववाद और विश्व–बंधुत्व की भावना ने उनके राष्ट्रवाद के विचारों को प्रभावित किया। उन्हें दयानन्द, विवेकानन्द, पाल और अरविंद से राष्ट्रवाद सम्बन्धी दृष्टिकोण से सहानुभूति नहीं थी। नेहरू ने राष्ट्रवाद के भावनात्मक पक्ष को भी स्वीकार किया था। उनके लिए राष्ट्रवाद आत्मविस्तार का ही एक रूप है। उन्होंने लिखा है, "राष्ट्रवाद तत्व: अतीत की उपलब्धियों, और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है, और राष्ट्रवाद जितना शक्तिशाली आज है उतना कभी नहीं था।..... जब कभी संकट आया है तभी राष्ट्रवादी भावना का उत्थान हुआ है, और लोगों ने अपनी परम्पराओं से शक्ति तथा सांत्वना प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अतीत और राष्ट्र का पुनरन्वेषण वर्तमान युग की एक आश्चर्यजनक प्रगति है।"

पं0 नेहरू का आत्म–निर्णय के सिद्धांत में दृढ़ विश्वास था। साम्राज्यवाद विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय ब्रूसेल्स सम्मेलन में (1937) में उन्होंने कहा, "भारत की समस्या केवल राष्ट्रीय

समस्या ही नही है, वह अन्य अनेक देशों को भी प्रभावित करती है।... भारत के लिए स्वतन्त्रता एक ऐसी आवश्यकता बन गई है जिसकी निर्बिलम्ब पूर्ति होनी चाहिए!.. हम अपने देश के लिए पूर्णतम स्वाधीनता चाहते है। यह स्वाभाविक है कि हम आन्तरिक नियन्त्रण की स्वतन्त्रता ही नहीं चाहते बल्कि अपनी इच्छानुसार अपने पड़ोसियों तथा अन्य देशों के साथ सम्बन्ध रखने की स्वतन्त्रता भी चाहते हैं।

इसीलिए पं. नेहरू ने स्वतन्त्र भारत का संविधान भारतीयों द्वारा ही निर्माण किये जाने पर बल दिया, एवं वयस्क मताधिकार के आधार पर ऐसी सभा बनाये जाने के विचार को जन साधारण में प्रिय बनाया। "भारतीय शासन संविधान" के निर्णायक भारतीय ही हो सकते हैं इस विचार को आखिर ब्रिटिश शासकों ने भी स्वीकार कर लिया।

पं नेहरू का राष्ट्रवाद अपने में मानवता का समावेश करता है। वह संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना से परे है। नेहरू के राष्ट्रवाद में संकीर्ण धार्मिकता, व जातीयता को कोई स्थान नहीं है।

1936 में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि–

"महत्व की बात यह है कि हिन्दू, मुसलिम तथा अन्य सम्प्रदायों के प्रमुख सांप्रदायिक नेता राजनैतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी हैं। यह सोचकर दु:ख होता है कि उन्होंने किस प्रकार महत्वपूर्ण मामलों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहायता की है, किस प्रकार उन्होंने स्वतन्त्रता के दमन को अनुमोदन किया है, किस प्रकार उन्होंने इन व्यथा के दिनों में स्वतन्त्रता के वृहतर पक्ष को हानि पहुंचाकर अपने अपने संप्रदायों के लिए संकीर्ण लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। उनके साथ कोई सहयोग नहीं हो सकता क्योंकि उसका अर्थ होगा प्रतिक्रिया के बाद सहयोग करना।"[2]

सामाजिक यथार्थवादी होने के नाते पं॰ नेहरू भारतीय स्वतन्त्रता से, पूर्व घटित साम्प्रदायिक संघर्ष की मूल में चर्म की अपेक्षा अर्थ को मूल कारण समझते थे।

अत: नेहरू का राष्ट्रवाद धर्म निरपेक्षता की भावना से परिपूर्ण था। भारतीय महाद्वीप के विभाजन के बाद भी उन्होंने भारत में रहने वाले अल्पसंख्यकों को अपने उदार राष्ट्रवाद का अमृत दिया। उन्होंने अपनी बाहों का सहारा देकर धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद की नींव कों सुदृढ किया।

नेहरू का उदार राष्ट्रवाद युद्ध और हिंसा की प्रेरणा नहीं देता। उनके लिए राष्ट्रवाद का अर्थ भारत की स्वतन्त्रता ही नहीं था, अपितु विश्व मानवता की सेवा भी था। उनका राष्ट्रवाद जातिवाद, राष्ट्रो के प्रति घृणा, साम्राज्यवाद व युद्धवाद आदि बुराइयों को जन्म नहीं देता। ऐसे राष्ट्रवाद का उन्होनें कभी समर्थन नहीं किया जो चरम सीमा पर पहुंच कर अंतर्राष्ट्रीयवाद का शत्रु बन जाये। नेहरू तो शांति के पुजारी थे, इसलिए उनका राष्ट्रवाद विश्वशान्ति की सेवा में समर्पित था। 'भारत छोड़ो 'का जयघोष भी उनके उदार राष्ट्रवाद को समर्पित था। उन्होनें भारतीय जनता से 8 अगस्त 1942 में अपने बम्बई के भाषण में कहा, "मै सारे भारतीयों से अपील करता हूं कि वे अपने ऊंचें मुद्दों और लक्ष्यों कों भूलें नहीं। वे महज भारत के हितो के लिए नहीं लड़ रहे, बल्कि चीन और रूस समेत दुनियां भर के सब देशों के लिए लड़ रहे हैं। ....

भारतीयों को चाहिए कि वे संकुचित राष्ट्रवाद को नहीं अपनाएं। उन्हें हमेशा यह याद रखना चाहिए कि उन्हें सही सही अन्तर्राष्ट्रीयवाद का विकास करना हैं।"

एक सच्चे राष्ट्रवाद के रूप में उन्होंने हर पराधीन देश के राष्ट्रीय आदोलन का समर्थन किया और प्रोत्साहन दिया। मिश्र, मोरक्को, इंडोनेशिया, कांगों आदि देशों के स्वतन्त्रता आदोलन का उन्होंने स्वागत किया। अब राष्ट्रवाद के अभ्युदय का भी उन्होंने स्वागत किया। उन्होंने कहा, "हर गुलाम देश के लिए राष्ट्रवाद की भावना से ओतप्रोत होना सर्वथा स्वाभाविक है और राष्ट्रवादी आदर्श बड़ा गहरा व शक्तिशाली है तथा उसे अतीत का भी आदर्श नहीं माना जा सकता जिसका कोई भावी महत्व न हो।" श्री नेहरू का विश्वास था स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राष्ट्रवाद की भावना पराधीन राष्ट्र में जन–आदोंलन प्रेरित करती हैं; तो संकट काल मे विदेशी राष्ट्र के आक्रमण के समय वह देश को सब मतभेद भुलाकर एकता के सूत्र में बांधती है। उन्होंने देखा कि वह सभी देश, जो अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलनों के हावी थे और श्रमजीवी वर्ग की एकता का, समर्थन करते थे; जो अंतर्राष्ट्रीयता के स्थान पर राष्ट्रवाद की भावना का सहारा लिया। इसी भावना के कारण राष्ट्रीय सरकारों को संकट काल में राष्ट्र के विभिन्न वर्गो का पूर्ण सहयोग मिल पाया। अत: नेहरू इस निर्णय पर पहुंचे कि राष्ट्रवाद मानव की मूल प्रवृति है और अपने देश के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखना मानव का जातीय गुण है। अत: नेहरू संकीर्ण और उग्र राष्ट्रवाद से बचने एवं उसके सच्चे स्वरूप को ग्रहण करने के पक्षपाती थे।

5.2 साम्राज्यवाद और फासिज्म पर नेहरू के विचार:

साम्राज्यवाद शोषण, लूट खसोट और हिंसा को प्रोत्साहित करता है। पं0 नेहरू ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को देखा था, उसमें विभिन्न प्रकार के मानसिक और शारीरिक कष्टों को भोगा था। अत: उन्हें साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी मनोवृति से घृणा थी। अत: भारतीय राष्ट्रीय आदोलन को पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख कर वे विश्व से इस सामाजवादी मनोवृति के विनाश की भूमिका लिख रहे थे। साम्राज्यवादी देख, अपने साम्राज्य की स्थापना के निर्मित हिंसा और उत्पीड़नकारी साधनों का प्रयोग करते रहे। उग्र एवं संकीर्ण राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित होकर साम्राज्यवादी देख अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए मानवता का गला दबा देते है। सिसकती मानवता के नाम पर साम्राज्यवाद एक कलंक है।

1927 में ब्रसेल्स में साम्राज्यवाद विरोधी अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी की भर्त्सना करते हुए कहा था; "भारत में हमें साम्राज्यवाद की पूरी ताकत का तजुरबा हो चुका है। साम्राज्यवाद का मतलब हम बहुत अच्छी तरह समझते हैं। और इसलिये हमें उसकी तहरीक में दिलचस्पी है, जो साम्राज्यवादी के खिलाफ़ हो। ————हिन्दुस्तान की अंदरुनी हालत से हमें पता चल जाता है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद किस तरह मजदूरों को दबाता और उनका शोषण करता है —— अपनी मौजूदगी के समूचे दौर में अंग्रेजो ने "फूट डालो और शासन करो" के पुराने तरीके पर अमल किया है मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि आज भी वह इस नीति पर चल रहे हैं। हिंदुस्तान पर कब्जा जमाने का उनका शुरू का इतिहास इतना खौफनाक और दर्दनाक है कि उसकी मिसाल दुनिया भर के इतिहास में नहीं मिल सकती।

इस कांफ्रेंस में उन्होंने साम्राज्यवाद के विभिन्न देशों को भी इंगित किया और भारत की निर्धनता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के द्वारा किये जाने वाले शोषण को दोषी ठहराया। साम्राज्यवादी देश अपने हितो का संपादन करने हेतु पराधीन राष्ट्र का आर्थिक शोषण करता है। ब्रिटेन ने भी भारत का आर्थिक शोषण किया। सरकार के द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियों ने भारत के उद्योग धन्धों को चौपट कर दिया। बेराजगारी के बढ़ते हुए प्रकोप ने पूरे देश को निर्धन बना दिया। त्रस्त जनता की आवाज को बल पूर्वक दबा दिया गया। अमानवीय हिंसा के प्रतीक के रूप जलियां वाला हत्याकांड साम्राज्यवाद के कारनामों को भारतीय इतिहास में ज्वलंत प्रतीक है। 31 अगस्त 1919 को पं. नेहरू भी अपने पिता के साथ जलियां वाला बाग गये थे और वहां से उन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी भावना और विचारधारा संजोयी थी। अत: वे औपनिवेशक स्वराज्य के समर्थन नही रहे, पूर्ण स्वराज्य ही उनका एक मात्र ध्येय हो गया और रावीतट से कांग्रेस के अध्यक्षीय पद से उन्होंने इस आशय की घोषणा कर दी थी। 27 अक्टूबर 1929 को उन्होंने साम्राज्यवाद पर विचार प्रांतीय सम्मेलन में इस प्रकार प्रकट किये ;

"हमारा दुश्मन इंग्लैण्ड नहीं है। हमारा दुश्मन तो साम्राज्यवाद है और जहां साम्राज्यवाद है वहां हम खुशी के साथ नहीं रह सकते। विदेशी ताकतो के अधीन कोई भी जिन्दा कौम अपने विजेता के साथ कभी चैन की सांस नहीं ले सकती। क्योंकि इस चैन के माने हैं गुलामी और गुलामी के माने हैं उन सब की मौत, जो कौम को जिंदा रखने की ताकत होती है।"

उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ही लोहा नहीं लिया; अपितु भारत के स्वाधीन हो जाने के उपरांत भी अन्य पराधीन राष्ट्रों को साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति दिलाने की भी उन्होंने भरपूर चेष्टा की। इंडोनेशिया को डच साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति दिलाने को भी उन्होंने एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन आयोजित किया और संयुक्त राष्ट्र संघ में डच साम्राज्यवाद की तीव्र भर्त्सना की। पं. नेहरू की वकालत ने एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवादियों के नापाक इरादों को छिन–भिन्न कर दिया और एशिया व अफ्रीका के राष्ट्रवादियों के आन्दोलन को बल मिला; परिणामस्वरूप अधिकांश राज्यों से यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों को अपनी बोरिया बिस्तर बांधने पड़े।

पं. नेहरू ने केवल फासिस्ट शक्तियों की आलोचना ही की बल्कि उन्होंने ऐसी शक्तियों को प्रोत्साहित करना भी उपयुक्त नहीं समझा। इटली, स्पेन और जर्मनी में बढ़ते हुए फासिज की प्रवृति नेहरू की चिंता का कारण बनी। नेहरू व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थक थे। फासिज्म अनुशासन के नाम पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है और संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना उकसा कर युद्ध को प्रेरित करता है। अत: दिसम्बर 1926 में फैजपुर कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए उन्होंने फासिज्म की आलोचना करते हुए कहा।

'यूरोप में फासीवाद जीत की राह पर बढ़ा चला जा रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में खुल कर गुंडापन पर उतर आया है। चूंकि इसकी नींव घृणा और हिंसा पर है, इसलिए अगर उसे रोका न गया तो लड़ाई की चिंगारी जरूर भड़क उठेगी।"

पं0 नेहरू की मान्यता थी कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत का संघर्ष फासिज्म के विरुद्ध उदार जगत के संघर्ष का ही एक भाग था। लखनऊ के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने

प्रस्ताव किया कि अबीसीनिया के लोगों को सराहना और सहानुभूति का संदेश भेजा जाए, जो मुसोलिनी की फासिस्ट सेनाओं का सामना कर रहे हैं। परिणामत: 9 मई अबीसीनिया दिवस के रूप में मनाया गया और जन–सभाओं में अबीसीनिया के साथ सहानुभूति और इटली की निन्दा के प्रस्ताव पारित कियें गये।'[1]

नेहरू की दृष्टि में नाजीवाद और फासीवाद साम्राज्यवाद और जातिवाद के ही प्रत्यक्ष और उग्ररूप हैं ; इसी धारणा पर ही उन्होनें मुसोलिनी के निमन्त्रण को विनम्रता पूर्वक ठुकरा दिया था। नेहरू ने जीवन पर्यन्त स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के आदर्श के लिये युद्ध किया। उनकी सहानुभूति पीड़ित मानवता, अबीसीनिया और चेकोस्लोवाकिया के लोगों के साथ रही। इसीलिये उन्होंने नाजी सरकार के जर्मनी आने के निमंत्रण को ठुकराकर चेकोस्लोवाकिया की यात्रा की। उन्हें फ्राँस और ब्रिटेन की 'तुष्टिकरण की नीति' में हिटलर के प्रति और आदर की भावना छिपी नजर आई। द्वेष और हिंसा पर आधारित व संकीर्ण भावनाओं से ओत प्रोत नाजीवाद और फासीवाद के विकास और पतन के बाद वे इस निर्णय पर पहुंचे -

"They brought a certain prestige to their people for a while, but they also killed the spirit and destroyed all values and standards of thought and behavior. They ended by ruining the nations they sought to exalt."

इस प्रकार नाजीवाद और फासीवाद अपने देशों के पतन के कारण बने।

5.3 प्रजातन्त्र :

पं0 नेहरू की लोकतन्त्र के सिद्धान्तों में प्रबल आस्था थी। उन्होंने प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों का विवेचन ही नहीं किया, अपितु प्रजातंत्र की प्रयोगशाला में अनेक अनुभव भी किये थे। उनके अनुसार प्रजातंत्र की परिभाषा करने का अर्थ उसको सीमित कर देना है। 'प्रजातन्त्र' एक स्थायी नहीं वरन् गतिशील वस्तु है, जिसमें परिवर्तन उसके क्षेत्र को अधिकाधिक व्यापक बना देता है। आखिर में, यह हमारी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति मानसिक दृष्टिकोण है। प्राचीन समय से ही लोकतन्त्र से तात्पर्य मानव की स्वतन्त्रता, समानता, भातृत्व अथवा जनता की प्रभुता से माना जाता रहा है। नाजीवाद और फासीवाद ने पितृभूमि के आदर्श को लोकप्रिय बनाकर, उसे जनता की प्रभुता से भी उच्चतर बना दिया उदारवाद एवं लोकतंत्र का विरोध किया। नेहरू के लिए देश और जनता दोनों करीब–करीब समान ही हैं " भारत–माता' से उनका तात्पर्य देश और जनता दोनों से है। अत. स्वतन्त्रता आन्दोलन का उद्देश्य जनसाधारण के लिए स्वतन्त्रता प्रात करना था एवं जन–जन में व्याप्त हमारी गरीबी और दुःख को मिटाना था। भारतीय स्वतन्त्रता घोषित हाने के कुछ ही समय पहले उन्होंने संविधान सभा में घोषणा करते हुए कहा था कि –

"हम भारत को जनता से, जिसके हम प्रतिनिधि हैं, इस महान् कार्य में विश्वास के साथ शामिल होने की अपनी करते हैं। नकारात्मक अलोचना; द्वेष व दूसरे पर कीचड़ उछालने का यह समय नहीं है। हमें स्वतंत्र भारत की भव्य इमारत का निर्माण करना है जहाँ उसके सभी बच्चे सानंद रह सकें।"

स्वतन्त्र भारत लोकतंत्र की ओर अग्रसर हुआ तो नेहरू अधिक से अधिक जनता पर निर्भर होते गये। वह चाहते थे कि जनता यह अनुभव करे कि राष्ट्र द्वारा संपादित किये जाने वाले कार्यों में शासन व उद्योग–संचालन में वह भागीदार है। इसे वह लोकतन्त्र का सार समझते थे। देश की समस्याओं को व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखना वह परमावश्यक मानते थे।

नेहरू के अनुसार लोकतन्त्र राजनैतिक व आर्थिक ही नहीं, बल्कि एक जीवन पद्धति भी है। इसके अन्तर्गत राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्र में, सभी लोगों को अवसर की समानता से है। इसके अंतर्गत व्यक्ति के विकास एवं अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने की स्वाधीनता से है। इसका तात्पर्य दूसरों के अपने से भिन्न विचारों के प्रति सहनशीलता की भावना से भी है।

गांधी जी के प्रभाव ने नेहरू के लोकतन्त्र को नैतिक आधार प्रदान किया है। नेहरू के लोकतन्त्र। सम्बंधी विचारों पर मानवतावाद, समाजवाद और श्रमजीवी आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। अत: राजनैतिक लोकतन्त्र के साथ ही उन्होनें सामाजवादी विचारों का समन्वय आवश्यक समझा। नेहरू अप्रजातन्त्री शासक पद्धति का कड़ा विरोध करते हैं। उन्होनें भारत में ब्रिटिश शासन के उच्च पदाधिकारियों के अप्रजातांत्रिक रवैये की ही भर्त्सना नहीं की, वरन् देशी रजवाड़ों की सामंतशाही शासन–प्रणाली की भी खुलकर आलोचना की।

यद्यपि नेहरू मार्क्स और लेनिन से प्रभावित थे परन्तु साम्यवादी विचारधारा को उन्होंने अपने लोकतंत्रीय विश्वासों पर कभी भी हावी नहीं होने दिया। नेहरू का व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अगाध विश्वास था। राजनैतिक स्वतन्त्रता, समानता और शांतिपूर्ण तरीकों से विकास, नेहरू के आधार भूत प्रजातन्त्रीय आदर्श हैं। नेहरू वयस्क मताधिकार पर प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति के पक्षपाती हैं। वे यह भी चहते हैं कि समाज में आत्मानुशासन के विकास के लिये उचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय और लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाया जाय। परन्तु वह यह मानने को तैयार नहीं हैं कि शिक्षा, संपति या लिंग के आधार पर किसी को मताधिकार से वंचित कर दिया जाए। 'समानता' के बारे में पं0 नेहरू की धारणा अवसरों की समानता व विकास करने कि स्वतन्त्रता से है।

पं0 नेहरू भी विभिन्न राजनैतिक दलों के कार्यो को प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति के लिए लाभप्रद मानते है। उनके अनुसार विभिन्न राजनैतिक दल किसी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं अतः समस्या पर अधिक प्रकाश पड़ता है। एवं समस्या का समाधान सरल हो जाता है। पं0 नेहरू स्वतन्त्र विचार अभिव्यक्ति के पक्षपाती हैं ताकि सत्य को पहचाना जा सके। उनकी यह मान्यता थी बहुदलीय व्यवस्था में, एक दूसरे के विचारों को समझने, खुद लेन–देन व निर्णय करने से पहले समझौते की भावना से कार्य करना पड़ता है। उनकी यह भी मान्यता थी कि 'प्रजातन्त्र की रक्षा' के लिये 'जनता की जागरुकता' आवश्यक है ताकि शासन निष्क्रिय न हो जायें। अतः प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति में, शासन के दोषों की ओर, जनता के प्रतिनिधि कायों को शासकों का ध्यान आकर्षित करना चाहिये। पं0 नेहरू नमनीय संविधान और संसदीय शासन व्यवस्था के हामी थे। साथ ही वह विकास शील परिवर्तन और अनवरतता के भी पक्षपाती थे। परिवर्तन और अनवरतता संसदीय शासन व्यवस्था के अनुरुप है। विकास समस्याओं को जन्म देता है ओर समस्याओं के समाधान ढूंढनें पड़ते है। प्रजातन्त्र को तो निरन्तर ही इन समस्याओं

का सामना करना पड़ता हैं परन्तु समस्याओं का न होना तो मृत्यु का लक्षण है अत: पं0 नेहरु के अनुसार राष्ट्र के विकास का लक्षण समस्याओं का समाधान ही नहीं, वरन् समाधान के लिये नई समस्याओं को जन्म देना भी है।"

1934–35 में यूरोप में संसदीय शासन पद्धति की असफलता का दोष उन्होंने समय की मांग के अनुसार आर्थिक लोकतन्त्र की पुष्टि न करने व गतिशील न होने पर डाला। अत: नेहरु लोक तंत्र का समाजवाद से समन्वय कर 'आर्थिक लोकतंत्र' भारत में लाना चाहते थे। आर्थिक लोकतन्त्र से उनका तात्पर्य घोर विषमताओं को दूर कर जीवन की आवश्यक वस्तुओं को अधिक से अधिक व्यक्तियों को उपलब्ध कराना था। उनकी ये मान्यता थी कि शासकीय संगठनों द्वारा आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं किया जाता तो राजनैतिक ढांचा कमजोर होकर टूट जाएगा। प. नेहरू के अनुसार 'आर्थिक लोकतन्त्र' के उद्देश्य की प्राप्ति शांतिपूर्ण तरीके से होनी चाहिए। यदि भारत को स्वतंत्रता शांतिपूर्ण तरीके से मिल सकती है तो आर्थिक लोकतन्त्र की प्राप्ति भी शांतपूर्ण तरीकों से की जा सकती है। उनकी राय में लोतांत्रिक भावना इस बात में निहित हैं कि हम अपनी समस्याओं का निराकरण विचार–विमर्श, तर्क–वितर्क और अन्य शांतिपूर्ण उपायों द्वारा करें। नेहरू के पद चिन्हों पर, चल कर ही आज इन्दिरा–सरकार, बैंक राष्ट्रीयकरण, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण, भूमि' - सीमा व शहरी– सम्पति–सीमा निर्धारण के बारे में कदम उठा कर देश को 'आर्थिक प्रजातन्त्र' की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न कर रही है।

नेहरू लोकतन्त्र के प्रशंसक ही नहीं थे; उसकी बुराइयों से भी परिचित थे। सच्चे लोकतन्त्र के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयों से वह अनभिज्ञ नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि लोकतंत्र के सफल संचालन के लिए एक उत्कृष्ट नैतिक चरित्र का होना आवश्यक है। लोकतन्त्रीय प्रणाली मे चुनाव अनियमितताएं, विकास के मार्ग में अवरोध, समय और शक्ति का अपव्यय व मंद गति आदि दोषों से वह भलीभांति परिचत थे और इन्हें मिटाने का दृढ़–संकल्प भी उन्होंने कर रखा था।

यधपि उन्होंने देखा कि संसार के विभिन्न देशों में लोकतन्त्र विरोधी प्रवृतियां धीरे–धीरे बढ़ती जा रही हैं, तथापि अपने लोकतन्त्र के प्रति आशावाद को उन्होंने सदैव जीवित रखा। विश्व एंव भारत में लोकतन्त्र के प्रति वह सदैव आशावादी रहे।

5.4 राज्य शासन और व्यक्ति

नेहरू के अनुसार एक राज्य के व्यक्ति के प्रति उत्तरदायित्व एवं व्यक्ति के राज्य के प्रति उत्तरदायित्व में इतिहास के विभिन्न कालों में भिन्नता रही हैं शुरू में राज्य का उत्तरदायित्व व्यक्ति की विदेशी शत्रु या अन्य कबीले से रक्षा करना था। इसके बाद 'पुलिस राज्य' के विचार का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत राज्य शांति और व्यवस्था कायम रखता, विदेशी शत्रुओं से रक्षा करता एवं अपना कार्य चलाने के लिए टैक्स वसूल करता था। आज राज्य के कार्य बहुत विस्मृत हो गये हे। राज्य से आज बहुत अधिक आशाएं की जाती हैं।

आधुनिक राज्य समाज और व्यक्ति के लिए अधिकाधिक कार्य करता है अत: व्यक्ति का भी राज्य के प्रति दायित्व बढ़ गया है। आज राज्य पुलिस कार्य के अतिरिक्त व्यक्ति को

विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सफाई के अवसर उपलब्ध करवा कर उसके विकास में योगदान देता है जिससे शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृति को बल मित्रता है एवं कुछ सीमा तक वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन भी होता है। पं0 नेहरू ने राज्य की केन्द्रीयकरण की प्रवृति और वैयक्ति स्वतन्त्रता के इस विवाद का समाधान केन्द्रीयकरण को न्यूनतम कार्यो तक सीमित करके और विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा देकर की है।

नेहरू की धारणा के अनुसार राज्य को व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य और प्रयत्न करना चाहिए, या ऐसा प्रबन्ध कर देना चाहिये कि जनता अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसके बाद राज्य को जनता की अन्य महत्वपूर्ण आवश्यकताओं पर ध्यान देना चाहिये। आर्थिक संगठनों के बारे में नेहरू एक लचीली व्यवस्था के पक्ष में थे। पर उनका विश्वास था कि यदि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के किसी क्षेत्र में राज्य की केन्द्रीकरण की प्रवृति में वृद्धि होती है तो वैयक्तिक अधिकारों की सुरक्षा और भी अधिक आवश्यक हो जाती है। व्यक्ति के राजनैतिक अधिकारों को संविधान द्वारा सुरक्षित किया जा सकता है, व्यक्ति के 'आर्थिक हितों ' की सुरक्षा के लिए भी राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिये।

राज्य का ध्येय मानव की सेवा करना है। राजनैतिक स्वतन्त्रता तो आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन मात्र है। मानवीय सुख के सभी साधनों को विकसित करने में सहायता देना राज्य का कर्तव्य है। राज्य का अन्तिम ध्येय व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है, नेहरू मेकेयावली के विचारों के अनुसार शासन करने वाले आधुनिक राज्यों के कार्यों की भर्त्सना करते है।

महात्मा गांधी के सुयोग्यतम शिष्य होते हुए भी उनकी 'अराजकतावाद' की आर कोई प्रवृत्ति नहीं थी, राज्य की अनिवार्यता में उनका अटूट विश्वास था। वे मानव–स्वभाव की बुराइयों को व्यवस्थित सीमाओं में रखने के लिए अथवा उन पर अंकुश रखने के लिये राज्य को अनिवार्य मानते थे। राज्य की बाध्यकारी सत्ता द्वारा ही मनुष्य में व्याप्त घृणा, स्वार्थपरता, और हिंसा पर नियंत्रण रखा जाता है। राज्य की बाध्यकारी सत्ता के बिना कर वसूल नहीं हो सकते, जमींदारों को लगान नहीं मिल सकता और व्यक्तिगत सम्पत्ति लुप्त हो जाती हैं विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए भी राज्य द्वारा शक्ति के प्रयोग को नेहरू उचित ठहराते है।

सरकार के कुछ कार्यो को पं0 नेहरू अवांछनीय पाते है जैसे अन्य राज्यों के प्रति जासूसी, प्रोपोगेंडा, आर्थिक दबाव की नीति अपनाना और शांति काल में एवं उससे अधिक युद्ध काल में हर प्रकार के झूठ और धोखे का सहारा लेना। इसके अतिरिक्त राजदूतों के साथ संबन्धित सैनिक, नैविक और व्यापारिक अटेचियों (Attaches) के द्वारा किये जाने वाले जासूसी कार्य की भी वह भर्त्सना करते है। पं0 नेहरू सरकार द्वारा शक्ति के उपयोग से होने वाले भ्रष्टाचार से भी अवगत हैं। अतः नेहरू स्व–शासन की अपेक्षा अच्छे शासन के पक्षपाती है। अच्छे शासन की पहचान उत्पादन व खपत में अधिक कुशलता एवं जनता के भौतिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास के कार्यो को देखकर की जा सकती है। शासन इस प्रकार का होना चाहिये कि वह जनता के विकास और भलाई के कार्यो को कर सके और गरीबी,

बीमारी को दूर कर हर व्यक्ति को अच्छी जिन्दगी बसर करने का अवसर दे सके। नेहरू की धारणा है कि आर्थिक विकास के अतिरिक्त राष्ट्रीय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ने भी शासन के ढांचे को प्रभावित किया है। नेहरू जहां तक सम्भव हो, शासन की बाध्यकारी शक्ति का उपयोग टालना चाहते हैं, पर हिंसा सांप्रदायिक दंगो को दबाने के लिए वह इस शक्ति का उपयोग आवश्यक मानते हैं वैसे उनकी धारणा है कि व्यक्तियों या वर्गों या विचारों का हिंसात्मक दमन वातावरण को विषाक्त कर देता है, इसलिए भले ही क्षणिक सफलता मिल जावे, अन्ततः शासन की कठिनाइयों में वृद्धि ही होती है।

नेहरू इस व्यक्तिवादी विचारधारा से सहमत नहीं है कि वही सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करे। इसके विपरीत वह शासन को समाजवादी विचारधारा प्रभावित होने के कारण अधिक से अधिक कार्य सौंपते हैं। वह नागरिक के लिए हर प्रकार की सुविधा राज्य द्वारा प्रदान करवाना चाहते है और इस प्रकार शासन के कार्योद्वारा लोक–कल्याणकारी राज्य की स्थापना चाहते है। नेहरू की यह मान्यता है कि लोक–कल्याणकारी राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रशासनिक कार्यो और जनता के बीच पूर्ण समन्वय आवश्यक है। प्रशासक को हर समय जन भावना को पहचानना चाहिये ताकि जनता उसे अपने में से ही एक समझे।

राज्य के कार्यों में वृद्धि के कारण और केन्द्रीयकरण की प्रवृति के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो गई है। इससे व्यक्ति की रचनात्मक प्रतिभा के विकास में भी बाधा पड़ती है, अत: राज्य सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में संतुलन करना आवश्यक है। नेहरू व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता में ही नहीं वरन उसकी आर्थिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भी आवश्यक मानते हैं। अत: नेहरू प्रेस की स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और अन्य स्वतन्त्रताओं को बहुत महत्वपूर्ण मानते है। पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रजातांत्रिक शासन पद्धति में सदैव अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता एवं सामाजिक स्वतन्त्रता से नियमित रहती है। देश और समाज की सुरक्षा के हेतु नागरिक अधिकारों को सीमित किया जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि नेहरू व्यक्त और राज्य दोनों का ही विकास चाहते थे। ऐसे विकास के लिए राज्य व्यक्ति दोनों के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से ही जनता के स्तर को ऊंचा उठाकर मानवता के विकास में सहयोग दिया जा सकता है।

5.5 अन्तर्राष्ट्रयतावाद

नेहरू महान् अनतर्राष्ट्रवादी थे। वे जातीय अहेंकार तथा आक्रामकता के खतरों से भलीभांति परिचित थे। उन्हें संकीर्ण, अहंकारमूलक तथा प्रसारवादी राष्ट्रवाद से भारी घृणा थी। राष्ट्र नेता के रूप में नेहरू के कार्य के विकसित होने के साथ–साथ ही उनका अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास और भी अधिक गहरा होता चला गया।

नेहरू के अनुसार भारत के तीन महापुरुषों, विवेकानन्द, टैगोर और गांधी ने भारतीयों के अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने के लिए प्रेरित किया। विवेकानन्द के अनुसार किसी समस्या का समाधान जातीय, या राष्ट्रीय या संकीर्ण आधारों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार "भारत के पतन का उत्तरदायित्व उसका अन्य राष्ट्रों से अलावा है और उसका एक मात्र इलाज शेष संसार के साथ अपने सम्बन्धों को पुन: जोड़ना है। नेहरू को इस प्रकार विवेकानन्द

से नव–संदेश मिला। टैगोर ने भी पूर्व और पश्चिम के आदर्शो में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और भारतीय राष्ट्रवाद को उदार बनाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख किया। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को घृणा और द्वेष से अलग कर; भारतीय राष्ट्रवाद को एक भावना से दी। यधपि महात्मा गांधी का प्राथमिक उद्देश्य भारत के लिए स्वतन्त्रता–प्राप्ति ही था, पर वह स्वतन्त्र राज्यों के विश्व–संघ की कल्पना भी ठीक समझते थे गांधी के राष्ट्रवाद में मानव का हित सन्निहित था। भारतीय कांग्रेस को उदार अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख करने का श्रेय नेहरू को दिया जा सकता है।

1927 की मद्रास कांग्रेस ने नेहरू की प्रेरणा से ब्रिटेन द्वारा चीन में भारतीय सेना के प्रयोग का विरोध किया। स्पेन की गणतंत्रीय सरकार और चीन के साथ भारत की सहानुभूति प्रकट करने के लिये वहां स्वयं गये। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद कोरिया में युद्ध विराम संपन्न कराने, हिन्द–चीन में युद्ध बन्द कराने और मिश्र के स्वेज क्षेत्र में आंग्ल–फ्रेंच साम्राज्यवाद के दखल को रोकने में नेहरू ने ही पहल की। नेहरू एशिया और अफ्रीका के राज्यों की राजनैतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं का प्रतिपादन नेहरू ने विश्व समाज में किय। इंडोनेशिया की स्वतन्त्रता के लिए एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया; कांगों में सेना भेजकर उसे गृह–युद्ध से बचाया उनकी अफ्रीकी–एशियाई प्रगति की धारणा ने मिश्र ने नासि, घाना के एन्क्रूमा एवं इराक के कासिम को प्रेरणा दी।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर नेहरू ने संयुक्तराष्ट्र को हर संभव सहायता दी। नेहरू विश्वशांति के कट्टर समर्थन एवं आपसी विवादों को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के पक्षपाती थे। इसलिये उन्होंने 'कश्मीर समस्या' को समाधान के लिये संयुक्त राष्ट्र को सौंपा। चीन से विवाद होने के बावजूद भी संयुक्त राष्ट्र में उसकी सदस्यता का सदैव समर्थन किया। रूस कौर अमेरिका में शीत–युद्ध में कमी लाने के उद्देश्य से पं0 नेहरू ने असंलग्नता का अवलम्बन किया जिससे न केवल शीत युद्ध में ही कमी आई वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के सम्मान में भी वृद्धि हुई। असंलग्नता की नीति का समर्थन कई अफ्रीकी और एशियाई राज्यों ने किया और उन्होंने बड़े राष्ट्रों द्वारा नियोजित और संचालित 'क्षेत्रीय रक्षा संगठनों' में शामिल होने से इन्कार कर दिया। मिश्र के नासिर और युगोस्लाविया के माशर्ल टीटो नेहरू की असंलग्नता की नीति के प्रशंसक व पालक बने।

पं0 नेहरू परतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रवाद की कीमत पर अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास नहीं चाहते। नेहरू ने अनुभव किया कि व्यक्ति और ग्रुप अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित हो सकते हैं और वैयक्तिक व राष्ट्रीय हितों की अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर कुर्बानी भी दे सकते हैं, परन्तु राष्ट्रों के बारे में ऐसा नहीं सोचा जा सकता। राष्ट्रों की रूचि वही अन्तर्राष्ट्रीय हित जागृत करती है जो कि उनके राष्ट्रीय हित के अनुरूप हो। अतः परतन्त्र राष्ट्र में हर व्यक्ति का विचार और शक्ति राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने की ओर लगे रहते है। अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास तो एक स्वतन्त्र राष्ट्र में ही संभव हैं नेहरू को आश्चर्य हुआ जब उन्होंने कांग्रेस दल को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के कुछ विशेष और सही मुद्दों में, जन जागृति व अनुरूप भावना पैदा करने में सफलता मिली।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, नेहरू के मस्तिष्क में संकीर्ण, उग्र कौर आक्रामक राष्ट्रवाद के लिये कोई स्थान नहीं था। राष्ट्रवाद की इस कुत्सित प्रवृति का उन्मूलन करने के लिये वे संसार के विभिन्न राष्ट्रों का एक दूसरे से संपर्क आवश्यक मानते थे। विश्व–एकता व शांति के हित में वे राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बीच संतुलित और स्थापित करना चाहते थे । भारतीय राष्ट्रवाद की धारा, जो स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् उग्र हिन्दू राष्ट्रवाद की ओर बढ़ सकती थी, उसे पं0 नेहरू ने संप्रदायवाद और धार्मिक संकीर्णता के दायरे से, ऊँचा उठाकर, अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख कर दिया।

पं0 नेहरू किसी देश के विश्व समाज से अलगाव को अवांछनीय और असंभव मानते थे। उनके अनुसार अलगाव की नीति 'देश को पिछड़ेपन और पतन की ओर ले जाती है। भारतीय संस्कृति ने हमेशा समन्वय की नीति अपनाकर अन्य संस्कृतियों को अपने मैं स्थान दिया हैं। आज उसकी और भी अधिक आवश्यकता है ताकि हम सच्चा भारतीय या एशियाई ही नहीं बल्कि अच्छे विश्व नागरिक भी बन सके।

पं0 नेहरू अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिये विभिन्न राष्ट्रों के नागरिकों का एक दूसरे के साथ संपर्क आवश्यक समझते थे। उन्होंने अपनी पुस्तक "Discovery of India" मे लिखा है,

"यदि हम एक देश के लोगों को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते तो हमारे मन में उनके विषय में भ्रान्त धारणाएं बन सकती हैं और हम उनको अपने से सर्वथा अलग तथा भिन्न समझ सकते हैं।"

5.6 पंचशील :–

नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीयता एक खोखला आदर्श नहीं, वरन् एक यथार्थ थी। व्यवहारिक राजनितीज्ञ होने के नाते उन्होंने राज्य के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता व्यवहार के नियम भी निर्धारित किये, तथा अन्य राज्यों से उनको मानने का आग्रह किया। चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ–एन–लाई के साथ जून 1954 में अपनी बातचीत के बाद उन्होंने निम्न पांच सिद्धान्तों का उल्लेख किया–

1. "एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना।
2. पारस्परिक अनाक्रमण।
3. एक दूसरे के, आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।
4. समानता तथा पारस्परिक लाभ।
5. शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व।

विश्व के लगभग सभी सभ्य राज्यों ने पंचशील के सिद्धान्तों मे अपनी आस्था प्रगट की है।

इन सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया कि संसार के सभी देशों को एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और सर्वोच्च सत्ता का सम्मान करना चाहिये अर्थात अपने से कमजोर राज्य पर राजनैतिक व सैनिक शर्ते नहीं लादनी चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र को प्रादेशिक अथवा आर्थिक

साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों का परित्याग कर देना चाहिये। अन्य देशों में बलपूर्वक आर्थिक सुविधाएं प्राप्त करने दुर्बल कठपुतली सरकारों को स्थापित करने या दूसरे देशों में विद्रोही कार्यवाहियों को प्रोत्साहन देने, आदि समस्त कार्य किसी भी राज्य को नहीं करना चाहिये। 'अहस्तक्षेप' की भावना के द्वारा युद्ध की संभावनाओं को निश्चित रूप से कम और शांति की संभावनाओं को निश्चित रूप से अधिक बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक राष्ट्र का अपने से ही छोटे और बड़े सभी राज्यों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये तथा पारस्परिक हितों को आगे बढ़ाने में सहायता होना चाहिये। पंचशील के सिद्धान्तों में 'सह अस्तित्व' का अन्तिम सिद्धान्त सर्वाधिक महत्व का सिद्धान्त है। आज के विश्व में विभिन्न प्रकार की सामाजिक व राजनैतिक प्रणालियां विद्यमान हैं। विभिन्न पद्धतियां रखने वाले राष्ट्रों में विनाशक स्पर्धा के स्थान पर शांतिपूर्ण एवं रचनात्मक स्वस्थ प्रतियोगिता होनी चाहिये। आज के आणविक युग की यह परम आवश्यकता है कि समस्त राज्य "शांतिपूर्ण सहअस्तित्व" के मार्ग का अनुसरण करें क्योंकि ऐसा करने से ही अन्तर्राष्ट्रीय तनावों व संघर्षो से विश्व को मुक्ति मित्र सकती और मानव शांति के वातावरण में अधिकाधिक उन्नति कर सकता है।

यद्यपि 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण करके पंचशील की व्यवहारिकता को चुनौती दी, पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में राज्यों के व्यवहार के मामले में 'पंच–शील' के सिद्धान्त विश्व–शांति एवं मानव विकास के लिए एक मात्र विकल्प है।

युद्ध और शांति :–

विश्व के दो महायुद्धों की भीषणता एवं उनके बाद उत्पन्न शांति की समस्याओं ने नेहरू के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला। पं0 नेहरू युद्ध से घृणा करते थे और विश्व–शांति को ही मानव–कल्याण का एक मात्र मार्ग मानते थे। सत्ताहीन होने के कारण पं0 नेहरू 'द्वितीय महायुद्ध' को रोकने के लिए तो कुछ नहीं कर पाये पर उन्होंने उन लोगों की अवश्य आलोचना की जिन्होंने नाजीवाद और फॉसीवाद के, प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई एवं विश्व–शांति की रक्षा करने में असफल रहे। स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री बनने के बाद उन्होने अपने विचारों और कार्य कलापों से विश्व–शांति के लिये प्रभावशाली एवं सराहनीय कार्य किया।

नेहरू के अनुसार युद्ध के कारण सदैव धर्मान्धता, सामंतवाद, सत्ता या गौरव रहे हैं। वर्तमान युग में युद्धों का महत्वपूर्ण कारण विभिन्न राजनैतिक और व्यवस्थाओं के बीच विद्यमान वैचारिक मतभेद है। इस वैचारिक एवं सिद्धान्तिक मतभेद ने 'शीत युद्ध' को जनम दिया है। नेहरू ने आर्थिक परिस्थितियों को उग्र राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित करने के लिए जिम्मेदार माना है। पं0 नेहरू का विश्वास था कि प्रत्येक देश के अधिकांश निवासी शान्ति की कामना करते हैं परन्तु दूसरे राष्ट्र के प्रति संदेह और घृणा की भावना के कारण उनमें सहअस्तित्व की भावना नहीं पनप पाती। अत: नेहरू ने विश्व–शांति के कार्य को आगे बढ़ाने के लिये इस बात पर बल दिया कि संसार के सभी राष्ट्रों को एक दूसरे को भली भांति समझने का प्रयार करना चाहिये और अंतर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय पारस्परिक वार्त्ता या पंच निर्णय द्वारा किया जाना चाहिये। वह विश्व की समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान में इतना

विश्वास रखते थे कि उन्होंने भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में भी इनका समावेश किया। उनका विश्वास था कि विश्व के राष्ट्र सम्पर्क बढ़ा कर, एक दूसरे की समुचित जानकारी प्राप्त कर आपसी मतभेद दूर करने का ईमानदारी से विचार विमर्श का मार्ग अपनावें तो अविश्वास व भय दूर होगा, तनाव कम होगा एवं विश्व–शांति का मार्ग सरल होगा।

अपनी शांतिवादी नीति के कारण ही पं0 नेहरू ने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता की नीति को ही स्वतन्त्र भारत की विदेशी नीति की आधारशिला बनाया। विदेशी आक्रमण का सामना करने के संदर्भ में उन्होंने कहा–

'बुराई और आक्रमण का प्रतिरोध करते समय हमें सदैव शांति के स्वभाव को बनाये रखना चाहिये और अपने विरोधियों के सामने मित्रता का हाथ बढ़ाये रखना चाहिये।'

वस्तुत : नेहरू एक आशावादी और व्यवहारिक राजनीतिज्ञ थे। वे 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास करते थे इसलिये विश्व एकता, विश्वशांति के लिए विश्व की समस्याओं के समाधान में यथा संभव योगदान देते थे। विज्ञान द्वारा प्रदत्त प्रलयकारी अस्त्र–शास्त्र के भय को सीमित करने के लिए वह संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये जाने वाले 'निरस्त्री करण' के प्रयत्नों की भी सफलता चाहते थे।

उनका विश्वास था कि भविष्य में मानव को भले ही अनेक अग्नि परीक्षाओं का सामना करना पड़ें, आखरी विजय मानवता की ही होगी और विश्व–शांति का मार्ग प्रशस्त होगा।

मार्क्सवाद और साम्यवाद :

नेहरू का राजनैतिक चिंतन विज्ञान और वैज्ञानिक मान्यताओं से अनुप्रेरित था। मार्क्स और लेनिन की तरह उनका झुकाव इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण संभव हुआ। मार्क्स ने उन्हें भारतीय समस्याओं के निदान का वैज्ञानिक चिन्तन दिया। आचार्य नरेंद्र देव ने उन्हें इसी संदर्श में मार्क्स से प्रभावित समाजवादी माना है।

नेहरू अपनी रूस यात्रा में भी साम्यवादी शासन द्वारा प्राप्त सफलताओं से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। नेहरू मार्क्स के इस विचार से सहमत थे कि पूंजीवादी व्यवस्था के कारण साम्राज्यवाद, आक्रमण राष्ट्रवाद और युद्धों का जन्म होता है। दूसरे महायुद्ध के बाद पूंजीवादी राष्ट्रों में बढ़ती हुई बेरोजगारी और व्यवस्था ने उन्हें समाजवाद के प्रति और भी अधिक निकट ला दिया था।

मार्क्स का प्रभाव होते हुए भी, नेहरू रूढिवादी अर्थो में मार्क्सवादी नहीं थे। वह मौलिक रूप से भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में भारतीय समस्याओं का पल खोज रहे थे। अत: नेहरू और मार्क्स के विचारों में मौलिक अन्तर था।

(1) नेहरू के लिए मार्क्स के विचार बदलती हुई परिस्थितियों में संशोधन के बाद ही स्वीकार किये जा सकते हैं जब कि साम्यवादियों के लिये मार्क्स के विचार अंतिम और पूर्ण हैं।

(2) मार्क्सवादी अतिशय हिंसा के समर्थक रहे जबकि नेहरू जी का चिंतन मूल रूप से अहिंसा से प्रभावित रहा।

(3) नेहरू ने वर्ग संघर्ष के सिद्धांत मे आस्था रखी लेकिन उन्होंने इसे बढ़ाने का कभी प्रयास नहीं किया। जिस रूप में मार्क्स साधन संबद्ध वर्ग के अस्तित्व को समाप्त करना आवश्यक अनुभव करता है, नेहरू ने ऐसा आवश्यक अनुभव नहीं किया, वह अधिकारों के सीमित करने के समर्थक थे।

बाद में नेहरू के चिंतन में अन्तर आया। उनका आलोचनात्मक मस्तिष्क मार्क्सवाद या साम्यवाद की मतांधता के प्रति विद्रोह कर बैठा। साम्यवादी शासन के अन्तर्गत विरोधी विचारों का कठोरता पूर्वक दमन, नीतियों के परिचालन में अनावश्यक हिंसा आदि ने उनके लोकतांत्रिक हृदय को पसंद नहीं आया। नेहरू को इस बात से भी बड़ा आघात पहुंचा कि भारत के साम्यवादी दल ने भारतीय राष्ट्रीय–स्वतंत्रता आदोलन से अपने को अलग रखा। अत: नेहरू पर द्वितीय महायुद्ध के बाद मार्क्सवाद व साम्यवाद के प्रभाव की कमी हुई। उन्हें इस बात से संतोष भी हआ कि पूंजीवाद की उच्छंखलता और शोषण–प्रवृति भी सयंत्र हो रही है; उसकी अधिकांश बुराइयां दूर रही हैं; पूंजीवादी देशों की अर्थ–व्यवस्था में भी समाजवादी व्यवस्थाएं पनप रही हैं, और औद्योगिक क्षेत्र में सरकारी नियंत्रण बढ़ रहा है। भारत के लिए उन्होंने मिश्रित अर्थ–व्यवस्था को समयानुकूल माना और कल्याणकारी राज्य की दिशा में बढ़ते गये।

नेहरू की यह मान्यता थी कि आज के आणविक युग में मार्क्स के अनेक आर्थिक सिद्धांत ऐसे हैं जिनके द्वारा भारत जैसे अर्द्ध–विकसित देशों की समस्याओं का समाधान करने में विशेष सहायता नहीं मिल सकती। नेहरू ने मार्क्स इस तर्क से भी असहमति प्रगट की कि साम्यवाद द्वन्द्ववादी प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। नेहरू ने यह विश्वास व्यक्त किया कि साम्यवाद जन साधारण के कष्टों और घनिकों द्वारा सामान्य जनता के शोषण की उपज है।

कहा जाता है कि गांधीवाद के प्रभाव ने भी नेहरू पर साम्यवादी प्रभाव को कम किया। साम्यवादी मानव जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व को स्वीकार नहीं करते जब कि नेहरू ने अपने मानवतावादी दृष्टकोण के कारण मानव जीवन में नैतिक व आध्यात्मिक आकांक्षाओं को मान्यता दी।

अत: नेहरू ने समाजवाद की अपनी विचारधारा विकसित की है। उन्होंने, इस सिद्धांत पर बल दिया कि आर्थिक स्वतन्त्रता राजनैतिक स्वतंत्रता की पूरक है। वह समाजवाद को एक व्यवस्था ही नहीं बल्कि एक जीवन–पद्धति के रूप में स्वीकार करते हैं। 1936 में लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में समाजवाद की अतरिहार्यता बतलाते हुए पं0 नेहरू ने कहा था–

"समाजवाद एक आर्थिक सिद्धांत की निस्बत कुछ ज्यादा माने रखता है। यह जिन्दगी का दर्शन शास्त्र है और इसका यह रूप मुझे पसन्द भी है। मै समाजवाद कें सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं देखता जो गरीबी, बेकारी, बेइज्जती और गुलामी से हिन्दुस्तान के लोगों के निजात दिला सके। इसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे में इन्कलाबी तब्दीलियां, जमीन और उद्योग में निहित स्वार्थो और हिन्दुस्तान की देशी रियासतों के निरंकुश शासन और जागीरदारी का खात्मा भी शामिल है।

नेहरू जी चाहते थे कि कांग्रेस भी समाजवाद को अपना लक्ष्य मान ले परन्तु महात्मा गांधी और अन्य प्रमुख कांग्रेसी नेताओं ने ऐसा नहीं करने दिया। पर गांधी और पटेल की मृत्यु

के बाद, 1955 में कांग्रेस द्वारा 'समाजवादी समाज रचना' का प्रस्ताव अवाड़ी कांग्रेस अधिवेशन में मान लिया गया जिसके संदर्भ में संविधान के परिषद 31 में आवश्यक परिवर्तन भी किये गये। इस समय तक नेहरू का समाजवाद पूर्णतः लोकतंत्र को समर्पित हो गया था अत: उसका नाम "लोक तांत्रिक समाजवाद" पड़ा। नेहरू का समाजवाद तीन प्रमुख प्रेरणाओं से परिचालित है।

(1) वह लोकतांत्रिक है।

(2) वह व्यक्तिवाद और समाजवाद में विरोध नहीं मानता।

(3) वितरण से अधिक उत्पादन पर बल देता है तथा कृषि व्यवस्था पर आधारित है।

नेहरू ने अपने समाजवाद को धर्म निरपेक्ष व लोक कल्याणकारी राज्य का समर्पित कर यहां के निर्धन व शोषित वर्ग को लाभ पहुंचाने का साधन बनाया।

6. पं. नेहरू के आर्थिक विचार

नेहरू के मस्तिष्क में समाजवाद ने अन्तत: जो रूप धारण किया, उसे लोकतन्त्री समाजवाद कहा जाता है। यह विकास की एक बहुत लम्बी प्रक्रिया की उपज है। वह स्वयं मानते हैं कि "1920 तक मैं खेतों और कारखानों में मजदूरों की दशा से सर्वथा अनभिज्ञ था, और मेरा सम्पूर्ण दृष्टिकोण पूंजीवादी था।"

परन्तु अपने प्रांत के कुछ ग्रामों का दौरा करने के बाद ग्रामीण जनता की गरीबी तथा दुर्दशा ने उनके दृष्टिकोण को पूर्णत: बदल दिया। नेहरू के मन में इस विश्वास ने जन्म लिया कि सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता अधूरी है। उनकी यूरोप यात्रा विशेषकर ब्रूसल्स सम्मेलन में भाग तथा 1927 की रूस यात्रा ने उनके इसी विचार की पुष्टि की 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में घोषणा करते हुए कहा।

"मेरा राजाओं और नरेशों में कोई विश्वास नहीं है और न ही मैं उस व्यवस्था में विश्वास करता हूँ जोकि उद्योग के उन आधुनिक राजाओं को जन्म देती है, जिनका कि मनुष्यों के जीवन तथा भाग्य पर पुराने जमाने के राजाओं से भी कहीं अधिक बड़ा अधिकार है, और जिनके ढंग वैसे ही लुटेरेपन के हैं जैसे कि पुराने सामन्तों के हुआ करते थे।..... यदि भारत अपनी दरिद्रता और विषमता का अन्त करना चाहता है, तो उसको भी समाजवाद के मार्ग पर चलना पड़ेगा। हां, वह स्वयं अपने साधन अवश्य अपना सकता है और इस आदर्श को अपनी जाति की प्रतिमा कें अनुकूल ढाल सकता है।"

1936 में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने अपने विचारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा :

"भारत की जनता की दरिद्रता, जबर्दस्त बेरोजगारी, हीनता तथा पराधीनता का अन्त करने के, लिये मैं समाजवाद के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं देखता। इसके लिये हमारे राजनैतिक व सामाजिक ढांचे में एक महान् तथा क्रांतिकारी परिवर्तन होना, भूमि तथा उद्योग में निहित हितों तथा सामन्तवादी और कुलीनतन्त्रवादी भारतीय राज्य व्यवस्था का अन्त होना आवश्यक है। इसका अर्थ है व्यक्तिगत सम्पति का अन्त कर देना, तथा मौजूद लाभ प्रणाली के सामने सहकारी सेवा का उच्चतर आदर्श प्रतिष्ठित करना।"

पं0 नेहरू ने 'कृषकों का मांग पत्र तैयार कराने तथा अखिल भारतीय किसान सभा संगठन करवाने में पूर्ण रूचि ली। 'मूल उद्योगों और सेवाओं के राष्ट्रीयकरण' में, कराची अधिवेशन में, विश्वास प्रगट कर उन्होंने मजदूरों के शोषण को समाप्त करने के बारे में सोचा। 1938 में उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष सुभाषचंद्र बोस द्वारा गठित "राष्ट्रीय नियोजन समिति" का योग्यतापूर्वक पथप्रदर्शन किया। इन बातों ने यह स्पष्ट कर दिया कि नेहरू के लिए समाजवाद साध्य नहीं बल्कि साधन था। साध्य था, जनसाधारण की दरिद्रता का विनाश, उन्नति के लिए समान अवसर, राष्ट्रीय धन–वितरण में विषमताओं का अन्त, आदि। नेहरू ने इस बात पर भी बल दिया समाजवादी समाज की रचना के प्रयास में समाज के समस्त वर्गो का सहयोग प्राप्त करना चाहिये । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह आर्थिक नियोजन को सर्वोत्तम साधन समझते थे। उनका यही विचार आगे चल कर "योजना आयोग" के रूप से फलीभूत हुआ।

नेहरू का विश्वास था कि "अव्यवस्था के द्वारा अथवा अव्यवस्था फेलाने वाली शक्तियों को प्रोत्साहन देकर हम अपने सपनों के भारत का निर्माण नहीं कर सकते।" इसीलिए भारतीय देशों राज्यों की समस्या को सुलझाने एवं जमीदारी तथा ताल्लुकदारी का उन्मूलन शांतिपूर्ण तरीकों से ही किया गया।

6.1 पंचवर्षीय योजनाऐं

नेहरू देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए 'आयोजन' मे विश्वास करते थे। उनका यह भी विश्वास था कि 'योजनाओं' द्वारा देश में आर्थिक समृद्धि ही नहीं आयेगी वरन् भावनात्मक जागरूकता भी उत्पन्न होगी। यह जागरूकता गांवों, जिलों और प्रदेशों की अलग–अलग समस्याओं को समझने में सहायता देगी। अत: स्वतन्त्र भारत में 'पंच वर्षीय योजनाओं के श्रीगणेश करने उन्हें 1964 तक क्रियान्वित करने का श्रेय नेहरू को ही दिया जा सकता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना 1951 में आरम्भ की गई। यह तो उन परियोजनाओं का एक संकलन मात्र था जिनका मसविदा ब्रिटिश भारत सरकार के योजना विभाग तथा योजना सलाहकार बोर्ड द्वारा बनाया गया था। इस योजना में खेती पर विशेष जोर दिया।

वैचारिक दृष्टि से समाजवाद को 'नियोजन का लक्ष्य' कांग्रेस द्वारा 1955 में आवडी अधिवेशन में 'समाज की समाजवादी पद्धति' के विख्यात प्रस्ताव के पास होने के बाद ही माना जाने लगा। उस प्रस्ताव में यह कहा गया कि "समाज की समाजवादी पद्धति स्थापना के लिये नियोजन किया जाना चाहिये, ऐसे समाज में उत्पादन के मुख्य साधनों पर सामाजिक स्वामित्व और नियन्त्रण होगा, उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि की जायेगी और राष्ट्रीय धन का न्यायपूर्ण वितरण किया जायेगा। सार्वजनिक क्षेत्र के विषय में इस प्रस्ताव में कहा गया कि बुनयादी उद्योगों की स्थापना में यह अधिकाधिक भूमिका अदा करेगा, और राज्य को बड़े पैमाने की शक्ति तथा यातायात की परियोजनाओं को चलाना पड़ेगा, अन्तिम रूप से समस्त साधनों के ऊपर नियन्त्रण करना पड़ेगा और पूंजीवादी एकाधिकारवाद के विकास को रोकना पड़ेगा।

आवडी अधिवेशन के बाद उपरोक्त प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए भारतीय संविधान के 'संपति के मूल अधिकार' में संशोधन और भारतीय कम्पनी अधिनियम में तथा

इंपीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किया गया। तृतीय एवं चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाओं से भारत के औद्योगिकरण में बहुत उन्नति हुई। अधिकांश भारी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित हुए एवं निजी क्षेत्र को भी अपनी भाग अदा करने का मौका मिला। बहुद्देशीय योजनाओं ने कृषि में 'हरित क्रांति' लाने व उद्योगों की बढ़ती हुई मांगों के लिए 'बिजली' उत्पन्न करने में सहायता दी। सामाजिक क्षेत्र में भी शिक्षा, स्वास्थय एवं जनहितकारी कार्यो के विकास में तीव्र गतिशीलता आई।

6.2 मिश्रित अर्थ–व्यवस्था

जीवन के लोक–तंत्री मूल्यों में गहरी निष्ठा रखने के कारण नेहरू ने पूर्ण समाजवाद की अपेक्षा 'समाज की समाजवादी' पद्धति को ही अपनाया। कारण कि वे परिवर्तन लाने के लिए शांतिपूर्ण साधनों का ही प्रयोग करना चाहते थे और राष्ट्रीय संपत्ति उत्पादन में वृद्धि के, लिए 'निजी क्षेत्र एवं विदेशी पूंजी का महत्व भी समझते थे। नेहरू का उद्देश्य तो जन साधारण की दरिद्रता दूर करने बेरोजगारी दूर करने एवं जीवत स्तर ऊँचा उठाने से था। इसके लिए अधिकाधिक उत्पादन की आवश्यकता थी। अत: राज्य के वित्तीय साधनों, एवं प्रशिक्षित और अनुभवी व्यक्तियों को ध्यान में रख कर नेहरू ने 'मिश्रित अर्थ–व्यवस्था' की धारणा को अपनाया, जिसमें 'निजी क्षेत्र' और 'सार्वजनिक क्षेत्र' का सम्मिकरण पाया जाता है। आर्थिक समस्याओं के प्रति नेहरू के व्यवहार प्रधान एवं लचीले दृष्टिकोण का इससे बढ़कर कोई और उदाहरण नहीं हो सकता। उन्होंने स्पष्ट किया कि निजी क्षेत्र भारत के आर्थिक विकास में एक लम्बे समय तक अपनी भूमिका निभायेगा परन्तु उन्होंने यह भी घोषित कर दिया कि "समाजवादी पद्धति" के विकास के साथ सार्वजनिक क्षेत्र भी अधिक विस्तृत हो जायेगा।

मिश्रित अर्थव्यवस्था का तात्पर्य यह है कि भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्योग तथा निजी उद्योग साथ–साथ चलेंगे। सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व तथा नियंत्रण रहता है जबकि निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वामित्व व नियंत्रण रहता है। भारी उद्योग–प्रतिरक्षा से सम्बन्धित उद्योग, लोहा तथा इस्पात, कोयला, खनिज पदार्थ, अणुशक्ति तथा रेलवे आदि को सार्वजनिक क्षेत्र में रखा गया। वर्तमान कल कारखानों का निजी क्षेत्र में रखा गया परन्तु नये कारखाने स्थापित करने का अधिकार सरकार के लिये सुरक्षित रखा गया। शेष औद्योगिक क्षेत्र निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया। कुछ वर्तमान आधारभूत तथा भारी उद्योगों में राष्ट्रीकरण न करने का निर्णय नेहरू की पूर्व घोषणाओं के अनुरूप नहीं था। परन्तु अधिकाधिक उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त करने, व राज्य के सीमित वित्तीय एवं तकनीकी साधनों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय उचित ही था। राज्य नें विशेषतः ऐसे क्षेत्रों को चुना जहां लाभ बहुत कम, एवं फल प्राप्ति में बहुत अधिक समय लगता है उदारहरणार्थ नदी–घाटी परियोजनाएँ, अणु–शक्ति परियोजनाएं भारी बिजली का सामाज बनाना आदि।

निजी क्षेत्र में वे समस्त उद्योग धन्धे शामिल है जिनका राष्ट्रीयकरण करना राजनैतिक दृष्टि से विवेकहीन तथा आर्थिक दृष्टि से हानिकारक समझा गया है। निजी क्षेत्र बनाये रखने का

उद्देश्य विदेशी पूंजी भारतीय आर्थिक विकास के प्रयोजन से आकर्षित करने का भी था। निजी क्षेत्र में कुछ संगठित उद्योग कृषि, छोटे, व्यापार, भवन–निर्माण आदि कार्य शामिल है। हमें याद रखना चाहिये कि निजी क्षेत्र भी शासन के नियंत्रण से सर्वथा नहीं है। यह व्यवस्था हैं कि निजी क्षेत्र को राष्ट्रीय योजना के व्यापक अनुशासन एवं मूल्यों को स्वीकार करना होगा और सार्वजनिक क्षेत्र के साथ सामंजस्य रखते हुए कार्य करना होगा। समाज की समाजवादी पद्धति के अन्तर्गत निजी क्षेत्र की भूमिका सामाजिक हित के उद्देश्य से निर्धारित होनी चाहिए अर्थात् निजी क्षेत्र को अपनी स्वार्थ भावना को सामान्य कल्याण की आवश्यकताओं के अधीन रहना होगा। कालांतर में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार होने के साथ–साथ निजी क्षेत्र कों अपने पर उत्तरोत्तर बैठते हुए सरकारी नियंत्रण को स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

निजी क्षेत्र को बनाये रखने के कुछ अन्य कारण भी उल्लेखनीय हैं। संपूर्ण आर्थिक क्षेत्र राज्य के एकाधिकार में आने पर जनहित के प्रति उसके अनुराग में कमी आ सकती है। निजी क्षेत्र से प्रतिस्पर्द्धा सार्वजनिक क्षेत्र को कुशलता के उच्च मानदण्ड प्राप्त करने में भी सहायक हो सकती हैं। दोनों क्षेत्रों के बने रहने पर स्वस्थ प्रतियोगिता भी रहती है। एक कारण संभवत: यह भी था कि उद्योगों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण हो जाने पर महात्मा गांधी द्वारा समर्थित कुटीर उद्योग–धंधों की अवहेलना होती। मिश्रित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत कुटीर उद्योग निजी क्षेत्र में ग्रामीण जनता को रोजगार प्रदान करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं।

नेहरू ने वर्तमान भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में, संपूर्ण राष्ट्रीयकरण अथवा विशुद्ध निजी पूंजीवाद के स्थान पर मिश्रित अर्थव्यवस्था को ही फलदायी समझा।

6.3 सामुदायिक विकास परियोजना

भारी तथा बुनियादी उद्योग–धन्धों का प्रभाव–मुख्य रूप से नगरों पर ही पड़ता है। अत: योजना आयोग के समक्ष मुख्य समस्या ग्रामीण जनता की दरिद्रता दूर करने, उसे रोजगार दिलाने, जीवन स्तर उन्नत करने और भूमि पर दबाव कम करने की थी। महात्मा गांधी खादी तथा कुटीर उद्योगों के विकास के द्वारा गांवों में रचनात्मक कार्य करना चाहते थे। नेहरू भी ग्रामवासियों को निष्क्रयता तथा गतिहीनता के दलदल से बाहर निकालना चाहते थे। अतः सामुदायिक विकास कार्यक्रम को प्रथम पंचवर्षीय योजना का अभिन्न अंग बनाया गया। बाद की योजनाओं में इसको और अधिक विकसित और विस्तृत किया गया। आज तो यह कार्यक्रम राष्ट्र व्यापी बन गया है। भारत के समस्त ग्रामों को इसके अन्तर्गत ले आने का लक्ष्य पूरा हो चुका है। इस परियोजना का उद्देश्य ग्राम्य जीवन के समस्त पहलुओं मे सुधार करना है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम 2 अक्तूबर 1952 को शुरु किया गया। यह तत्वतः ग्रामीण जनता की ओर से स्व–सहायता का एक सरकारी सहायता कार्यक्रम है। इसका उद्देश्य है, "कृषि–उत्पादन में वृद्धि करने, मौजूदा ग्रामीण शिल्पों तथा उद्योगों में सुधार करने तथा नये उद्योग स्थापित करने न्यूनतम आवश्यक शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान करने और एक वयस्क शिक्षा कार्यक्रम चलाने, मनोरंजन की सुविधाएं प्रदान करने, आवास तथा रहने की स्थिति में सुधार करने और ग्राम स्त्रियों तथा युवकों के लिये कार्यक्रम बनाने के लिए ग्राम के नियोजन में सहायता देना।"

उद्देश्यों से स्पष्ट है कि ग्राम जीवन के सभी पहलू इससे प्रभावित होते हैं और समग्ररूप में संगठित भी होते हैं।

सामुदायिक विकास योजना एक प्रक्रिया, एक पद्धति, कार्यक्रम और एक आन्दोलन है। जीवन के परम्परागत ढंग में परिवर्तन लाने के कारण यह एक प्रक्रिया है। यह एक पद्धति है क्योंकि ग्राम्य लोगों को अपने ही साधनों से ओर अपनी ही सामर्थ्य से अपनी उन्नति करने में सहायता दी जा सकती है। यह ग्राम्य जनता की भलाई से सम्बन्धित क्षेत्रों, में कुछ कार्यो को सम्पन्न करने के लिये एक कार्यक्रम है और एक निश्चित वैचारिक उद्देश्य के साथ प्रगति के लिये एक आदोलन भी है।

नेहरू ग्रामीण जनता के दृष्टिकोण को बदल देना चाहते थे और उसको निष्क्रयता तथा निश्चलता के गड्ढ़े से निकाल कर एक नवीन राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे। अत: सामुदायिक विकास योजना मुख्य उद्देश्य ग्रामीणों में आत्मनिर्भरता की भावना विकसित करना और ग्रामसमाज में पहल करने की इच्छा तथा सामर्थ्य उत्पन्न करना है।

योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री वी.टी. कृष्णामचारी ने सामुदायिक विकस के इसी पहलू को स्पष्ट करते हुए कहा,

"ग्रामवासियों को यह महसूस करना चाहिये कि केवल अपने प्रयत्नों द्वारा ही वे अपनी आवश्कताओं की पूर्ति कर सकते हैं। सरकार अनुदानों तथा ऋणों से कुछ सहायता अवश्य कर सकती है, परन्तु मुख्य प्रयास स्वयं उन्हीं का होना चाहिए।..... हमारा कार्य ग्रामवासियों के ऊपर अपने कार्यक्रमों तथा योजनाओं को थोपना नहीं है। यह कार्य ग्रामवासियों का है कि वें हमें बतलायें कि वे का चाहते हैं और फिर हमारा काम उनकी सहायता करना है।"

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामुदायिक विकास योजना में सबसे महत्वपूर्ण तत्व जनता का स्वेच्छापूर्वक सहयोग है। इस आन्दोलन की सफलता का मापदण्ड भी ग्रामवासियों के दृष्टिकोण में वांछित परिवर्तन ही है। यधपि विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षित एवं अनुभवी कार्यकर्ताओं की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नही होने की वजह से, नौकरशाही के रवैये में वांछित परिवर्तन न होने की वजह से, आशातीत सफलता इस कार्यक्रम को प्राप्त न हो सकी, फिर भी परिणामों को संतोषजनक कहा जा सकता है। पं0 नेहरू ने 2 अक्टूबर 1955 अपने भाषण में कहा।

"हमारे ग्राम्य क्षेत्रों में सामुदायिक परियोजनाओं एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं का जिस गति से प्रहार हुआ है, वह आश्चार्यजनक एंव इतिहास में अद्वितीय है। ..... भारत के हृदय में एक महान् परिवर्तन हो रहा है। मैं इस सबको देखता हूं और इसको देखते हुए मेरे हृदय में एक गुदगुदी सी हाने लगती है।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम ने देश में 'हरितक्रान्ति प्रौढ़ शिक्षा, एंव परिवार नियोजन आदि के कार्य को सफल बनाने में पूर्ण योगदान दिया है।

6.4 उद्योग व कृषि पर नेहरू के विचार –

नेहरू नियोजन के द्वारा उद्योग और कृषि को उन्नत करना चाहते थे। वह देश में औद्योगीकरण के पक्षपाती थे। अत: द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उन्होंने देश के औद्योगिकरण पर बल दिया। विशाल उद्योगों और कारखानों को आवश्यक बताते हुए उन्होंने कहा,

"बड़े कारखानों के बिना भारत में भौतिक पर वास्तविक कल्याण अथवा प्रगति नहीं हो सकती है। मैं तो यह भी कहूँगा कि बड़े कारखानों और इसके परिणामों के बिना हम एक राष्ट्र के रूप में स्वतन्त्रता भी बनाये नहीं रख सकते और मेरा ख्याल है कि व्यापक रूप से फेले ग्राम उद्योगों के बिना भारत में लोग कल्याण, तथा बड़े पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था कम से कम आगे आने वाले लंबे समय तक नहीं हो सकती। प्रश्न अब देश की अर्थ व्यवस्था में छोटे उद्योगों के समन्वय करने का है।

महात्मा गांधी ग्राम कुटीर–उद्योगों के पक्षपाती थे। वे भारी और बड़े उद्योगों की स्थापना को संदेह की दृष्टि से देखते थे, पर नेहरू के विचार अपने गुरु से भिन्न थे। वे भूमि पर दबाव कम करने के लिए, दरिद्रता को दूर एवं जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए भारत का औद्योगीकरण आवश्यक मानते थे। विश्व एवं भारत की परिस्थितियों को देखते हुए उन्होने विशाल उत्पादन पर बल दिया जो केवल औद्योगिकरण से ही सम्भव था। अत: उन्होंने कहा कि

"यदि भारत को औद्योगिक उन्नति करनी है तो उसे तीन चीजों की मूल रूप से आवश्यकता है यह है। भारी इंजीनियरिंग एवं मशीन निर्माण उद्योग, वैज्ञानिक अनुसंधानिक सस्थाएं और विद्युत शक्ति। सारी योजनाओं का आधार ये, चीजें होनी चाहियें। :

भारी औद्योगिकरण पर बल देते हुए भी नेहरू ने देश की अर्थ–व्यवस्था में कुटीर–उद्योगों के महत्व की अपेक्ष नहीं की। उन्होंने कुटीर–उद्योगों के राष्ट्रीय संरक्षण पर बल दिया।

कृषि की उन्नति करने के लिए उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति अपनाने का आग्रह किया। बहु उद्देशीय बांध योजनाओं के द्वारा एवं सामुदायिक विकास कार्यक्रम से उन्होंने अन्न के मामले में भारत को आत्म–निर्भरता के लिए स्थापित निर्मित किये जाने वाले उद्योगों एवं नदी – घाटी परियोजनाओं को 'तीर्थ–स्थान' की संज्ञा दी।

7. पं. नेहरू सामाजिक विचार

जैसा पहले लिखा जा चुका है कि नेहरू पर पाश्चात्य सामाजिक दर्शन और विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव था। अतः नेहरू के सामाजिक विचारों में हमें पाश्चात्य जगत की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। नेहरू ने ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया लेकिन मूर्ति–पूजा और धार्मिक कर्मकांडों का वही कही भी समर्थन नहीं करते थे। गांधी के भक्त होते हुए भी गांधी की धार्मिक तोर–तरीकों के वह कभी भी प्रशंसक नहीं रहें। प्रोफेसर सूद ने लिखा है,

"यद्यपि जवाहरलाल किसी ऐसे साकार ईश्वर में विश्वास नहीं करते जो कि स्वर्ग में कही बैठा हो और वहां से इस संसार का संचालन करता हो, यद्यपि वे एक सर्व–व्यापक ब्रह्म की सत्ता से इनकार नहीं करते थे। उनका एक ऐसी सृजनात्मक तथा प्राणप्रद शक्ति में जो कि पदार्थ में अन्तर्हित है और सर्व–व्यापक ब्रह्म की सत्ता नहीं करते थे उनका एक ऐसी

सृजनात्मक तथा प्राणपद शक्ति, में जो कि पदार्थ में अन्तर्हित है और स्वगति, परिवर्तन तथा विकास की क्षमता प्रदान करती है, विश्वास इस लोकप्रिय धारणा के बहुत निकट है कि ईश्वर एक ऐसी रहस्यमय शक्ति है जो कि विश्व की सृष्टि करती है और उसका संचालन करती है।"

उन्होंने बड़े स्पष्ट ढंग से इस बात को स्वीकार किया कि धर्म मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करता है किन्तु अंधविश्वास, कट्टरता, कोरे कर्म–कांड और पारलौकिकता से मानव की किसी आन्तरिक अभिलाषा की तृप्ति नहीं होती।

7.1 धर्मनिरपेक्षवाद

पं0 नेहरू धार्मिक सहिष्णुता के जबरदस्त समर्थक हैं। वे सभी धर्मो को समान समझते थे तथा यह मानते थे कि सभी धर्मा में मानव–विकास की संभावनाएं निहित हैं। लेकिन धर्म के आधार पर समाज में भेद भाव के वह प्रबल आलोचक थे। अपने जीवन–पर्यन्त उन्होंने इस देश में धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना के लिए सतत प्रयास किया।

'वह धर्म–निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी ले जाना चाहते थे। वह चाहते थे कि हमारी सामाजिक संहिताएं, विवाह, उत्तराधिकार, दीवानी तथा फौजदारी न्याय, आदि बहुत सी चीजों के विषयों में नियम हमारी धार्मिक विश्वासों से स्वतन्त्र रहे। वह भारत के सभी वर्गो के नागरिकों के लिये एक ही कानून के समर्थक थे। हिन्दू, 'कानून का संहिताकरण इस दिशा में उनका पहला उल्लेखनीय कदम है।

7.2 सम्प्रदायकतावादी और जातिवाद का विरोध

नेहरू संप्रदायवाद और जातिवाद की भावना के कटु आलोचक थे। मार्क्स से प्रभावित होते हुए भी वह वर्ग–संघर्ष की अपेक्षा वर्ग–सहयोग या वर्ग–सामंजस्य के पक्षधर थे। देश को संप्रदायवाद के अभिशप्त देखकर उनकी आत्मा चीख उठती थी। पाकिस्तान को एक मुस्लिम राज्य में स्थापित होते देखकर उन्हें बहुत खिन्नता हुई थी लेकिन देश को घृणा, द्वेष व भयंकर गृह–युद्ध से बचने के लिए उन्होंने विवश होकर इस स्थिति को स्वीकार कर लियां उन्होंने द्विराष्ट्रीवादी सिद्धान्त का सदैव विरोध किया तथा पाकिस्तान बन जाने के बाद भारतीय मुसलमानों को वह सब सुविधाएं दी जो यहां के बहुसंख्यक हिन्दु समाज को प्राप्त थी।

नेहरू जातिवाद को भारतीय समाज का कलंक मानते थे। उनके विचार से जातिगत व्यवस्था ने इस देश में एक भयानक चरित्र–संकट उत्पन्न कर दिया है। लोग अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा जातिगत हितों पर अधिक ध्यान देते हैं। नेहरू स्वयं ब्राहमण–कुल से संबंध रखते थे परंतु अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने रूढ़िवादी ब्राहमणों, की, छुआछूत आदि कुरीतियों से न केवल बचने की ही चेष्टा की वरन् खुले शब्दों में भर्त्सना भी की। वह जाति वैमनस्य को दूर करने के लिये विभिन्न जातियों वाले सामूहिक भोज और अन्तर्राष्ट्रीय विवाह की वकालत करते थे।

7.3 नारी–स्वतंत्रता :–

जवाहर लाल नेहरू स्त्रियों की स्वतन्त्रता के जबरदस्त समर्थक थे। अपने प्रधान–मन्त्रित्व काल में उन्होंने स्त्री–कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों को बड़े उत्साह से लागू करवाने का प्रयास किया। संविधान के अन्तर्गत प्राप्त मताधिकार शिक्षा सरकारी नौकरियों में अवसर प्रदान करने आदि की दिशा में उन्होंने स्त्रियों की विशेष सुविधाएं दी। स्वतन्त्र भारत में स्त्रियों की शिक्षा में जो अभूतपूर्व वृद्धि हुई हैं उसका श्रेय नेहरू सरकार को ही है। इसके अतिरिक्त पं0 नेहरू के शासन काल में वैश्या–वृति उन्मूलन स्त्रियों से कठोर कार्य न लेने, उनके अनैतिक व्यापार को रोने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। गांधीजी की भांति वह समझते कि जब तक इस देश की स्त्रियों की अवस्था में सुधार नहीं किया जावेगा – देश के नागरिकों को मानसिक रूप से व्यापक और कुंठाओं से मुक्त नहीं किया जा सकेगा।

7.4 सार्वजनिक शिक्षा :–

पं0 नेहरू व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा को अपरिहार्य माने थे। ब्रिटिश समाजवादियों की तरह उनकी धारणा थी कि शिक्षित समाज ही पूर्ण लोकतंत्रात्मक समाजवादी तथा अनुशासित राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। शिक्षा को समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन का साधन मानते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि देश में शिक्षा का विकास करके छुआछूत जातिभेद आदि अनेक कुरीतियों को इतनी आसानी से मिटाया जा सकता है जितना कि कानून बना कर और लागू करके भी सरकार नहीं कर सकती। संविधान में छ: से चौदह वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए निशुल्क शिक्षा सम्बन्धी नहीं कर सकती। संविधान में छ: से चौदह वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए निशुल्क शिक्षा सम्बन्धी उपबंध के त्रियान्वन के लिए उन्होंने अनवरत प्रयास किया। देश के सीमित साधनों को देखते हुए वह इस दिशा में पर्याप्त सफल भी हुए।

8. निष्कर्ष :–

जवाहरलाल नेहरू एक महान मानव नेता थे और अपने समय के बुद्धिमान राजनेता थे। उन्होंने देश के स्वाधीनता आन्दोलन में महात्मा गांधी के नेतृत्व में काम किया और अपनी निश्चल देश भक्ति ओजस्वीवाणी व उदार मानवता के कारण कोटि कोटि भारतीयों के हृदय–सम्राट बन गये। स्वयं गांधी ने उन्हें अपने उत्तराधिकारी घोषित किया। स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री, विदेश मंत्री और योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में वे मृत्युपर्यन्त भारत के नव निर्माण में लगे रहे। उन्होंने भारतीयों को उदार राष्ट्रवाद, प्रजातांत्रिक–समाजवाद और धर्म–निरपेक्षता का पाठ पढ़ाया। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश के आर्थिक व सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाने की कोशिश की। सामाजिक दृष्टि से 'पिछड़े हुए वर्ग की उन्नति एवं सुरक्षा के लिये उन्होंने उसे संवैधानिक संरक्षण एंव विक्षेषाधिकार दिये। भारत को उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र व गुट–निरपेक्ष विदेश नीति दी ताकि विश्व–शान्ति की स्थापना में अपना समुचित योगदान दे सके।

नेहरू ने अपनी पुस्तकों, 'मेरी कहानी', 'विश्व इतिहास की झलक', 'हिन्दुस्तान की कहानी (Discovery of India), 'पिता के पुत्री के नाम आदि महान् ग्रंथों की रचना की और

इस प्रकार उन्होंने आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक चिंतन को अपना योगदान दिया। अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में उन्होंने फॉसीवाद, नाजीवाद व साम्राज्यवाद का विरोध किया और विश्वबंधुत्व, आपसी सहयोग, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता ओर सम्प्रभुता, असलग्नता निशस्त्रीकरण तथा अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग का समर्थन किया। उन्होंने सारी मानव–जाति को एकता के सूत्र में बांधना चाहा और मानव विकास के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तत्पर रहे।

9. संदर्भ ग्रन्थ

1. के टी. नरसिम्ह चार : प्रोफाइल ऑफ नेहरू
2. फ्रेंक मॉरेस : नेहरू – सनलाइट एण्ड शैडो
3. एम.एन.दास : दि पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ जवाहर लाल नेहरू
4. जवाहर लाल नेहरू: : एन ऑटोबायोग्राफी
5. जवाहर लाल नेहरू : ग्लिम्पसेज़ ऑफ वर्ल्ड हिस्टरी
6. जवाहर लाल नेहरू : दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया
7. आर. द्विवेदी (सं.) : दि लाइफ़ एण्ड स्पीचेज़ ऑफ पंडित जवाहर लाल नेहरू

10. अभ्यास प्रश्न

1. नेहरू के विचारों के प्रमुख दार्शनिक आधार क्या थे? चर्चा कीजिए
2. राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद को नेहरू ने किस प्रकार प्रतिपादित किया? स्पष्ट कीजिए
3. 'नेहरू और समाजवाद' विषय पर एक लेख कीजिए।
4. लोकतंत्र तथा योजनाबद्ध विकास में नेहरू ने क्या और कैसा अन्त: सम्बन्ध स्थापित किया? विवेचना कीजिए।
5. साम्राज्यवाद तथा फासिज्म पर नेहरू के विचारों की व्याख्या कीजिए।

इकाई संरचना– 17.

डॉ राम मनोहर लोहिया : गांधीवादी समाजवाद के प्रणेता

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. जीवन परिचय
4. लोहिया चिंतन : आधार स्त्रोत
5. इतिहास दर्शन
6. वर्ग और वर्ण
7. समतावादी समाज का संदर्भ
   - 7.1 लघुतम मनुष्य की राजनीति
   - 7.2 समता का दर्शन
8. गांधीवाद की विस्तारणा
9. आलोचनात्मक संदर्भ
10. निष्कर्ष
11. संदर्भ ग्रन्थ
12. अभ्यास प्रश्न

1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है

1. लोहिया के चिंतन के पार्श्व– घटको एवं प्रभावों का बोध
2. उनकी विशिष्ट वैचारिक अवधारणाओं यथा इतिहास दर्शन, वर्ग–वर्ण सप्तक्रांति, चौखम्भा राज्य इत्यादि से व्यापक परिचय
3. डॉ. लोहिया द्वारा प्रस्तुत गांधी और समाजवाद के वैचारिक समन्वय से अन्तरंगता
4. राजनीति के केन्द्र में मनुष्यता की वैचारिक व्यावहारिक स्थिति का बोध: तथा
5. भारतीय चिंतन परम्परा में डा. लोहिया के स्थान का आकलन।

2. प्रस्तावना :

भारतीय समाज चिन्तकों में डा. लोहिया का स्थान अग्रणी रहा है, और उन्हें स्पूहरीय बताया गया है। डा. लोहिया एक धनी प्रतिभा के विश्लेषण मस्तिष्क के तथा उत्तेजक भाषा के तथा मौलिक विचारों के लिए जगत विख्यात रहे है महात्मा गांधी ने आपकी सबसे बड़ी

---

1. आंकार शरद, लोहिया रातरंजना प्रकाशन इलाहाबाद 1967 गांधी जी ने लोहिया से कहा भी था तुम बहादुर हो। लेकिन बहादुरी से क्या ? शेर भी बहादुर होता है। तुम बुद्धिमान हो लेकिन वकील भी बुद्धिमान होता है लेकिन एक गुण ऐसा है जिसमे तम अच्छे हो और वह है शील।

विशेषता शील मानी है।[1] (यहाँ शील का अर्थ निरन्तर से लिया जाना चाहिए ।) डा. रघुवंश ने उन्हें गांधी का उत्तरदायी माना क्योकि उन्होंने गांधी समान अपने देश और समाज की आत्मा को सम्पूर्ण मानवता के संदर्भ में सतत् खोजने का प्रयास किया। गांधी के समान लोहिया सत्य के मार्ग पर अडिग रहकर अपनी जनता के पक्ष से लड़ते रहे है।"[2] गांधी जी भी अपने जीवन की साध्य वेला में कहने लगे। आगे रामनोहर के बिना मेरा काम कौन चलायेगा। कमलेश ने डा. लोहिया के उदार दर्शन तथा उग्र कार्यक्रम कों लोहियावाद की संज्ञा देते हुए उसे इस प्रकार परिभाषित किया है, वे कहते है लोहियावाद से वहाँ पर तात्पर्य लोहिया से जुड़ी हुई विचारधारा और राजनीति के बाद विकसित रूपों से है। लोहिया में एक अपरिमित करूणा के साथ अपार क्रोध सम्पूर्ण मानवता के प्रति एक व्यापक संवेदना के साथ हिन्दुस्तानी समाज की निश्चित, प्रत्यक्ष और बुनियादी जरूरतों का अनवरत बोध और अपने विस्तीर्ण जगत में कहीं न कहीं हर किसी के लिए स्थान प्रदान करने की क्षमता थी जो इसी दौर में अत्यधिक रूप मे विकसित होकर सामने आयी। " [4] हैरिस बूफोर्ड ने अमेरिकी जनता को उनका परिचय देते हुए लिखा था: "समाजवाद दुनियां का सबसे बदनाम और सबसे कम समझा गया शब्द है। लोहिया को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने इसे एक विशिष्ट दर्शन तथा अर्थवता दी है। उन्होंने जिन्होंने इसे व्यावहारिकता प्रदान की है.....(उनमें से कुछ हैं) करूणा और क्रोध का दर्शन, चौखम्भा राज्य, छोटी मशीन की प्राविधिकी तथा 'समान अप्रांसगिकता ' के सिद्धान्त ने समाजवाद को ऐसी मूर्तिमत्तता तथा विश्व प्रासंगिकता प्रदान की है कि जिसकी कामना प्राय: सभी दर्शनों ने की है परन्तु वे इसे प्राप्त करने में प्राय: असफल रहे हैं।"[5] ओमप्रकाश दीपक ने उसके दर्शन को समझने के लिये हमारे सामने तीन कोटियां प्रदान की है। "(अ) लोहिया उस कोटि के आदमी थे जिसे ऋषि और चिन्तक कहा जाता हैं, (ब) इसके साथ ही वह साधक और कर्मयोगी थे, (स) तीसरा पहलू औजार हैं जिन्हें उन्होंने गढ़ा।"[6]

---

2. जन संपादक ओमप्रकाश दीपक नई दिल्ली अप्रैल 15ए20
3. ओंकार शरद् पूर्व पृष्ठ 201
4. जन, अंक 56, मार्च–अप्रैल 1960, पृष्ठ 19
5. लोहिया एण्ड अमेरिका मीट, स्नेहलता रेड्डी, मद्रास–17
6. जन, वही, पृष्ठ–25
7. आपका पारिवारिक वंशानुगत व्यवसाय लोहा व्यापार था–फलत: ' लोहिया ' उपनाम आपको विरासत में मिला।
8. रामानन्दन मिश्र, समता का दर्शन, (संपादक: गणेश मन्त्री, विश्वनाथ), समता अध्ययन केंद्र, बम्बई। राम मनोहर लोहिया ने रामानन्दन मिश्र को स्वंय इस बारें में कहा था, " जब मैं चार वर्ष का था, उस समय मेरे साथ खेलने के धनियों के बच्चे आते। परन्तु उनका व्यवहार मेरे अन्तर पर चोट करता था..... इस व्यवहार से वितृष्णा और विक्षोभ जो जगे, वे मेरे अन्तर की लकीर बन गये। आगे जाकर नेताओं के पाखण्ड और अवसरवादिता ने, इस अग्नि में घी की आहुति दी । (पृष्ठ.25)

3. जीवन–परिचय

राम मनोहर लोहिया[7] का जन्म 23 मार्च 1910 को उत्तर प्रदेश के अकबरपुर नामक स्थान पर हुआ था। आपके पिता हीरालाल और माता चन्दा थीं, शीघ्र ही मातृ अभाव हुआ, अत: दादी ने ही लालन–पालन किया, परिणामत: राममनोहर लोहिया को व्यक्तित्व पर पितृप्रभाव ही छाया रहा, जिसने उन्हें निडर, मस्तमौला और फक्कड बनाया। परन्तु माता तथा बहिन के अभाव ने उनके व्यक्तित्व को विलाक्षणता तो दी परन्तु साथ ही वैचारिक क्रांतिकारिता की नींव भी डाल ही दी। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा अकबरपुर, बम्बई, वाराणसी तथा कलकत्ता में हुई।

राममनोहर में अत्याचार, उत्पीड़न और असमानता की आग धधकी हुई थी। इसका कारण उनका कलकत्ता में बिताया बचपन और साथियों से मिला हुआ व्यवहार था।[8] (रामानन्दन ने उनके जीवन को अग्नि और रस की सृष्टि बताया है) 1929 में आप भारत से लन्दन गये लेकिन रास नहीं आया तथा जर्मनी के लिए रवाना हो गये, वहीं पर आपने प्रोफेसर जोम्बर्ट के निर्देश में 'नमक सत्याग्रह के अर्थशास्त्र ' पर शोध प्रबन्ध लिखा और 1933 में पी. एच. डी. की उपाधि से अलंकृत होकर भारत आये । इस अवधि में अपने, जर्मन, फ्रेंच भाषाओं में दक्षता प्राप्त कर ली । तदुपरान्त आपही के संपादकत्व में कलकत्ता से 'कांग्रेस सोशलिस्ट' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । 1938–39 में आप इलाहाबाद आकर रहने लगे तथा कांग्रेस के विदेश सम्बन्ध मंत्रालय का कामकाज का करने लगे । यहां पर आप जयप्रकाश दम्पति और कृपलानी दम्पति के सम्पर्क में आये तभी आपने एक तरफ तो 'सिविल लिबर्टीज 'जैसे पैम्फलेट लिखे तो दुसरी तरफ 'तीसरे खेमें' सिद्धांत विकसित किये, तब आपने 'नेशनल हैराल्ड ' (1939–लखनऊ) में अनेक विचार प्रधान लेखे भी लिखे थे । आप कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के जन्मकाल से ही उससे न केवल सम्बद्ध रहे बल्कि अपितु आपने उसकी राष्ट्रीय कार्यकारिणी में भी राष्ट्रीय भूमिका निभायी। आपको जयप्रकाश तथा आचार्य नरेन्द्र देव की 'साम्यवादीयों से दोस्ती 'की नीति कभी रास नहीं आयी, बाद में तो जयप्रकाश को भी इसकी निरर्थकता का अहसास हुआ। आपने प्रारम्भ से ही यह प्रतिपादित किया था कि कांग्रेस समाजवादी दल को देश की पूर्ण स्वतंत्रता तथा समतावादी समाज के लक्ष्यों के प्रति पूर्णता: आसक्त रहकर सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना है। इसके पक्ष में प्रमाण उनके 'कांग्रेस सोशलिस्ट' तथा नेशनल हेराल्ड में लिखे अनगिनित लेख है। 1939 तथा 1941 में आप दो बार गिरफ्तार हुए । तदुपरान्त गांधीजी के आह्वान पर 1942 में आजाद हिन्द रेडियो का उषा मेहता के साथ कुशलता से संचालन किया, फिर नेपाल में गये और गिरफ्तार हुए । इस स्वतंत्रता युद्ध का उन्होंने कुशलता से संचालन किया और वे इसे 1942 की क्रांति ' की संज्ञा देते थे ।[9] (पूरे बाईस महीने फरारी का जीवन बिताया) 1946 में गोवा मुक्ति का अभियान शुरू कर दिया । 1947 में पंडित नेहरू ने आपको कांग्रेस का महासचिव बनने का निमंत्रण दिया। 1948 में वे अपनी इच्छा के बावजूद कांग्रेस से अलग हो गये। इस अवधि में आपने भारत–पाक के विभाजन का विरोध किया और इसके विकल्प में हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए डटकर काम भी किया । (बाद में आपने 'गिल्टी मैन आफ इण्डियाज पार्टीशन ' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

में तार्किक रूप से अपनी विचारण प्रस्तुत की थी। जो कि वस्तुत: मौलाना आजाद की 'इण्डिया विन्स फ्रीडम ' के जवाब में लिखी हुई थी) इसी ग्रंथ में आपने लिखा था कि किस प्रकार आपने सुभाषचन्द्र बोस के मुकाबिले गांधी–नेहरू का परण किया था। 1947 पर आप ही की सलाह के अनुसार नेपाली राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन किया गया। डा0 लोहिया ने 1947 के कांग्रेंस सोशलिस्ट पार्टी के कानपुर अधिवेशन की तथा 1952 में (नव नामधारी) सोशलिस्ट पार्टी के पचमढ़ी अधिवेशनों की अध्यक्षता की थी तथा समान अप्रासंगिकता ' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया (यह विचार अशोक मेहता के 'पिछड़ी हुयी आर्थिक राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की आर्थिक बाध्यताओं के विरोध में प्रस्तुत किया गया था–क्योंकि इससे अशोक मेहता कांग्रेस के साथ 'सहमति के क्षेत्र ' तलाशने का प्रयास कर रहे थे तथा इसी क्रम में जे0 पी0 – नेहरू वार्ता भी हुई जो कि भंग हो गयी।)

1954 में आपने पट्टमताणु पिल्लै की सरकार द्वारा किये गये गोली कांड के विरोधस्वरूप दल के (प्रसोपा के) महासचिव पद से त्याग पत्र दे दिया। 28 दिसम्बर 1955 को आपने एक विद्रोही 'सोशलिस्ट पार्टी ' का गठन किया तथा "समाजवाद को वैचारिक आधार" प्रदान करने का प्रयास किया तथा 'मैनकाईन्ड ' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी करने लगे वे इसका सम्पादक आजीवन करते रहे। 1963 में आप वी0 वी0 केशकर को फर्रूखाबाद में परास्त कर लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुये–इसी समय एक तरफ तो आपने "गैर कांग्रेसवाद की रणनीति" तैयार की और दूसरी तरफ 'तीन आने बनाम पन्द्रह आने ' जैसी बहसें शुरू की, परिमाणतः देश के पिछड़े वर्गों में जागृति पैदा होने लगीं। उन्होंने 1933 में जर्मनी, 1949 मेंईजरायल, फ्रांस, जर्मनी, मिश्र तथा अनेक पश्चिमी अफ्रीकी देशों की यात्रा की, 1951 में आपने फ्रेंकफर्ट के प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सोशलिस्ट सम्मेलन में भाग लिया। 1953 में आपने अपनी अमेरिकी यात्रा में आईन्सटीन तथा अमेरिकी समाजवादियों से सैद्धान्तिक परिचर्चा की थी। 1964 में आप दुबारा अमेरिका गये तथा आपने जैकसन में नीग्रों जाति के प्रति दुर्व्यवहार के विरोध में रूथ स्टीफन के साथ अपनी गिरफ्तारी भी दी थी। आप ही के प्रयासों के कारण मार्च 1952 में प्रथम एशियायी समाजवादी सम्मेलन किया गया यद्यपि तब तक आपका आयोजकों के साथ इतना मतभेद हो गया था आप उस सम्मेलन से अलग–थलग ही रहे। जहाँ तक डाक्टर

---

9. वास्तव में देखा जाये तो विश्व युद्ध विवेचना तथा भारतीय स्वतंत्रता 1942 संग्राम से ही आपमें तथा पण्डित नेहरू में विचारभेद पैदा हो गया । डाक्टर लोहिया दोनों खेमों के साम्राज्यवाद के कट्टर दुशमन थे और किसी एक पक्ष के जुड़ने के विरोधी थे और उन्होंने गाधी जी से मिलकर ' हिन्दुस्तान के सभी शहरों को बिना पुलिस या फौज के शान्ति ग्रस्त शहर घोषित करवाने का प्रयास किया। तभी आपने दुनियां की सभी सरकारों को नयी दुनियां बनाने का आह्वन किया, यह चार सूत्री योजना इस प्रकार थी: (अ) एक देश की पुंजी जो दूसरे देश में लगी है उसे जब्त करना, (ब) संसार में कहीं भी आने–जाने, बसने का अधिकार (स) दुनिया के सभी राष्ट्रों को राजनीति आजादी और (द) विश्व नागरिकता–ओंकार शरद् वही, पृष्ठ 113.

लोहिया के लेखन का प्रश्न उठता है वह भारतीय समाजवादी चिन्तकों में सबसे ज्यादा सर्वव्यापक और सर्वग्राही बन पड़ा है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्नांकित हैं: व्हील ऑफ हिस्टरी, विल टू पावर, गिल्टीमैन ऑफ इण्डियाज् पार्टीशन मार्क्स गांधी एण्ड सोशलिज्म, 25000/– प्रतिदिन, दि कास्ट सिस्टम, इण्डिया, चाईना एण्ड नदर्न फ्रंटियर्स, इन्टरवल डयूरिंग पॉलिटिक्स, लेंगुएज, लोहिया एण्ड अमेरिका मीट (हैरिस वूफोर्ड द्वारा संपादित) इत्यादि, इनमें से प्राय: अधिकांश हिन्दी में भी उपलब्ध हैं। इसके अलावा अनेकानेक छोटे–छोटे पैम्फलेट भी लिखे गये हैं। इसके अलावा उनके अनेकानेक लेख एवं स्फुट सामग्री मैनकाईण्ड, जन, चौखम्भा (बनारस), संघर्ष (लखनऊ), जनता (बम्बई), मैनस्ट्रीम (नई दिल्ली) कांग्रेस सोशलिस्ट (बम्बई–कलकत्ता) नेशनल हैराल्ड (लखनऊ) में विद्यमान हैं।

4. लोहिया - चिन्तन : आधार स्रोत :

ओमप्रकाश दीपक के अनुसार लोहिया की भूमिका को मात्र यह कह कर समाप्त नहीं किया जा सकता है कि उन्होंने मार्क्सवाद को संशाधित तथा संवर्द्धित कर उसे भारत में लागू करने का प्रयास किया था, अत: श्री दीपक के अनुसार लोहिया के नवदर्शन के तीन आधार स्रोत थे:" (1) पश्चिमी समाजवाद (मार्क्स सहित, वो केवल मार्क्स नहीं): (2) भारत का औपनिषदक चिन्तन (3) और महात्मा गांधी । जाहिर है केवल मार्क्स और गांधी के संदर्भ में लोहिया को समझने की चेष्टा, बल्कि और भी ज्यादा ।"[10] कृष्णा नाथ ने इसे अपनी शैली में इस प्रकार कहा है : "लोहिया जी ने अनेक पाश्चात्य स्रोतों से दुहा है जैसे की प्राच्य से।.. अपने डेढ़ गुरु मानते थे : एक गांधी जी, आधा जवाहरलाल जी । पश्चिमी विचारों को उन्होंने पचाया जरूर है..... माओ से तुलना के बारे में भी वही लागु है जो नीन्से से ।"[11] कमलेश उनके सप्तक्रांति दर्शन के विकास के क्रम में, मार्टिन बुबर, स्काट बुकनान तथा स्ट्रिगफैलो बार" इत्यादि की चर्चा करते हैं । 'लोहिया एण्ड अमेरिकी मीट ' में एक स्थल पर स्वंय लोहिया महात्मा गांधी तथा आईन्सटीन को एक ही श्रेणी का विचारक मानते हैं। लोहिया के दर्शन में जर्मन दर्शन की झलकियां सभी स्थलों पर मिल जाती है। चाहे वे उनकी किताबों के शीर्षक की क्यों न हो

उदहारणार्थ 'बिल टू पावर ' को ही लें, लेकिन लोहिया ने प्राय: भारतीय दर्शन को भारतीय यथार्थ समझने में मुक्त दिल से प्रयोग किया उदाहरणार्थ वे सम्पत्ति के प्रति अनासक्त योग की चर्चा के संदर्भ में इशोपनिषद की 'ईशावास्यमिंद सर्व... 'का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार उन्होंने यम–नचिकेता संवाद का बड़ा ही मार्मिक उपयोग किया है। रामानन्दन मिश्र ने तो यह भी लिखा है कि जर्मनी जाने से पूर्व ही उन्होने पातंजलि के 'योगसूत्र ' को पढ़ लिया था और उनका सारा दर्शन योग के अनुरूप 'वृत्ति–चित्तनिरोध: ' बताया है–और योग के सहारे उन्होंने जीवन भर गरलपान किया।[12]

---

10. जन, अंक 56, मार्च अप्रैल 1960, पृष्ठ 124

11. लेखक को लिखे एक पत्र में दिनांक 10.2.74 को आपने ये विचार प्रकट किये थे।

श्री दीपक की यह बात सही है कि लोहिया क्रांति पुत्र थे क्योंकि उनके युग में क्रांति जाज्वल्यमान थी, जिसका लक्ष्य स्वतंत्र व्यक्ति और समतावादी समाज की सृष्टि करना था, रूसी क्रांति उनकी प्रेरणा स्रोत थी। परिणामत: वे समतामूलक विश्व सभ्यता की कामना करने लगे थे। परन्तु बोल्शेविक क्रांति ने ही उन्हें साम्यवाद विरोध बना दिया इसका कारण तीन घटनायें थी: (1) 1936–37 में स्टालिन ने पार्टी का प्रथम शुद्धिकरण किया, (2) 1938 में स्टालिन ने हिटलर से अनाक्रमण संधि करली, (3) तथा 1942 में 'भारत छोड़ो ' आन्दोलन में अंग्रेजी हुकुमत को सहयोग दिया। इसी क्रम में हम यह भी देखते हैं कि जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष उन्होंने अपनी आखों से देखा कि किस प्रकार 'वीमर संविधान ' का दुरुपयोग उसने किया तथा उस समय समाजवादी लोकतांत्रिक पार्टी (SPD) ने तथा जर्मन कम्युनिष्ट पार्टी ने किस प्रकार एक दूसरे को ही नष्ट करने का प्रयास किया। इस सबके कारण लोहिया ने साम्यवादी दर्शन को अनुकरणीय कभी नहीं माना। लोहिया स्वयं इतिहास क्रम में कहते हैं कि मैंने अपने मार्क्सवादी तथा हीगलबादी मित्रों से पूछा था कि भारत गुलाम क्यों हुआ? दोनों के उत्तर ही उन्हें असन्तोषजनक लगे, अत: उन्होंने इनके अलावा चक्रीय सिद्धान्तों का (टायन्बी, स्पेन्गलर, सोरोकिन इत्यादि का तथा भारतीय चक्रीय सिद्धान्त का भी) अध्ययन किया।

इस स्थल पर मैं एक अन्य दिलचस्प तथ्य की ओर भी आपका ध्यान खेचना चाहता हूं और वह है कि उनका चिन्तन खंडों में, पहलुओं में मिलता है। इसके पीछे उनकी चिन्तन दृष्टि की विशेषता भी हो सकती है जैसा की खुद उन्होंने कहा है, लेकिन उसका एक अन्य कारण निश्चय यह भी तथा कि उनका व्यक्ति बहुत कुछ एक पूर्ण व्यक्तित्व था।

5. इतिहास–दर्शन

डा. राममनोहर लोहिया ने अपने राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय विचार 'इतिहास चक्र ' नामक ग्रन्थ मे प्रकट किये हैं–जिसका लक्ष्य है: "यदि इस चक्र पर सदा स्वयं टूटने की बजाय, मानवजाति की संभावित योजना से ही इसे तोड़ा जाये तो अब भी बुद्धिमानों की वह हंसी गूंज सकती है जो मैंने महात्मा गांधी से सुनी और अलबर्ट आईन्टीन में इसकी प्रतिध्वनि से मुझे प्रफुल्ल्ता मिली थी।.. क्या कभी मनुष्य को अपने भाग्य की बुराईयों के पैदाइश स्थल को खोज कर साफ करने में सहायता मिलेगी?"[13] 'राजेश्वर प्रसाद का यह मत है कि "इतिहास से मनुष्य के जीवन का यही ध्येय प्रमाणित होता है–असीम के साथ क्षुद्र के संबंध का पता लगाना ।"[14] जैसे कि यही प्रश्न लें कि मनुष्य का क्या अर्थ लिया जाय–क्या वह सोच सकने में समर्थ पशु हैं? का वह औजार बनाने वाला पशु है अथवा क्या वह संबंधों के गुण तथा चेतना की जागरूकता धारण करने वाला पशु है? इसी से यह प्रश्न भी पूछा जाता है कि मैं कहां से आया हूं? मुझे जाना कहां है और मैं क्यों और कैसे जीता हूं? इसी संदर्भ में वे

---

12. समता का दर्शन, पृष्ठ 28 देखिये।
13. इतिहास चक्र, (अनुवाद आंकार शरद), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृष्ठ 7–8.
14. देखिये, समता का दर्शन, पृष्ठ 44.

और भी प्रश्न उठते हैं कि क्या इतिहास में क्या कोई नियम, उद्देश्य या क्रम है? लोहिया अन्त में एक ठोस प्रश्न उठाते हैं कि क्या इतिहास के पास इसका कोई उत्तर है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था का उदय कैसे हुआ?

राजेश्वरी प्रसाद ऐतिहासिक परिवर्तन की इन व्याख्याओं को दो भागों में बांटते है:[15] (1) एतिहासिक परिवर्तन एक निश्चित परिवर्तन एक निश्चित परिधि में चक्राकार चलता रहता है! (अगर ये नियम सही हैं तो क्या कारण हैं आधुनिक यूरोपीय सभ्यता इतनी विकसित कैसे हो गयी है?) (2) इतिहास का परिवर्तन विकासोन्मुख हैं, चक्रवत नहीं। लेकिन लोहिया ने इस मत को संकुचित और भ्रामक माना है। कार्ल मार्क्स के इतिहास की गति का एक ही नियम है– उत्पादनों के साधनों तथा सबंधों में संघर्ष का। अत: मनुष्य ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और नियमों का कठपुतला मात्र है–इसे ही इतिहास की भौतिकवादी विश्लेषण कहा जाता है। लोहिया यहां पर यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या कारण है कि यूरोप के जिन देशों में(इंग्लैंड तथा जर्मनी) ऐसी मार्क्सवादी क्रांति क्यों नही हुयी जहां की पूंजी के केन्द्रीयकरण की तथा श्रम के समाजीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति से हुयी थी? यही पर आकर लोहिया एक विवादास्पद प्रस्थापना रख देते हैं "आखिरकार मार्क्स की कोशिश एक ऐसी विशाल विचारधारा का निर्माण करना था जिससे मुस्कान हमेशा यूरोप के चेहरे पर ही नाचती रहे, इस प्रकार भौतिकवादी व्याख्या भी यथास्थिति की सेवा करना वाला एक सिद्धान्त है।"[16]"जबकि लोहिया ऐसे सिद्धान्त का निर्माण करना चाहते थे जिसमें संसार का एक ही चेहरा चाहिये, जिसमें एक ओर सुनहरी मुस्कान होती तो दूसरी ओर टपका हुआ एक आंसू।"[17]

6. वर्ग और वर्ण

किशन पटनायक के अनुसार भारत में मार्क्सवाद की दो कमजोरियां आगे नहीं बढ़ने देती हैं–(1) भारतीय समाज के वर्गीकरण की समझ का अभाव; (2) राष्ट्रीयतावादी आस्था का न होना। पटनायक के अनुसार एक समाजवादी का पहला कर्तव्य है कि वह अपने समाज की वर्ग व्यवस्था के बुनियादी चरित्र को समझे और परखे। भारत में राममनोहर लोहिया ने वर्ग व्यवस्था का गहरा विश्लेषण किया। राममनोहर लोहिया ने भारतीय सभ्यता के पतन का कारण जाति व्यवस्था में ढूंढा और उनका यह भी मत था कि रोमन साम्राज्य के पतन कारण भी वहां की कठोर जाति व्यवस्था रही थी।

यद्यपि बौद्ध आन्दोलन ने इसे 13वीं, 14वीं शताब्दी तक चल सकने में समर्थ बनाया था। अत: लोहिया ने यह कहा था: "अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते हैं। स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते हैं...अब तक का समस्त मानवीय इतिहास वर्गों और वर्णो के बीच आन्तरिक बदलाव, वर्गों को

---

15. वही, पृष्ठ 45
16. इतिहास चक्र, पृष्ठ 32
17. वही
18. समता का दर्शन, पृष्ठ 32
19. वही, पृष्ठ 50.

जकड़ से वर्ण बनाने और वर्णों के ढीले बनने का ही इतिहास रहा है।"[18] यद्यपि वे एक नवोदित शक्ति के प्रति आशावान हैं वे कहते हैं: "भारत में नयी शक्ति वर्गों को ढीला करके वर्गों में बदल रही है और आन्तरिक असमानता को समाप्त करने का संघर्ष प्रारम्भ हो गया है।"[19] परन्तु डाक्टर लोहिया जिस खतरे में हमें सावधान करना चाहते हैं वह यह है कि "ऐसा योरोपीय विचार, पूंजीवादी या साम्यवादी, अगर ज्यों का त्यों बिना इस जांच के स्वीकार कर लिया गया कि वह किन परिस्थितियों में और कैसे पैदा हुआ तो वह हमारे युग में आ रही

नयी शक्ति को जड़ में चोट कर सकता है। एक वर्ण व्यवस्था पैदा हो सकती है। जिसमें राजनीतिक दल, प्रबंधक वर्ग और स्वतंत्र पेशा वर्ग सभी अपने उच्च स्तरों पर स्थिर किये जा सकें और बाकी बची आबादी निम्न स्तर के द्विज वर्णों में ढक जायें।"[20] प्रोफेसर विश्व नाथ प्रसाद वर्मा के मत में तो लोहिया की यह वर्णों तथा वर्गों के बीच संघर्ष की धारणा पेरेटो के सिद्धान्त का ही लोकप्रिय रूप है।[21] लोहिया के सिद्धान्त के पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण दूजिलास द्वारा वर्णित 'न्यू क्लास ' (नव वर्ग) कस यसम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था में उदित होना है, व्यवस्था में पढ़ें–लिखे युवक अब शारीरिक कार्य करने से कतराने लगे हैं। ठीक यही बात अमेरिकी व्यवस्था पर लागू होती है, जहां एक तरफ तो बढ़ती हुयी संगठनी व्यवस्था व्यक्ति की स्वतंत्रता को लील रही है और दूसरी तरफ नीग्रो लोगों की स्थिति भारतीय शूद्र से अगर बदतर नहीं है तो कोई अच्छी भी नहीं कही जा सकता है।

7. समतावादी समाज का संदर्भ

गुजंश्वरी प्रसाद का यह मत है कि जहां कार्ल मार्क्स सर्वहारा की बात करते हैं, गांधी जी हरिजन हिताय की कामना करते हैं वहां डा. लोहिया ने भारत को रुग्ण संतानों अथवा पिछड़ी जातियों को (इनमें अनुसूचित जाति, जनजाति अल्पसंख्यक वर्ग तथा महिलाओं को भी सम्मिलित किया गया है) विशेष अवसर देने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। श्री प्रसाद इसकी महत्ता बतलाते हुये कहते हैं: "लोहिया सामजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनों के उस हिरावल इस्ते (वेनगार्ड ऑफ दि रिवोल्यूशन) के रूप में स्वीकार कर आगे लाये, जहां द्वन्दवादी विचारक कार्ल मार्क्स का वर्ग संघर्ष भी असहाय हो जाता है।"[22] विशेष अवसर का यह सिद्धान्त ' यूरोप से उधार लिये गये 'अवसर की समानता 'से बिलकुल अलग तथा विपरीत है क्योंकि सचमुच बराबर बनाने के लिये पिछड़ो को सहारा देकर ऊंचा उठाना होगा, यह तभी होगा जबकि सवर्ण समाजवादी पिछड़ी जातियों के लिये खाद–पानी हेतु तैयार रहें जिससे पिछडी

---

20. वही, पृष्ठ 50
21. आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल एण्ड संस, आगरा, पृष्ठ 429.
22. समता का दर्शन, पृष्ठ 101.
23. वही पृष्ठ 102.
24. समता का दर्शन पृष्ठ 86.

जातियों में नया कमल अर्थात् नेतृत्व खिल सके। अर्थात् देश की 85–86 प्रतिशत आबादी में बराबर की भूख जग सके और राष्ट्रीय एकता के, सच्चे और अच्छे आधार बन सकें। क्या ऐसी स्थिति में भी देश का शासक वर्ग पिछड़ी जातियों को 60 सैकड़ा सीट नहीं देना चाहेगा ? अगर ऐसा नहीं हुआ तो यह निश्चित है कि पिछड़े लोग या नो पिछड़े रहकर देश को भी पिछड़ा रखेंगे अथवा उनमें 'दलित पेन्थर ' जैसी खतरनाक प्रवृत्तियां सिर उठाने लगेंगी। मैं तो यहां पर श्री गुंजेश्वरी प्रसाद की इस मान्यता से अपनी सहमति प्रकट करता हूं कि 1955 से पहिले का समाजवादी आन्दोलन कुछ असन्तुष्ट सवर्ण नेताओं का आन्दोलन था,[23]'ठीक यही उक्ति भारतीय साम्यवादी आन्दोलन के बारे में उचित ठहराती है अन्यथा वे नक्सलवाद के उदय का क्या उत्तर देगें?

7.1 लघुतम मनुष्य की राजनीति :

श्रीपाद केलकर ने उनके इस सिद्धान्त 'लघुतम मनुष्य की राजनीति ' संज्ञा दी है, उनका अभिमत है: "उन्होंने एक नया दर्शन, नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसमें लघु और लघुतक मनुष्य को सर्वोपरि स्थान है। 'जन साधारण', 'आम लोग ' जैसे निरर्थक शब्दों को उन्होंने ठोस अर्थ प्रदान किया और उसके साथ–साथ लघु मनुष्यों को अपनी लघुता नष्ट करने का कार्यक्रम भी दिया।"[24] इसके पांच उदाहरण दिये जाते हैं: (1) जाति तोड़ो नीति, हिन्दुस्तान मे मनुष्य केवल आर्थिक दरिद्रता के कारण लघु नहीं है। निर्ममता और विषमतापूर्ण जाति व्यवस्था उसका कारण है। उनकी मदद के बिना लोकतंत्र तथा समाजवाद निरी अभिव्यक्तियां और शैलीगत विशिष्टतायें रह जायेंगी। (2) अंग्रेजी हटाने तथा लोकभाषाओं को प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी लघु मनुष्य को अपनी जुबानल लौआ देने का प्रयास था शासन और अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में वह होते हुए भी गूंगा है। (3) देश के 80% लघु व लघुतम मनुष्यों मे सभी वर्ग की स्त्रियों का समावेश किया और उनको विशेष सुविधायें देने विशेष अवसर देने की मांग की। (4) व्यक्ति की आमदनी तथा खर्च की सीमा बांधने का प्रस्ताव, यह सीमा प्रति व्यक्ति प्रति माह 1500 रुपये से अधिक नहीं होगी। यह सीमा भी लघु मनुष्य के हितों में ही सोची गयी थी। (5) लोकसभा में लोहिया ने जवाबदेही मांगी 'भुखमरी किसको कहा जाय'। अपने कंधों पर मनुष्य जाति की क्रूरता ढोने वाले रिक्शा चालकों को (अर्द्ध पशु, अर्द्ध मानव को) तो लोहिया ने इस देश का ही नहीं, पूरी एशिया की दरिद्रता का, लघुतम मनुष्य का चिन्ह माना था। निष्कर्षतः श्रीपादकर केलकर ने गांधी के बाद लोहिया को लघुतम मनुष्य की आवाज मानते हुये लिखा है: "गांधी के बाद हिन्दुस्तान की राजनीति में लोहिया लघुतम मनुष्य की सबसे शक्तिशाली आवाज थे। अब वह नहीं रही। लेकिन लघुतम मनुष्य की राजनीति कभी नहीं मरेगी।"

7.2 समता का दर्शन:

लोहिया की यह मान्यता थी: "समता भी जीवन का उतना ही महान् लक्ष्य है जितना सत्य या सौंदर्य, पर इस लक्ष्य की धीरज से छानबीन है... (इसके विपरीत) जो भी व्यवस्थायें अपनी गतिशीलता और विकास के लिए लालच या डर पर निर्भर करती है, वे लाजिमी तौर से विषमता या गैरबराबरी पैदा करती है।" [26] वे स्वयं प्रश्न उठाते हें कि क्या इस तरह का जीवन

समता के सर्वोपरित सिद्धांत के बिना जिया जा सकता है? उनका उत्तर है कि सृष्टि की अनश्वर एकता का बोध मनुष्य को मिल सकने वाली सबसे बड़ी खुशी है और इस सन्दर्भ में समता मन की एक आवश्यक दशा प्रतीत होती है। अगर हम विगत चार सौ वर्षों के यूरोपीय इतिहास में समता का विकास देखें तो हम यह पायेंगे कि सबसे पहिले कानूनी क्षमता आयी, फिर राजनीतिक समता आयी तदुपरान्त राष्ट्रीय सीमाओं में आर्थिक समता सभी राजनीतिक विचाराधाओं का सामान्य तत्व बन गयी है। लोहिया–निर्गुण समता (जिसे वे या तो पाखण्ड मानते है या दिमागी आलस) के स्थान पर सगुण समता की स्थापना करना उचित समझते हैं उदाहरणार्थ कानून के सामने समता, भोजन में सरकारी सहायता की समता, नौकर के पास घर,बच्चों का भत्ता, बेरोजगारी का भत्ता, वृद्धावस्था की पेंशन आदि। वे भारतीय समाजवादी आंदोलन के इस निश्चय को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं जिसके अन्तर्गत न्यूनतम तथा अधिकतम आमदिनयों का अनुपात 1 (एक) और 10 (दस) निश्चित किया गया है। यूरोप में निर्गुण तथा सगुण समानता को एक ही समझ लिया गया—जबकि हिन्दुस्तान इन दोनों के अलगाव के रोग से ग्रस्त है। लोहिया इसके पक्ष में चार ठोस उदाहरण देते हैं (अ) इजरायल के किबुत्जों में समता के कई समझदार तथा हास्यापद प्रयोग; (ब) सोवियत संघ में चिकित्सा और प्राथमिक शिक्षा के मामले में की गई प्रगति; (स) जर्मनी या अमेरिका में विशेष शिक्षा तथा चिकित्सा में स्थागित किये प्रतिमान; (द) सम्पूर्ण यूरोप तथा अमेरिका में न्यूनतम भोजन या कपड़ों के मामले में सबसे ऊपर है।

राममनोहर लोहिया राष्ट्रों के भीतर भौतिक समता हासिल करने की इच्छा के साथ–साथ राष्ट्रों के बाहर भी भौतिक क्षमता प्राप्ति के इच्छुक रहे थे। उदाहराणार्थ भारत और अमेरिका के बीच साधारण व्यक्ति की आमदनी में 25 गुणा का फर्क है वे इस घटाकर 10 तक लाना चाहते हैं, वे इस बात से निराश थे कि वर्तमान उत्पादन की प्रणाली से हम यह लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे क्योंकि इस प्रणाली की तीन विशेषतायें थीं: (1) कम आबादी, ज्यादा जमीनें; (2) आबादी के हर आदमी के लिए काफी पूंजी और मशीने; (3) सारी दुनिया का औद्योगिक उत्पादन थोड़े से पश्चिम यूरोपीय देशों में हो। अत: "समता की क्रांति को मूर्त रूप देने के लिए समर्थ आर्थिक और राजनीतिक ढांचे की तलाश के लिए मनुष्य जाति को चिन्तन और कर्म के कठिन प्रयास करने चाहिए।[27] इसकी प्राप्ति के लिए मानव जाति के सामने दो ही विकल्प हैं: (अ) सरकार कानून से बाधा करती है और विरोधी दल सिविल नाफरमानी से। इसके अतिरिक्त अन्य किसी तरह की बाध्यता पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि खून बहाकर कभी भी समता हासिल नहीं हो सकती1"[28]

भारत के पुराने लोगों की यह अनुभूति थी कि आंतरिक समचित्तता और बाहरी समता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अत: राममनोहर लोहिया समता के चार अर्थ बताते हैं और

---

25. वही, पृष्ठ 88 देखिये।

26. मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, नव हिन्द, हैदराबाद 1963, पृष्ठ 224 पर देखें।

उनकी सम्मति समता के चारों अर्थों को (आंतरिक और ब्रह्या तथा आध्यात्मिक और भौतिक) समझना आवश्यक है।[29]

8. गांधीवाद की विस्तारण :

राममनोहर लोहिया ने बीसवीं शताब्दी की दो विशेषताओं में महात्मा गांधी तथा अणु बम का उल्लेख किया है। मधुलिमये के मत से "लोहिया अहिंसा और सिविल नाफरमानी (सिविल डिसओबिडियेन्स) के मामले में गांधी जी के भक्त थे।" भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में उन्हें गांधी का रास्ता ही व्यावहारिक और कारगर प्रतीत हुआ।... (1942 में भी) उन्होंने 'न हत्या न चोट ' के संघर्ष चलाने की सलाह दी।"[30]लेकिन लोहिया ने अहिंसा को कभी भी स्वतंत्रता और लोकतंत्र से अधिक महत्व नहीं दिया। मधुलिमये यह मानते है कि चूंकि उन्हें गांधीवाद का उत्तराधिकारी कभी नहीं माना गया अत: उन्होंने अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग करने के बारे में कभी नहीं सोचा और उन्होंने कर्म आन्तरिक अन्यायों तथा संघर्षों को मिटाने में किया था। लोहिया सिविल नाफरमानी को "स्थयी धर्म और स्थायी कर्त्तव्य मानते थे–लोहिया प्रहलाद और सुकरात को तथा मीराबाई को सत्याग्रह का आद्य प्रवर्तक मानते थे। अत: सिविल नाफरमानी एक सार्वजनीन एवं स्थयी चीज है।" यहां पर मधुलिमये अहिंसा तथा सिविल नाफरमानी के बारे में निम्नाकिंत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं: क्या जनता की अनास्था एवं उदासीनता पर काबू पाना कभी संभव है? क्या उसके बिना जनता में अखंड चेतना प्रज्वलित किये बिना, अहिंसा मौलिक समाज परिवर्तन का साधन बन सकती है? क्या विशिष्ट अन्याय या जुल्म के या शियत के निराकरण के लिए अहिंसा के हथियार कारगर होने और समाज के अंदर से सम्पत्ति और सत्ता के रिश्तों में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए उसके प्रभावी होने में बड़ा फर्क नहीं है? क्या बिना हिंसा और बल प्रयोग किये जमीन और जायदाद के मालिक भूमि का और सम्पत्ति का बंटवारा होने देंगे? और क्या वीरता की अहिंसा का प्रयोग... व्यक्ति नहीं समूह कर पायेगा? और सो भी एकाध बार नहीं सतत, अखंड?[31]

मधुलिमये और भी प्रश्न उठाते हैं : क्या व्यवहार में अहिंसात्मक प्रतिकार परिवर्तन का साधन बनेगा या केवल तात्कालिक जागरण और चेतना का? क्या उस हालत में सिविल नाफरमानी की भूमिका दूसरे दर्जे के हथियार के रूप में नहीं रहेगी? क्या माओवादी तथा चैग्वारावादी दर्शनों में जन शक्ति को मुक्ति कराने की शक्ति है? क्या उसकी भी परिणित अंत में सत्ता के केन्द्रीकरण में और मानवता को शोषण के रूप में होना लाजिमी नहीं है।[32] फिर भी क्या सिविल नाफरमानी पर मानव जाति का भविष्य निर्भर नहीं है?

---

27. समता का दर्शन, पृष्ठ 19
28. वही,पृष्ठ 21
29. वही,पृष्ठ 23
30. वही,पृष्ठ 62 दृष्टव्य है।
31. समता का दर्शन पृष्ठ 17

सप्त क्रांति तथा चौखम्भा राज्य :

राममनोहर लोहिया ने सप्तक्रांति[33] का दर्शन दिया है अर्थात् लोहिया ने सात प्रकार के बुनियादी अन्यायों के खिलाफ जिहाद छेड़ने का निर्णय लिया था:–

(1) गरीबी और अमीरी के फर्क से जो अन्याय निकलते हैं उनको लें। यह जड़ वाला अन्याय है।

(2) दाम की गैरबराबरी, खेतिहर दाम और कारखानों की चीजों के दाम, अधिकारों की गैरबराबरी, पुभुदेश और जो दबे देश हैं, उनमें पाते हैं। कब अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय गैरबराबरी और गरीबी के विरूद्ध लड़ाई कुछ सचते होकर आ रही है।

(3) ऊंची जाति और छोटी जाति की गैरबराबरी : (विस्तृत विवरण वर्ग और वर्ण शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।)

(4) नर और नारी की गैरबराबरी: को खत्म किए बिना, दूसरी भी गैर बराबरी खत्म करना असंभव है। यहां पर लोहिया साईमन दि बुवोय की 'दि सेकण्ड सेक्स ' का आदर्श प्रस्तुत करते है; और इसीलिए उन्होंने 'सीताराम राज्य ' की स्थापना की चर्चा भी की थी। महिलाओं के बिना समाजवादी आंदोलन ऐसे ही होगा जैसे दुल्हन के अभाव में शादी की तैयारियां आदि।

(5) रंग की बात: आर्थिक, राजकीय, श्रृंगार शास्त्र या सौन्दर्य शास्त्र से या नस्ल शास्त्र में– हर दृष्टि से यह लड़ाई चल रही है। इन्सान का दिमाग इस बारे में भी बहुत खराब हो गया है। अमेरिका में एक तरफ तो मार्टिन लूथर किंग तथा ए.जे. मुश्ते ने अहिंसात्मक प्रतिरोध से इस बारे में आंशिक सफलता प्राप्त की, वहां "ब्लैक पैंथर" (मैलकम एक्स) ने हिंसा से इसे मिटाने का प्रयत्न किया है।

(6) अणु अस्त्रों के विरूद्ध संघर्ष : साधारण अस्त्रों के विरूद्ध भी उन्होंने सत्याग्रह के प्रयोग का आवहान किया है।

(7) संगठन के विरूद्ध : व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बचाव का संघर्ष। (चाहे वह राज्य का, व्यक्ति का, संगठन का अथवा गिरोह का ही हस्तक्षेप क्यों न हो।)

राममनोहर लोहिया ने 'विकेन्द्रित लोकतंत्र ' की व्यवस्था को स्वीकार किया था, वे एक पिरेमिडीय 'व्यवस्था की बजाय गांधीजी की ओसनिक (सागरीय) व्यवस्था के पक्षधर थे। डा 0 लोहिया राज्य के केन्द्रीयकरण के घोर विरोधी थे, अत: आपने "चौखम्भा राज्य" की परिकल्पना प्रस्तुत की थी।[34] वे कलक्टर तथा पुलिस अधीक्षक के पद को समाप्त करने के पक्षधर थे। इसे यों भी कहा जा सकता है कि वे पुलिस एवं प्रशासन के " पंचायतीकरण" के पक्षपाती थे।[35]

---

32. वही, पृष्ठ 72.

33. सप्त क्रांतियां, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद–12, पृष्ठ 2,4,15,21,22,25 तथा 28 पढ़िये।

34. विल टु पॉवर अदर राइटिंग्स, नवहिन्द, हैदराबाद, पृष्ठ. 132.

35. वहीं।

आप ग्राम, मंडल (जिला), प्रान्त तथा केन्द्रीय सरकार की महत्ता को तभी तक ही स्वीकारते थे जब तक कि 'एक मत एक व्यक्ति ' के आधार पर विश्व संसद का संगठन नहीं हो जाता है, वे विश्व सरकार के दो सदन बनाने के पिष्ट–पोषक थे: (1) उच्च सदन (इसमें हर राष्ट्रों का एक मत होगा); (2) निम्न सदन (इस सदन में विश्व–मतदान से चुने हुए प्रतिनिधि बैठ सकेंगे) इस विश्व सरकार का सबसे प्रमुख आर्थिक संगठन होगा जिसमें ऋण देने का आधार. इस प्रकार होगा: "जिन राष्ट्रों की आमदनी जितनी ज्यादा होगी उन्हें आर्थिक कोष में उतना ही देना होगा और जिन राष्ट्रों की आवश्यकता जितनी अधिक होगी वे उतना ही कम हिस्सा देकर उतना ही ज्यादा ऋण ले सकेंगे।" दरअसल डा 0 लोहिया ऐसी विश्व नागरिकता का सपना देखते थे जिसमें कही आने जाने की तथा बसने की पूर्ण आजादी मिल जाये। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु आपने 'मॉडियलाईजेशन ' के आंदोलन हेतु भारत में प्रयास किया था। वैसे भी आप दुनिया में राष्ट्रों के कृत्रिम विभाजनों के विरूद्ध थे चाहे वह जर्मनी का विभाजन हो, कोरिया का विभाजन, भारतीय महाद्वीप का विभाजन हो अथवा हो लाओस का विभाजन। अत: डा. लोहिया राष्ट्रीय सुरक्षा की भी कामना तभी तक रखते हैं जब तक कि प्रस्तावित 'विश्वसरकार ' स्थापित नहीं हो जाती है।

9. आलोचनात्मक संदर्भ

एदीताता नारायण ने लोहिया दर्शन की प्रमुख कमियां निम्नांकित बताती है।[35]

1. लोहिया का चिन्तन जम्स जायस जैसा है जो कि हमेशा अतिवादी होता है। उनमें किसी व्यवसायी को ढूंढना कठिन है क्योंकि वे हर व्यवस्था को सर्वाधिकारवादी करार देते है।

2. अगर स्थिरता और परिवर्तन ही लोहिया का समाजवाद (?) हैं तो यही गलती जर्मनी के 'सोशल फासिस्टों ' ने की थी क्योंकि वे अर्थशास्त्र का अर्थ समझने में गलती करते रहे।

3. लोहिया का 'समान आप्रसांगिकता ' का सिद्धांत बिड़ला जैसे पूंजीपतियों के हित में है क्योंकि उनके लिए समाज की व्यवस्था कोई महत्वपूर्ण विचारणीय वस्तु नहीं है।

4. चूंकि लोहिया पश्चिमी 'मोनोपोलिस्ट ' के हाथों एशिया में केन्द्रित होने वाली औद्योगिक पूंजी के प्रेरित दुखों से भिज्ञ है। अत: वे हर प्रकार की पूंजी की सघनता से भयभीत हैं। (अ) साम्यवादी व्यवस्था कभी भी सघनता की पक्षधर नहीं हैं; (ब) उनकी केन्द्रीयकरण की पद्धति विचार तथा व्यवहार में लोकतांत्रिक है। (स) सोवियत रूस में उद्योगों का विस्तार घरेलू बाजार की विस्तारणा पर ही संभव हुआ अर्थात् खरीदने की क्षमता का सहारा लिया। (मोरिस डॉब तथा उन–मिखाईलोव ने इस प्रक्रिया को सही माना है)

5. सोवियत अत्याचारों का जवाब यही है: (अ) शक्ति जनता की बहुसंख्यक जमात मजदूरों को दी गयी। (ब) शोषकों को सत्ता नहीं देनी थी। (स) समाज के किसी भी सामान्य हित को संघर्ष की बलि वेदी पर नहीं चढ़ाया।

---

35. प्रजा सोशलिज्म मोनोपोलीज् पॉन, पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1952, पृष्ठ 21 से 57 तक पठनीय है।

6. छोटी मशीन की आलोचना :– विज्ञान प्रतिक्रिया से हमेशा ताकतवर होती है। लोहिया जिन औजारों को अमेरिका के ' मोनोपाली ' 'पूंजीपतियों के हित हैं जबकि रूस ने जनेच्छा से अधिकतम श्रम प्राप्त किया है। अत: लोहिया की सबसे बड़ी कमी यह है कि अपने वर्गीय चिन्तन में बधें हुए है। इस प्रकार डाक्टर लोहिया फिर भारतीय पूंजीपतियों की मदद करते है क्योंकि इस प्रकार क्रांतिकारी दिमागों के भरमाये रखा जा सकता है। अत: युवक समाजवादियों को यह सोचना है कि क्या उन्हें पूंजीपतियों का मात्र कठपुतला बन कर रहना है।

इसके विपरीत प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा का यह अभिमत है: "लोहिया पर गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव अधिक था.. उन्होने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं का एशियायी दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। वे कोरे पन्थवादी नहीं थे। उन्होंने कर्म तथा चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी एक विशिष्ट पहलू की एकांगी तथा सीमित वृद्धि हो।"[36]

प्रोफेसर उषा मेहता उन्हें गांधीवादियों में क्रान्तिकारी तथा क्रान्तिकारियों में गांधीवादी करार देती हैं; उनका विचार है 'इस प्रकार राममनोहर लोहिया न केवल समाजवादियों के सिद्धान्तकार थे अपितु समाजवादी आन्दोलन के नेता भी थे। लोहिया ने महात्मा गाँधी की अपने महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओं को समाजवादी सिद्धांत तथा कर्म से मिलाया, समन्वित किया यधपि आपने आँख मूंदकर गाँधी सिद्धांतो को ग्रहण नहीं किया। सर्वप्रथम उन्होंने अपना 'विचार फ्रेम ' तैयार किया और उसकी माँगों के अनुसार गांधीवादी तथा मार्क्सवाद को स्थापित किया। वे महात्मा का बहुत सम्मान करते थे तदपि मार्क्स की तरह वे अजीवन क्रांति का निर्माण, प्रचार एवं व्यवहार करते रहे।[37] उनके मत में डा. लोहिया क्रांति के लिए कर्मठ कर्म करते रहे परन्तु उनकी क्रांति का आधार नैतिक था।

प्रोफेसर एलिजाबेथ हॉयट ने अनके इस दर्शन को 'उन्कलूजिव पाईन्ट ऑफ व्यू" माना है, उनका यह मानना है कि हम इस समग्र दर्शन की ओर बढ़ रहे हैं परन्तु शायद कछुवे की चाल से । उनका मत है : "विश्व समस्याओं की समझ के लिए सभी समाज विज्ञानों का सहयोग अपेक्षणीय है—कोई एक विज्ञान ऐसा करते में असमर्थ हैं.... अगर हमने ऐसा नहीं किया तो हमारा खतरों में गिरना अनिवार्य लगता है।"[39]

ओम प्रकाश दीपक ने यह मत प्रकट किया कि लोहिया का विचार–दर्शन हमारे समक्ष कुछ दिशा निर्देश, कुछ स्थापनायें तथा कुछ अनुत्तरित प्रश्न छोड़ता हैं अत: उसमें कोई अन्तिम पदंसपजल नहीं है वह रूढ अर्थो में विचार व्यवस्था नहीं है। निष्कर्षत: डा. लोहया का उनकी दृष्टि में मात्र सर्वसंग्राहक विचारक मानना गलत हा लेकिन वे निष्कर्ष एक क्षण या स्थिति में अन्तिमता रखते हैं तो भविष्य के लिए दुनिया के प्रमुख अन्यायों का समझने की कोशिश है; (1) सात क्रांतियां... वर्तमान युंग में दुनिया के प्रमुख अन्यायों का समझने की कोशिश हैं; (2) सिविल नाफरमानी ही वह सुत्र भी है जो तात्कालिक कार्यक्रम को सात क्रान्तियों से होते हुए व्यापक दर्शन से जोड़ता है।.... (3) उनमें स्थिति और गति दोनों को समेटने वाली सम्यक्

दृष्टि का दर्शन है..... इसलिए लोहिया के चिन्तन के व्यापक आधार भी है.....(फलत:) लोहिया में सारी विभिन्नता के बावजूद आधारभूत एकता बनी रहेगी । " [39]

मेरी अपनी धारणा तो यह है कि डाक्टर लोहिया एक यथार्थवादी, वैज्ञानिक भारत प्रेमी थे, जिन्होंने समाजवादियों में सबसे पहिले भारतीय आजादी और समाजवाद को जोड़कर देखने का प्रयास किया था। उनकी जुबान लेनिन की तरह तीखी थी क्योंकि उनके हृदय में संपत्ति के अन्याय के विरूद्ध अग्नि धधक रही थी। डाक्टर लोहिया अपनी बात को धारदार बनाने के लिए और विरोधीयों को हतप्रभ करने के लिये प्राय: बहस में अतिवाद स्थितियां लेते थे परिणामत: उन पर अपने व्यक्तित्व पर आरोपित करने का दोष मढ़ दिया जाता था। परन्तु उनके दर्शन को कोई भी गम्भीर विद्यार्थी दीपक जी की इस बात से सहमत होगा कि उनके पास एक 'सम्यक दृष्टि' थी, फलत: चाहे मार्क्स का दर्शन हो या गांधी की विवेचना, लाहौर जेल का प्रसंग हो अथवा पंचमढ़ी कांग्रेस का अधिवेशन: वे अपनी जिज्ञासु मन और तीक्ष्ण बुद्धि से हर समस्या की तह तक पहुँच आते थे और इस प्रकार वे अपने छाप प्राय: सभी पर छोड़ते थे।

अगर हम मनौविज्ञान की भाषा में बात करें तो उनकी मानसिक बनावट 80 प्रतिशत 'पितृत्वमुखी' (Father Oriented), थी तो 20 प्रतिशत मातृमुखी। फलत: डाक्टर लोहिया की सबसे बड़ी खुबी धारावहिकता की रही, वे न तो कभी फिसले और न ही वैचारिक भंवर में उलझे। अगर 1938 में उनके लेखन में नागरिकता स्वतंत्रता के सामाजीकरण की भावना थी तो ये भावनाएं 1967 के लेखन में भी तलाशी जा सकती हैं, यह अलग बात है कि गांधी के नैकट्य से उन्हें सिगरेट छोडी तो अंग्रेजी भी, विदेशी परिधान त्यागा तो पिछड़े वर्गो को अवसर देने का सिद्धांत को भी प्रतिपादित किया। उन्होंने स्वंय एक स्थल पर कहा है कि ये दार्शनिक दृष्टि से उदार हैं, तो कार्यक्रम की दृष्टि से उग्रवादी, अर्थात वे लचीले दिमाग के और कठोर संकल्प के व्यक्ति थे। यही कारण है कि जब उन्होंने "गैर–कांग्रेसवाद" का सिद्धांत बनाया तो उन्होंने साम्यवाद को सम्पत्ति सम्बंधित विचार की और जनसंघ की राष्ट्रवादिता तथा भाषा नीति की प्रशंसा भी की थी। राममनोहर साम्यवादियों को ' अराष्ट्रवादी ' या 'अधपके अन्तर्राष्ट्रीय 'मानते थे उन्होंने कभी भी उन्हें राष्ट्रविरोधी नहीं माना था।

---

36. आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन चिन्तन, पृ .430 देखिए।
37. लोहिया, गांधी एण्ड मार्क्स, जनता, अक्टूबर 13, 1974,
36. आधुनिक भारतीय राजनैतिक चिन्तन, पृ. 430 देखिए।
37. लोहिया, गांधी एण्ड मार्क्स, जनता, अक्टूबर 13, 1974.
38. लेखक को लिखे एक पत्र में (दिनांक 201–2–73) उन्होंने ये विचार प्रकट किये थे। आपने एक पुस्तक भी लिखी है : चॉयस एण्ड डेस्टिनी ऑफ नेशन्स, फिलोसोफी लाइब्रेरी, न्यूयार्क।
39. जन, संपादकीय, पृष्ठ–127

10. निष्कर्ष:

अन्त में, मै तो यही कहूँगा कि लोहिया "जन–समाजवाद" के उदघोषक रहे, वे निर्मय वैज्ञानिक व्याख्याकार थे तो संवेदनशील हृदय से गौतम बुद्ध तथा महावीर की प्रतिमाओं के चेहरे की बारीकियों पर लेख भी लिखते थे । वे आजन्म विद्रोही रहे, परिणामत: शादी का परित्याग, दौपद्री का समर्थन, शिव का प्रेम, साईमन दे बुवाय की वकालत, पंडित नेहरू के विरूद्ध चुनाव, रूक्मिणी के उर्वसीयम में खोज, शंकराचार्य और मार्क्स की तुलना, देश में हिन्दी बोलने की शपथ इत्यादि एक तरफ तो हमें हिलाती है वहाँ हमें यह भी बताती है कि उनके दर्शन में 'निराशा के, कर्तव्य ' का किस कुशलता से मैल हुआ है, पांतजलि की विधि से, तथा धौति क्रिया से उन्होने विषपान को भी एक सामान्य गतिविधि बना दिया।

निष्कर्षत : मैं तो यही कहुंगा कि डा. राममनोहर लोहिया के दर्शन का विवेचन उनके समकक्ष निष्पक्षता से करने में असमर्थ रहे हैं । वे एक इतिहास पुरूप थे अत: उनका अन्तिम. विवेचन तो इतिहास ही कर पायेगा । सफलता की कसौटी मानने वाले उन्हें एक असफल की कसौटी मानने वाले उन्हें एक असफल व्यक्तित्व घोषित कर सकते हैं परन्तु क्या वे बता पायेंगे, की सुकरात, रूसों, ईसा, मार्क्स, थोरो, गांधी के दर्शन भी आज तक वक्ती असफलताओं के बाद क्यों और कैसे खड़े हुये हैं? मुझे यहाँ पर हुआ अरेन्द्रम की यह उक्ति याद आती है कि असफल फ्रांसीसि क्रांति का प्रभाव क्षेत्रीय तथा क्षणिक रहा है। क्या रोव्स पीयरे का पुर्नोदय मार्क्स तथा लेनिन ने नहीं तलाशा जा सकता है? अथवा क्या लोहिया का दोहराव मुन्नार म्रिडल, जोसफ शुम्पीटर, एलिजालेथ हॉयट, जेने शार्थ इत्यादि के लेखन के रूप में नहीं हुआ है? क्या इतिहास का विस्तार इतना सीमित है कि जो कुछ हम देख सकें उसे ही सही, वास्तविक, वैज्ञानिक और सौदश्य घोषित कर दें, काश! ऐसा होता तो वे चमकते, धधकते ताजपोश बुलन्द व्यक्तित्व आज इतिहास की वीरानियों में नहीं खो जाते?

11. संदर्भ ग्रन्थ

लोहिया	:	हवील ऑफ हिस्ट्री हिस्ट्री
लोहिया	:	मार्क्स गांधी एण्ड सोशलिज्म
लोहिया	:	राम, कृष्ण एवं शिव
आर. अरमूगम	:	सोशलिस्ट थॉट इन इंडिया

12. अभ्यास–प्रश्न

1. लोहिया का इतिहास दर्शन क्या था ?
2. लोहिया के समाजवाद की क्या विशेषताएं थीं । यह मार्क्सवाद समाज से कैसे भिन्न था?
3. लोहिया में गांधीवाद का समावेष समाजवाद में कैसे किया?

इकाई–18
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में 'कांग्रेस समाजवादियों की दलीय सहभागिता (1934–1948)'

इकाई संरचना

1. प्रस्तावना
2. कांग्रेस समाजवादी दल का उदय
3. वैज्ञानिक समाजवाद तथा समाम्यवादी दल के प्रति मैत्रीभाव का युग (1934–1940)
   3.1 कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना के उद्देश्य
4. लोकतांत्रिक समाजवाद का युग (1940–1948)
   4.1 गांधीवादी रुझान
5. सारांश
6. संदर्भ ग्रन्थ
7. अभ्यास प्रश्न

1. प्रस्तावना

बहुल विचारवादी कांग्रेस में समाजवादी नेताओं ने एक "वामपंथी लॉबी" का निर्माण अवश्य किया पर वे एक व्यापक जनाधार प्रस्तुत नहीं कर पाए । स्वतंत्रता की वेला में समाजवादी अपनी भूमिका के प्रति अनभिज्ञ दृष्टिगोचर हुए, तथा वे एक संगठित राजनीतिक दल की भूमिका का निर्वाह करने में भी सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए । वे इस 'नवयुग' में विचारधारा का असर अवश्य धारे हुए थे, पर उनके पास अन्य कोई भी उल्लेखनीय आधार नहीं था ।" (जॉन. एस. ब्लैकटॉन) " ..... वे एक ऐसे सामाजिक वातावरण में संघर्ष कर रहे थे जिसमें सामंती तथा पूंजीवादी शक्तियों का वर्चस्व था, तथा वे एक ऐसे अविकसित अर्थव्यवस्था या संरचना को संजोने के लक्ष्य में जुटे हुए थे । तदापि, जिस समाज में जातीय विभेदीकरण के कारण सामाजिक तथा आर्थिक जडताएं अपनी गहरी जड़ें जमाये हुए हों – उस सामाजिक व्यवस्था से और आशा भी क्या की जा सकती है? अत: भारतीय स्वातंत्रय समर में समाजवादियों की भूमिका मात्र एक "विचारधारायी समूह" तक ही सीमित थी । (जय प्रकाश नारायण ने अपने प्रतिवेदन में इसकी चर्चा एक उपलब्धि के रूप में की है ।) पर उसमें कोई विचारधारायी साम्य नहीं विद्यमान है, अत: उनकी भूमिका को 'दिशाबोधक' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।" (एल. पी. सिन्हा) ".....कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस नीति में सामाजिक – आर्थिक तत्व प्रदान करने में महती भूमिका का निर्वाह किया है, तथा उसने स्वतंत्रता संग्राम को एक तीक्षणता भी प्रदान की । अधिकांश कांग्रेस समाजवादियों ने स्वतंत्रता संग्राम में सर्वाधिक

अटल तथा दृढप्रतिज्ञा सैनिकों की तरह सहभागिता की है। ..... इस नीति (साम्यवादी दल से सहयोग नीति) का एक घातक परिणाम यह निकला है कि सम्पूर्ण दक्षिण भारत हमारी पकड़ से बाहर निकल गया है ..... हमने अपने सांझे अनुभव से कतिपय अग्रांकित निष्कर्ष निकाले है – सर्वप्रथम लोकतंत्र की महत्ता, दूसरे विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता तथा, तीसरे साधनों तथा साध्यों में नैतिक संगति बैठाने की महत्ता को रूपायित तथा रेखांकित किया गया है । इस प्रकार मार्क्सवादी लेनिन वादी प्रस्थापना से श्रीगणेश कर कांग्रेस समाजवादी दल ने अनेक पुनर्जन्मों के माध्यम से वर्तमान प्रजा समाजवादी दल के लोकतांत्रिक समाजवादी चरण में प्रवेश किया है ।" (जय प्रकाश नारायण यानी 'जेपी') "सन् 1934 से 1946 तक तो इनको 'वामपंथी राष्ट्रीयता का युग' कह सकते है । ..... अक्सर उस जमाने के बारे में लोग, मुझसे, खासतौर से युवक नेता मिलते है तो सांस भरकर कहते है, क्या जमाना था, वैसा समाजवाद फिर से लाईये । उनसे मैं कहा करता हूँ सन् 47 से 51 तक के समाजवाद का सन् 51 के चुनाव आये तो क्या नतीजा निकला, उसको क्यों भूल जाते हो? ..... सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण, करोडपंथ, पूंजीवाद और जितनी चीजें मैंने गिनाई थी, धार्मिक उग्रवाद, सामाजिक उग्रवाद, राष्ट्रीय उग्रवाद इन सबके बारे में कोई ठोस विचार न रहने के कारण –व्यक्तियों के रहे होंगे, लेकिन संगठित तौर पर न रहते के कारण हम खाली राष्ट्रीयता की लहर में, शायद जरा ऊंची सी लहर में पहुचे ।" (डॉ0 राममनोहर लोहिया)

उपरलिखित विस्तृत उद्धारणों से हम कांग्रेस समाजवादी चरण के विषय में कतिपय अग्रांकित निष्कर्ष निकाल सकते है – अ) इस दल के नेताओं ने वैचारिक स्तर पर एक 'वामपंथी प्रचार समूह' का निर्माण किया, पर उसकी प्रकृति निराधार रही । आ) उन्होंने तत्कालीन भारत की सामंती–पूंजीवादी तथा जातीय विभेदीकरण की स्थिति में एक 'सीमित' विचारधारायी समूह की भूमिका का निर्वाह अवश्य किया । इ) तथा, उन्होंने कांग्रेस नीति में यानी प्रकारान्तक से राष्ट्रीय स्वाधीनता समर में सामाजिक – आर्थिक कार्यक्रमों का समावेश किया अर्थात उन्होंने स्वातंत्रयोत्तर नेतृत्व में सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की धारणा पर आधारित लोकतंत्र की एक चित्ताकर्षक तथा स्वदेशी व्याख्या प्रस्तुत की – जिसके माध्यम से वह लोकतांत्रिक समाजवाद की मान्यता को कार्यान्वित करना चाहते थे। तथा उ) सारत: हम इस चरण को 'वामपंथी राष्ट्रीयता' के युग की संज्ञा दे सकते है, पर इसका महत्व भी प्रचारात्मक अधिक था एवं व्यावहारिक कम । कारण है कि विचारणा यानी संगठित वैचारिक धारणा तथा उसके 'वाहन' (सांगठनिक स्तर पर) – दोनों ही स्तरों पर यह वैचारिक समूह अभावात्मक अधिक था । तात्पर्य यह है कि उनका समाजवाद भी निर्गुण, निराकारी तथा निराधी अधिक था, एवं सगुण, साकारी तथा साधरी कम – परिणामस्वरूप वह भारतीय राजनीतिक क्षितिजा पर वह दीर्घकालीन तथा प्रभाव छाप नहीं छोड पाया जो कि उनसे अपेक्षित था । सर्वाधिक दिलचस्प तथ्य यह है कि जहां पंडित जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस समाजवादी दल के औपचारिक सदस्य कभी नही बनें अर्थात् उन्होंने दल के अनुशासन या मर्यादा में स्वयं को कभी नही बांधा – वहां वे इस वामपंथी राष्ट्रीयता के विचार समूह के

सार्वजनिक प्रवक्ता बने रहे । डॉ0 सम्पूर्णानन्द ने बाद में अपने संस्मरणों में लिखा है कि वे सदैव ही कांग्रेस समाजवादियों के प्रति 'एक अनोखी अवमानना' (अम्यूज्ड कन्टेम्प्ट) की दृष्टि रखते थे। जैसा कि ओमप्रकाश 'दीपक' की मान्यता है कि तत्कालीन मानव सभ्यता के समक्ष दो बडे सपने थे – एक तरफ अक्टूबर, 1917 में हुई व्लादीमीर इल्यूविच लेनिन के नेतृत्व में हुई सोवियत समाजवादी क्रांति का सपना था, तथा दूसरी तरफ 'महात्मा' मोहनदास कर्मचन्द गांधी द्वारा चलाया गया 'सिविल' नाफरमानी का आन्दोलन (जो कि प्राचीन भारतीय जीवनमूल्यों तथा स्वराज, स्वदेशी तथा स्वतंत्रता तथा सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, आस्तेय तथा ब्रह्मचर्य जैसी मान्यताओं पर आधारित था – एवं जिसकी अपनी एक सुदीर्ध मानववादी परम्पराएं थी) । पर कांग्रेस समाजवादी नेतृत्व का ढूंढ तथा द्विविधा यह रही कि वे यथा समय इस विषय में कोई सुस्पष्ट निर्णय नही ले पाये । स्मरणीय है कि वे घोर 'गांधीवादी युग' में 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू के अनुयायी बने रहे, पर जब 'नेताजी' सुभाषचन्द्र बसु (बोस) ने 'गांधी नेतृत्व' के समक्ष चुनौती प्रस्तुत की – तब वे अपनी चिर परिचित 'निर्णयहींनता के बंदी बने रहे एवं जब भारतीय राजनीति पर 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू का वर्चस्व स्थापित हो गया, तब भारतीय समाजवादी नेतृत्व का उनसे 'मोहभंग' हो गया । वस्तुत: डॉ0 राममनोहर लोहिया का यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि वास्तव में कांग्रेस समाजवादी आन्दोलन का भव्य प्रसाद एक 'बालूयी नींव' पर आधारित था, तथा उसे ज्योंही 'सरदार' वल्लभभाई पटेल का एक धक्का लगा, वह खण्ड खण्ड होकर ढह गया । तदापि उसमें 'आचार्य' नरेन्द्रदेव तथा डॉ0 राममनोहर लाहिया जैसे ज्ञानी, ध्यानी, विज्ञानी तथा निष्ठावान, आस्थावान एवं धैर्यवान नेतृत्व का भी अभाव था – जिनकी 'विश्व दृष्टि' (वर्ल्ड व्यू) ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय थी, तथा जो भारतीय मानवतावाद एवं परदशा समाजवाद के मध्य 'एक वैचारिक सेतु' बनाने में समर्थ – सक्षम था । पर यक्षप्रश्न यहीं है कि ऐसा क्यों नहीं हुआ? क्या इस अप्रत्यक्ष का भागी मात्र जयप्रकाश नारायण (जेपी) को बनाना उचित होगा? मूल प्रश्न यह भी उठता है कि क्या इसका दोष हम कांग्रेस समाजवादी नेतृत्व 'मध्यवर्गीय' सामाजिक – आर्थिक पृष्ठभूमि पर नहीं डाल सकते है – जो कि बलादीमीर इल्यूविच लेनिन के शब्दों मे स्वं को कभी 'वर्गच्युत' (डिक्लास) नहीं कर पाया? अगला विदुरीय प्रश्न यह भी हो सकता है कि क्या भारतीय समाजवादी आन्दोलन की आलोचनाओं का लक्ष्य पूंजीवादी कम तथा सोवियत साम्यवाद अधिक बना रहा – जिससे उनके विश्लेषण में अनेक विसंगतियां आ गई थी? अंतिम मूलभूत महत्व का प्रश्न यह है कि क्या अत्यधिक विचारधारायी प्रतिद्वंद्विता तथा अत्यधिक सांगठनिक क्षीणत (यानी दौर्बल्य) के कारण ही भारतीय कांग्रेस समाजवादी आन्दोलन प्रारंभ से ही 'कमजोर को गुस्सा भारी' की मनोव्याधि से ग्रस्त नहीं रहा? ये है कतिपय जलते और उबलते प्रश्न – जो इस आन्दोलन के विद्यार्थियों को मन – मस्तिष्क को सदैव उद्वेलित तथा विचलित करते रहे है । आईये । इन सभी जिज्ञाषाओं के निष्कर्ष ढूंढने के लिए हम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत संगठित कांग्रेस समाजवादी चरण की अतल गहराईयों में गोते लगायें, एवं अपना दायित्व निभायें । एवं यहीं ज्ञात करना प्रस्तुत आलेख की कथा यात्रा का अभीष्ट भी है और लक्ष्य भी है । सर्वप्रथम

हमारा यह प्रयास होगा कि हम उन कतिपय कारको/कारणों को रूपायित व रेखांकित करें – जिनकी वजह से भारत में साम्यवादी दल के गठन के पश्चात भी कांग्रेस समाजवादी दल का श्रीगणेश हुआ, तथा जो कि शीघ्र ही मध्यवर्गीय नागरीय बौद्धिक वर्ग का एक चहेता आन्दोलन बन गया था, तथा अन्ततोगत्वा जिसके नेतृत्व को 'महात्मा' मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने अपने उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय ले लिया था ।

2. कांग्रेस समाजवादी दल का उदय

निस्सन्देह भारत के समाजवादी इतिहास में कांग्रेस समाजवादी दलीय चरण का विशिष्ट महत्व रहा है । इस प्रसंग में शिकागो विश्वविद्यालय के टॉमस ए. रश्ख, दिल्ली विश्वविद्यालय के बिवेकव्रत रॉय तथा ऑन एस. ब्लैकटन ने कालजयी तथा दिशाबोधक अध्यन प्रस्तुत किए गए है । वस्तुत: जय प्रकाश नारायण ने यह सत्य ही कहा है कि कांग्रेस समाजवादी आन्दोलन उन अनेक घटनाक्रमों (जो राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर घटे) का परिणाम मात्र है – जो कि 1931 से लेकर 1934 तक सम्पन्न हुए थे । इस प्रसंग में एक प्रश्न यह भी उभरता है कि जब भारतवर्ष में 'वैज्ञानिक समाजवाद' के प्रचार–प्रसार हेतु साम्यवादी दल का संगठन किया जा चुका था – तब प्राय: उन्हीं प्रकार के वैचारिक संधारों के लिए एक पृथक दल के गठन की क्या आवश्यकता आन पड़ी थी? इस विषय के एक अन्य अध्येता जॉन हेथकॉक्य की यह मान्यता है कि भारत में साम्यवादी आन्दोलन की असफलता के कारण ही कांग्रेस समाजवादी दल के गठन का मानस बना । तथा वे इसकी असफलता को अग्रांकित तीन कारको के रूप में रेखांकित करते है–

1) साम्यवादियों की अति वामपंथी दुस्साहसिकता की मनोवृति
2) भारतीय सरकार (ब्रितानिया द्वारा चालित) की साम्यवाद विरोधी दमन एवं अत्याचार की नीति तथा
3) श्रमिक संधों में सम्यवादी वर्चस्व एवं तानाशाही की नीति ।

जबकि टॉमस ए. रश्ख की यह धारणा है चूंकि कांग्रेस समाजवादीयों तथा अन्य वामपंथियों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की रीति–नीति तथा कार्यक्रमों को लेकर भारी असन्तोष विद्यमान था, अतएवं कांग्रेस समाजवादी दल का गठन किया गया था ।

स्मरणीय है कि कांग्रेस समाजवादी दल कें गठन से पूर्व 1930 में स्वामी सहजानन्द सरस्वती की किसान सभाएं, सितम्बर 1931 में बिहारी समाजवादी दल तथा जुलाई 1933 में बंगाल समाजवादी दल की आधारशिलाएं रखी गई थी । तथा 1933 में ही जब नासिक (महाराष्ट्र) में सिति कृष्णमन्दिर में सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता, मीनू रूस्तमजी मसानी, श्रीधर महादेव जोशी तथा नारायण गणेश गोरे मिले, तब उन्होंने एक संगठित समाजवादी आन्दोलन चलाने की रूपरेखा बनाई – जिसका लक्ष्य समाजवादी समाज की स्थापना करना था । स्पष्टत: अनेक युवक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में समझौतावादी तथा दक्षिणपंथी प्रवृतियों के बढ़ने के विरूद्ध एक समाजवादी संगठन की आवश्यकता अनुभव करते थे । पर इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि कांग्रेस समाजवादी दल मात्र नासिक कृष्णमन्दिर

घजे की देन है । क्योंकि इस घडे के अतिरिक्त कर्णाटक में कमलादेवी चट्टोपाध्याय, केरल में ई. एस. एस. नम्बूद्रीरीपाडु तथा के. वी. मेनन, दिल्ली में सत्यवती, उत्तरप्रदेश में आचार्य नरेन्द्रदेव, सेठ दामोदर स्वरूप, डॉ0 सम्पूर्णान्द, डॉ0 राम मनोहर लोहिया, फरीद उल हक अंसारी, बिहार में गंगाशरण सिन्हा, रामानन्दन मिश्र, जयप्रकाश नारायण, स्वामी सहजानन्द सरस्वती, पंजाब में मुंशी अहमददी एवं बंगाल में शिवनाथ बैनर्जी के नाम उल्लेखनीय रहे है । इनमें से अधिकांश युवक मूलत: मार्क्सवादी विचारधारा के थे । कतिपय युवक मानवेन्द्र नाथ रॉय के सर्मथक भी थे । अन्य लोग आतंकवादी आन्दोलन या नौजवान भारत सभा अथवा "हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सोशलिस्ट आर्मी" जैसे संगठनों से आये थे – कतिपय युवक 'नेताजी' सुभाष बसु (बोस) के कृतित्व एवं व्यक्तित्व से भी प्रभावित थे । जहां टॉमस ए. रश्ख के अनुसार उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद के सर्वाधिक कट्टर, अनभ्य तथा सतत उग्रपंथी युवक थे । वहां प्रजा समाजवादी दल के इतिहासकार डॉ0 हरिकिशोर सिंह के अनुसार वे मार्क्सवाद, राष्ट्रवाद तथा समाज लोकतांत्रिक विचारधाराओं के समन्वयकर्ता थे – जो गांधीवादी प्रतिनिधि के माध्यम से उन्हें व्यवहार मे लाने के लिए प्रयत्नशील थे । सारत: वे लोकतंत्र तथा सामाजिक लोकतंत्र की धारणाओं के मध्य एक सेतु का निर्माण करने में जुटे हुए थे । इस विषय में कांग्रेस समाजवादी दल के संस्थापक सदस्यों में से एक जयप्रकाश नारायण लिखते है–

"स्वाभाविक रूप से स्वतंत्रता से प्रतिबद्ध समानधर्मी युवकों को मिलाकर एक कांग्रेस समाजवादी दल का गठन किया गया ताकि कांग्रेस की नीति के सामाजिक आयाम को अधिक समाजवादी बनाया जा सके । तथा स्वातंत्रय समर को अधिक क्रांतिकारी रूप में संचालित किया जा सके । जिसे कि मार्क्सवादी शब्दावली में हम इस प्रकार कर सकते है कि इसके माध्यम से राष्ट्रीय स्वातंत्रय आन्दोलन का जनता के सामाजिक तथा आर्थिक विमुक्ति के आन्दोलन के साथ में तालमेल बैठाया गया यानी सम्पर्क – सेतु का निर्माण किया । कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस नीति में सामाजिक आर्थिक तत्व के समावेश में अहम भूमिका निबाही है, तथा उसने स्वातंत्रय समर में चटख रंग भरे थे । कांग्रेस समाजवादी सारत: स्वातंत्रय समर के योद्धाओं में सर्वाधिक दृढ़ प्रतिज्ञा तथा निर्भीक योद्धा रहे है ।"

अन्तत: हम एक अन्य अध्येता का मत उद्धत कर के अपना मन्तव्य स्पष्ट करना चाहेंगे– वे लिखती है :

"भारतीय समाजवादियों ने आधुनिकता के सोवियत प्रतिमान की प्रवंचनाओं से बचने के लिए दो अग्रांकित महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक संशोधन स्वीकृत किए है– 1) समस्त आर्थिक क्रिया का उस सीमा तक विकेन्द्रीयकरण किया जाये – जो कि केन्द्रित आयोजना तथा सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था की दिशा के अनुरूप हो, तथा 2) दूसरे सामाजिक संगठन की बुनियादी इकाई के रूप में ग्राम को संरक्षित किया जाये । स्मरणीय है ये प्रावधान निर्धारित करते समय समाजवादियों ने प्रच्छनन रूप से 'महात्मा' गांधी की उस प्राथमिक मान्यता को स्वीकार कर लिया था – जिसके अन्तर्गत प्राचीन सामाजिक संरचना की नैतिक सर्वोच्चता की धारणा को स्थापित किया गया है । इस प्रकार विभिन्न आशाओं एवं कल्पनाओं के मध्य से 'भारतीय' प्रकृति का एक ऐसा

समाजवाद उभरा तथा जिसने एक ऐसे समाजवादी प्रतिमान की रूपरेखा प्रस्तुत की – जो कि आधुनिक आर्थिक विकास के लक्ष्यों के साथ साथ लघु कृषक समाजो की पारम्परिक मूल्य प्रणाली के मध्य समन्वय स्थापित करने की चेष्टा कर रहा था..... स्वातंत्रय वेला में ये सामाजिक लक्ष्य उस सामाजिक यथार्थो के दु:खदायी प्रतिलोभ प्रतीत हो रहे थे – जबकि भारतवर्ष मे विश्व इतिहास के सर्वाधिक विभेदीकृत समाज तथा उसमें विद्यमान विषमताओं के दर्शन हो रहे थे ..... प्रश्न यह उठता है कि निर्धारित समाजवादी आदर्शो तथा संगठन के प्रतिभानों के साथ साथ आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था में रूपान्तरण कैसे किया जाए?"

'पंडित' जवाहरलाल नेहरू ने भी अपनी कृति 'व्हीदर इण्डिया' (1933) में अपने विचार प्रकट करते हुए यह मार्ग सुझाया कि भारतीय जनगण को विश्व के दमित तथा शोषित – श्रमिक वर्गो के साथ में मिलकर विदेशी वर्चस्व तथा दासता के विरूद्ध अपना संघर्ष चलाना चाहिए । वे कहते है–

"भारत के निकटवर्ती लक्ष्य जनगण के शोषण को मिटाना है । राजनीतिक रूप से इसका अर्थ स्वाधीनता प्राप्ति तथा ब्रितानी सम्बन्ध का बिछोह होगा ..... तथा आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से इसका समस्त वर्गीय विशेषाधिकारों तथा विशिष्ट हितों का अन्त होगा ।"

सारत: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की दक्षिणपंथी नीतियों तथा नेतृत्व के विरूद्ध उग्र वामपंथी राष्ट्रीयता के उभार के रूप में कांग्रेस समाजवादी दल का गठन किया गया ।

3. 'वैज्ञानिक समाजवाद' तथा साम्यवादी दल के प्रति मैत्रीभाव का युग (1934–1940)

कांग्रेस समाजवादी दल के संस्थापक सदस्य तथा दो दशक तक महासचिव रहे जयप्रकाश नारायण अपने संयुक्त राज्य अमेरिकी प्रकसकल में मानवेन्द्रनाथ रॉय से इतने प्रभावित हुए कि वे वैज्ञानिक समाजवाद तथा साम्यवादी दल के प्रति मैत्रीभाव रखनें के नारदमोह से ग्रसत हो गए । तथा उन्हें दल के सर्वाधिक श्रद्धास्पद आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे प्रतिभा सम्पन्न नेता का समर्थन भी मिला । एतदर्थ दल ने श्रीगणेशकाल से ही वैज्ञानिक समाजवाद का वरण किया । यद्यपि मीनू रूस्तम जी मसानी, पुरूषोत्तम त्रिकमद्रास, अशोक मेहता सद्दश्य लोग तब भी लोक तांत्रिक समाजवाद (ब्रितानिया के 'फेबियन' समाजवाद की तर्ज पर) अपनाने का आग्रह कर रहे थे । तदापित डॉ0 राम मनोहर लोहिया तथा अच्युत पटवर्द्धन जैसे कतिपय अल्पमत वाले राजनेता भारतीय सामाजिक यथार्थो के अध्ययन हेतु 'महात्मा' मोहनदास कर्मचन्द गांधी की मान्यताओं की परीक्षा करने तथा तदनुसार निर्णय लेने की प्रस्तावना रख रहे थे । इस वैचारिक परिवेश को हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए ।

स्मरणीय है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पटना (बिहार) अधिवेशन के अवसर पर अंजुमन ए इस्लामिया 'हाल' में समाजवादी निष्ठा के युवा तुर्क कार्यकर्ताओं का सम्मेलन अगस्त, 1934 में हुआ । जिसकी अध्यक्षता के लिए श्रद्धास्पद आचार्य नरेन्द्रदेव को चुना गया । उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में मार्क्सवाद तथा भारतीय मानववाद के मध्य एक वैचारिक सेतु बनाने का प्रयास किया, तथा उन्होंने समाजवादियों से द्वंद्वात्मक – भौतिकवादी

विचारपद्धति से विचार करने, निम्न मध्य वर्ग को सामान्य जनगण से जोडने तथा प्रचार, शिक्षण एवं संगठन के माध्यम से वर्ग चेतना जाग्रत करने का आग्रह किया ।8 सम्मेलन में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हेतु एक संगठन समिति का गठन किया गया – जिसमें आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, मीनू रूस्तमजी मसानी तथा डॉ0 राममनोहर लोहिया को रखा गया । ध्यातव्य है कि जहां पूर्व उल्लिखित 'नासिक धडा' मात्र समाजवादी समाज की स्थापना के उल्लेख तक सीमित रहना चाहता था – वहां आचार्य नरेन्द्रदेव तथा डॉ0 राममनोहर लोहिया पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य को भी इसमें जोडना चाहते थे । विवाद का कारण यह था पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य घोषित होते ही दल पर प्रतिबन्ध लगने की आशंका की अतएव इस विषय में डॉ0 राममनोहर लोहिया के संशोधन अस्वीकृत कर दिया गया । तदुपरान्त जब कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना सम्मेलन अक्टूबर 21–22, 1934 को बॉम्बे (मुम्बई) में हुआ, तब तक चूंकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर लगाया गया प्रतिबन्ध ब्रितानी अधिनायक लॉर्ड इरविन ने हटा लिया था – ऐसी स्थिति में कांग्रेस समाजवादी दल के नेतृत्व ने भी डॉ0 लोहिया का संशोधन स्वीकार कर लिया । इस प्रकार नवोदित दल का उद्देश्य पूर्ण स्वीधानता तथा समाजवादी समाज की स्थापना हो गया ।9

3.1 कांग्रेस समाजवाद की स्थापना के उद्देश्य

कांग्रेस समाजवादी दल का स्थापना सम्मेलन अक्टूबर 1934 में बॉम्बे (मुम्बई) के वरली स्थित 'रेडीमनी टैरेस' में हुआ – जिसकी अध्यक्षता डॉ0 सम्पूर्णनन्द ने की । इसमें दल का नया विधान एवं कार्यप्रणाली विषयक अनेक प्रस्ताव स्वीकार किए गये – जो कि अग्रांकित है–

1) पूर्ण स्वतंत्रता की स्थापना,
2) नियोजित अर्थतंत्र द्वारा विकास,
3) प्रमुख उद्योगों का समाजीकरण,
4) जमीदारों, जागीरदारों तथा राजा रजवाडों की सम्पत्ति का बिना कोई क्षतिपूर्ति किए बिना अधिग्रहण करना
5) भूमिहीनों में भू–वितरण करना, तथा
6) जाति, धर्म, भाषा तथा लिंग के आधार पर भेदभाव रहित एक समाजवादी समाज की स्थापना करना ।

इस सम्मेलन में 150 प्रतिनिधियों ने सहभागिता की । कांग्रेस समाजवादी दल का गठन बिल्कुल साम्यवादी दल के ढांचे पर किया गया परिणामस्वरूप एक ओर तो महामंत्री को कार्यकारीणी के साथ व्यापक अधिकार प्रदान किए गए, तथा दूसरी ओर दल को सीमित सदस्यता के आधार पर खडा करने का निर्णय लिया गया । स्मरणीय है कि जयप्रकाश नारायण दल के महासचिव तथा मीनू रूस्तमजी मसानी संयुक्त सचिव चुने गए । जैसा कि विगत में बताया गया है कि तब जयप्रकाश सामयवादी होने की हद तक मार्क्सवादी थे, तथा वे कहा करते थे कि "वैज्ञानिक समाजवाद ही एकमात्र मार्ग है।" एवं वे पंडित जवाहरलाल नेहरू के

निकटवर्ती मित्रों में से एक थे । यह भी निर्णय लिया गया कि दल कालीकाटा (कलकत्ता) से एक पत्रिका 'कांग्रेस सोशलिस्ट' का भी प्रकाशन करेगा, तथा उसके सम्पादन का दायित्व डॉ0 राममनोहर लोहिया पर डाला गया ।

जनवरी 20,1936 को कांग्रेस समाजवादी दल का द्वितीय ऐतिहासिक सम्मेलन उत्तरप्रदेश के मेरठ जिला मुख्यालय पर श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय की अध्यक्षता में हुआ । यहां पर ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग का अभिप्राय: यह है कि इस सम्मेलन में दल ने 'वैज्ञानिक समाजवाद' अर्थात मार्क्सवाद को साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष में विजयश्री प्राप्ति का एकमात्र मार्ग स्वीकार किया – जैसी कि जयप्रकाश नारायण की प्रारंभ से ही मनोकामना थी । पर यह निर्णय बहुमत पर आधारित एक आमराय के द्वारा ही हो पाया – जबकि एक उल्लेखनीय अल्पमत वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में लोकतांत्रिक समाजवाद को अंगीकार करने का पक्षधर रहा है । अन्ततः इस आरोपित आमराय के कारण ही दल में मनभेदों तथा मतभेदों की एक अन्तहीन श्रृंखला बनती रही, बिगडती रही ।

कांग्रेस समाजवादी दल का तृतीय सम्मेलन 1937 में फैजपुर (त्रिपुरा) में सम्पन्न हुआ–इसकी अध्यक्षता 'बाबू' जयप्रकाश नारायण ने की । स्मरणीय है तब जयप्रकाश नारायण क्रांति की रणनीति, वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त व व्यवहार तथा राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में न केवल मार्क्सवादी प्रस्थापनों से अपनी सहमति दर्शाते थे, वरन् वे गांधीवाद को "कट्टरपंथी आस्था पर आधारित नैतिकता की एक धारणा" मानते थे । (तत्कालीन परिवेश में मानवेन्द्रनाथ रॉय भी इसी प्रकार सोचते थे) अतएव इस युग में उन्होने साम्यवादी आन्दोलन (क्योंकि दल तब प्रतिबंधित हो चुका था) के साथ मिलकर एक 'सांझे मास्चे' (यूनाईटड फ्रंट) की रणनीति अपनायी – जो कि आत्मघातक ही अधिक सिद्ध हुई । ध्यान देने योग्य तथ्य है कि भारतीय प्रयोग के समान्तर ही 'कॉम्यूनिष्ट इंटरनेशनल' के सप्तम मस्कवा सम्मेलन (अगस्त 1935) में इसी आशय की एक विश्वस्तरीय रणनीति बनाई गई । परिणामस्वरूप सज्जाद जहीर तथा ई. एस. एस. नम्बूदीरीपाडु को दल का संयुक्त सचिव बनाया गया तथा जेड. ए. अहमद तथा डॉ0 एम. अशरफ को इस दल के भाग में से ही अखिल भारतीय कांग्रेस मुख्यालय से सम्बद्ध किया गया । इसी नीति के अन्तर्गत दक्षिण भारत की अधिकांश इकाईयों का प्रभारी उन्हें बनाया गया, उदाहरणार्थ 'आन्ध्रप्रदेश में. पी. सुन्दरैया, मद्रास में पी. जीवनन्दम तथा पी. राममूर्ति तथा केरल में ए. के. गोपालन का कार्यभार संभलवाया गया । निम्न स्तरों पर भी साम्यवादियों को सहवृत किया गया । नतीजतन उन्होंने 'अन्धे से आघात' करने की नीति अपनायी– जिसके फलस्वरूप ही समस्त दक्षिण भारत कांग्रेस समाजकारी दल के प्रभाव से निकल गया ।

1937 में पटना (बिहार) में जब कांग्रेस समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक हुई, तब इस सभा में साम्यवादी दल का एक वक्तव्य पढकर सुनाया गया– जिसमे यह कहा गया कि यह दल कोई समाजवादी प्रकृति का दल नहीं है, तदापि हमें इसका प्रयोग अपनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए एक मंच के रूप में करना है। उस समय कार्यकारिणी में विद्यमान चारों साम्यवादी सदस्यों ने इसके प्रति अपनी अज्ञानता प्रकट की तथा इसके विरुद्ध

अपना क्षोभ प्रदर्शित किया । इस पर भी 'बाबू' जयप्रकाश नारायण में आंध्रप्रदेश शाखा को समग्रत: साम्यवादियों को सौंप दिया । सितम्बर 1938 में कांग्रेस समाजवादी दल के संयुक्त सचिव मीनू रूस्तमजी मसानी ने "कॉम्यूनिष्ट प्लॉट अगैनस्ट दि सी. एस. पी." नामक एक लघु पुस्तिका का प्रकाशन किया – जिसमें मई 9, 1938 के एक साम्यवादी आलेख (जिसमें साम्यवादी घुसपैठ का विवरण प्रस्तुत किया गया, वरन उन्हें उनके दायित्वों से भी अवगत कराया गया था) को आधार बनाया गया इससे यद्यपि जयप्रकाश नारायण तथा अन्य समधर्मी लोग विचलित हुए – पर दल अपनी चिरपरिचित व्यवहार शैली यानी "अनिर्णय की बंदिनी" वाले सोच में डूबा रहा, तथा कि कर्त्तव्य विमूढ़ बना रहा। यद्यपि कतिपय सदस्यों ने अपने त्यागपत्र अवश्य प्रस्तुत किए – पर दल में विद्यमान भ्रम का लाम अन्तत: साम्यवादियों को ही मिला । ध्यातव्य है कि कांग्रेस समाजवादी दल मे प्रथम विभाजन मानवेन्द्र रॉय के अनुयायियों के दल त्याग से उत्पन्न हुआ।

1938 में कांग्रेस समाजवादी दल का वार्षिक सम्मेलन लाहौर में मीनू रूस्तमजी मसानी की अध्यक्षता में संयोजित किया गया । उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में सोवियत सर्वाधिकारवाद तथा उसकी स्पेन तथा अन्य स्थानों पर प्रयुक्त संदेहास्पद गतिविधियों की "मैत्तीपूर्ण आलोचना" प्रस्तुत की, तथा इसमें स्वतंत्रता पर आधारित विधियों सें समाजवादी समाज बनाने का आह्यान भी किया गया । इसकी अपेक्षित तीव्र प्रतिक्रिया भी हुई । इस सम्मेलन में सज्जाद जहीर, दिनकर मेहता, एस. एस. बॉटलीवाला ने एक प्रतिलोमी वैचारिक अवधारणा प्रस्तुत की । इस सम्मेलन में कार्यकारीणी निर्वाचन के प्रसंग में द्वलीय विभाजन की चुनौती उठ खडी हुई । अन्तत जब 'बाबू' जयप्रकाश नारायण ने विभाजन की धमकी दी, तब कही जाकर उनकी सूची सामान्य बहुमत से स्वीकृत हो पाई । अत: यह 'हस्तामलम सदृश्य' (हाथ में रखे आंवले के समान) स्पष्ट हो गया कि दल भी साम्यवादी अपना वर्चस्व स्थापित किए चले जा रहे थे । 12

1939 तक आते आते साम्यवादियों का वर्चस्व इतना अधिक आक्रांतकारी हो गया कि उसके विरोध में कांग्रेस समाजवादी के चार संस्थापक सदस्यों यथा अच्युत पटवर्द्धन, डॉ0 राममनोहर लोहिया, मीनू रूस्तमजी मसानी तथा पुरूषोत्तम त्रिकमदास की कार्यकारिणी से अपना त्यागपत्र देना पडा–ताकि वे उनके माध्यम से दल को आसन्न संकट से बचा सके । अब दल को यह स्पष्ट चला था कि साम्यवादियों का आलिंगन 'विषकन्या 'के आलिंगन जैसा था । ऐसी स्थिति में उनके दल से निष्कासन की मांग बलवती हो उठी । अन्तत 1940 के कांग्रेस समाजवादी बलवती हो उठीं सम्मेलन में दल ने यह निर्णय लिया कि साम्यवादियों दल के रामगढ तथा निष्कासित किया जाए । मीनू रूस्तमजी मसानी ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए लिखा है–

"निस्सन्देह यह निर्णय उचित घडी में ही हुआ । यदि तनिक भी और अधिक विलम्ब किया गया होना, तो निश्चय ही साम्यवादियों ने ही समाजवादी दल को खण्ड कर दिया होता । इसलिए जब वे विदा हुए, तब वे दहेज/उपहार के रूप में दल की सर्वश्रेष्ठ गठित तीन दक्षिण

भारतीय शाखाओं यथा मद्रास, आन्ध्रप्रदेश तथा केरल की शाखाओं को अपने साथ में लेकर चले गए ।" साम्यवादियों नें इसे गांधीवाद के घृणित प्रतिक्रियावाद तथा मसानीवाद की जीत बताते हुए तथा भर्त्सना करनें हुए लिखा है–"महायुद्ध के श्रीगणेश तथा समस्त प्रकार के संघर्षो के तीव्र होने के साथ साथ जो कि बुर्जुवायी तथा सर्वहारा के मध्य, भूपतियो एवं किसानों के बीच तथा ब्रितानियायी शासन तथा भारतीय जनगण के बीच चलते रहे है, गांधीवाद अपने सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी चरण में प्रवेश कर गया है..... कांग्रेस समाजवादी नेतृत्व ने भी मार्क्सवाद को त्याग दिया है तथा अब वह पूर्णत गांधीवाद की शरण में चला गया है । इतिहास चक्रपूर्ण हो गया है । नतीजतन अन्तत मसानीवाद जीत गया है ।"

सारत: जयप्रकाश नारायण का यह आत्महंता प्रयोग कांग्रेस समाजवादी दल के लिए अहितकारी सिद्ध हुआ । परिणामस्वरूप कृषको के पश्चात श्रमिक वर्ग तथा छात्र भी उसके प्रभाव से बाहर निकल गए । स्मरणीय है कि यह दल फिर कभी इस शारीरिक दौर्बल्य से उभर नहीं पाया ।

4. 'लोकतांत्रिक समाजवाद' का युग (1940–1948)

भारतीय साम्यवादी दल के प्रति नारदमोह भंग के विषय में कालान्तर में जयप्रकाश नारायण यह लिखते है–

"इस भयावह अनुभव का एक अच्छा परिणाम भी निकला है तथा इसने हमें राजनीति का पाठ भी पढाया है वह यह है कि हमने क्लेश पाकर यह जान लिया है कि 'अधिकृति' साम्यवादी दल (यानी जो दल अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन से सम्बद्ध है या क्रेमलिन मुख्यालय से प्रतिबद्ध है) के साथ किसी प्रकार की एकता नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा साम्यवादी दल कोई स्वतंत्र अभिकर्ता (एजेंट) नहीं होता है, वरन् वह एक यंत्र या साधन मात्र होता है, तथा उसके सदस्यों की प्राथमिक स्वामी भक्ति सोवियत संघ के प्रति होती है, द्वैतियिक स्तर की भक्ति अन्य के प्रति होती है । जब कभी साम्यवादी दल सांझा मोरचा बनाने की चर्चा करते है, तब यह उनका भ्रमजाल मात्र होता है सहायता से किसी आपातकालीन स्थिति से जुझ सके । वैसे भी उनका अन्तिम तथा अपरिवर्तनीय लक्ष्य तों एकछत्र साम्यवादी शासन की स्थापना करना होता है क्योंकि वे अन्य किसी के साथ सत्ता में सहभागिता की बात सोच भी नहीं सकते है, तथा यदि उन्हें ऐसी आवश्यकता ही पड जाए तो वे कठपुतलियों से काम चलाते है ।

1940 मे आयोजित रामगढ अधिवेशन सें ही वे स्वतंत्रता एवं समाजवाद की धारणाओं के मध्य एक विचार–सेतु बनाने अर्थात लोकतांत्रिक समाजवाद लाने की दिशा में प्रयत्नशील होने लगें थे–उदाहरणार्थ उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक प्रस्ताव रखते हुए यह कहा है– "सामाजवादी भारत में राज्य पूर्णत: लोकतांत्रिक प्रकृति का होगा, क्योंकि लोकतंत्र के अभाव में सामजवाद की कल्पना करना भी असंभव है । लोकतंत्र से हमारा आशय अंग्राकित है–

अ) श्रमिको के एक से अधिक राजनीतिक दल होंगे,

आ) राजनीतिक लक्ष्यों 'की प्राप्ति हेतु स्वैच्छिक संगठनों का निर्माण कर्म संविधान सम्मत होगा,

इ) श्रमिक संघों, स्थानीय निकायों तथा सहकारी समितियों को अपने निजी प्रसारणों, समाचार पत्रों तथा विद्यालयों द्वारा अपने प्रचार प्रसार की सुविधा होंगी, तथा

ई) श्रमिक संघ सरकार का एक अंग बनने की अपेक्षा उसके कार्यो पर एक नियंत्रक की भूमिका निभाने की दिशा में अधिक प्रयत्नशील होंगे ।"

स्मरणीय है कि अब तक 1939 में प्रारंभ हुए द्वितीय महासमर के प्रभाव भारत में भी परिलक्षित होने लगे थे–विशेषत जापान द्वारा चीन तथा संयुक्त राज्य अमेरिकी द्वीप 'पर्ल हार्बर 'में आक्रमण के पश्चात ब्रह्मा तक हवाई आक्रमण के पश्चात कालीकाटा (कलकत्ता) के मारकंडी व्यवसायियों को यह भय सताने लगा था कि उनका अस्तित्व भी संकट में है–एतदर्थ वहां से पलायन होने लगा । दूसरी तरफ ब्रितानियायी शासन नें एकपक्षीय यह घोषणा कर दी कि भारतीय राज्य भी उनकी तरफ से फासीकरी नाजीकदी राष्ट्रों के विरूद्ध युद्ध करेगा । ऐसी स्थिति में कांग्रेस समाजवादी दल को कठिन यह निर्णय लेना था कि वह आसन संकट के प्रसंग में क्या निर्णय ले । उसके समक्ष तीन अग्रंकिन विकल्प उपस्थित थे–अ) प्रथम विकल्प कांग्रेस समाजकदियों के अनौपचारिक नेता 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्तुत किया । उनका यह आग्रह था कि भारतीय जनगण को बिना किसी संकोच एवं पूर्ण शर्त के आंग्ल–अमेरिकी शिविरार्थियो का समर्थन करना चाहिए, ताकि फासीवाद एवं नाजीवकद की पराजय हो, तथा लोकतांत्रिक शक्तियों की विजय हों । तथा इस समय हमें अपने स्वातंत्रय समर को स्थगित करना चाहिए । आ) द्वितीय विकल्प राष्ट्रवादी तथा समाजवादियों को प्रिय 'नेता जी' (सुभाषचन्द बसु (बोस)) ने प्रस्तावित किया । उनका स्पष्ट अभिमत यह था कि हमें ब्रितानी शासको की इस संकट की बेला में अपना स्वातंत्रय समर पूर्ण शक्ति से संचालित करना चाहिए। तथा यदि इसमें धुरी राष्ट्रों की सहायता भी मिले, तों हमें स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए शैतान से भी हाथ मिला लेने चाहिए । तथा इ) तृतीय विकल्प 'महात्मा 'मोहनदास कर्मचन्द गांधी का रहा– जिसके अनुसार नाजीवाद फासीवाद का मुकाबिला पददलित जनता को 'सिविल' नाफरमानी (यानी सिविल डिसऔबिडियंस) के माध्यम से करना चाहिए । जहां 1942 से पूर्व यह–युद्ध साम्यवादियों की दृष्टि में साम्राज़्यवादी था, पर जर्मनी द्वारा सोवियत संघ पर आक्रमण के पश्चात उनके लिए इस युद्ध की प्रकृति ही बदल गई। तथा जब भारत के ब्रितानी, शासको 'में साम्यवादी दल (पर से अपना प्रतिबन्ध हटा लिया, तब साम्यवादी दल ने भी राष्ट्रीय धारा के विपरीत निर्णय लेकर बितानी शासको के युद्ध प्रयासों में तन मन् धन से सहायता की । इस विषय में विदेश नीति विशेषज्ञ तथा कांग्रेस सामाजवादी दल के संस्थापक सदस्य डॉ0. राम मनोहर लोहिया लिखते है– "इसी तरह से एक तीसरा सकल उठाया था युद्ध कला कि जब युद्ध हों अंग्रेजो का और जर्मनी का और यह बात बहुत पहले मालूम हो गयी थी कि युद्ध अब शुरू होने वाला है, साल दो–साल में और किसका किसके बीच में होगा अलबत्ता थोडा सा संशय था, लेकिन संसार में युद्ध होने वाला है, यह बात तो युद्ध होने के साल दो साल पहले तक जो जैसा

आदमी था, किसी को थोडा ज्यादा पहले मालूम हो गया, किसी को थोडा कम पहले मालूम हो गया था तो, उस समय कोन सा रूख लेना । अंग्रेजी साम्राज्यवाद से सीधी टक्कर लेना और बढिया टक्कर लेना इस मामलें में कांग्रेस समाजवादी दल ने आगे बढकर काम किया क्योंकि कांग्रेस तो मंत्रीमण्डल बनाये हुए थी, चिपके हुए चाहे न करो, इसलिए उनके सोचने का ढंग भी एक रकस किस्म का हो चला था, सोचने का, बोलने का, काम करने का। ऐसे मौके पर कांग्रेस समाजवादी बल ने कांग्रेस के अन्दर रहते हुए युद्ध के अवसर पर अंग्रेजी सम्राज्यवाद् से सीधा और तीखा मोरचा लिया जाये इस विचार को फैलाया ।"

इस विषय में डॉ0 राममनोहर लोहिया की विदेश नीति विषयक अवधारणा के विषय में एक अन्य अध्येता अपने कृतित्व में यह कहते है "लोहिया की राय में "फासिस्ट" इटली–जर्मनी और साम्राज्यवादी इंगलिस्तान–फ्रान्स के संघर्ष में किसी की भी पक्ष दुनिया के पराधीन राष्ट्रों के समर्थन लायक न था । किसी भी पक्ष की जीत से नई दुनिया के निर्माण में मदद मिलने वाली नहीं थी । लोहिया ने देखा कि पहले महायुद्ध के बाद नागरिको पर राज्य के बंधन बढे थे..... अब कोई भी व्यक्ति बिना संबन्धित सरकार की अनुमति के विदेश यात्रा नहीं कर सकता था । लोहिया इसे मनुष्य की एकता, समानता एवं स्वतंत्रता के विरूद्ध मानते थे..... इस अर्थ में विश्व नागरिकता की धारणा स्वीकृत होनी चाहिए । बाद में उन्होंने इसमे विश्व का संघ सरकार का विचार भी जोड़ा ।

लोहिया की विचार व्यवस्था का दूसरा पाया यह व्यक्ति दुनिया में सभी 'राष्ट्र पूर्ण स्वतंत्र हो, सभी जगह बालिग मताधिकार पर चुनी हुई सरकार हों.....इसके साथ ही साम्राज्य देशों द्वारा उपनिवेशों का आर्थिक शोषण बंद हों..... और अपनी स्वतंत्रता के लिए लडने वाले सभी राष्ट्र साम्राज्यवाद और युद्ध के खिलाफ संयुक्त मोरचा बनाये । इन लक्ष्यो के साथ सारी दुनियां में पूर्ण निरस्त्रीकरण हो, 'सभी हथियार खत्म किये जाऐ ।

"यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि दूसरा महायुद्ध छिडने वाला था । लोहिया का था कि सारी दुनियां में पराधीन राष्ट्र को अपनी मर्जी युद्ध में खीचें जाने को विरोध करना चाहिए । सेना भर्ती, युद्ध कर, और युद्ध करो का सक्रिय विरोध करते हुए अपनी आजादी के लिए आन्दोलन करना चाहिए विशेषकर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन को युद्ध प्रारम्भ होने पर ऐसी नीति अपनानी चाहिए ।" अगस्त क्रांति काल (1942) – भारत में समाजवादी आन्दोलन का स्वर्णिम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस महा समिति की बैठक इलाहाबाद (1942) युम के पूर्वार्द्ध में हुई–जिसमें 'महात्मा' मोहनदास कर्म चन्द गांधी के भारत छोड़ो आंदोलन तथा अहिंसात्मक असहसयोग (सिविल डिसआऑबिडियन्स) के प्रस्ताव पर तीखी बहस हुई–जिसका समर्थन जहाँ डॉ0 राममनोहर लोहिया ने किया–वहां 'पंडित' जवाहर लाल नेहरू ने विरोध किया । अंततः 8, 1942 को आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यसमिति नें बॉम्बे (मुम्बई) बैठक में 'भारत छोडो' का विख्यात प्रस्ताव पारित किया गया, तथा इसमें 'महात्मा' मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने 'करो या मरो' का राष्ट्र के नाम अपना मूलमंत्र दिया । इससे पूर्व कांग्रेस अपनी नीति को कार्यान्वित, करती, उससे पूर्व ही प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं को हिरासत में ले लिया गया, तथा उन्हें अहमद नगर किले के कृष्ण मन्दिर में ले जाया । राष्ट्र के लिए यह एक निर्णायक घड़ी थी ।

4.1 गांधीवादी–रूझान

स्मरणीय है चूंकि अगस्त 12 के प्रस्ताव तथा गांधी मूलमंत्र के आधार पर समस्त जनगण ने स्वत: स्फूर्त विद्रोह के मार्ग का वरण–किया–अत: इसे "अगस्त क्रांति" की संज्ञा देना उचित ही कहा जाएगा । इन कठिन परिस्थतियों में कांग्रेस समाजकदी नेतृत्व नें इसे क्रांति का न केवल कार्यभार संभाला, वरन उसे एक सफल भूमिगत आन्दोलन का भी सफलतापूर्वक संचालन किया । उदाहरणार्थ जयप्रकाश नारायण, डॉ0 राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्द्धन, पुरूषोत्तम त्रिकमदास, मोहनलाल सक्सेना, रामानंदन मिश्र, श्रीधर महादेव जोशी, साने गुरूजी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अरूणा आसफअली, सुचिता कृपालानी और पूर्णिमा बैनर्जी इत्यादि नेताओं नें मिलकर एक केन्द्रीय संचालन मण्डल बनाया । जहां संगठन का दायित्व अच्युत पटवर्द्धन पर सौंपा गया, वही डॉ0 राममनोहर लोहिया को नीति निर्धारण का कार्यभार दिया गया। जिसका उन दोनों ने सफलतापूर्वक निर्वाह किया । दोनों का यह भी आग्रह था मानव हत्या तथा मानव हानि, से बचते हुए हमें अपना भूमिगत आन्दोलन चलाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु "आजाद दस्तों" का गठन किया गया । उनकी (डॉ0 लोहिया) की प्रेरणास्पद लघु पुस्तकें अग्रांकित रही है–"जंगजू आगे बढे", "क्रांति की तैयारी" तथा "आजाद राज कैसे बने ।" जयप्रकाश नारायण ने भी "आजादी के सैनिकों के नाम" कतिपय पत्र प्रकाशित किए–जिसमें क्रांतिकारी कार्यक्रम भी प्रस्तावित किए गए। उन दोनों के संदेशों को पूर्णिमा बैनर्जी तथा अरूणा आसफअली ने राष्ट्र में घूम–घूम कर प्रचारित किया । तथा डॉ0 राममनोहर, लोहिया तथा आचार्य ऊषा मेहता शनै शनै: "आजाद कांग्रेस रेडियो" के प्रसारण प्रारंभ किए। जिन्होंने राष्ट्रव्यापी चेतना का प्रचार–प्रसार करने में महति भूमिका निभाई । पर सर्वाधिक सहयोग भारत मंत्री एमरी के उस राष्ट्रीय प्रसारण से मिला–जिसमें दिशाहीन जनता को खुली बगावत के नाम पर कतिपय कार्यक्रम दिए गए । अगस्त क्रांति शीघ्र ही राष्ट्रीय विद्रोह का पर्याय बन गई ।

इस क्रांति की अग्रांकित घटनाएँ उल्लेखनीय रही है–

1) हजारी बाग 'जेल' से जयप्रकाश, सूरज नारायण, रमानंदन मिश्र तथा योगेश शुक्ल आदि निकल, भागे–जिससे जनता को प्रेरणा मिली ।
2) पुणे में देहू पथ पर जनता में 2 या 21/2 करोड की युद्ध सामग्री उठा ली थी, तथा उसे नष्ट, कर दिया था । एवं
3) बलिया (उत्तर प्रदेश) में 'जनता राज' स्थापित हो गया था वहां जिला दंडनायक तथा 'कलैक्टर' हिरासत में ले लिए गए । उसके प्रधानमंत्री एक कांग्रेसी नेता चित्तू पांडे बनाये गए - जिन्होंने अपने मंत्रिमंडल की भी घोषणा कर डाली । इस कल में रेलवे की पटरियाँ तथा सडकें आदि तोड डाली गयी, और सम्पूर्ण बलिया जिला उनके नियंत्रण में आ गया ।

नवम्बर 9, 1942 को हजारी बाग कृष्णा मन्दिर पुलिस ने उन्हें (जयप्रकाश को हिरासत में लेने में सफलता प्राप्त की जबकि अन्त में, सतत् प्रयत्नों के पश्चात मई 20, 1944 को बॉम्बे (मुम्बई) में डॉ0 राममनोहर लोहिया को गिरफ्तार किया गया । दोनों नेताओं को यंत्रणाएं

देने हेतु लाहौर कृष्ण मन्दिर में लाया गया । यद्यपि श्रीमती पूर्णिमा बैनर्जी ने दोनों की मुक्ति हेतु बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिकाएं प्रस्तुत की, पर ब्रितानियायी शासन ने उन्हें 1918 के तीसरी अनुच्छेद के अन्तर्गत–"राज्य बंदी" घोषित कर मुक्ति के मार्ग में बाधा डाली । याचिका रह होने के पश्चात उन्हें फिर सुरक्षा बंदी बना लिया गया । अन्ततोगत्क "कैबिनेट मिशन" तथा "महात्मा" मोहनदास कर्मचन्द गांधी की वार्ता के पश्चात इन दोनों समाजवादी नेताओं को अप्रैल 11, 1946 को आगरा कृष्ण मन्दिर से 'मुक्त' कर दिया गया । बाद में डॉ0 राममनोहर लोहिया इसको आकलन करते हुए लिखते है–

".....इतना तो सभी जानते है कि 1942 में कांग्रेस समाजवादी दल के लोगों ने अपनी समझ के मुताबिक काफी कोशिश की कि अंग्रेजो के खिलाफ अच्छा, बढिया आन्दोलन खडा हो, क्रांति खडी हो । 1942 की खुली क्रांति के बारे में यह मशहूर हुआ कि तेज और जल्दी और थोडे में फूट करके यह खत्म होने वाली क्रांति है–सबसे पहले मैंने ही इन शब्दों को इस्तेमाल किया था ।..... इतना तो मैंने देख लिया था कि ये क्रांति कम समय की और तेज होगी लेकिन उसके उपयुक्त संगठन बनाने के लिए मैं अपने लिए इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने कुछ नहीं किया..... खाली आजादी मिल जाना बडी बात नहीं है । आजादी के लिए तुमने कितनी लडाई लडी, और गुलामी के जमाने में आजादी के लिए जितनी ज्यादा आग में गुजर करके मन और शरीर को मजबूत किया है, उतना ही ज्यादा अच्छा देश होता है और आदमी भी ।..... जो भी कमजोरी के तत्व है वे इस कारण से है कि हमारी तपस्या कम रही ।"

जून 18, 1946 को मंडगांव (गोवा) में बोलते हुए डॉ0 राममनोहर लोहिया ने वहां की जनता से स्वातंत्रय समर चलाने का आह्वान करते हुए अपनी गिरफ्तारी दी । इस पर उनके समर्थन में न केवल "महात्मा" गांधी आगे आये–वरन उन्होंने 'हरिजन' लिखा भी है–

"..... अपने कृतित्व द्वारा उन्होंने नागरिक स्वतंत्रता की और खासकर गोमांतकीयों की सेवा की है, ... मैं गोवा की पुर्तगीज् सरकार को सलाह देता हूँ कि समय को पहचान कर और पुर्तगीज् व ब्रिटिश सरकारों के बीच हुए समझौते के अनुसार अपने नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार न करके सम्मानपूर्ण बर्ताव करें.....गावा के नागरिको को मैं यहीं कह सकता हूँ कि उन्हें पुर्तगीज सराकर का डर छोडना चाहिए जैसे भारतीय जनता ने शक्तिशाली अंग्रेजो को छोडा है और नागरिक स्वतंत्रता का बुनियादी हक प्रस्थापित करना चाहिए ।"

इस भांति यह भी स्मरणी है कि कांग्रेस समाजवादी नेतृत्व संविधान सभा क महत्व भी नहीं समझ पा रहा था, एवं उसका मानस बहिष्कार का बन रहा था । इस पर अगस्त 13, 1946 को डॉ0 राममनोहर लोहिया ने एक वक्तव्य दिया–जिसमें वे कहते है–

"सोशलिस्ट पार्टी का संविधान सभा में शरीक न होने का निर्णय ठीक तरह से प्रकाशित नहीं किया गया है । जो चार लोग चुनकर आये थे–उन्होंने पार्टी के निर्णय के बाद संविधान सभा से हटने की कोशिश की । लेकिन यह कठिन हो गया था । चुनाव जीतने के बाद भी उत्तरप्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष सेठ दामोदर स्वरूप ने अपनी जगस से स्तीफा देने का प्रयत्न किया ।

.....इन सदस्यों को अपनी नीति ठीक तरह न पहुचाकर उनको अडचन में डालने की गलतफहमी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि हमने काफी स्पष्ट किया है कि संविधान परिषद नहीं बल्कि जन–शक्ति हमारा मार्ग है ।"

कानपुर (उत्तरप्रदेश) में 9 वर्ष पश्चात देश भर के कांग्रेस समाजवादी नेता/कार्यकर्ता एकत्रित हुए । यह अधिवेशन फरवरी 26–28, 1947 तक चला–तथा इसकी अध्यक्षता डॉ0 राममनोहर लोहिया ने की । यहीं पर कांग्रेस समाजवादी दल नामकरण में से "कांग्रेस'' शब्द को हटाया गया । इस नये नामकरण पर उन्होंने अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में जो अग्रांकित स्पष्टीकरण दिया है वह आज भी प्रासांगिक लगता है, इस प्रसंग में वे कहते है–

"कांग्रेस शब्द हटाने का अर्थ कांग्रेस विरोध नहीं । कांग्रेस हमारा राष्ट्रीय संगठन है । अनिवार्य रूप से कांग्रेस का सदस्य बनने वाली शर्त हटायी गई है । इसका यह अर्थ नहीं कि हम कांग्रेस से निकल गए है । कांग्रेस शब्द हटाने से दूसरे गिरोह के लोग भी पार्टी में शामिल हो सकेंगे जो हमारे उद्देश्यों से सहमत हो, मगर जो लोग कांग्रेस में शामिल नहीं होना चाहते । .....कांग्रेस का बंधन टूटा नहीं है सिर्फ ढीला पड गया है । कांग्रेस हमारा घर है । घर छोडने पर भी आदमी घी की बुराई नहीं कर सकता । जिस घर में वर्षों से रहा हूँ उसे अपने हाथों से गिरा नहीं सकता । कांग्रेस की खूबसूरती हमने बढाई है, अब उसे बदसूरत नहीं बना सकते । .....कांग्रेस मंत्रीमण्डल का पुछल्ला बन गई है ।..... मुझे कांग्रेस छोडना मंजूर नहीं । हमारा यकीन है कि जब तक गांधी है तब तक वे कांग्रेस का क्रांतिकारी स्वरूप पूरी तरह नष्ट नहीं होने देंगे । अब कम से कम सोशलिस्टों को कांग्रेस से लडने का मौका रहेगा और कुछ न्याय भी मिलेगा ।"

जून 14, 1947 को जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यसमिति ने राष्ट्रीय विभाजन पर अपनी स्वीकृति की मुद्रा अंकित कर दी, तब अगले ही दिन यानी जून 15, 1947 को डॉ0 राममनोहर लोहिया की अध्यक्षता में समाजवादी दल की कार्यकारीणी की एक बैठक हुई–जिसमें यह निर्णय लिया गया कि कांग्रेस महा समिति की बैठक में जब इस विषय में कार्यसमिति द्‌वारा विभाजन प्रस्ताव लाया जायेगा–उसका न तो विरोध किया जायेगा, न ही संशोधन प्रस्तुत किया जायेगा अर्थात् तटस्थता की नीति अपनायी जायेगी । जिस निर्णय को 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू सर्वथा निर्णयहीनता का प्रमाण बताया । इस निर्णय पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए ओंकार शरद लिखते है–"इस प्रकार लोहिया की अध्यक्षत में 'सोशलिस्ट पार्टी' विभाजन के प्रस्ताव पर तटस्थ रही । लोहिया के मन में विभाजन के विरोधी होकर भी तटस्थ रहे । ऐसा उन्होंने क्यों किया यह बात समझ में नहीं आती..... उस क्षण खामोशी से सब सह लेने के अपराध के भागी लोहिया और गांधी दोनों है । इनकी खामोशी अप्रत्यक्ष रूप सें देश के विभाजन की समर्थन बनी ।

इस समय सोशलिस्ट पार्टी की सचमुच अजीब स्थिति थी । बाहर के लोग कांग्रेस के साथ मानते और कांग्रेस उन्हें अपना दुश्मन मानती और सोशलिस्ट बीच मे लुढकते रहे ।"

फरवरी 1948 में कांग्रेस महासमिति ने 'सरदार' बल्लभ भाई पटेल का वह संशोधन पारित कर दिया । – जिसके अनुसार किसी अन्य दल (जिसका अपना एक पृथक संविधान हो)

का सदस्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सदस्य नहीं हो सकता है । संकेत स्पष्टत: समाजवादी दल के सदस्यों की तरफ था । इस प्रकार 'महात्मा' मोहनदास कर्मचन्द गांधी के निधन के साथ ही कांग्रेस संगठन तथा समाजवादियों का सम्पर्क सेतु नष्ट हो गया । स्मरणीय है कि इसकी पृष्ठभूमि में जयप्रकाश नारायण के गांधी हत्या प्रसंग में 'सरदार' पटेल विरोधी तीव्र वक्तव्यों की भी पहली भूमिका रही । दूसरी तरफ 'सरदार' बल्लभ भाई पटेल तथा 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू दोनों ही त्वरित गति से राष्ट्रीय औद्योगिक बुर्जुवा वर्ग के प्रतिनिधियों के रूप में उभर रहे थे ।

इन परिस्थतियों में मार्च 1921, 1948 को समाजवादियों का नासिक (महाराष्ट्र) में वह राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ–जिसमें उन्होंने अन्तत: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के परित्याग करने का निर्णय लिया । 1948 में परित्याग का एक कारण तो यह था कि केरल तथा बॉम्बें (मुम्बई) नगरपालिकाओं के चुनावों मिली सफलता सें समाजवादियों को यह नारदमोह हो गया था कि जनता के हृदय में उनके प्रति अपार प्रेम तथा उत्साह पाया जाता है । तथा दूसरे जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता तथा मीनू रूस्तमजी मसानी आदि इस मत के थे कि 1942 की "अगस्त क्रांति" के स्वर्णिम युग को मतों में बदला जा सकता है । जबकि आचार्य नरेन्द्रदेव तथा डॉ0 राममनोहर लोहिया तब इस पक्ष में थे कि अभी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को त्यागने का अभी उचित अवसर नहीं आया है क्योंकि उनकी रायें हम अभी तक भी "बालूयी भ्रम'' की दीवार पर खडे है । पर अधिकांश नेतृत्व के मानस पटल पर अभी भी "अगस्त क्रांति (1942) का उन्माद छाया हुआ था । इस निर्णय के फलस्वरूप समाजवादी दल को दूसरे बड़े विघटन का सामना करना पडा, जबकि उत्तरप्रदेश प्रथा पश्चिमी बंगाल के अनेक संगी साथी या तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में रह गये या वे साम्यवादी–दल की शरण में चले गए । इसका कारण यह था कि 1947 के पश्चात दल में पहली बार सर्वाधिकारवादी निरंकुश साम्यवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद के मध्य एक लक्ष्मण रेखा खीचीं, तथा उनमें से लोकतांत्रिक समाजवादी प्रणाली का वरण किया । महासचिव जयप्रकाश नारायण ने अपने ऐतिहासिक प्रतिवेदन में लोकतंत्र मे प्रतिपक्ष की एक सर्जनात्मक भूमिका की चर्चा की–जिसके अन्तर्गत वे साम्प्रदायिकता तथा प्रतिक्रियाकम के विरूद्ध सत्तारूढ दल के साथ भी सहकारिता करते को तत्पर थे, तथा उन्होने इग्नेजिऑ सिलोने को उद्यत करते हुए 'जीवन मूल्यों' (वैल्यूज) पर आधारित एक लोकतांत्रिक समाजवादी समाज का एक राष्ट्रीय विकल्प भी प्रस्तुत किया । उन्होने—यह भी कहा कि समाजवादी दल का गठन कांग्रेस की "संसदीय मनोवृति" के विरूद्ध किया गया है, तथा उसे "संघर्ष के एक साधन के रूप में" संगठित प्रयास करना था । पर दु:ख का विषय है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विभाजन स्वीकार कर अंशिक स्वतन्त्रता का वरण किया, तथा उसने संघर्ष एवं, सृजनात्मक कार्यक्रम के स्थान पर सहज संसदीय का चयन लिया है । अन्ततोगत्वा मार्क्सवादी जयप्रकाश नारायण गांधीवाद की और शनै:–शनै: आकर्षित होते चले जा रहे थे, यथा वे अपने प्रतिवेदन में कहते है–

"गाँधी जी ने हमें अनेक महत्वपूर्ण अवदान दिए है, उनमें उनका महत्वपूर्ण अवदान है कि साधन ही साध्य है, दल में ज्ञानी लोगों को अपने गुणों के आधार पर आगे बढना चाहिए ।

...जब हम सर्वाधिकारवादी निरंकुश राष्ट्रों (जिसमें फासीवादी, नाजीवादी तथा साम्यवादी व्यवस्थाओं के राष्ट्र समाहित है) का अध्ययन करते है, तब हम यह पाते है कि वहां पर राज्य सर्वशक्तिमान तथा निरंकुश हो गया है, जन प्रेरणाएं लुप्तप्राय: है, तथा मानव राज्यरूपी विशाल यंत्र एक पूंजीमात्र बन कर रह गया है, ऐसे राज्य का निर्माण करना तो हमारा लक्ष्य नही है ..लोकतंत्र का वह तकाजा है कि मानव राज्य पर न्यूनतम रूप में निर्भर रहे..... मार्क्स तथा गांधी दोनों ही लोकतंत्र के अंतिम चरण में राज्यरूपी संस्था के मुरझाकर झड जाने की बातें करते है ?..... हम एक लोकतांत्रिक समाज पर आधारित राज्य की स्थापना संसदीय जोडतोड/तालमेल की बजाय सर्जनात्मक कार्यों से, तथा दूसरों की भूलों से लाभ उठाने की अपेक्षा सेवाभाव से कर पाएंगे – ऐसी हमारी मान्यता है कि हमें सत्तारूढ़ होने के अपने मोह को भी नियंत्रित करना सिखना होगा ।

इस सुदीर्ध उद्धरण देने के पीछे हमारा अभिप्राय यही है कि किस प्रकार भारत के समाजवादी आन्दोलन ने वैज्ञानिक समाजवाद से लोकतांत्रिक समाजवाद अन्तत: गांधीवादी साध्यों तथा साधनों की दिशा में कैसे अनेक चरण उठाये, तथा उसके जीवन्त प्रतीक बने 'बाबू' जयप्रकाश नारायण ने कैसे इन परिवर्तनो को अंगीकार तथा स्वीकार किया ।

5. सारांश

भारत में समाजवादी आन्दोलन के विद्यार्थियों तथा अध्येताओं के लिए कांग्रेस समाजवादी चरण यह जानने के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है कि ऐसे कौन से कारक रहे है - जिनके कारण उसकी, अस्मिता तथा अस्तित्व सदैव संकटग्रस्त रही है । इसका उज्ज्वल पक्ष यह रहा है कि उनके नेतृत्व ने मार्क्सवादी साम्यवाद के विकल्प के रूप में समाजवादी विचारधारा का इतना अधिक प्रचार–प्रसार किया कि शनै: शनै: उसके आसपास में एक राष्ट्रीय आम राय का निर्माण होने लगा । तथा समाजवादी नेतृत्व ने राष्ट्रीय स्वातंत्रय समर के साथ ही समाजवादी, कार्यक्रम कि रूपरेखा प्रस्तावित की–जिसे कि भारतीय राष्ट्रीय–कांग्रेस ने अन्ततोगत्वा स्वीकार किया। सारत: समाजवादी आन्दोलन की उपलब्धि यह रही है कि उसने समाजवाद को एक नई राष्ट्रीय गरिमा दिलवायी । कतिपय लोगों के अनुसार वामपंथी विचारधारा के इस दबाव समूह में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को स्वातंत्रयोत्तरकालीन स्थितियों के लिए एक समाजवादी समाज, बनाने की वैकल्पिक विचारधारा प्रदान की । यह सत्य है कि प्रारम्भ में अधिकांश कांग्रेस समाजवादी नेतागण 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू तथा 'नेता जी' सुभाषचंद्र बसु (बोस) के साथ 'वैचारिक नैकटय' का अनुभव करते थे, पर कालान्तर में वे 'महात्मा' मोहनदास कर्मचंद गांधी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व कि ओर आकर्षित हुए । तथ्य यह है कि जहां इस समाजवादी सहयोग से 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू दक्षिणपंथी कांग्रेसियों के विरुद्ध संघर्ष में लाभान्वित हुए - वहां दक्षिण पंथी नेतृत्व के कोपभाजक समाजवादी बने । तथा जब तक वे 'महात्मा' मोहनदास कर्मचंद गांधी के कृपापात्र बने, तब तक 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू तथा 'सरदार' बल्लभ भाई पटेल भारत के औद्योगिक बुजुर्वा वर्ग के प्रतिनिधि बन चुके थे अर्थात स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात 'महात्मा' गांधी उनके लिए सर्वथा अप्रासंगिक हो चुके थे ।

पर अभी भी यक्षप्रश्न यह उठता है कि भारतवर्ष में समाजवादी आन्दोलन क्यों नहीं प्रभावी हो पाया? क्या इसका कारण भारत के समाजवादी नैतृत्व की मध्य–नागरीय (अरबन मिडिल क्लास) पृष्ठभूमि नहीं रही है ? मूल प्रश्न यह भी उठता है कि हमारे यहां समाजवादी आन्दोलन की विभिन्न तथा विरोधाभासी नैतृत्व तथा व्यक्तित्व की शैलियां उसके पतन के लिए उत्तरदायी रहे है? क्या इसका एक कारण यह नहीं है कि मध्यवर्गीय समाजवादी नेतृत्व कभी भी न तो अपने आपको वर्गच्युत कर पाया तथा न ही वह देश की परम्परा, इतिहास तथा दार्शनिक मान्यताओं से जुड पाया? कतिपय लोग इसका एक अन्य कारण यह मानते है कि भारत का समाजवादी नेतृत्व 'गांधीयुग' में नेहरूवादी तथा 'नेहरूयुग' में गांधीवादी बना रहा ? अन्ततः भारत का समाजवादी आन्दोलन मार्क्सवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद तथा गांधीवाद के वैचारिक विकल्पों में से किस एक विकल्प का न तो यथा समय चयन कर पाया, तथा न ही वह तद्नुसार अपना आन्दोलन संगठित कर पाया ?

अन्ततोगत्वा हम डॉ0 राममनोहर लोहिया के इस निष्कर्ष से सहमत है, जबकि वे लिखते है–

"लेकिन जनता को तीव्र राजनीति की तरफ ले जाने के लिए संगठन और कमेटियां होनी चाहिए, उसके लिए उपयुक्त विचारधारा होनी चाहिए, दिमागी मंथन और चिंतन निरंतर होना चाहिए जो नही हुआ । उसके साथ साथ जिस तरह से कांग्रेस ने शहरों के मध्यमवर्ग और देहात के खाते पीते किसानो को अपना खंभा बनाकर एक संगठन बनाया था, उसी तरह सोशलिस्ट पार्टी वालो को खेत मजदूर अथवा कौलदार या भागकृषक और शहरों में छोटे मोटे दुकानदार अथवा विद्यार्थी अथवा कारखानों के मजदूरों को आधार बनाकर – एक संगठन बनाना चाहिए था।

"वाहन नही होने के कारण वह कमजोरी बुनियादी रही और मिरच युगवालों कमजोरी चलती चली गयी।

फिर जब हम उफान के युग में आये तबभी वाहन नहीं बना । इसलिए जब कभी सवाल उठता था कि अब हम क्या करें तो हमारे सदस्यों और नेताओं, कार्यकर्ताओं, सभी के मामलों में दिक्कत होती थी कि इच्छा पूरी नहीं हो पाती ।..... मन तभी स्थिर रह सकता है जब एक तरफ तो धीरज हो और चाहे जितनी दफा हार होती हो, लेकिन हमको तो अपने सही रास्ते के ऊपर चलते रहना है और दूसरी तरफ अगर हम वाहन वाले काम में अच्छी तरह से लग जाते । समाजवादी आन्दोलन का असली रोग यही है ।"

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि हन्ना अरेन्द्रत के शब्दों में पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन में कार्ल मार्क्स का प्रमुख को न केन्द्रबिन्दु बनाया, वरन् उसने यह प्रस्थापना भी रखी कि गरीबी का प्रश्न आर्थिक कम एवं राजनीतिक ज्यादा है, तथा यह इस बात पर निर्भर करता है कि राजनीतिक सत्ता समाज के किस वर्ग के पास मे है । इसी भांति हम जयप्रकाश नारायण के शब्दों में यह कह सकते है कि समाजवादी दल ने भारती राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति में 'सामाजिक –आर्थिक तत्व' सर्वप्रथम जोडे, तथा उसने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की सर्वांगीण धारणा को एक वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तावित किया । वैसे भी हमें किसी भी

राजनीतिक चिन्तन, नेता तथा आन्दोलन के मूल्यांकन सें पूर्व तत्कालीन राष्ट्रीय तथा अन्तराष्ट्रीय परिवेश को ध्यान में रखना होगा । स्पष्ट है कि वे शोषण तथा अन्याय पर आधारित जिस विभेदीकृत सामाजिक व्यवस्था में कार्य कर रहे थे – उसके प्रसंग में उनके योगदान को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए । यद्यपि चिन्तन तथा संगठन के धरातल पर उनकी अपनी समस्याएं रही है – जिनसे वे कभी नहीं उभर पाये ।

6. संदर्भ ग्रन्थ

लोहिया	:	ह्वील ऑफ हिस्ट्री
लोहिया	:	मार्क्स, गांधी एण्ड सोशियलिज्म
जय प्रकाश	:	व्हाई सोशलिज्म?
जय प्रकाश	:	फ्रोम सोशलिज्म टु सर्वोदय
जय प्रकाश	:	सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डिमोक्रेसी

7. अभ्यास प्रश्न

1) क्या आपकी दृष्टि में कांग्रेस समाजवादी दल अपने वैचारिक तथा सांगठनिक लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल रहा है? तथा उन कारकों को रेखांकित कीजिए – जिनके कारण वह वांछित भूमिका नहीं निभा पाया है ।

2) "बहुल विचारवादी कांग्रेस में समाजवादी नेताओं ने एक वामपंथी 'लॉबी' का निर्माध अवश्य किया । पर वे एक व्यापक जनाधार प्रस्तुत नहीं कर पाए । ..... वे इस 'नवयुग' में विचारधारा का अस्त्र अवश्य धारे हुए थे, पर उनके पास अन्य कोई भी उल्लेखनीय आधार नहीं था ।' (जॉन एस. ब्लैकटॉन)
क्या आप इस मूल्यांकन से सहमत है? अपने उत्तर को अधिक तार्किक एवं प्रमाणिक बनाईये ।

3) यह कहा जाता है कि कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस नीति में 'सामाजिक – आर्थिक तत्व' जोडने में महती भूमिका निभायी है। (जयप्रकाश नारायण) प्रश्न यह उठता है कि क्या इस उपलब्धि को एक संतोषप्रद उपलब्धि माना जा सकता है? दूसरे, इससे कांग्रेस समाजवादी दल को स्वयं क्या उपलब्धि हुई?

इकाई–19
मानवेन्द्रनाथ रॉय का राजनीतिक चिन्तन

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. औपनिवेशिक क्रांति की प्रकृति–लेनिन से मतभेद
4. अ–उपनिवेशीकरण का सिद्धान्त
5. भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या
6. मार्क्सवाद की आलोचना
7. नवमानववाद
   - 7.1 मनुष्य का स्वभाव
   - 7.2 आधारभूत मूल्यात्मक तत्व
   - 7.3 विश्व–राज्यवादी दृष्टिकोण
8. `निष्कर्ष
9. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के निम्नलिखित उद्देश्य है–

1. एम. एन. रॉय के राजनीतिक चिंतन के व्यापक परिवेश का अभिज्ञान;
2. औपनिवेशिक क्रांति की प्रकृति तथा अ–उपनिवेशीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या;
3. भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या से परिचय;
4. नवमानववाद की अवधारणा की विवेचना; तथा
5. रॉय के योगदान का आकलन ।

2. प्रस्तावना

मानवेन्द्र रॉय (1886–1954) का जन्म एक ऐसे समय में हुआ, जब बंगाल में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का बहुत प्रभाव था। निश्चित रूप से ऐसे समय में राजनीतिक बोध का होना अपने आप में महत्वपूर्ण है। अत: मानवेन्द्र नाथ रॉय अपने विद्यार्थी जीवन से ही क्रान्तिकारी बन गये थे, अर्थात् प्रारम्भिक जीवन से ही वामपंथ की तरफ उनका झुकाव हो जाता है। चूँकि रॉय कट्टर राष्ट्रवादी थे, अत: राष्ट्रीय मुक्ति की खोज में सन् 1915 में वे भारत छोड़कर इण्डोनेशिया चले गये। वहां से जावा, फिलिपीन, कोरिया तथा मंचूरिया होते हुये वे अमेरिका पहुंचे, जहां उग्रवादी नेता लाला लाजपत रॉय से उनकी दोस्ती हुई। वैचारिक धरातल पर मार्क्सवाद के प्रभाव कारण यहां पर एम. एन. रॉय यह मानने लगे कि राष्ट्रवाद को समाजवाद के साथ जोड़कर देखा जाना चाहिए। अमेरिका से मैंक्सिको गये, जहां साम्यवादी नेता माइकेल

बोरोडिन के सम्पर्क के कारण उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आत्मसात करने की कोशिश की। बोलशेविक क्रान्ति के उपरान्त लेनिन ने उन्हें रूस में बुला लिया तथा वे औपनिवेशिक समस्याओं पर बोलशेविक पार्टी के सलाहकार बन गये।

3. औपनिवेशिक क्रांति की प्रकृति–लेनिन से मतभेद

द्वितीय कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल कांग्रेस के समय मानवेन्द्रनाथ रॉय का लेनिन से औपनिवेशिक क्रांति की मान्यता लेकर मतभेद हो गया। लेनिन का मानना था विदेशी पूंजीवाद को खत्म करने के लिये, जो कि औपनिवेशिक क्रांति का प्रथम चरण है, यह वांछनीय है कि बुर्जुआ राष्ट्रीय क्रान्तिकारी तत्वों का सहयोग लिया जाये। दूसरे शब्दों में, लेनिन का विचार था कि पूंजीवाद तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिये, औपनिवेशिक जगत के पूंजीवादी राष्ट्रीय संघर्षों तथा पश्चिमी विकसित देशों के सर्वहारा आन्दोलनों के बीच एकता स्थापित की जाये। औपनिवेशिक साम्यवादी आन्दोलन अपने आपको क्रान्तिकारी जन सामान्य सर्वहारा, कृषक तथा बुर्जुआ वर्ग–को संगठित करने का कार्य करे तथा उन्हें क्रान्ति की तरफ अग्रसित करते हुए सोवियत गणतन्त्रों की स्थापना करे ।

एम. एन. रॉय ने लेनिन की इस मान्यता को अस्वीकार नहीं किया कि औपनिवेशिक देशों की क्रान्ति प्राथमिक रूप से साम्यवादी क्रान्ति नहीं होगी। किन्तु उसने बुर्जुआ नेतृत्व का विरोध किया । उसका दृढ़तापूर्वक यह मानना था कि औपनिवेशिक क्रान्ति का नेतृत्व साम्यवादियों के हाथ में ही होना चाहिये, ताकि क्रान्तिकारी जन–सामान्य अपने लक्ष्यों की तरफ अग्रसित हो सके और धीरे–धीरे अपने क्रान्तिकारी उद्देश्यों को प्राप्त कर सके । रॉय ने कामिन्टर्न की औपनिवेशिक समस्याओं को अनदेखा करने की आलोचना की। उपनिवेशवादी बुर्जुआ राष्ट्रीय नेताओं के बारे में रॉय की धारणा थी कि इन्होंने हमेशा प्रतिक्रियावादी भूमिका निभायी है और सर्वहारा विरोधी दृष्टिकोण अपनाया है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवादियों को विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा राजनीतिक रियायतें देकर उनका साथ दिया है। अत: श्रमिक वर्ग को राष्ट्रीय मुक्ति का नेतृत्व ग्रहण करने के लिये अपने को तैयार रखना चाहिये तथा इन भावनाओं को क्रान्तिकारी जन–आन्दोलन में परिवर्तित करने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिये। साथ ही एम. एन. रॉय का आग्रह था कि कामिन्टर्न तथा साम्यवादी दलों को श्रमिकों तथा कृषकों पर बुर्जुआ नियंत्रण को खत्म करने का प्रयास करना चाहिये। यद्यपि लेनिन इतना उदार था कि उसने एम. एन. रॉय की मान्यता की सराहना की, किन्तु साथ ही एम. एन. रॉय को अपनी मान्यता में थोड़ा संशोधन करने के लिये राजी कर लिया । अत: लेनिन के अति–आग्रह पर रॉय तो यह तो मानने लगे थे कि विदेशी साम्राज्यवादियों तथा पूंजीवादियों को खत्म करने के लिये प्रारम्भिक अवस्था में बुर्जुआ राष्ट्रवादियों में सहयोग लिया जा सकता है, किन्तु साम्यवादी दलों का यह प्रयास होना चाहिये कि वे कृषकों तथा श्रमिकों को संगठित करके, उन्हें क्रान्ति की ओर अग्रसित करें। जबकि दूसरी तरफ लेनिन ने रॉय की इस मान्यता के प्रति विरोधी रुख अपनाते हुए उन्हें याद दिलाया कि सोवियत बोलशेविकों द्वारा जारशाही के विरुद्ध उदार मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन किया गया था। इसी तरह भारत के

साम्यवादियों को भी बुर्जुआ राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों का उनके साथ बिना किसी विलय के, समर्थन करना चाहिए।

4. अ–उपनिवेशीकरण का सिद्धान्त

कॉमिन्टर्न के छटे कांग्रेस अधिवेशन 1928 में एम. एन. रॉय ने अ–उपनिवेशीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अ–उपनिवेशीकरण का अर्थ यह था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूंजी का ह्वास हो चुका है। अत: उसके लाभ का कुछ अंश भारतीय पूंजीपति वर्ग को प्राप्त होगा। इस तरह रॉय ने साम्राज्यवाद के बदलते हुए स्वभाव का उल्लेख किया। अ–उपनिवेशीकरण की थीसिस यह थी कि साम्राज्यवादी देशों की लागत पूंजी और निर्यात योग्य पूंजी का क्षय हो चुका है, इसलिए उनके लिए आवश्यक हो गया है कि वे उपनिवेशों के पूंजीपति वर्ग के साथ संयुक्त साझेदारी कायम करें।

अत: एम. एन. रॉय का था कि आगे चलकर साम्राज्यवाद का मूल्य घट जायेगा और तब विदेशी पूंजीपतियों को बाध्य होकर अपनी शक्ति का परित्याग करना पड़ेगा। साथ ही इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव यह भी पास किया। जिसमें भारतीय जनता को चेतावनी दी गई कि प्रतिक्रियावादी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उनके साथ कभी भी विश्वासघात कर सकती है।

हालांकि यह सिद्धान्त अपने आप में नया नहीं था, किन्तु जिन आर्थिक राजनीतिक तर्कों के साथ एम. एन. रॉय ने इसे रखा वे अपने आप में नए थे । रॉय का मानना था कि भारत में औद्योकीकरण की प्रक्रिया ने बुर्जुआ वर्ग को जन्म दिया है, जिन्होने साम्राज्यवादियों के साथ प्रतिस्पद्धत्मिक रूप से जन सामान्य का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया है । जैसे–जैसे यह नया बुर्जुआ वर्ग संगठित होता गया वैसे–वैसे उसने साम्राज्यवादियों से औद्योगिक क्षेत्र में रियायतें मांगना प्रारम्भ कर दिया । साथ ही दूसरी तरफ साम्राज्यवादियों को जन सामान्य के आक्रोश का भी सामना करना पड़ा । फलत: एक क्रांतिकारी स्थिति पैदा हो गई और जैसे–जैसे यह क्रांतिकारी स्थिति बढ़ती गई, वैसे–वैसे साम्राज्यवादियों ने रियायतें देना प्रारम्भ कर दिया । साम्राज्यवादियों ने जिस अनुपात में रियायतें दी, उसे अनुपात में रियायतें उनके पतन का कारण बन गई । अत: इस नए बुर्जुआ वर्ग अपने कार्यों का सम्पादन निजी तौर पर साम्राज्यवादियों से पृथक रूप से करना प्रारम्भ कर दिया । इसी स्थिति को एम. एन. रॉय अ–उपनिवेशीकरण की संज्ञा दी है । उसने माना है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नई आर्थिक नीति ने वर्ग भिन्नता को तीव्र करते, हुये उसे वर्ग संघर्ष की ओर बढ़ा दिया है तथा यह मान्यता कि राष्ट्रीय संग्राम पूंजीवादी विरोधी आधार पर टिका हुआ है, अपनी मान्यता खो चुका है । अत: रॉय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत में बुर्जुआ वर्ग क्रांतिकारी वर्ग नहीं है और न ही वह जन सामान्य को क्रांतिकारी स्थिति की ओर अग्रसर कर सकता है ।

5. भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या :

एम. एन. रॉय ने भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या द्वारा भारतीय समाजवादी चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान दिया है । एम. एन. रॉय का मानना था कि सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था का धीरे–धीरे क्षय हो रहा है और पूंजीवाद का उद्भव हों रहा है । भारत में सामन्तवादी व्यवस्था को सबसे पहले धक्का ब्रिटिश आधिपत्य के प्रारम्भिक काल, 18वीं सदी के मध्य में

लगा, जबकि राजनीतिक सत्ता विदेशी वाणिज्यिक बुर्जुआ वर्ग के हाथो में चली गई । सामन्तवाद के अन्तिम अवशेषों को 1857 की क्रान्ति की असफलता ने चूर–चूर कर दिया जिसे कि एम. एन. रॉय ने सामन्तवादी व्यवस्था द्वारा अपनी प्रभुता प्राप्ति के अंतिम प्रयास की संज्ञा दी है । भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना एक तरह से पूंजीवादी उत्पादन साधनतन्त्र के रूप मे थी । भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य की विजय वहां के बुर्जुवा वर्ग की विजय थी क्योंकि इसके फलस्वरूप उन्हें बाजार मिल गया अर्थात् पूंजी निर्यात की सुविधा एवं शोषण के नये क्षेत्रों की प्राप्ति हो गई ।

आधुनिक भारतीय बुर्जुआ वर्ग के उद्भव का कारण भूस्वामियों का अपनी पूंजी का वाणिज्यिक तथा औद्योगिक उद्यम व्यवसाय में लगाना रहा है । किन्तु भारतीय बौद्धिक वर्ग, जो कि आधुनिक बुर्जुआ वर्ग का आधार है, ब्रिटिश राज की उपज है । एक तरफ बौद्धिक वर्ग की सम्पत्ति में वृद्धि तथा दूसरी तरफ लाभप्रद व्यवसायों के अभाव के कारण ब्रिटिश सरकार के साथ भारतीय बुर्जुआ वर्ग का असंतोष उभरकर सामने आने लगा । अत: बुर्जुआ वर्ग ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मन से आंदोलन चलाना प्रारम्भ कर दिया । इस आन्दोलन का उद्देश्य या तो ब्रिटिश सत्ता, जिसने कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक विकास को रोक दिया था को, सत्ता सें हटा देना या उसकी सत्ता पर नियन्त्रण लगाना था । किन्तु भारतीय बुर्जुआ वर्ग में ब्रिटिश आस्था को बनाये रखना, प्रथम विश्व युद्ध का दबाव और बढ़ती गरीबी तथा बेरोजगारी आदि ऐसे कारण रहे, जिनके फलस्वरूप ब्रिटिश सत्ता को भारतीय बुर्जुआ वर्ग की तरफ झुकना पड़ा । मॉन्टेग्यू–चेक्सफोर्ड सुधारों के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता ने देश के शोषण में भारतीय बुर्जुआ वर्ग को भी भागीदार बनाने का प्रयास किया । किन्तु इस समय भारतीय बुर्जुआ वर्ग काफी अभिलाषा रखने लगा था, अत: ब्रिटिश सत्ता को हटाने का प्रयास करने लगा । परन्तु वह जानता था कि ब्रिटिश सत्ता को जनसामान्य के सहयोग के बिना नहीं हटाया जा सकता । अत: उसने जन सामान्य के साथ मिलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करना शुरू कर दिया । इस सन्दर्भ में रॉय उदाहरण देते हुए कहते है कि सर 1905 मे मुस्लिम लीग की स्थापना पूंजीपति मुसलमानों के हित वृद्धि की संस्था थी तथा उसने कांग्रेस से विरोधी रुख अपनाया, परन्तु कालान्तर में चलकर लीग ने अपनी प्रारम्भिक भूमिका को त्याग दिया और एक वर्ग के रूप में भारतीय बुर्जुआ राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने को विलय कर दिया। साथ ही रॉय ने यह बहुत ही उल्लेखनीय तथ्य स्पष्ट किया कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग की भूमिका यूरोप की भांति सामाजिक दृष्टि से प्रगतिकरी नहीं रही । भारतीय बुर्जुआ वर्ग हमेशा प्रतिक्रियावादी तत्वों से जुड़ा रहा ।

6. मार्क्सवाद की आलोचना:

मानवेन्द्रनाथ रॉय का चिन्तन मार्क्स से काफी प्रभावित था । रॉय के चिन्तन निर्धारण में मार्क्सवादी दर्शन की महती भूमिका रही । किन्तु वैचारिक विकास की दृष्टि से उनके चिन्तन के दो पक्ष रहे : प्रतिबद्ध मार्क्सवादी रूप में और संशोधनवादी के रूप में । सन् 1940 तक एम. एन. रॉय मार्क्सवादी दर्शन का कट्टर समर्थक था । लेनिन या कम्युनिस्ट इंटरनेशनल नेतृत्व से या भारतीय साम्यवादी दल से मतभेद को मार्क्सवादी विचारधारॉयी मतभेद नहीं वरन इसे तो

राजनीति तथा नीति–क्रियान्वयन से सम्बन्धी अन्तर माना गया । इस दौरान एम. एन. रॉय का आग्रह प्रचलित संरचना मे मार्क्सवादी सिद्धान्तों को लागू करने पर रहा । किन्तु सन् 1940 के बाद एम. एन. रॉय ने मार्क्सवाद के बारे में नये सिर सें सोचना शुरू कर दिया तथा मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्यवस्था की । एम. एन. रॉय ने मार्क्स के चिन्तन के निम्न बिन्दुओं को अपनी आलोचना का केन्द्र बिन्दु बनाया–

प्रथम–हीगल के नैतिक प्रत्यक्षवाद के प्रभाव के कारण मार्क्स ने उदारवादियों की व्यक्तिवादी मान्यता को अस्वीकार किया है । किन्तु इस प्रयास में मार्क्स ने व्यक्ति की भूमिका को अस्वीकार कर दिया तथा एक सर्वाधिकारवादी व्यवस्था की वकालत करने लगा । व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मूल्यों की उपेक्षा करके मार्क्स ने अपनी मानवतावादी फ्यूअरबाखवादी पूर्वधारणा के साथ विश्वासघात किया । व्यक्ति के सम्बन्ध में उदारवादी तथा उपयोगितावादी धारणा के खण्डन के साथ व्यक्ति की महत्ता को पूर्णत: अस्वीकार करना अपने प्रारम्भिक मानवतावादी दृष्टिकोण के प्रति विद्रोह था ।

रॉय ने मार्क्स के भौतिकवाद को अवैज्ञानिक तथा कट्टरपंथी माना । मार्क्सवादी ज्ञान को अनुभवजन्य मानता है और मनुष्य की सृजनात्मक भूमिका की उपेक्षा करता है । मार्क्स ने फ्यूआरबाख के भौतिकवाद का भी खंडन किया, हालांकि उस पर फ्यूआरबाख की ईसाइयत का सार नामक पुस्तक का प्रभाव था । रॉय की धारणा में यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि मार्क्स ने फ्यूआरबाख के मानवतावादी भौतिकवाद को अथवा जिसे बोल्टन ने मानवशास्त्रीय भौतिकवाद का नाम दिया है, उसका खंडन किया है । अत: रॉय का मार्क्स की आलोचना के प्रति आग्रह इस बिन्दु पर था कि उसने मानव प्राणी की स्वायत्तता को अस्वीकार कर दिया अर्थात उसने व्यक्तिगत मूल्यों तथा उनके महत्व की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया ।

द्वितीय–एम. एन. रॉय के अनुसार मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या गलत मान्यता पर आधारित है । वाद, प्रतिवाद और सवांद द्वारा इतिहास का आगे बढ़ना तार्किक प्रस्थापना का लक्षण है । अत: यह कहना (जैसा कि मार्क्स का मानना था) हास्यास्पद है कि पदार्थ तथा उत्पादन की शक्तियों की गति भी द्वन्द्वात्मक होती है । एम. एन. रॉय ने लिखा है कि, "मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल नाम मात्र के लिए भौतिकवादी है । चूंकि उसका मूल तत्व द्वन्द्वात्मक है । इसलिए वस्तुत: यह एक प्रत्ययवादी दर्शन है । अत इसमें आश्चर्य नहीं है कि उसने 18वीं शताब्दी के वैज्ञानिक भौतिकवाद की विरासत को अस्वीकार कर दिया और फ्यूआरबाख तथा उसके अनुयायियों के मानवतावादी भौतिकवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया ।" रॉय की दृढ़ मान्यता थी कि द्वन्द्ववाद प्रत्ययवाद तर्कशास्त्र की पद्धति है, अत: प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की प्रक्रिया को पूर्ण वस्तुगत सत्ता की गति की प्रक्रिया मानना गलत है ।

तृतीय– एम. एन. रॉय का मानना था कि मार्क्स की यह धारणा गलत है कि पूंजीवाद के उद्भव के साथ–साथ मध्यम वर्ग समाप्त हो जायेगा और समाज अन्तत: केवल दो वर्गों– शोषक वर्ग तथा शोषित वर्ग में विभाजित हो जायेगा । रॉय का कहना था कि आधुनिक समय में, मध्यम वर्ग का महत्व पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा बढ़ा है । मध्यम वर्ग आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का आधार है । "मध्यम वर्ग की समाज को बौद्धिक एवं राजनीतिक जीवन

देता है । लोकतंत्र विशेषतया मध्यम वर्गीय नेतृत्व पर सफलता पूर्वक चल सकता है ।" 'दूसरे शब्दों में, आर्थिक प्रक्रिया के प्रसार से तो मध्यम वर्ग की संख्या में वृद्धि हुई है ।

चतुर्थ–मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है । किन्तु रॉय ने मार्क्स के इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया है । रॉय ने माना है कि यह सही है कि इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्ग रहे है । किन्तु इन वर्गों में आपसी विद्वेष तथा संघर्ष की शक्तियों के अतिरिक्त पारस्परिक सहयोग तथा सामाजिक सौहार्दता के तत्व अधिक महत्वपूर्ण है । साथ ही मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सही सिद्ध नहीं हुई है कि वर्तमान कालीन समाज का धीरे–धीरे परस्पर विरोधी वर्गों में ध्रुवीकरण हो जायेगा । अत: मार्क्स की सैद्धान्तिक परिकल्पना और भी सन्देहास्पद बन जाती है ।

पंचम– एम. एन. रॉय ने मार्क्स की भौतिकवादी व्याख्या को अस्वीकार करते हुए कहा कि इतिहास की व्याख्या केवल भौतिकवादी वस्तुवाद के आधार पर नहीं की जा सकती है । इतिहास में व्यक्ति की बुद्धि तथा विचार निर्णायक तत्व होते है जबकि मार्क्सवादी इतिहास की व्याख्या ने विचारों को पदार्थ या द्रव्य की गौण उपज माना गया है । दूसरे शब्दों में, मार्क्सवादी इतिहास दर्शन में विचारों की सृजनात्मक भूमिका को न्यूनतम महत्व दिया जाता है तथा विचारों की प्राथमिकता को, मानने वालों के यूटोपियायी बताया गया और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया । रॉय ने मार्क्स से भिन्न मान्यता प्रस्तुत करते हुए कहा कि इतिहास में वैचारिक तथा भौतिक दो समानान्तर प्रक्रियाएं देखने को मिलती है यद्यपि यह कहना ठीक है कि चिन्तन प्रक्रिया का निर्धारण वातावरण तथा परिवेश के द्वारा तय होता है । किन्तु विचार एक बार उद्भव होने के उपरान्त अपने निजी विकास का अनुसरण करते है । एक बार परिवेश द्वारा निर्धारण चिन्तन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है, अर्थात् विचार बन जाता है, तो फिर उसका स्वतंत्र अस्तित्व, उसके विकास की अपनी प्रक्रिया विध्यमान रहती है और वह सामाजिक विकास की भौतिक प्रक्रिया के समानान्तर चलती रहती है । इतिहास निर्धारण में इन दोनो समानान्तर प्रक्रियाओं का समान महत्व होता है । साथ ही ये, दोनों अपने निजी आन्तरिक दबाव, अपनी गति शक्ति तथा अपने द्वन्द्व के नियमों से निर्धारित होती है । अत: रॉय ने माना कि किसी भी विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में सामाजिक घटनाओं तथा विचार आन्दोलनों के बीच कार्यकारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है । रॉय के शब्दों में "दार्शनिक दृष्टि से इतिहास की भौतिकवादी प्रत्यय को बुद्धि की सृजनात्मक भूमिका को स्वीकार करना पड़ेगा । भौतिकवाद में विचारों की वस्तुगत सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता ।"

षष्टम– रॉय ने मार्क्स के आर्थिक निर्धारणवाद की आलोचना की है । रॉय का कहना था कि मानव के कार्यकलाप अर्थ से निर्धारित होने की अपेक्षा शारीरिक तथा जैविक आवश्यकताओं से नियंत्रित और संचालित होते है । प्राचीन मानवशास्त्रीय अध्ययन यह सिद्ध करते है कि मानव जाति, के प्रारम्भिक क्रियाकलाप जीवन निर्वाह की सामग्री प्राप्त करने के प्रयत्नो तक ही सीमित रहते है । अर्थात् इन क्रियाकलापों को संचालित और उत्प्रेरित करने वाली प्रेरणाएँ तथा प्रवृत्तियाँ स्वभाव से मुख्यत: आर्थिक नहीं वरन जैविक थी । साथ ही मानव के परवर्ती इतिहास में भी मानव की कई ऐसी गतिविधियां देखने को मिलती है जिन्हें आर्थिक कारक द्वारा

निर्धारित गतिविधियां नहीं कहा जा सकता है । साथ इस सन्दर्भ में रॉय का यह भी मानना था कि आर्थिक निर्धारणवाद भौतिकवादी दर्शन का आवश्यक परिणाम नहीं है । एक भौतिकवादी होते हुये भी इतिहास की व्याख्या कि विभिन्न कसौटियां स्वीकार कर लेना सम्भव है । अत: दार्शनिक भौतिकवाद और इतिहास की आर्थिक व्याख्या (आर्थिक निर्धारणवाद) के मध्य कोई आवश्यक एवं अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है ।

7. नवमानववाद:

मानववादी तत्व पाश्चात्य दर्शन के अनेक सम्प्रदायों तथा युगों मे देखने को मिलते है । प्रोटेगोरस, इरास्मस, मोर, बकनन और हर्डर में मानववादी प्रवृत्तियां विद्यमान है । वे मानव को सर्वोपरि महत्व देते है । परन्तु रॉय के अनुसार वे मानव को किसी अतिमानव या अप्राकृतिक सत्ता के अधीन करने की मिथ्या धारणा से नहीं बच पाये है। उनका मनुष्य एक रहस्य, एक विश्वास का विषय ही बना रहा है । रॉय ने इस मिथ्या धारणा को भंग करने का प्रयास किया । उन्होंने मानव को अपने मानवतावाद का केन्द्र बनाया जो कि मानव जगत से सभी प्रकार की अतिप्राकृतिक सत्ता को बहिष्कृत करता है ।

मनुष्य को जीवन दर्शन का केन्द्र बनाने के लिए हमें प्रोइगोरस की इस उक्ति को स्वीकार करना होगा कि "मानव प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है ।" इसमें एम. एन. रॉय ने एक बात और जोड दी, वह यह है– "मानव मनुष्य जाति का मूल है।" इन दो उक्तियों को नवीन मानववाद की आधारभूत मान्यताएं माना जा सकता है । अत: इनके महत्व को हमें समझने का प्रयास करना चाहिये ।

सबसे पहले हम दूसरी उक्ति को लेते है–मानव मनुष्य जाति का मूल है, इस कथन का अर्थ यह है कि मानव जाति अपने आप में पूर्ण है और यह कि हमें मानव इतिहास के प्रवाह की व्याख्या करने तथा उसे समझने का प्रयास करते समय किसी बाह्य तथा अतिप्राकृतिक सत्ता का आश्रय नहीं लेना चाहिये । जैसा कि वेदान्तियो का 'ब्रह्मा', प्लेटों का 'गुड', आगस्टाइन की 'दैविक इच्छा', हीगल की 'निरपेक्ष आत्मा' और मार्क्स की 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी' धारणा आदि । मानव समाज के अपने ज्ञान में हमें अपने आप को केवल मनुष्य तथा स्वतन्त्रता की खोज तक ही सीमित रखना चाहिये । "यह तो उन लोगों के लिये है, जो कि संसार की वास्तविकता में विश्वास रखते है । किन्तु उस विश्वास के लिये यह मानना आवश्यक नहीं समझते कि संसार की सृष्टि एक दूसरे शब्द द्वारा हुई है जो रहस्यवाद के बिना असीमितता की धारणा का सामना कर सकते है । जो अपनी जाति को विकास की प्रक्रिया का ही परिणाम मानते है और जो नैतिकता में विश्वास इसलिए करते है कि क्योंकि यह मानव स्वभाव के अनुकूल है । इसलिए नहीं कि उसकी व्यवस्था ईश्वर ने की है ।"

अब हम मानवतावाद की दूसरी उक्ति–मानव ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है पर आते है । इसका अर्थ केवल इतना ही है कि मानव प्राणी होने के नाते हमारा सम्बन्ध केवल उन्हीं वस्तुओं से है जो कि मानव जाति को प्रभावित करती है । दैविक इच्छा अथवा आत्मा जैसी अतिप्राकृतिक वस्तुओं में जो कि मानव चेतना से भिन्न है और जिनकी सत्ता को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सकता है एक नवीन मानववादी की कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती ।

संक्षेप में, इस कथन का कि मनुष्य प्रत्येक वस्तु का मापदन्ड है, अर्थ केवल यह है कि मनुष्य का मुख्य सम्बन्ध स्वयं मनुष्य से ही है । परमात्मा, ब्रह्मा, निरपेक्ष सत्ता आदि किसी रहस्यमय अथवा अतिप्राकृतिक सत्ता से नहीं ।

7.1 मनुष्य का स्वभाव

रॉय कहते है कि भौतिक तथा जैविक विज्ञानों में हाल ही में जो विकास हुआ है, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य में कोई अतिप्राकृतिक तत्व नहीं है । सम्पूर्ण मानव स्वभाव विकासमान भौतिक प्रकृति की पृष्ठ भूमि का ही परिणाम है । मनहाइम, सोरोकिन, टैगोर तथा अरविन्द आदि दार्शनिक तथा कवियों ने आध्यात्मिक अनुभूति को सर्वोच्च मूल्य की वस्तु माना है । किन्तु रॉय की भोतिकवाद में पूर्ण आस्था थी । इसलिये वे इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकते थे । वे आचार नीति को तत्वशास्त्रीय–निरपेक्षवाद पर नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक तथा विवेकपूर्ण बुद्धि पर आधारित करना चाहते थे । उनका कहना था कि मनुष्य में बौद्धिकता किसी दैवी सत्ता से निरूपित नहीं कि है, वह तो जैविक विकास की उपज है–और मानववादी आचारनीति का आधार मनुष्य की यहीं सहज बौद्धिकता है । रॉय के अनुसार सद्विवेक इसी बौद्धिकता की उपज है । उनका आग्रह है कि नवीन मानववाद स्वाभाविक बुद्धि और ऐहिक अन्त:करण पर आधारित होना चाहिये । उनके मत में भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र पर आधारित बुद्धिपरक मानववादी आचार नीति ही मुनष्य की समस्याओं का एकमात्र समाधान है ।

मानव जाति संकट के युग से गुजर रही है । इस समय मनुष्य के अतिक्रमण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार की जाये? अब पूंजीपतियों और श्रमिकों के पारस्परिक संघर्ष की आर्थिक समस्या केन्द्रीय प्रश्न नहीं है । रॉय मानव के विकास की धारणा को स्वीकार करते है । मुनष्य भौतिक जगत से उत्पन्न हुआ है । भौतिक जगत के नियमों द्वारा शासित होता है । मनुष्य इस जगत का अभिन्न अंग है । मनुष्य बौद्धिक प्राणी इसलिए है कि सामंजस्यपूर्ण भौतिक जगत से ही उसका उद्भव हुआ है । मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व में जो बुद्धि देखने को मिलती है वह सार्वभौम सामंजस्य की ही प्रतिध्वनि है ।

रॉय ने अपने मानववाद को उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस और जर्मनी के मानववादी सम्प्रदायों से भिन्न बताया है । नवीन मानववाद भौतिक विज्ञानों, समाजशास्त्र, कार्य विज्ञान तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में हुए अनुसंधानों पर आधारित है । उसका दार्शनिक आधार भौतिकवाद है तथा पद्धति यांत्रिक । उसें मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों में विश्वास है, किन्तु उस विश्वास का आधार शुद्ध अथवा शास्त्रीय तर्क विद्यमान नहीं है । उसके इस विश्वास का आधार वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अनुसंधानों का वह साक्ष्य है जिसने मनुष्य की मौखिक तथा सृजनात्मक शक्तियों को प्रमाणित कर दिया है । जैविकीय अनुसंधानों ने मानव स्वभव के सम्बन्ध में सही दृष्टिकोण सम्भव बना दिया है । जीवन का उद्भव भौतिक जगत की पृष्ठभूमि में हुआ है । मनुष्य का गौरव इस बात में है कि वह प्रकृति की विकासात्मक प्रक्रियाओं की उच्चतम अभिव्यक्ति है । मुनष्य की सर्वोच्चता किसी लोकोत्तर अतिभौतिक प्राणी से व्युत्पन्न नहीं हुई है । उसने प्रकृति को समझकर और उस पर आंशिक विजय पाकर जो सृजनात्मक उपलब्धियाँ प्राप्त की है, उन्होने उसे सर्वोच्च बना दिया है । यद्यपि अंतत: मनुष्य की जड़ें

भौतिक प्रकृति में ही है, किन्तु वह उससे अभिभूत नहीं है । नवीन मानववाद मनुष्य को इसलिए सर्वोच्च मानता है कि उसके अनुसार इतिहास मनुष्य के क्रियाकलाप का लेखाजोखा है और समाज को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह एक विशाल शक्ति के रूप में अपने को व्यक्ति पर थोप दे । नवीन मानववाद का आधार यांत्रिक ब्रहाण्ड विधा तथा भौतिकवादी तत्वशास्त्र है । वह भावात्मक मनोवेगों के काव्यात्मक अथवा काल्पनिक आधारों पर कायम नहीं है । मानववादी आधारनीति बुद्धिवाद पर आधारित है और मनुष्य की बौद्धिकता का स्रोत मुख्यत: प्रकृति से ही प्राप्त करता है । बुद्धिवादी मानववाद का बीज हमें देकार्त के दर्शन में तथा 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकवादियो के विचारों में मिलता है । अत: रॉय का दावा है कि अविकल मानववाद आधुनिक ज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय पर आधारित है ।

7.2 आधारभूत मूल्यात्मक तत्व:

अविकल मानववाद के तीन आधारभूत मूल्यात्मक तत्व है–

1. स्वतन्त्रता
2. बुद्धि
3. नैतिकता

1. स्वतन्त्रता

नवीन मानववाद नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है । यहां आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों से मुक्ति है । युरोप में पुनर्जागरण ने आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया था किन्तु पूंजीवादी समाज के बंधनों से उत्पन्न भय तथा नैतिक अविश्वास ने उसे अभिभूत कर लिया ।

स्वतन्त्रता एक वास्तविक सामाजिक धारणा है । वह जीवन की एक प्रमुख प्रेरणा है । स्वतंत्रता कोई ब्रहमाण्ड से परे की वस्तु भी नहीं है । उसे इसी संसार में साक्षात्कार करना होता है । कुछ आन्तरिक नियमन तथा वाहय बन्धनों के बावजूद आत्म स्वतन्त्रता रह सकती है । रॉय इस प्रकार के झांसे में नहीं आये । उनका कहना था कि काल्विन तथा लातूबनित्स द्वारा प्रतिपादित पूर्वनियतिवाद तथा पूर्व स्थापित सामंजस्य की धारणाएं स्वतन्त्रता के आदर्श के विपरीत है । हेतुवाद (प्रयोजनवाद) तथा स्वतन्त्रता में परस्पर विरोध है । रॉय ने मार्क्सवाद की आलोचना इस आधार पर की है कि आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त ने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को हेतुवादी रूप प्रदान कर दिया है ।

अरविन्द के अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य में ईश्वर द्वारा रोपित एक मूल प्रवृत्ति है । इसके विपरीत रॉय जीवन तथा आत्म परीक्षण के संघर्ष को, जिसकी धारणा का प्रतिपादन हॉब्स और डार्विन ने किया है, स्वतन्त्रता के मूल स्रोत मानते है । रॉय के भौतिकवाद ब्रहमाण्ड शास्त्र में स्वतन्त्रता को निरपेक्ष आत्मा का निर्विकल्प सार नहीं माना गया है । वह तो जैविक विकास की ही एक विरासत है । जीवन के लिए जो जैविक सार चला करता है वही भावात्मक और संज्ञात्मक स्तर पर स्वतन्त्रता की खोज का रुप धारण कर लेता है । अत: स्वतन्त्रता सामाजिक प्रगति और सामूहिक उत्रति की मूल प्रेरणा अथवा अभिप्रेरणात्मक शक्ति है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के तीन मुख्य स्तम्भ है–

1. मानववाद
2. व्यक्तिवाद
3. बुद्धिवाद ।

2. बुद्धि

एम. एन. रॉय के अविकल मानववाद का दूसरा आधारभूत मूल्यात्मक तत्व है बुद्धि । प्रोटोगोरस पेनेटिउस और फिलो की कल्पना थी कि बुद्धि, चित्त अथवा ज्ञान का वास्तविक अस्तित्व है । रॉय ने उनकी इस तत्वशास्त्रीय धारणा को स्वीकार नहीं किया । उनका कहना है कि मनुष्य विधिशासित तथा विधिनिर्धारित विश्व में विकास करता है और यही उसकी बुद्धि का मूलाधार है । मनुष्य धीरे–धीरे कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर सोचने का अभ्यस्त हो जाता है । बुद्धि कोई सहज तात्विक वस्तु नहीं है, बल्कि जैविक विकास की प्रक्रिया में ही उसका प्रादुर्भाव हुआ है । मानव बुद्धि की इस कसौटी पर ही नैतिक मापदंडों को परखना होगा ।

3. नैतिकता

अविकल मानववाद का तीसरा आधारभूत मूल्यात्मक तत्व है नैतिकता । रॉय के अनुसार नैतिकता का आधार अन्त: प्रज्ञात्मक अथवा लोकोत्तर नहीं है । मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों की प्रक्रियाओं तथा बौद्धिक तालमेल के विषय मे व्यवस्थित ढंग से बुद्धि का प्रयोग है। इसी से नैतिकता का उद्भव होता है । नैतिकता का उद्देश्य मानव जाति के सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करना है । रॉय पराबौद्धिक तत्वशास्त्र और आचारनीति के समर्थक थे । रॉय का यह नीतिशास्त्र कांट के नैतिक बौद्धिक निग्रहवाद (कठोरतावाद) से भिन्न है । कांट यह मानकर चलता है कि विश्व में एक आधारभूत नैतिक व्यवस्था विद्यमान है जिसे साधारण अनुभवमूलक बुद्धि के द्वारा नहीं समझा जा सकता, इसके विपरीत रॉय का कहना है कि उसे नैतिक विवेचन की कसौटी नहीं माना जा सकता । रॉय की इस बौद्धिक आचार नीति का आधार भौतिकवादी ब्रहमाण्डशास्त्र है । इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आदि सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना है । रॉय उन लोगों से भिड़ने को तैयार है जो कुत्सित भोगवाद अथवा नग्न इन्द्रिय परॉयणता को ही भौतिकवाद मान बैठे है ।

7.3 विश्व राज्यवादी दृष्टिकोण

नवीन मानववाद का दृष्टिकोण विश्व राज्यवादी है । उनके समाज दर्शन में राष्ट्रवाद अन्तिम अवस्था नहीं है । राष्ट्रवाद का आधार जातिगत विद्वेष है और जिस सीमा तक वह सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करता है, वहां तक वह प्रतिक्रियावादी है । इसलिए राष्ट्रवाद की अपेक्षा विश्व बन्धुत्व की अधिक आवश्यकता है । अरविन्द, टैगोर तथा गांधी की भांति रॉय भी मानव जाति के सहकारिता मूलक संघ में विश्वास करता है । आज से अच्छे समाज तथा स्वतन्त्र विश्व के आदर्श को साक्षात्कृत करने की बुनियादी शर्त यह है कि पहले नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से युक्त व्यक्तियों की बिरादरी स्थापित की जाये । इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जाये जिससे वह स्वतन्त्रता तथा प्रगति को प्राथमिक महत्व देना सीख ले । नवीन मानववाद स्वतन्त्र मनुष्य के समाज तथा बिरादरी के आदर्श को साकार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है । रॉय ने विश्व संघ का उत्साह के साथ समर्थन करते हुये लिखा है–

"नवीन मानववाद विश्व राज्यवादी है । आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का विश्व राज्य राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परिबद्ध नहीं होगा–वे राज्य पूंजीवादी, फांसीवादी, समाजवादी साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार के क्यों न हो? राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से धीरे–धीरे विलुप्त हो जाएंगे ।"

रॉय ने विश्व राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयवाद के बीच भेद किया है । उन्होंने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्व राज्यवादी मानवतावाद का समर्थन किया । अन्तर्राष्ट्रीयवाद में पृथक राष्ट्रीय राज्यों अस्तित्व का सार निहित है । रॉय के अनुसार एक सच्ची विश्व सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है ।

8. निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में, रॉय की मान्यता थी कि राजनीतिक, सामाजिक पुननिर्माण की आवश्यक शर्त यह है कि मनुष्य का बौद्धिक पुनर्जागरण हो, जिसमें वह नवीन अविकल्प मानववाद के दर्शन के मूल तत्व को हृदयंगम कर सके । स्वतन्त्रता की क्षमता व्यक्ति में मूलत: अन्तर्निहित होती है । स्वतन्त्रता का साकार होना इस बात पर निर्भर होता है कि मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्तियों की चेतना हो । मनुष्य परम्परागत पुरोहितवाद तथा आधारहीन अतिप्राकृतिकवाद के बंधनों को तोड़कर ही आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकता है । आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र समाज का निर्माण कर सकते है । आध्यात्मिक मुक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपरिहार्य शर्त है । इस प्रकार रॉय के विचार राबर्ट ऑविन, सेंट साइमन तथा कार्ल गेविन जैसे–जर्मन समाजवादियों की धारणा से मिलते है। ये विचारक मानसिक प्रबुद्धीकरण को सामाजिक पुनर्निर्माण की भूमिका मानते थे ।

9. अभ्यास–प्रश्न

1. एम एन. रॉय के लेनिन सें मतभेद के कारणों को स्पष्ट कीजिए तथा रॉय की अ–उपनिवेशवादि नीति का विवेचन कीजिए ।
2. नवमानवतावाद से आप क्या समझते है? इसके विभिन्न आयामों की विवेचना कीजिए ।
3. एम. एन. रॉय की भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या क्या है? चर्चा कीजिए।

इकाई–20

राजस्थान मे प्रजामण्डल आन्दोलन

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. राजस्थान में सामन्तवादी व्यवस्था
4. प्रजामण्डल आन्दोलन की पृष्ठभूमि
5. विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डल आन्दोलन
   - 5.1 जोधपुर राज्य
   - 5.2. बीकानेर राज्य
   - 5.3. उदयपुर राज्य
   - 5.4. जयपुर राज्य
   - 5.5. जैसलमेर
   - 5.6. अलवर
   - 5.7. कोटा
   - 5.8. भरतपुर
   - 5.9. डूंगरपुर
   - 5.10. बांसवाड़ा
   - 5.11. सिरोही
   - 5.12. अन्य राज्य
6. स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रजामण्डल आन्दोलन की भूमिका
7. निष्कर्ष एवं
8. संदर्भ
9. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन ईकाई के अध्ययन – उद्धेश्य का सम्बंध निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डालना है ।

1. राजस्थान में सामन्तवादी व्यवस्था
2. प्रजामण्डल आन्दोलन की पृष्ठ भूमि : किसान वर्ग के आन्दोलन तथा देशी राज्य लोक परिषद्

---

1. बीकानेर, भरतपुर, बूंदी, धोलपुर, झालावाड़, करौली, कोटा, अलवर जयपुर, किशनगंज, लावा, शाहपुरा, टौंक, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, कुशलगडद्ध, प्रतापगढ़, उदयपुर, जैसलमेर, जोधपुर और सिरोही ।

3. विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डल आन्दोलन
4. स्वतंत्रता संग्राम में प्रजामण्डल आन्दोलन की भूमिका
5. निष्कर्ष एवं मूल्यांकन
6. संदर्भ ग्रंथ
7. अभ्यास प्रश्न

2. प्रस्तावना

राजस्थान में राजनीतिक चेतना एवं स्वाधीनता संग्राम, की पृष्ठभूमि का निर्माण रियासतों के किसान वर्ब के आन्दोलन ने किया । सामन्तवादी व्यवस्था में जग़ीरदारों और किसानों, के हितों में अन्तर्विरोध पाया जाता है । इस अन्तर्विरोध की प्रथम सशक्त अभिव्यक्ति मेवाड़ के बिजौलिया किसान आन्दोलन में हुई । अन्ततः सामन्तवादी व्यवस्था कि विरूद्ध किसान वर्ग के आन्दोलनों मे, हुई । अन्ततः सामन्तवादी व्यवस्था के विरूद्ध किसान वर्ग के मण्डलों की स्थापना में मूल प्रेरक तत्व की भूमिका प्रस्तुत की । इस संन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि राजस्थान के स्वतन्त्रता संग्राम में प्रजामंडल आन्दोलन की भूमिका निर्णायक रही ।

3. राजस्थान की सामन्तवादी व्यवस्था

स्वतंत्रता से पूर्व राजपूताने की 21 रियासतों और उनके अधीनस्थ ठिकानों (जागीर क्षेत्र) में सामन्तवादी व्यवस्था के प्रतिमान प्रचलित थे । इसके अन्तर्गम नरेश रियासत का सम्प्रभु शासक होता था और उसके अधीन अनेक सामन्त जगीरदार अपनी तागीर (ठिकाना) के अर्धस्वतंत्र शासक होते थे । देवे अपने ठिकाने में सर्वोच्च शक्ति होने के कारण कार्यपालिका, व्यस्थापिका और न्यायपालिका की शक्तियों का निरकुंश रूप से प्रयोग एवं उपभोग करते थे ।

जागीरदार को अपने राज्य के स्वामी को रेख (जाग़ीर के कुल राजस्व का वार्षिक कर) चाकरी घुड़सवार उंछसवार और पैदल सवार सैनिक नरेश की सेवा में प्रस्तुत करना । हुक्म्नामा अथवा जलवार बंध्सई उत्तराधिकार कर नजराना और छटुन्द मेवाड़ में प्रचलित चाकरी कर देना पड़ता था यद्यपि इनकी मात्रा और राशि प्रत्येक रियासत में भिन्न–2 थी ।

जागीर और रियासत की आय की वृद्धि के लिये भूमि के लगान भूराजस्व के अलावा अनेक प्रकार की लाग – बाग उपकर एवं बलात् श्रम किसानों से जबरन वसूल की जाति थी । उदाहरणार्थ 1941 में मारवाड़ किसानों से जबरन वसूल की जाति थी । उदाहरणार्थ 1941 में मारवाड़ किसान सभा ने 136 अवैध लाद – बागों की सूची जोधपुर के प्रधानमंत्री को दी थी । जयपुर रियासत में जब शेखावाटी के ठाकुर ने मोटरकार खरीदी जो प्रजा पर एक नई मोटर लाग (उपकर) थोप दी गई, जबकि वे पहले से ही 30 से ज्यादा लाग दे रहे थे ।

सामन्तवादी व्यवस्था में खालसा और जागीर दोनों ही क्षेत्रों में बेगार प्रथा प्रचलित थी। विभिन्न जातियों को बेगार देनी पड़ती थी ।

लाग बाग के अतिरिक्त जाग़ीरदार रेख, तलवार–बधाई, छटून्द और नजराने की राशि भी किसानों से बलात् वसूल करते थे । इस प्रकार समान्तवादी व्यवस्था में अवैध लाग–बल

किसानों के आर्थिक एवं समाजिक शोषण के संयत्र होते थे, जिनके कारण किसान वर्ग के पास दोनों समय पेट भर खाने को भी नहीं बचता था ।

वस्तृत: सामान्तवादी व्यवस्था के प्रतिमानों ने ही राजस्थान में राजनीतिक जन – जागरण की पृष्ठभूमि का निर्माण किया ।

4. प्रजामण्डल आन्दोलन की पृष्ठभूमि

राजस्थान में प्रजामण्डल आन्दोलन की पृष्ठभूमि का निर्माण दो स्तरों पर हुआ ।

(क) किसान वर्ग के आन्दोलन

राजस्थान की प्रत्येक रियासत में प्रचलित सामान्तवादी व्यवस्था में किसान वर्ग का निर्दयतापूर्वक सामाजिक – आर्थिक उत्पीड़न होता था । राज्य के शासक और जागीरदार दोनों ही किसानों के नागरिक अधिकारों का पाशविक बल से दमन करते थे । परिणामस्वरूप सामन्तवादी व्यवस्था के गर्भ से प्रथम चरण में राजस्थान में किसान आन्दोलनों का उदय हुआ ।

भारत में सर्वप्रथम अहिंसात्मक समरनीती पर आधारित सामन्तवादी के विरूद्ध किसानों का संगठित आन्दोलन मेवाड़ के बिजैलिया ठिकाने से प्रारंभ हुआ । अधिक भू–लगान, सामाजिक आर्थिक शोषण के प्रतीक लाग बाग लागत बेगार और जागीरदार के किसानों पर अत्याचार बिजौलिया ठिकाने में किसान आन्दोलन के प्रमुख कारण थे ।

बिजौलिया किसान आन्दोलन सामन्तवाद के विरूद्ध एक दीर्घकालीन संघर्ष और प्रतिरोध की कहानी है । इसके प्रथम चरण 1897–1916 का नेतृत्व साधु सीताराम दास ने किया । द्वितिय चरण 1916–1929 का नेतृत्व एक महान क्रान्तिकारी, प्रतिभा सम्पन्न, विलक्षण संगठनकर्ता राजनीतिक कौशल में निपुण तथा ओजस्वी वाणी और लेखनी के धनी विजयसिंह पथिक ने किया । उन्होने न केवल किसानों के शक्तिशाली संगठन बिजौलिया किसान पंच बोर्ड की स्थापना की, बल्कि माणिक्यलाल वर्मा जैसे प्रभावशाली जन नेता का भी निर्माण किया । पथिकजी के मार्गदर्शन में किसान पंचायत ने बिजौलिया ठिकाने के दमन चक्र का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया । अन्त में ए0जी0जी0 रार्बट हालैड की मध्स्था से 1992 में ठिकाने और किसान पंचायत में सम्मानपुर्व समझौता हो गया । 35 लागत – बेगार समाप्त कर दी गई और किसानों पर चलाए गये मुकदमें उठा लिये गये । इस समझोते में किसानों का प्रतिनिधित्व माणिक्यलाल वर्मा और राजस्थान सेवा संघ के रामानरायण चौधरी ने किया ।

मेवाड़ प्रशासन द्वारा आश्वासन पूरे नहीं किये ताने पर आन्दोलन के तृतीय चरण 1929–1941 का नेतृत्व सेठ जमनादास बजाज और हरिभाउ उपाध्याय ने किया । 1941 में मेवाड़ प्रशासन द्वारा किसानों को माल भूमि पुन: सौंपने के साथ बिजौलिया किसान आन्दोलन का पटोक्षप होता है ।

---

1. 1 1920 में वर्ध में स्थापित तथा फरवरी 1921 में अजमेर में स्थानान्तरित वर्धा और आद मे, नवीन राजस्थान अजमेर से पाक्षिक पत्र राजस्थान मेरा राजनैतिक नवोत्थान के प्रचार – प्रसार के माध्यम बन गए ।

बिलोजिया किसान आन्दोलन का महत्व है । यह राजस्थान मे समातिक – राजनीतिक चेतना की प्रथम सफल अभिव्यक्ति था । प्रताप कानपूर के यशवी सम्पादक गणेशशंकर विधार्थी और मराठा पूना के सम्पादक बालगंगाधर तिलक के लेखो तथा महात्मा गांधी के समर्थन ने राजस्थान के किसान आन्दोलन को राष्ट्रव्यापि महत्व प्रदान किया ।

विजय सिंह पथिक द्वारा स्थापित राजस्थान सेवा संघ[1] : राजस्थान केसरी

बिजौलिया किसान आन्दोलन के परिणामस्वरूप मेवाड़ के अन्य ठिकानों बेगृ भैसरोगड़ और धाकरमउ मे भी सामन्तवादी व्यवस्था के विरूद्ध संगठित प्रतिरोध एवं असहयोग प्रारम्भ हो गए ।

डूंगरपुर, बांसवाड़ा दक्षिण मेवाड़ सिरोही, ईडर, गुजरात और मालवा के बीच के तमाम पहाड़ी प्रदेश में बसे हुए भील गरासिया किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व गोविन्द गुरू 1858–1920 ने किया ।

सिरोही राज्य में प्रथम चरण 1922–29 में मोतीलाल तेजावत ने झील–गरासिया किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व किया तथा दूसरे चरण 1939–1947 में गोकुलभई भटट् ने प्रजामण्डल के नेतृत्व में किसानों वर्ग के आन्दोलन का संचालन किया ।

बूंदी राज्य में पं0 नेनूराम शर्मा के नेतृत्व मे 1922 23 में किसानों ने आन्दोलन किया । अलवर राज्य में राजपूत किसानों ने आन्दोलन किया । मई 1925 में नीमूचराणा गाँव में किसानों की सभा पर अलवर राज्य की सेना ने गालियो की बोछार की । गोलीकाण्ड में 95 व्यक्ति मारे गये । और 353 मकान जलकर नष्ट हो गए । महात्मा गाँधी ने इस गोलीकाण्ड को डायरवाद की संज्ञा दी ।

सीकर – शेखावाटी क्षेत्र में हरलाल सिंह ने और बीकानेर राज्य मे हनुमान सिंह आर्य तथा कुम्भाराम आर्य ने किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया ।

जोधपुर राज्य में 1924 में स्थापित मारवाड़ हितकारिणी सभा ने जयनारायण व्यास के नेतृत्व में लाग–बाग के विरूद्ध किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया ।

उन्होने तरूण राजस्थान में किसानों की शोचनीय दशा पर 1929 मे अनेक लेख लिखे और किसानों को अवैध लाग–बाग नहीं देने कि लिए जागीरदारों के विरूद्ध सत्याग्रह आन्दोलन के लिए तैयार किया ।

जोधपुर राज्य में किसान आन्दोलन का द्वितीय चरण मारवाड़ लोक परिषद मई 1938 में स्थापित होता है । इस सन्दर्भ में जागीरदारों द्वारा चण्डावल में 28 मार्च, 1942 और डाबरा गाँव में 13 मार्च 1947 को किसानो पर किय गए । भीष्ण प्राणघातक हमलो की घटनाएं उल्लेखनीय है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसान वर्ग के आन्दोलनों ने राजस्थान में राजनीतिक चेतना के प्राथमिक चरण को सम्पन्न किया । ग्रीब्शि सत्तस विरोधी बीज बोए – अहिंसक समरनरति का प्रयोग किया । संगठन और पत्र पत्रिकाओं का विकास किया तथा भावी प्रजामंडल आन्दोलन का संचालन करने वाले नेतृत्व को राजनिति परीक्षण प्रदान किया ।

(ख) देशी राज्य लोक परिषद् की स्थापना

1885 मे स्थापित अखिल–भारतीय कांग्रेस ने ब्रिटिश भारत में तो राजनीतिक चेतना के प्रचार प्रसार तथा उत्तरदायी शासन की (स्थापना के लिए आन्दोलन किए, परन्तु रियासतों के प्रति तटस्थता की नीति बरती । महात्मा गाँधी के नेतृत्व में संचालित असहयोग आन्दोलन 192 0–22) और सविनेय अविज्ञा आन्दोलन 1930–1930, 1931–34 का प्रभाव राजस्थान की विभिन्न रियासतों में भी पड़ा । कांग्रेस आन्दोलन ने राजस्थान में किसान आन्दोलोनों को प्रेरणा तथा गति प्रदान की तथा उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार की । देशी भारत की विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं तथा आन्दोलनों में समन्वय स्थापित करने उन्हें राजनीतिक मार्गदर्शन प्रदान करने हेतु दिसम्बर 1927 में बम्बई में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की स्थापना की गई । इसका मुख्य उद्देश्य भारत के अभिन्न अंग के रूप मे देशी राजा में शान्तिपूर्ण एवं वैधिनिक साधनों से उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था ।

देशी राज्य परिषद् के प्रथम सम्मेलन में राजस्थान की और से विजयसिंह पाथिक, रामनारायण चौधरी, जयनारायण व्यास, नैनूराम शर्मा त्रिलोक चन्द माथुर आदि ने भाग लिया ।

देशी राज्य परिषद् ने राजसनि में प्रजामण्डलों की स्थापना पर बल दिया । 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिवेशन ने हरिपुरा अधिवेशन में रियासतों की जनता को अपने–अपने राज्य में राजनीतिक संगठन स्थापित करने और राजनीतिक अधिकारों के लिए आन्दोलन आरम्भ करने की स्वीकृति प्रदान की । इसके पश्चात राजस्थान की विभिन्न रियासतों मे प्रजामंडल स्थापित हुए और अनेक नेतृत्व मे सामन्तवादी व्यवस्था के विरूद्ध तथा राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु आन्दोलन आरम्भ हो गए ।

5. विभिन्न रियासतों में प्रजामंडल आन्दोलन

अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की स्थापना 1927 और हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन 1938 के बाद राजस्थान की प्रत्येक रियासत में प्रजामण्डल की स्थापना होने लगी । इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि प्रजा मंडल के अनेक नेताओं ने अपनी राजनीतिक गतिविधियों का संचालन अजमेरी से किया ।

ब्रिटिश भारत का अंब हाने के कारण अजमेर ब्रिटिश भारत में कांग्रेस आन्दोलन से सम्बन्धित सभी गातिविधियों से प्रभावित होता था । देशी राज्यों में दमनचक्र की तुलना मे अजमेर में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए वातावरण अनुकुल था ।

अजमेर सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारियों अर्जुन लाल सेठ भूपसिंह उर्फ विजयसिंह पथिक, केशरीसिंह बारहठ और खेरवा ठाकुर गोपाल सिंह की कार्यस्थली रहा । जयनारायण व्यास के राजनीतिक जीवन का पूर्वार्द्ध अजमेर और ब्यावर में ही बीता । माणिक्यलाल वर्मा ने 1938 में मेवाड़ के प्रथम सत्याग्रह का संचालन भी अजमेर से किया ।

विजय सिंह पथिक और रामानारायण चौधरी द्वारा 1920 में वर्धा में स्थापित राजस्थान सेवा संघ का मुख्य स्थल फरवरी 1921 में अजमेर में स्थानान्तरित किया गया रामानारायण चौधरी 1920 से 1928 तक इस संस्था के मंत्री रहे । 1920 में ही पथिक जी ने

वर्ध में राजस्थान केसरी साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया बाद में यह अजमेर से नवीन राजस्थान तथा जूलाई 1923 से तरूण राजस्थान के नाम से प्रकाशित होने लगा । जयनारायण व्यास नरूण राजस्थान के सम्पादक थे । अजमेर से प्रकाशित समाचार पत्रों ने राजस्थान में राजनीतिक जन जागरण में महत्वपुर्ण योगदान दिया ।

इस प्रकार अजमेर को राजस्थान की रियासतों के राजनीतिक कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण स्थल राजनेताओं की कर्मस्थली और राजनीतिक जन जागरण का शंखनाद करने वाले समाचारो पत्रों के प्रकाशन का केन्द्र होने का श्रेय है ।

5.1 जोधपुर राज्य

जोधपुर राज्य में निरकुंश सामंतवादी व्यवस्था के विरूद्ध मारवाड़ हितकारिणी सभा 1924 में स्थापित के द्वारा जयनारायण व्यास के नेतृत्व में 1925 में आन्दोलन आरम्भ हुए । उन्होने मारवाड हितकरिणी सभा की ओर से बम्बई में दिसम्बर 1927 में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् के प्रथम अधिवेशन में भाग लिया । सर्वप्रथम उन्होने ही विभिन्न रियासतों के विलय से एक संयुक्त राजस्थान के निर्माण की संकल्पना प्रस्तुत की थी । उन्होंने तरूण राजस्थान ब्यावर से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र में अपने लेखों के माध्यम से जोधपुर राज्य में राजनीतिक आन्दोलनों को गति एवं दिशा प्रदान की ।

जयनारायण व्यास ने अक्टूबर 1929 मारवाड़ राज्य लोक परिषद् का अधिवेशन बुलाने का निर्णय किया । जोधपुर प्रशासन ने अधिवेशन प्रशासन की कटू अलोचना करने के आरोप मे, जयनारायण व्यास आनन्द रात खुराना और भरलाल सर्राफ को बन्दी बना लिया गया । व्यासजी को 6 वर्ष का कारावास कर सजा दी गई, परन्तु तीनों साथियों को मार्च 1931 में रिहा कर दिया गया । व्यासजी ने नवम्बर 1931 में पुष्कर अजमेर में मारवाड़ राज्य लोक परिषद का अधिवेशन बुलाया । अधिवेशन मे मारवाड़ में उत्तरदायी शासन की स्थापना और नागरिक अधिकारों के संरक्षण सम्बन्धी प्रस्ताव पास किए गए ।

1931 में जोधपुर राज्य में कांग्रेस के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रभाव पड़ा । जोधपुर युवा संगठन ने 10 गई 1931 को आयोजित सार्वजनिक सभा में लाग–बाग उन्मुलन और उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की । राज्य में जन आन्दोलन को कुचलने के लिए दमन चक्र चलाया । मारवाड़ हितकारिणी सभा को अवैध घोषित कर दिया गया तथा मार्च 1931 में सार्वजनिक सभा तथा प्रदर्शनों के आयोजन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया ।

1934 में मारवाड़ प्रजामण्डल की स्थापना मानमल जैन, अभयमन जैन और छगनराज चौपासनीवाला ने की इसका उद्देश्य मारवाड़ में उत्तरदायी शासन और अधिकारों की स्थापना था 10 मई 1936 को मारवाड़ प्रजामंडल ने प0 नेहरू का जोधपुर में भव्य सार्वजनिक स्वागत किया । प. नेहरू ने अपने भाषण में कहा कि जोधपुर की जनता स्वयं को अंग्रेजो के विरूद्ध भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का अभिन्न अंग समझे । इसी बीच जोधपुर के प्रधानमंत्री डोनाल्ड एम0 फील्ड ने मारवाड़ प्रजामंडल को अर्वध घोषित कर दिया अत: नागरिक अधिकार रक्षक सभा के नाम से एक नए संगठन की स्थापना की गई परन्तु इसे भी गैर कानूनी घोषित कर दिया गया । आन्दोलन को कुचलने के लिए 21 सितम्बर 1936 को छगनराज चौपासीनावाला,

मानमल जैन और अभयमत जैन को बन्दी बना लिया गया । तब अचलेशवर प्रसाद शर्मा ने आन्दोलन का नेतृत्व किया; परन्तु उन्हें भी नवम्बर 1936 में गिरफ्तार कर लिया गया ।

मारवाड़ प्रजामंडल और नागरिक अधिकार रक्षक सभा को गैर कानूनी घोषित किया जा चुका था । अत: निर्वासित नेता जयनारायण व्यास के नेतृत्व में 26 मई 1998 को मारवाड़ लोक परिषद् की स्थापना की गई । इसका प्रमुख उद्देश्य महाराजा की छत्रछाया में मारवाड़ में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था ।

फरवरी 1939 में जोधपुर प्रशासन ने व्यासजी के मारवाड़ प्रवेश पर प्रतिबन्ध को हटा लिया । मारवाड़ लोक परिषद ने सितम्बर 1939 में जागीर क्षेत्रों में किसानों से जबरन वसूल की जाने वाली अवैद्ध–लाग–बाग के विरूद्ध किसान आन्दोलन आरम्भ किया । तब जोधपुर सरकार ने दमन चक्र चलाया और 29 मार्च 1940 को मारवाड़ लोक परिषद् को गैर कानूनी घोषित कर दिया । परन्तु मारवाड़ लोक परिषद् के नेता और कार्यकर्ता सरकारी दमन चक्र के सामने झुके नहीं । उन्होने उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन जारी रखा जयनारायण व्यास, अचलेश्वर प्रसाद पुरूषोतम दास किशारीलाल मेहता, अभयमल जैन, छगनराज चौपासनीवाला मथुरा दास मथुरा धारा 144 को तोड़ने में राज्य सरकार और मारवाड़ लोक परिषद के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत बंदियों को रिहा कर दिया गया ।

राज्य सरकार और परिषद के मध्य समझौता 1942 में टूट गया 9 फरवरी 1942 को लाडनू में रणछोड़ दास गट्टानी के सभापतित्व के लोक परिषद् का अधिवेशन हुआ । परिषद् ने 28 पूर्व 1942 को उत्तरदायी शासन दिवस मनाने का निश्चय किया । परन्तु चण्डावल ठाकुर ने परिषद् को उत्तरदायी शासन दिवस मनाने की अनुमति नहीं दी और ठिकाने की पुलिस ने कार्यकर्ताओं पर लाठियों तथा भालों से हमला किया । चण्डावल दू:खानितका जोधपुर राज्य में स्वतन्त्रता आन्दोलन का एक दुखद अध्याय है ।

व्यासजी ने राज्य की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालने कि लिए मारवाड़ मे उत्तरदायी शासन और जोधपुर की स्थिति नाम की दो पुस्तकों का प्रकाशन करवाया । मई 1942 में परिषद ने व्यासजी के नेतृत्व में पुन: आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया । 27 मई को जयनारायण व्यास, मथुरादास माथुर आदि परिषद् के नेताओं को बन्द कर दिया गया । भीषण गर्मी और कैदियों से पिटाई करवाने के कारण 19 जून को बालमुकन्द बिस्स की मृत्यु हो गई। दमनचक्र के बावजूद सत्याग्रह फौलादी योजन और नागौर में भी फैलने लगा । अनत: मई 1944 में राज सरकार ने व्यासजी से समझोता करा लिया और उनके सहयोगियों को रिहा कर दिया गया ।

जून 1944 में सरकार ने जोधपुर सरकार अधिनियम पास किया । इसके माध्यम से प्रशासन में सवैंधानिक सुधारों की घोषणा की गई । परन्तु जागीरों के अत्याचार कम नहीं हुए । उन्होनें मार्च 1947 में डाबरा गाँव जिला नागौरा में आयोजित सम्मेलन में परिषद के कार्य कर्ताओं और किसानों पर तलवारों, कुल्होड़ों और लाठियों से हमले किए ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् 3 मार्च 1948 को महाराजा जोधपुर ने जयनारायण व्यास को राजा का प्रधानमंत्री नियुक्त किया और इसके साथ मारवाड़ हितकरणी परिषद् लोक परिषद् का दीर्घकालीन संघर्ष समाप्त होता है ।

5.2 बीकानेर राज्य

अन्य रियासतों के साथ बीकानेर मे भी सामान्तवाद और निरकुंश शासन पद्धती विद्यमान थी । बीकानेर में राजनीतिक संगठन स्थापित करने का प्रथम प्रयास मघाराम वैद्य ने किया । वैद्य ने 4 अक्टूबर 1936 को बीकानेर प्रजामंडल की स्थापना की वैद्य स्वयं प्रजामंडल के अध्यक्ष और लक्ष्मणदास स्वामी मंत्री चुने गए । उनके अन्य सहयोगी थे – भिक्षलाल बोहरा, सुरेन्द्र कुमार शर्मा शेराराम आदि । रियासत के महाराजा गंगासिंह ने नवजात प्रजामंडल का दमन करने थे वैद्य को 6 वर्ष के लिए राज्य से निर्वासित कर दिया इस दिशा में दूसरा प्रयत्न एडवोकेट रघूवर दयाल गोयल ने किया ।

जूलाई 1942 में गोयल की अध्यक्षता में प्रजामंडल की स्थापना की गयी और उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग को लेकर सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ । राज्य ने दमनचक्र का सहारा लिया । सार्वजनिक सभाओं, भाषणों और प्रर्दशनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया । महाराजा ने रघुवर दयाल सहित अनेक व्यक्तियों को गिरफ्तार तार करके उन्हें राज्य से निष्काषित कर दिया । परन्तु कुछ समय के बाद रघूवर दयाल गोयल ने अपने अन्य साथियों गंगदाय कौशिक तथ अचार्य के साथ निष्कासन आदेश की अवहेलना करते हुए राज्य में प्रवेश किया । गोयल को एक वर्ष की सजा दी गई ।

फरवरी 1943 मे, महाराजा गंगासिंह का देहान्त हो जाने पर उनके स्थान पर शार्द्धलुसिंह गद्धी पर बैठते ही रघुवर गोयल तथा उनके सहयोगी कार्यकर्ताओं को रिहा कर दिया। प्रजामंडल के नेताओं ने सरकार से प्रजामंडल को मान्यता देने की मांग की । इस संबन्ध में महाराजा और गोयल के बीच 44 में लम्बी वार्ता हुई, परन्तु कोई नतीजा नहीं निकला । परिणामस्वरूप गोयल तथा उनके साथियों को बन्दी बना लिया गया । बाद में गोयल को एक बार फिर राज्य से निष्काषित कर दिया । जून 1945 में द्वधवाखरा किसान आन्दोलन ने फिर जोर पकड़ा । सर्वश्री मद्याराम वैध एवं रामनारायण शर्मा को पुन: बन्दी बना लिया गया । इस प्रकार राज्य में दमन चक्र चलता रहा ।

31 दिसम्बर 1945 को प0 जवाहरलालनेहरू की अध्यक्षता में उदयपुर में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् का अधिवेशन हुआ । अधिवेशन में प. नेहरू ने बीकानेर राज्य के निरकुंश शासन की कटु आलोचना की 25 जून 1946 को गोयल ने निर्वासन की पाबन्दी को तोड़कर पुन: राज्य में प्रवेश किया । उन्हें बन्दी बना लिया गया । कुम्भराम आर्य को उससे पूर्व ही बन्दी बना लिया गया था । 30 जून को रायसिंह नगर में प्रजामण्डल का सम्मेलन हुआ । बीरबल जलूस का नेतृत्व करते हुए पुलिस की गोली से शहीद हुए । तीन अन्य कार्यकर्ता घटनास्थल पर ही मारे गये । 17 जूलाई 1946 को समूचे राज्य मे बीरबल दिवस मानाया

गया और समस्त राजनीतिक कैदियों को रिहा करने की मांग की गई । अन्तत – 31 अगस्त 1946 को महाराजा शार्दूलसिंह की इस घोषणा पर कि –

राज्य में शीघ्र उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाएगी । राज्य का तनावपुर्ण वातावरण शान्त हो गया मार्च 1948 में महाराजा ने अन्तरिम मत्रिमंडल का निर्माण किया जिसमें प्रजापरिषद के कार्यकर्ता भी शामिल किए गए ।

30 मार्च 1949 को सरदार पटेल ने बृहतराजात्थान का उद्घटन किया । इसके साथ ही बीकानेर राज्य का पृथ्क अस्तिव समाप्त हो गया इस प्रकार प्रजामंडल को उत्तरदायी शासन की स्थापना में निरकुंश शासन से काफी वर्षो तक कठोर संघर्ष करना पड़ा ।

5.3 उदयपुर राज्य

बिजौलिया किसान आन्दोलन के बाद मेवाड़ में संगठित राजनीतिक आन्दोलन का प्रारम्भ 1938 में हुआ । मेवाड़ में प्रजामंडलों की स्थापना 24 अप्रैल 1938 को हुई । बलबन्त मेहता प्रजामंडल के अध्यक्ष भूरे लाल बना उपाध्यक्ष और माणिक्यलाल वर्मा, महामंत्री निर्वाचित हुए । प्रजामंडल की स्थापना से मेवाड़ में राजनितिक चेतना की अद्भूत लहर फैल गई हजारों की संख्या में लोग प्रजामंडल के सदस्य बनने लगे ।

प्रजामंडल की लोकप्रियता से भयभीत होकर मेवाड़ के निरकुंश शासन ने 11 मई 1938 को प्रजामंडल को गैर कानूनी घोषित कर दिया । अब प्रशासन ने दमनचक्र का सहारा लिया । वर्माजी को मेवाड़ से निष्कासिन कर दिया उन्होनें वर्ध में महात्मा गांधी से आशीर्वाद तथा मार्गदर्शन प्राप्त कर अजमेर में मेवाड़ प्रजामंडल का अस्थायी कार्यालय स्थापित किया । सरकार ने तथ्य में समाचारों के प्रकाशन और बाहर से आने वाले समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया । जुलूस प्रदर्शन और सभाओं के आयोजन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा प्रजामंडल के कार्यकर्ताओं, को बन्दी बना लिया गया ।

मेवाड़ प्रशासन के दमन चक्र का मुकाबला करने के लिए 21 अक्टूबर 1938 को सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया गया यह आन्दोलन शीघ्र ही राज के विभिन्न भागों में फैल गया । सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध के बावजूद अनेक स्थानों पर सभाओं का आयोजन किया गया इस सतग्रह में लगभग 250 व्यक्तियों को या तों दण्डित किया गया या मेवाड़ से निर्वासित कर दिया गया ।

वर्माजी सत्याग्रह का संचालन अजमेर से करते रहे । 2 फरवरी 1939 को वर्माजी ने राज्य के आदेश का उल्लंघन करते हुए मेवाड़ प्रदेश की सीमा में प्रवेश किया । वर्माजी को बन्दी बनाया गया'। उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला कर उन्हें 2 वर्ष की सजा दी गई । अन्ततः महात्मा गांधी के परामर्श से जनवरी 1940 में सत्याग्रह स्थागित कर दिया गया तथा वर्माजी सहित अनेक कार्यकर्ताओं को रिहा कर दिया गया ।

22 फरवरी 1941 को प्रजामंडल पर से पाबन्दी हटा दी गई नवम्बर 1941 में माणिक्यलाल वर्मा के सभापतित्व में प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन उदयपुर में आयोजित किया गया । जिसमें नागरिक अधिकारों और उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की गई । सम्मेलन मे आचार्य कृपलानी और श्रीमति विजयलक्षमी पण्डित ने भी भाग लिया ।

अगस्त 1942 के भरत छोड़ो आन्दोलन का उदयपुर राज्य में भी व्यापक प्रभाव पड़ा । 20 अगस्त 1942 को प्रजामंडल द्वारा एक प्रस्ताव पारित किया गया । जिसमें राज्य में तुरन्त उत्तरदायी शासन की स्थापना और ब्रिटिश सरकार से सभी सम्बन्ध तोड़ लेने की मांग की गई थी इसके प्रत्युत्तर में राज्य ने दमन की नीति का सहारा लिया और 21 अगस्त 1942 को माणिक्यलाल वर्मा, मोहन लाल सुखाड़िया, बलवन्त सिंह मेहता सहित 15 सत्याग्रहियों को बन्दी बना लिया प्रजामंडल को पुन: गैर कानूनी घोषित कर दिया गया अन्तत: 6 सितम्बर 1945 को प्रजामंडल से प्रतिबन्ध उठा लिया गया ।

अन्त में प्रजामंडल को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई । मार्च 1948 में महाराजा ने घोषणा की : दीवान के अलावा अन्य मंत्री विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होगें । 18 अप्रैल 1948 को उदयपुर राज्य का संयुक्त राजस्थान में विलय हो गया ।

5.4 जयपुर राज्य

जयपुर में प्रजामंडल की सर्वप्रथम स्थापना 1931 में कपूरचन्द पाटनी की थी, परन्तु उन्हें आवश्यक जन सहयोग नहीं मिला । 1937–38 में सेठ जमानालाल बजाज की प्रेरणा से प्रजामंडल का पुनर्गठन किया गया । चिरंजीलाल मिश्र, एडवोकेट अध्यक्ष, हीरालाल शास्त्री महामंत्री और पाटनी संयुक्त मंत्री बनाये गये । प्रजामंडल के अन्य प्रमुख सदस्य थे — बाबा हरिशचन्द हंस डी0 राय, लद्धाराम जोशी, टीकाराम पालीवाल और पुर्णचन्द जैन ।

1938 में प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन सेठ जमानालाल बजाज के सभापतित्व में अत्यन्त धूमधाम से सम्पन्न हुआ । राज्य में प्रजामंडल का प्रभाव क्षेत्र बनने लगा । प्रजामंडल का मुख्य उद्देश्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना और नागरिको को उनके प्राथमिक अधिकार दिलाना था । प्रजा मंडल ने लाग–बाग को अवैध घोषित करने और अकाल से प्रभावित क्षेत्रों में भू–राजस्व की वसूली स्थगित की भी मांग की ।

सरकार ने प्रजामंडल की मांग मानने के बजाय दिसम्बर 1938 में सेठ जमनालाल बजाज के जयपुर में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया । बजाज ने घोषणा की कि वे फरवरी 1939 का राज्य के इस आदेश का उल्लंघन करते हुए सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करेंगे परिणामत: सेठ जमानालाल बजाज के नेतृत्व में फरवरी 1939 को सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया गया । आन्दोलन मे लगभग 500 व्यक्ति गिरफ्तार हुए ।

महात्मा गांधी के निर्देशानुसार 19 मार्च 1939 को सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया और मार्च 1940 में प्रजामंडल को मान्यता दे दी गई तथा सभी बंदियों को रिहा कर दिया गया।

1940 में हीरालाल शास्त्री के अध्यक्ष बने । भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रभाव जयपुर राज्य पर भी पड़ा । परन्तु प्रजामंडल के नेताओं मत भेद के कारण आन्दोलन का संचालन प्रभावी रूप सें नहीं हो सका । चिरंजीलाल अग्रवाल ने एक दल प्रजामंडल प्रगतिशील दल की स्थापना कर ली । हीरालाल शास्त्री की नितियों से असन्तुष्ट नेता – मास्टर रामकिशोर जोशी

बी0एस0 देशपांडे अमोदत्त शास्त्री लादूराम शर्मा आदि ने आजाद मोर्चा नामक एक नए संगठन का निर्माण कर लिया ।

अक्टूबर 1942 में महाराजा ने सवैंधानिक सुधारों के संदर्भ में एक विशेष समिति की स्थापना की समिति द्वारा प्रस्तावित संवैधानिक सुधार 1945 में लागु हुए । जून 1947 की भारत विभाजन योजना के बाद राजनीतिक स्थिति बदल गई । जयपुर राज का भारत संघ में विलय हो गया । मार्च 1948 में महाराजा द्वारा हीरालाल शास्त्री को मुख्य सचिव तथा देवीशंकर तिवाड़ी दौलत भंडारी एवं टीकाराम पालीवाल को मंत्री नियुक्त किया गया । वस्तुत: 30 मार्च 1949 को संयुक्त राजस्थान में जयपुर के विलय के पश्चात ही वास्तविक उत्तरदायी शासन की स्थापना हो सकी

5.5 जैसलमेर

राजस्थान की अत्यन्त पिछड़ी रियासत होने के कारण यहां पर राजनीतिक चेतना का आरम्भ काफी देर से हुआ । राज्य की दमननिति के बावजूद 1939 में शिवशंकर गोपा ने राज्य से प्रजापरिषद् की स्थापना की ।

परिणामस्वरूप उन्हें राज्य से निष्काषित कर दिया गया । ओर वे अपने भाई सगारमल गोपा के पास नागपुर चले गये ।

जैसलमेर राज्य में सामंतवाद तथा निरकुंश सत्ता के विरूद्ध प्रबल संघर्ष प्रारम्भ करने का श्रेय सागरमल बोपा को है । उन्हें मई 1941 में बन्दर बनाया गया । राजद्रोह के आरोप में 6 वर्ष की सजा, दी गई । जेल में पुलिस इंस्पैक्टर गुमानसिंह ने गोपाल को कठोर शारीरिक यातनाए दी । परिणामस्वरूप उन्होने 1946 में आत्महत्या करली । जवाहरलाल नेहरू और जयनारायाण व्यास ने सरकार की दमन नीति की कठोर अलोचना की ।

इसी बार मीठा लाल व्यास ने गिरफ्तारी से बचने के लिए 15 दिसम्बर 1945 को जोधपुर में जैसलमेर प्रजामंडल की स्थापना कर ली थी । सगारमल गोपा के बलिदान ने प्रजामंडल के कार्यकर्ताओ में एक नए साहस का संचार किया । इसलिए 26 मई 1949 को मीठालाल व्यास जयनारयण व्यास और उनके साथियों ने जैसलमेर कर राज्य सीमा मे प्रवेश किया 27 मई 1946 को जयनारायण व्यास ने जैसलमेर भूमि पर राष्ट्रीय तिरंगा झण्डा फहराया । अगस्त 1947 में जैसलमेर राज्य का भारत संघ में विलय हो गया तथा इसके साथ ही प्रजामंडल का आन्दोलन भी समाप्त हो गया ।

5.6 अलवर

प0 हरिनरायण शर्मा और कुंजबिहारी लाल मोदी के प्रयत्नों से 1938 में अलवर राज्य प्रजामंडल क स्थापना हुई सर्वप्रथम प्रजामंडल ने सरकारी विद्यालयों में फीस वृद्धि के विरोध में आन्दोलन आरम्भ किया फलस्वरूप हिरनारायण शर्मा लक्षमण स्वरूप त्रिपाठी, इन्द्रसिंह आजाद, नत्थूराम, मोदी और राधा स्वरूप आदि कार्यकर्ताओं को राजद्रोह के अपराध में सजाए दी गई । मास्टर भोलानाथ को सरकारी सेवा से पारित कर दिया गया । राज्य की तनावपुर्ण स्थिति का अध्ययन करने हेतु हरिभउ उपाध्याय ने राज्य की यात्रा की

1940 में राज्य के द्वारा अलवर प्रजामंडल को मान्यता प्रदान कर उर परन्तु 2 जून 1941 को प्रजामंडल ने किसानों को भू–स्वामित्व दिए जाने और लाग–बाग उन्मुलन की मांग की । दमन नीति के कारण आन्दोलन मन्द पड़ गया । परन्तु 1946 मे प्रजामंडल ने उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांगा को लेकर आन्दोलन आरम्भ कर दिया । अक्टूबर 1947 में महाराजा ने कतिपय सवैंधानिक सुधारों की घोषणा की परन्तु राज्य की जनता सन्तुष्ट नहीं हुई । बाद में अलवर राज्य भारत संघ में शामिल हो गया । और सभी राजनीतिक बदी मुक्त कर दिए गए ।

5.7 कोटा

कोटा राज्य में जन जागृति के प. नयनूराम शर्मा जनक थे । 1939 में नयनूराम शर्मा और प0 अभिन्न हरि ने राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के उद्देश्य से कोटा राज्य में प्रजामंडल की स्थापना की। प्रजामंडल का प्रथम अधिवेशन प0 नयनूराम शर्मा की अध्यक्षता में मांगरोल में हुआ । 14 अक्टूबर 1941 को किसी गिरोह द्वारा नयूनराम शर्मा का निर्दयतापूर्वक कत्ल कर दिया गया । नवम्बर 1941 में बिगड़ी स्थिति को संभाल पाने के लिए महाराव कोटा ने कुछ सवैंधानिक सुधारों की घोषणा की । परन्तु प्रजामंडल ने इन सवैंधानिक सुधारों के साथ सहयोग करने से इंकार कर दिया ।

अगस्त 1942 में भारत छोडों आन्दोलन के दौरान कोटा प्रजामंडल ने भी उत्तरदायी शासन की मांग को लेकर सत्याग्रह प्रारंभ किया । राज्य की दमनकारी नीति के फलस्वरूप गिरफ्तार लोगों की संख्या हजारों तक पहुंची गई । उत्तेजित नागरिको ने शहर के दरवाजें बन्द कर दिए और पुलिस कोतवाली में तिरंगा झंडा फहरा कर नगारिक शासन अपने हाथ में ले लिया । लगभग तीन दिन तक यहीं स्थिति रही । अनत: महाराव के इस आश्वासन पर कि वे राज्य में उत्तरदायी शासन के लिए शीघ्र ही कदम उठायेंगे, सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया ।

5.8 भरतपुर राज्य

दिसम्बर 1938 में रेवाड़ी में भरतपुर प्रजामंडल की स्थापना की गई । गोपाल यादव को अध्यक्ष ठाकुर देशराज एवं रेवतीराम शरण उपाध्याय को उपाध्यक्ष किशनलाल जोशी को सचिव और आदित्येन्द्र को प्रजामंडल का कोषाध्यक्ष निर्वाचित किया गया । भरतपुर में आन्दोलन का आरम्भ 1940 में उस समय हुआ जब राज्य के अंग्रेज प्रधानमंत्री ने राष्ट्रध्वज को फहराना गैर कानूनी घोषित कर दिया ।

अन्य राज्यों के समान ही भारत छोड़ा आन्दोलन का प्रभाव भरतपुर में भी पड़ा और वहाँ 10 अगस्त 1943 को उत्तरदायी सरकार मांग को लेकर आन्दोलन तीव्र हो उठा । इस आन्दोलन के प्रमुख नेता जुल किशोर चतुर्वेदी, मास्टर आदित्येद्र, देशराज, रेवतीशरण, ठाकुर जीवाराम राजबहादुर ओर मास्टर गोपालाल यादव थे ।

23 दिसम्बर 1940 को प्रशासन और प्रजामंडल में समझौता हो गया । फलस्वरूप राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया गया और प्रजा मंडल का पंजीकरण भरतपुर राज्य प्रजा

परिषद् के नाम से कर दिया गया । प्रजा परिषद् के प्रथम राजनीतिक सम्मेलन का आयोजन दिसम्बर 1940 41 में जयनारायण व्यास की अध्यक्षता में किया गया द्वितीय सम्मेलन का आयोजन बयाना में 23–24 मई 1945 को किया गया । तृतीय सम्मेलन का आयोजन दिसम्बर 1946 में किया गया इसमें प्रमुख नेता पटटाभी सीतारमैया ने भी भाग लिया । प्रत्येक राजनीतिक सम्मेलन में उत्तरदायी शासन की स्थापना तथा लाग–बाग के उन्मुलन की मंगा की जाती रही ।

अन्त में, जन आन्दोलन के दबाव से महाराजा द्वारा जनवरी 1948 में चार लोकप्रिय मंत्री मास्टर आदित्येनद्र, गोपीलाल यादव, हरिदत्त एवं ठाकुर देशराज नियुक्त किए गए ।

17 मार्च 1948 को मत्सय संघ अलवर भरतपुर, धोलपुर करौली के निर्माण से राज्य में राजनीतिक आन्दोलन समाप्त हो गए ।

5.9 डूंगरपुर

उदयपुर राज्य में रजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ोसी राज्य डंगरपूर पर भी पड़ा । भोगीलाल पड्यां के नेतृत्व में राज्य में राजनीतिक चेतना का प्रचार–प्रसार हुआ । उन्होने 1942 के भारत छोडों आन्दोलन का राज्य में नेतृत्व किया और प्रशासन में नागरिको की सहभोगिता पर बल दिया ।

डूंगरपुर राज्य प्रजामंडल की स्थापना 26 जनवरी 1944 को हुई भोगीलाल पंड्या को अध्यक्ष गौरीशंकर उपाध्यक्ष और शिवलाल कोटडिया को मंत्री निर्वाचित किया गया । प्रजामंडल की प्रमुख मांगें थी – दमनात्मक कानून वापिस लिए जाए । न्यायपालिका का कार्य पालिका से पृथक्करण किया । जाए बेगार प्रथा का उन्मुलन हो और नागरिको द्वारा निर्वाचित व्यक्ति को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त किया जाए ।

प्रजामंडल ने अपनी मांगों के समर्थन में जन आन्दोलन किया । परन्तु महारावल सरकार ने नेताओं को 30 अप्रैल 1946 को बन्दी बना लिया परन्तु महारावल के दमन से आन्दोल मन्द नहीं हुआ । प्रजामंडल ने 30 जून से 5 जूलाई 1946 तक राजनीतिक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें लगभग तीस हजार व्यक्तियों ने भाग लिया इस सम्मेलन में नेता मणिाक्यलाल वर्मा, हीरालाल शास्त्री, मोहन लाल सुखडिया आदि ने भी निरंकुश शासन के विरूद्ध ओजस्वी भाषण दिए ।

अन्तत: महारावल लक्ष्मणसिंह ने जन दबाव के कारण डूगरपूर राज्य का भारत संघ में विलय किया और 10 नवम्बर 1947 को गारी शंकर उपाध्यक्ष को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करके अन्तरिम उत्तरदायी शासन की स्थापना की । 18 अप्रैल 1949 को डूँगरपुर का सयुक्त राजस्थान में विलय हो गया ।

5.10 बांसवाड़ा राज्य

बांसवाड़ा राज्य की स्थापना भूपेन्द्रनाथ त्रिवेदी ने धूलजी भाई भावसार मणीशंकर जानी सिद्धिशंकर झा चिम्मनलाल माणे, मोतिलाल जाडिया और डाक्टर ध्यानिलाल आदि के सहयोग से 1943 में की । राज्य ने प्रजामंडल आन्दोलन को दबाने के लिए धारा 144 लगाई ।

1946 के प्रजामंडल अधिवेशन में राज्य मे उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की गई । अन्त में जन आन्दोलन के सामने महारावल चन्दवीर सिंह को झुकना पड़ा । उन्होने 1948 के प्रारंभ में प्रजामंडल की मांग स्वीकार कर भूपेन्द्र त्रिवेदी को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करके राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना की 18 अप्रैल 1948 को बांसवाड़ा राज्य का संयुक्त राजस्थान में विलय हो गया ।

5.11 सिरोही राज्य

प्रख्यात गांधीवादी नेता गोकुलभाई भट्ट ने सिहोही राज्य में प्रजामंडल की स्थापना 22 जनवरी 1939 को की । जनवरी 1940 में प्रजा मंडल ने राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना थे सत्याग्रह प्रारम्भ किया । आन्दोलन को कुचलने के लिए राज्य सरकार ने दमोनात्मक नीतियों अपनाई । जीवनलाल एवं रूपराज को बन्दी बना लिया गया । और पुलिस ने गोकुलभाई भट्ट को निर्दयतापूर्वक पीटा ।

1942 में भारत छोडो आन्दोलन के दौरान सिरोही में हड़ताल और प्रदर्शनी के आयोजन में जनता ने साहस एवं निर्भीकता से भाग लिया । अगस्त 1947 में सिरोही भारतीय संघ में शामिल हो गया । 24 अगस्त को जवाहरलाल सिंघवीं प्रजामंडल के प्रतिनिधि के रूप में राज्य मंत्रीमंडल में शामिल किए गए । 8 नवम्बर 1948 को सिरोही का प्रशासन भारत सरकार द्वारा अपने हाथ में लेने पर गोकुल भाई भट्ट को राज्य का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया ।

5.12 अन्य राज्यों मे प्रजामंडल आन्दोलन

राजस्थान की अन्य रियासतों में भी प्रजामंडल आन्दोलन की प्रकृति जोधपुर, बीकानेर, जयपुर उदयपुर, और कोटा आदि राज्यों की तुलना में न्यूनाधिक रूप–से समान थी । बूंदी में लोक परिषद् की स्थापना की गई । करौली तथ्य मे मुंशी त्रिलोकचन्द माथुर ने 1939 में प्रजामंडल की स्थापना की । 1946 में चिरंजीलाल शर्मा प्रजामण्डल के अध्यक्ष निर्वाचित हुए ।

6. स्वतन्त्रता संग्राम में प्रजामण्डल आन्दोलन की भूमिका

ब्रिटिश भारत में अखिल भारतीय कांग्रेस ने तिलक की मृत्यु के बाद महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल के नेतृत्व में ब्रिटिश स्वतन्त्रता के विरूद्ध स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारम्भ किया । ब्रिटिश भारत में कांग्रेस आन्दोलनों का व्यापक प्रभाव राजस्थान की विभिन्न रियासतों मे भी पड़ा ।

1920–22 में महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया । राजस्थान ने भी इस आन्दोलन में योगदान दिया । बुन्दी बिजौलिया बेगृ मेवाड़ भरतपुर सिरोही और अलवर में जन आन्दोलन हुए तथा अनेक स्थानीय संस्थाओं का जन्म हुआ जिनमें मारवाड़ हिरकरणी सभा 1924 और राजस्थान सेवा संघ 1920 उल्लेखनीय हैं । असहयोग आन्दोलन की प्रेरणा से ही 1927 में बम्बई में अखिल भारतीय देशी राज्य लोग परिषद् की स्थापना हुई । इसका प्रमुख उद्देश्य देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु आन्दोलन करना और प्रजामंडलों की स्थापना करना था ।

1930 में महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया । इस आन्दोलन ने राजस्थान में भी राजनीतिक चेतना का शखंनाद किया । अजमेर जोधपुर, जयपुर बीकानेर, उदयपुर और भरतपुर आदि राज्यों में राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ हुए । विभिन्न राज्यों में 1934–40 की अवधि में प्रजामण्डलों की स्थापना हुई प्रजामंडलो ने उत्तरदायी शासन की स्थापना निरंकुश शासन और लाग–बाग के उन्मूलन के लिए अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ किए ।

1939 में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ । विभिन्न राज्यों के प्रजामंडलों ने देशी राजाओं द्वारा युद्धकाल में ब्रिटेन को सहयोग देने का विरोध किया । 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में प्रजामण्डलों ने भी योगदान दिया रियासतों में दमनचक्र के बावजूद उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतू जन–आन्दोलन प्रारम्भ किए गए ।

जून 1947 में कांग्रेस द्वारा भारत विभाजन प्रस्ताव स्वीकार करने से देश की राजनीतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न हुए राज्यों के प्रजामंडलों ने न केवल उत्तरदायी शासन की स्थापना के संघर्ष को तीव्र किया, बल्कि नरेशों पर भारत संघ में विलय के लिए जन दबाव भी डाला । 15 अगस्त 1947 तक राजस्थान की रियासतों का भारतीय संघ में विलय हो गया था । अन्ततः 30 मार्च 1949 को बृहत् राजस्थान के निर्माण के साथ एक दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् राजस्थान में निरकुंश शासन का अन्त हुआ और राज्यों के समान ही राजस्थान में भी लोकप्रिय मंत्रीमंडल पदारूढ़ हुए ।

7. निष्कर्ष एवं मूल्याकंन

राजस्थान में राजनीतिक चेतना के प्रचार – प्रसार का प्राथमिक श्रेय सामन्तवादी व्यवस्था के संयत्र लागत बेगार के विरूद्ध संघर्ष करने वाले किसान वर्ग के आन्दोलनों को है । गरीब भारत में महात्मा गाधी के नेतृत्व में संचालित कांग्रेस आन्दोलनों ने रियासतों में जन जागरण को गति प्रदान की अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् ने देशी भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु राजनीतिक संगठनों की स्थापना पर बल दिया परिणामस्वरूप राजस्थान की विभिन्न रियासतों मे प्रजामंडलों की स्थापना हुई । 1938 में हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्ताव ने देशी भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु राजनीतिक संगठनों एवं आन्दोलनों की अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया परिणामस्वरूप राजस्थान के प्रजामंडल आन्दोलनों को अखिल भारतीय स्तर पर देशी राज्य लोक परिषद् तथा अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से निर्देशन एवं सहयोग मिलने लगा । राजस्थान में प्रजामंडल आन्दोलनों का प्रमुख उत्तरदायी शासन की स्थापना के साथ–साथ किसानों के अधिकारों की रक्षा एवं लाग–बागों का उन्नमूलन भी था ।

आधुनिक राजस्थान कि निर्माण में प्रजामंडलों की भूमिका निर्णायक रही । उन्होने राजनीतिक चेतना का शंखनाद किया । सामाजिक परिवर्तन एवं भूमि सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया सवैंधानिक सुधारों के लिए आन्दोलन किए, फलस्वरूप राज्यों के निरकुंश शासको को प्रशासन में सुधार करने पड़े और उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए कदम उठाने पड़े ।

प्रजामंडल आन्दोलनों के भावी जननेताओं का जन्म हुआ । आन्दोलनों में राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित नेतृत्व का निर्माण किया लोकनायक जयनारायण व्यास अर्जुन लाल सेठी, विजय सिंह पथिक, माणिक्यलाल वर्मा, हरिभउ उपाध्याय और हीरालाल शास्त्री समस्त राजस्थान में सम्मानित महान जन नेता है । जिनके प्रखर प्रभावी और तेजस्वी व्यक्तित्व का विकास प्रजामंडल आन्दोलनो के काल खण्ड में हुआ । रामानारायण चौधरी, गोकुलभाई भट्ट और गोकुलाल असावा की गणना आज तक राजस्थान में सामाजिक सेवा और गांधीवादी चिन्तन के प्रति समर्पित नेताओं में की जाति है । राजस्थान के भावी मुख्यमंत्री एवं मंत्री प्रजामंडल आन्दोलनों की देन है ।

प्रजामंडल आन्दोलनों के नेता 3 जून 15 अगस्त 1947 के कालखण्ड में रियासतों के शासको पर भारतीय संघ में विलय कि लिए निरन्तर जन आन्दोलन के माध्यम से दबाव डालते रहे । जयनारायण व्यास प्रथम व्यक्ति थे । जिन्होनें संयुक्त सन्मान की संकल्पना 1929 में प्रस्तुत की थी । प्रजामण्डल आंदोलनों ने सरदार वल्लभ भाई पटेल को 21 रियासतों के विलय से बृहत राजस्थान के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया ।

प्रजामंडलों ने न केवल राजस्थान में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए संघर्ष किए बल्कि ब्रिटिश भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के सन्देश के राजस्थान की रियासतों में फैलाया और राजस्थान के आन्दोलन का संचालन राष्ट्रीय आन्दोलन के एक अटूट एवं अविभाज्य अंग के रूप में किया ।

8. संदर्भ ग्रन्थ

1. के0 एस0 सक्सेना, दि पोलिटिकल मूवमेन्ट्स एण्ड अवेकनिंग इन राजस्थान) नई दिल्ली, एस0 चन्द कम्पनी, 1971)
2. के0 एस0 सक्सेना, राजस्थान में राजनीतिक जन–जागरण, (जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972)
3. बी0 एल0 पानगड़िया; राजस्थान में स्वतंत्रता आन्दोलन, “जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1985)
4. वी0 डी0 माथुर, स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेन्स (जयपुर, पब्लिकेशन स्कीम, 1984)

9. अभ्यास प्रश्न

1. राजस्थान में सामन्तवादी व्यवस्था के प्रतिमानों की राजनीतिक चेतना के निर्माण में भूमिका का विवेचन कीजिए ।
2. राजस्थान की प्रमुख रियासतों में प्रजामण्डल आन्दोलन के उदेश्य, उदय और विकास पर प्रकाश डालिये ।
3. स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रजामंडल आन्दोलनों के योगदान की विवेचना कीजिए ।

इकाई–21
भारतीय संघ में देशी राज्यों का अधिमिलन एवं एकीकरण

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. देशी राज्यों का वर्गीकरण
4. ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों में सम्बन्ध: परमोच्च शक्ति
5. कांग्रेस और देशी राज्य
6. भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947
7. भारतीय संघ में देशी राज्यों का अधिमिलन : बाधाएं
8. अधिमिलन के लिए भारत सरकार के प्रयास
9. अधिनियम की प्रक्रिया
10. मंगरोलर, मानवादर तथा जूनागढ़ का अधिमिलन
11. हैदराबाद का विलय
12. कश्मीर का भारत संघ में अधिमिलन
13. देशी राज्यों का एकीकरण
    - 13.1 भौगोलिक समीपता वाले प्रान्तों में विलय
    - 13.2 संघ इकाईयों का निर्माण
    - 13.3 केन्द्र प्रशासित क्षेत्र
14. लोकतंत्रीकरण
15. राजस्थान का एकीकरण
    - 15.1 भोपाल की नकारात्मक भूमिका
    - 15.2 भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम
    - 15.3 राजाओं के प्रयत्न
    - 15.4 जनमत की भूमिका
16. एकीकरण के विभिन्न चरण
    - 16.1 मत्स्य संघ का निर्माण
    - 16.2 संयुक्त राजस्थान का निर्माण
    - 16.3 पुनर्गठित संयुक्त राजस्थान
    - 16.4 वृहत् राजस्थान का निर्माण
17. निष्कर्ष

18. संदर्भ ग्रन्थ

19. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डालना है–

1. देशी राज्यों का वर्गीकरण
2. ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों में सम्बन्ध: परमोच्च शक्ति
3. अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और देशी राज्य,
4. भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947
5. रियासतों का भारतीय संघ में अधिमिलन, एकीकरण एवं लोकतंत्रीयकरण,
6. राजस्थान में एकीकरण ।

2. प्रस्तावना

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत दो भागों मे विभक्त था– ब्रिटिश भारत और देशी राज्य (नेटिव स्टेटस) । ब्रिटिश भारत का शासन – प्रबन्ध भारत सरकार करती थी, जिसका प्रधान गवर्नर जनरल एवं वायसराय था । देशी राज्यों में नरेशों की निरंकुश शासन व्यवस्था थी और वे ब्रिटिश सरकार की परमोच्च शक्ति के अधीन थे ।

देशी राज्य भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए थे । ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की जनता उद्भव, भाषा, संस्कृति, धर्म तथा सामाजिक सम्पर्क के दृष्टिकोण से एक ही भारत राष्ट्र की इकाई थे । परन्तु ब्रिटिश भारत की तुलना में देशी राज्य बहुत ही पिछडे हुए थे और उनकी शासन व्यवस्था निरंकुश थी।

3. देशी राज्यों का वर्गीकरण:

देशी राज्यों का वर्गीकरण भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर किया गया है । अत: उनकी संख्या में भी अन्तर पाया जाता है ।

1927 मे ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों और भारत सरकार के मध्य सम्बन्धो को पारितोषित करने के लिए "भारतीय राज्य समिति'' नियुक्त की । इसे बटलर समिति भी कहा जाता है । इस समिति के अनुसार देशी राज्यों की संख्या 562 थी, जिनका वर्गीकरण तीन वर्गो में किया गया :[1]

1. वे राज्य, जिनके शासको को स्वयं ही नरेन्द्र–मण्डल का सदस्य होने का अधिकार था, 109
2. वे राज, जिनके शासकों का प्रतिनिधित्व नरेन्द्र–मण्डल में अपने में से निर्वाचित 12 सदस्यों द्वारा किया जाता है 126
3. छोटे ठिकाने एवं जागीर आदि जिन्हें नरेन्द्र–मण्डल में प्रतिनिधित्व नहीं किया गया: $\frac{327}{\text{कुल योग } 562}$

बाद में ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के बारे में स्मरणपत्र में भारतीय राज्यों की संख्या 601 बतायी ।[2]

2 अगस्त, 1947 में भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व भारत उपमहाद्वीप में लगभग 565 देशी राज्य थे ।[3]

4. ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों में सम्बन्ध: परमोच्च शक्ति

स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश परमोच्च शक्ति (पेरामाउंट पावर) का नियंत्रण था जिसका विकास 1757–1856 के कालखंड में हुआ । भारत में ब्रिटिश परमोच्च शक्ति की स्थापना और विकास का श्रेय ईस्ट इंडिया कम्पनी के बंगाल के गवर्नर लार्ड क्लाइव (1757–1760 तथा 1765–1767) और वारेन हेस्टिंग्स (1772–1774) तथा गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्स (1 774–1785), लार्ड वेलेजली (1798–1805), लार्ड हेस्टिंग्स (1813–1823) और लार्ड डलहौजी (18 48–1856) की साम्राज्यवादी नीतियों को है । 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सम्पूर्ण भारत मे अंग्रेजो की सर्वोच्च सत्ता स्थापित हो चुकी थी और 1818 तक महाराजा रणजीत सिंह के पंजाब के अतिरिक्त भारत में कोई भी स्वतंत्र रियासत नहीं बची थी।

लार्ड डलहौजी ने द्वितीय सिख युद्ध (1848–49) में पंजाब को जीत कर उसे ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में मिला लिया । उसने हडप–सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ लैप्स) के द्वारा उन देशी राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया, जिनके राजा नि:सन्तान मर गए और उनके दत्तक पुत्रों के राज्य प्राप्त करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया । इस प्रकार डलहौजी ने सम्पूर्ण भारत में ब्रिटिश परमोच्च शक्ति की स्थापना अन्तिम रूप से कर दी, परन्तु उसकी सामन्तवादी नीतियों के कारण 1857 में ब्रिटिश सत्ता में विद्रोह प्रारम्भ हो गया ।

परिणामस्वरूप ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम 1858 पास करके भारत की शासन–सत्ता, उसका भू–भाग तथा राजस्व ईस्ट इंडिया कम्पनी से लेकर राजमुकुट में हस्तांतरित कर दिया । कम्पनी से क्राउन के हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण के सम्बन्ध मे महारानी विक्टोरिया ने 1 नवम्बर, 1858 को शाही घोषणा की । उन्होंने कहा—

हम यहां भारत के मूल नरेशों को घोषित करते हैं कि कम्पनी के द्वारा अथवा कम्पनी के प्रभावाधीन जो भी संधियाँ तथा प्रबन्ध उनके साथ किए गए है, उन्हें हम स्वीकार करते हैं और उनको अक्षरश: निभाया जाएगा और हम आशा करते है कि वे भी इसी प्रकार उनका पालन करेंगे । हम वर्तमान क्षेत्रीय उपलब्धियों का विस्तार नहीं चाहते और जहा हम अपने अधिकार अथवा प्रभाव पर किसी भी आक्रमण की आज्ञा नहीं देंगे, वहां दूसरों के क्षेत्र को हडपने का आदेश भी नहीं देगें । हम स्थानीय नरेशों के अधिकारों, गौरव और प्रतिष्ठा का अपने समान ही आदर करेंगे, हम यह इच्छा करते हैं कि वे तथा हमारी प्रजाजन उसी समृद्धि तथा सामाजिक उन्नति का उपयोग करें जो कि केवल आन्तरिक शान्ति तथा अच्छे शासन मे ही संभव होती है।

साम्राज्ञी विक्टोरिया ने लार्ड कैनिंग को अपना प्रथम वायसराय तथा गवर्नर जनरल नियुक्त किया । साम्राज्ञी की घोषणा के फलस्वरूप भारतीय राजाओं की पदस्थिति में परिवर्तन हो गया । वे ब्रिटिश साम्राज्य के अंग बन गए और ब्रिटिश परमोच्च शक्ति के अधीन हो गए ।

1857–58 के विद्रोह के दमन के बाद लार्ड कैनिंग ने घोषणा की–ब्रिटिश राजमुकुट सम्पूर्ण भारत में सर्वमान्य शासक और परमोच्च शक्ति है । इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश सरकार ने परमोच्च शक्ति की व्याख्या कभी नहीं की । ली वारनर के शब्दों में–ब्रिटिश क्राउन में परमोच्च शक्ति है, परन्तु उसके अधिकार क्षेत्र को बुद्धिमतापूर्वक परिभाषाविहिन छोड दिया गया है । भारत सरकार ने 1877 में निम्नलिखित शब्दों में परमोच्च शक्ति पर प्रकाश डाला:

ब्रिटिश सरकार का सर्वोच्च आधिपत्य क्रमिक विकास की वस्तु है । इसे अंशत: विजय, अंशत: संधि और अंशत: परम्परा द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया है । ब्रिटिश सरकार के देशी राजा के साथ होने वाले संबंधी की उचित जानकारी के लिए इस वास्तविक आधिपत्य की घटनाओं ओर संधियों तथा अधिकारपत्रों, ... और उन परिस्थितियों की ओर अवश्य दृष्टिपात करना चाहिए, जिनके अन्तर्गत उन दस्तावेजों की मूलत: रचना हुई थी । इसी संदर्भ में बटलर समिति ने लिखा:

परमोच्च शक्ति को परमोच्च ही रहना चाहिए । समय की परिवर्तनशील आवश्यकताओं और राज्यों के उत्तरोत्तर विकास के अनुसार इसे अपने दायित्वों की पूर्ति करनी चाहिये । बटलर समिति ने परमोच्च शक्ति को परिभाषित तो नहीं किया, परन्तु उसके कार्यकलापों, को चार प्रमुख शीर्षकों में विभक्त किया–

1–वैदेशिक मामले, 2–अन्त–राज्यीय सम्बन्ध

3–भारत की प्रतिरक्षा 4–हस्तक्षेप के अवसर

वैदेशिक मामलों की दृष्टि से राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय जीवन नहीं था । वे विदेशों से युद्ध अथवा शान्ति–सन्धियाँ नहीं कर सकते थे । देशी राज्य स्वतन्त्र रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते थे । भारतीय राज्य अन्य भारतीय राज्यों के साथ न तो राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे और न युद्ध अथवा शान्ति सन्धि कर सकते थे । रक्षा के क्षेत्र में परमोच्च शक्ति दोनों–ब्रिटिश भारत और भारतीय राज्यों की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी थी और आन्तरिक सुरक्षा से सम्बन्धित सभी विषयों पर उसको हस्तक्षेप करने तथा नीति निर्धारण का अधिकार था । विदेशी और देशी शत्रुओं से ब्रिटिश भारत तथा देशी भारत की रक्षा करना परमोच्च शक्ति का उत्तर दायित्व था । सशस्त्र विद्रोह के विरूद्ध राज्यों को संरक्षण प्रदान करने तथा देशी नरेशों के विशेषाधिकारों एवं गौरव की रक्षा करने का परमोच्च शक्ति का उत्तरदायित्व संधियों, सनदों की धाराओं और परम्परा से उद्भूत हुआ था ।

परमोच्च शक्ति को देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार एवं कर्तव्य भी प्राप्त था । इस सन्दर्भ में परमोच्च शक्ति को राज्यों में उत्तराधिकार पर नियंत्रण रखने, नरेश की अवयस्कता के समय राज्य–प्रशासन की देखभाल करने तथ राज्य के सामान्य प्रशासन में हस्ताक्षेप करने का अधिकार प्राप्त था । आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप

करने के प्रसंग में लार्ड रीडिंग ने हैदराबाद के निजाम को 27 मार्च, 1926 को एक पत्र में लिखा:

ब्रिटिश क्राउन की परमोच्चता के परिणामों में एक अधिकार भारतीय रियासतों के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप करने का भी है । ब्रिटिश सरकार ने बार–बार यह स्पष्ट किया है कि उसकी इच्छा इस अधिकार का प्रयोग केवल गम्भीर कारण उत्पन्न होने पर ही करने की है । परन्तु आन्तरिक, बाहय सुरक्षा की भांति, जिसका उपभोग नरेश करते हैं, अन्तिम रूप से ब्रिटिश सरकार की संरक्षण–शक्ति के कारण है और जिन रियासतों के शासकों की नीति से साम्राज्य के हितों या उसकी जनता के सामान्य कल्याण पर अति बुरा प्रभाव पडने वाला हो, परमोच्च शक्ति को आवश्यकतानुसार कार्यवाही करनी ही पडेगी । विभिन्न रूप में जिस आन्तरिक राजसत्ता का उपभोग देशी नरेश करते हैं, वह सब परमोच्च शक्ति के उत्तरदायित्व को निभाने के अधीन है ।

लार्ड रीडिंग के पत्र–स्पष्टीकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि ब्रिटिश परमोच्च शक्ति एक सर्वमान्य तथ्य बन गयी थी, जिसे कोई भी भारतीय राज्य चुनौती देने में सक्षम नहीं था । उनकी स्थिति तो ब्रिटिश साम्राज्य के एक संरक्षित भू–भाग के समान थी और उनके नरेश केवल आन्तरिक मामलों में सीमित सम्प्रभुता का उपभोग करते थे ।

1915 में देशी रियासतों तथा नरेशों से ब्रिटिश सरकार के सम्बन्ध के मामलों की देश–रेख के लिए वायसराय के अधीन एक राजनीतिक विभाग की स्थापना की गई । इस विभाग के प्रभाव के बारे में वी0पी0 मेनन का कथन है: राजनीतिक विभाग ने रियासतों में धीरे–धीरे शासन के अन्दर शासन की स्थिति ग्रहण कर ली थी ।

देशी नरेशों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने और प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार की मदद करने में सक्रिय भूमिका प्रस्तुत की थी । इस संदर्भ में माण्ट–फोर्ड रिपोर्ट की सिफारिश पर 1921 में राजकीय उद्घोषणा । द्वारा एक नरेन्द्र मण्डल (चैम्बर ऑफ प्रिंसेज) की स्थापना की गई । यह एक परामर्शात्मक तथा सलाहकार निकाय के समान था और वायसराय इसका अध्यक्ष होता था । नरेन्द्र–मण्डल के सदस्य अपने में से एक वर्षा के लिए एक चान्सलर और एक प्रो0 वायस चांसलर चुनते थे । वायसराय की अनुपस्थिति में चांसलर नरेन्द्र–मण्डल की अध्यक्षता करता था । यह मण्डल शीघ्र ही बहुसंख्यक राज्यों का वास्तविक प्रतिनिधि बन गया । और नरेशों तथा राजनीतिक विभाग के बीच एक सम्पर्क कडी के रूप में भूमिका अभिनीत करने लगा ।

1858 से 1905 तक ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के प्रति अधीनस्थ संध (सबोर्डनिट युनियन) की नीति अपनाई । बाद के वर्षो मे भी मूलत: इसी नीति का पालन करते हुए ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से रियासतों के प्रति सहयोग एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनाई ।

देशी राज्य भारत में निरंकुश शासन और प्रतिक्रियावाद के गढ़ थे । बटलर समिति ने राजाओं की स्थिति के बारे में सिफारिश करते हुए लिखा–

ब्रिटिश सम्राट तथा देशी नरेशों का सम्बन्ध बिना उनकी राय के किसी ऐसी भारत सरकार को न सौंपा जाए जो व्यवस्थापिका के प्रति उतरदायी हो । इस सिफारिश का देश के राष्ट्रीय नेताओं ने प्रबल विरोध किया ।

5. कांग्रेस और देशी राज्य

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीयता के बढते हुए तूफान को रोकने के लिए देशी राज्यों ने ब्रिटिश सरकार की रक्षा प्राचीर के रूप में कार्य किया । उन्होंने न केवल राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का दमन किया, बल्कि राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के आन्दोलनों को निर्दयतापूर्वक कुचलने की नीति अपनायी । भारतीय राष्ट्रवाद के विरूद्ध प्रतिगामी नीति अपनाते हुए ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा हेतु देशी नरेशों ने प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार की धन, सेना तथ युद्ध सामाग्री से सहायता की । उन्होंने कांग्रेस के अखिल भारतीय संघ की स्थापना का विरोध किया और ब्रिटिश भारत से पृथक अपनी अलग राजनीतिक सत्ता को बनाए रखने का सदैव प्रयास किया ।

देशी भारत में राजनीतिक आन्दोलनों का मार्गदर्शन करने एवं उनमें समन्वय स्थापित करने हेतु दिसम्बर, 1927 में बम्बई में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की स्थापना की गई । प्रारम्भ में अखिल भारतीय राष्ट्रीय ने रियासतों के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी। परन्तु देशी राज्य लोक परिषद् के अध्यक्ष सी0वाई0 चिन्तामणि ने 1929 में, रामानन्द चटर्जी ने 1931 में और पट्टाभिसीतारमैया ने 1936 में भारत की अभिन्नता और उसकी एकता पर बल दिया और कहा किया कांग्रेस की पूर्ण स्वराज्य की मांग में देशी राज्यों में लोगों की उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग भी शामिल है । अन्ततः 1938 में कांग्रेस ने हरिपुरा अधिवेशन में प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस देशी राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना और नागरिक स्वतन्त्रताओं के सरंक्षण की मांग का पूर्ण समर्थन करती है । उसने देशी राज्यों में कांग्रेस समितियों और प्रजामण्डलों की स्थापना का समर्थन किया ।

6. भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947

द्वितीय महायुद्ध के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आन्दोलन अपने यौवन के चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया । अन्ततः ब्रिटेन की श्रमिक सरकार के प्रधानमंत्री एटली ने भारत की संवैधानिक समस्या के समाधन के लिए कैबिनेट मिशन (मार्च, 1946) भारत भेजा । केबिनेट मिशन ने 16 मई 1946 को अपने प्रस्तावों को प्रकाशित किया, उनमें से केवल संविधान सभा का गठन (9 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन प्रारम्भ हुआ) और अन्तरिम सरकार की स्थापना (2 सितम्बर, 1946 को अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ जिसमें जवाहर लाल नेहरू वायसराय द्वारा उपप्रधान मनोनीत किए गए) सम्बन्धी प्रस्ताव ही लागू हो सके । राज्यों के सम्बन्ध में मिशन ने कहा कि परमोच्च शक्ति का हस्तांतरण नहीं होगा, किन्तु इसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा । प्रान्तों के अनिवार्य समूह सम्बन्धी मिशन के प्रस्ताव पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग में मतभेद होने के कारण लीग ने 29 जुलाई 1946 को केबिनेट मिशन योजना को अस्वीकृत कर दिया । इस गतिरोध ने भारत विभाजन का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया ।

अन्ततः कांग्रेस और लीग द्वारा भारत विभाजन की माउंट बेटन योजना (3 जून, 1947) को स्वीकार करने के बाद ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वाधीनता अधिनियम (जुलाई, 1947) पास किया जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतन्त्र डोमीनियनों की स्थापना का प्रावधान किया गया।

स्वतन्त्रता अधिनियम में कहा गया कि भारतीय रियासतों के ना डोमीनियमो में से किसी एक में अधिमिलन (विलय) पर प्रतिबंध नहीं होगा । अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश परमोच्च शक्ति का हस्तान्तरण भारत अथवा पाकिस्तान को नहीं किया गया, किन्तु इसका अस्तित्व समाप्त कर दिया गया ।

7. भारत संघ में देशी राज्यों का अधिमिलन: बाधा–

अप्रैल, 1947 के अन्त में रियासतों के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा में अपना स्थान ग्रहण कर लिया, परन्तु लगभग 565 देशी राज्यों के भारत संघ मे एकीकरण अधिमिलन के मार्ग में अनेक समस्याएँ–बाधाएँ थी । उदाहरणार्थ:

1–29 जनवरी, 1947 को बम्बई में देशी राज्यों के शासकों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें प्रस्ताव पास किया गया कि प्रत्येक राज्य स्वयं निश्चित करेगा कि संघ में शामिल हो या न हो, संघ उनकी सीमाओं में और उनके संविधान में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता और न कोई हस्तक्षेप उत्तराधिकारी नियुक्त करने में ही किया जा सकता है ।

2–माउंट बेटन ने 13 जून, 1947 को रियासतों के मसले पर विचार–विमर्श हेतु दलीय नेताओं की एक बैठक बुलाई उसमें मुस्लिम लीग के जिन्ना का तर्क था कि परमोच्च शक्ति का हस्तान्तरण नये डोमीनियनों को नहीं किया गया । अतः तकनीकी रूप में देशी राज्य 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हो गए । उन्हें पाकिस्तान या भारत में शामिल होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता । नेहरू का कथन था कि कोई भी रियासत पाकिस्तान में शामिल हो सकती है किन्तु कैबिनेट मिशन के ज्ञान के अनुसार वह स्वतन्त्र रहने का दावा नहीं कर सकती।

3–काठियावाड, राजस्थान, पंजाब, दक्षिण उडीसा तथा छत्तीसगढ की रियासतों ने क्षेत्रीय संघों के निर्माण का विचार किया । संभवतः भारत सरकार का राजनीतिक विभाग इस योजना के पीछे था । कांग्रेस ने इस योजना का विरोध किया क्योंकि क्षेत्रीय संघ का विचार भारतीय राष्ट्रवाद तथा एकता के विरूद्ध था ।

4–राजनीतिक विभाग के प्रधान, सर कोनरेड कोरफील्ड ने भी भारत डोमीनियन सरकार के लिए कठिनाइयां पैदा करने के अनेक प्रयास किए । कहा जाता है कि उसने रियासतों से सम्बन्धित अभिलेखों खे नष्ट करने की स्वीकृति ब्रिटिश सरकार से प्राप्त कर ली थी ।

5–हैदराबाद रियासत के निजाम ने दूरगामी संवैधानिक परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए 1945 में पुर्तगाल की सरकार से गोवा को खरीद कर समुद्री निकासी मार्ग की मांग की । वायसराय वैवल ने दिसम्बर, 1945 में लिखा कि हैदराबाद शेष। भारत से अलग होकर और ब्रिटिश सम्राट से सम्बन्ध बनाकर अलग इकाई के रूप में बने रहना पसन्द करेगा । ब्रिटिश अधिकारियों ने भी उसे बस्तर जैसी पडौसी रियासतों मे वित्तीय तथा औद्योगिक रियायतें प्राप्त

करने के लिए प्रोत्साहित किया । 12 जून, 1947 को हैदराबाद के निजाम ने स्वतन्त्र रहने की घोषणा की और डान ने निजाम के इस निर्णय का हार्दिक स्वागत किया । बाद में निजाम ने नवम्बर, 1947 में भारत सरकार के साथ एक वर्ष के लिए यथास्थिति अनुबंध किया और पाकिस्तान में शामिल नहीं होने का वचन भी दिया ।

6–11 जून, 1947 को ट्रावनकोर ने स्वतन्त्र बने रहने की घोषणा कर दी । मोहम्मद अली जिन्ना ने तुरन्त ट्रावनकोर के दीवान से वार्ता प्रारम्भ की और घोषणा की कि पाकिस्तान और ट्रावनकोर–प्रतिनिधियों का आदान प्रदान करेंगे ।

7–महाराजा काश्मीर ने 15 अगस्त, 1947 तक किसी भी डोमिनियन में शामिल होने का निर्णय नहीं लिया । अत: 15 अगस्त को तकनीकी दृष्टिकोण से काश्मीर स्वतन्त्र राज्य हो गया । इसके अलावा पाकिस्तान की सरकार ने 14 अगस्त, 1947 को काश्मीर सरकार के अनुरोध पर यथास्थिति समझौता स्वीकार कर लिया

8–जूनागढ, मंगरोल व मानवादर काठियावाडी रियासतें थी जिनमें से प्रत्येक में मुसलमान शासक और विशाल हिन्दू बहुमत वाली जनसंख्या थी । नवाब जूनागढ ने 15 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान में अपने अधिमिलन की घोषणा की । मंगरोल का शासक सितम्बर, 1947 में स्वेच्छापूर्वक भारत संघ में शामिल हो गया । छोटा–सा ठिकाना बाबरियावाड (इस पर नवाब जूनागढ का दावा था कि यह उनकी रियासत का हिस्सा है) भी भारत संघ मे शामिल हो गया । जूनागढ के नवाब के दबाव के कारण मंगरोल के शेख को संघ–प्रवेश का निर्णय रद्द करना पडा । अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में नवाब जूनागढ ने मंगरोल एवं बाबरियावाड में सेना भेज कर अधिकार कर लिया । भारत सरकार ने जूनागढ की इस कार्यवाही का पाकिस्तान से विरोध किया तथा अन्तत: नवम्बर, 1947 को मंगरोल था बाबरियावाड पर भारतीय सेनाओं ने शान्तिपूर्वक अधिकार कर लिया । आन्तरिक अशान्ति के कारण अक्टूबर, 1947 में मानवादर का तथ 9 नवम्बर, 1947 को जूनागढ का प्रशासन भारत सरकार ने अपने हाथों में ले लिया ।

8. अधिमिलन के लिए भारत सरकार के प्रयास

त्रावणकोर के दीवान ओर हैदराबाद के निजाम द्वारा जून 1947 में अपनी रियासतों को स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्य के रूप में स्थापित करने की घोषणा का कांग्रेस नेताओं ने प्रबल विरोध किया । अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने 15 जून, 1947 को प्रस्ताव पास किया कि किसी भी भारतीय रियासत द्वारा अपने को स्वतन्त्र घोषित करने का अधिकार नहीं है । नेहरू ने कहा: भारत सरकार में कुछ अन्तर्निहित परमोच्च शक्ति है जो समाप्त नहीं हो सकती–भारत में प्रभावशाली राज्य की अन्तर्निहित परमोच्च शक्ति, जो भूगोल, इतिहास, प्रतिरक्षा आदि के उन्हीं कारणों से बनी रहनी चाहिए जिन्होंने भारत मे अंग्रेजों के प्रभावशाली शक्ति बनने पर इसे अस्तित्व में ला दिया था... । भारत संघ की परमोच्च शक्ति का एक मात्र विकल्प यह था कि रियासतों को स्वायत्त तथा समान इकाइयों के तौर पर संघ में मिल जाना चाहिए और संघ विधान–मण्डल तथा संघ कार्यपालिका में समान भाग लेना चाहिये ।

27 जून, 1947 को भारत सरकार के अन्तर्गत रियासत विभाग खोला गया । वल्लभभाई पटेल इसके प्रभारी मन्त्री और वी0पी मेनन इसके सचित बने । यह प्रस्तावित हुआ कि तीन विषयों–प्रतिरक्षा, विदेशी मामले और संचार के सन्दर्भ में रियासतों से संघ में, अधिमिलन के लिए कहा जाए । भारत संघ में रियासतों के अधिमिलन के सन्दर्भ में पटेल, नेहरू, माउंट बेटन और मेनन के राजनीतिक कौशल और राजनयिक चातुर्य का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

पटेल के 5 जुलाई 1947 के वक्तव्य से अधिमिलन प्रकिया को बल मिला । पटेल ने कहा: अगर आप भारतीय डोमीनियन में शामिल होना चाहते हैं तो आप ऐसा 15 अगस्त से पहले करें । इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा करना प्रत्येक देशी राज्य के हित में होगा और प्रत्येक होशियार तथा बुद्धि–सम्पन्न सरकार भारतीय डोमीनियन में सम्मिलित होना चाहेगी । इस अधिमिलन का आधार ऐसा होगा कि आपको आन्तरिक मामलों में काफी स्वतन्त्रता रहेगी और साथ ही सुरक्षा, संचार और वैदेशिक मामलों में आप चिन्ता–मुक्त हो जाएंगे ।

माउंट बेटन ने 25 जुलाई 1947 को प्रथम तथा अन्तिम बार राजाओं के सम्मेलन में भाषण दिया। अधिमिलन के प्रश्न पर राजाओं में फूट थी और वे बडी दुविधा में थे । माउंट बेटन ने नरेन्द्र मण्डल में भाषण देते हुए कहा:

सैद्धान्तिक रूप से देशी राज्य अपना भविष्य निर्धारण के लिए स्वतंत्र है । उन्हें ब्रिटिश राजा के प्रति उनके सब दायित्वों से मुक्त कर दिया गया है, पर कुछ भौगोलिक बाध्यताएँ हैं जिनसे मुंह नहीं मोडा जा सकता है । किसी भी डोमीनियन से अपना भविष्य जोडते समय ये देखना पडेगा कि उनकी (राज्य) भौगोलिक स्थिति क्या है । लगभग 565 रियासतों में से अधिसंख्य भारत के डोमीनियन से भोगौलिक दृष्टि से अपरिहार्य रूप से जुडी हुई है । अत: माउंट बेटेन ने राजाओं को तीन विषयों प्रतिरक्षा विदेशी मामले और संचार के बारे में अधिमिलन का परामर्श दिया और कहा कि मामले और संचार के बारें में अधिमिलन का परामर्श दिया और कहा कि मामले ओर संचार के बारे में अधिमिलन का परामर्श दिया और कहा कि वी0 पी0 मेनन ने जो संघ–प्रवेश पत्र तैयार किया, वह कांग्रेस की ओर से दिया जाने वाला एक सा राजनैतिक मौका है जो फिर दोहराया नहीं जाएगा । उनके संदेश का सार था ।–जिस प्रकार आप उस प्रजा से जान बचाकर नहीं भाग सकते, जिसके कल्याण का दायित्व आपके उपर है उसी प्रकार आप अपनी पड़सी औपनिवेशिक सरकार से नहीं भाग सकते ।। माउटबेटन ने राजाओ से कहा कि 15 अगस्त अंतिम तारीख निर्धारित की गई है, जिससे पहले ही उन्हें अधिमिलन के लिए सहमति देनी चाहिए ।

28 जूलाई 1947 को वासराय भवन में पचास से अधिक राजाओं और करीब एक सौ रियासती प्रतिनिधियों के सम्मान में एक शानदार समाराह हुआ । इस समारोह में भी माउंट बेटन ने राजाओं पर भारत संघ में अधिमिलन के लिए राजनीतिक एवं कूटनीतिक दबाव डाला ।

9. अधिनियम की प्रक्रिया

राज्य विभाग ने अधि मिलन लेखपत्र को 31 जूलाई 1947 को अन्तिम रूप दिया । इसके अनुसार रियासतों के शासकों को तीन विषयों पर भारतीयों के डोमीनियम में अधिनियम

करना था । ये तीन विषय थे प्रतिरक्षा, विदेशी मामले और संचार इस अधिमिलन लेखपत्र के अनुसार रियासतों को किसी भावी संविधान को मानने के लिए प्रतिबद्ध नहीं किया गया । यह सामान्य अधिनियम लेखपत्र 140 रियासतों के लिए बनाया गया जिन्हें परमोच्च शक्ति द्वारा आन्तरिक मामलों में पूरे अधिकार प्राप्त थे ।

दूसरे प्रकार का अधिनियम लेखपत्र काठियावाड़ तथा गुजरात की करीब 300 रियासतों के लिए बनाया गया था । इन रियासतों में परमोच्च शक्ति को कुछ प्रशासनिक तथा क्षेत्राधिकार प्राप्त थे । इन रियासतों के शासकों को भी तीन विषयों पर भारत डोमीनियन में शामिल होना था ।

शेष छोटी रियासतों के लिए तीसरें प्रकार का अधिनियम लेखपत्र तैयार किया गया । इसके अनुसार शासक परमोच्च शक्ति के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों से उच्चतर अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकते थे ।

जिन्ना द्वारा परमोच्च शक्ति के लोप हो जाने की व्याख्या तथा पाकिस्तान में शामिल होने के प्रलोभन से प्रभावित होकर त्रावणकौर जोधपुर, भोपाल तथ इंदौर ने कुछ समय तक अधिमिलन लेखपत्र पर हस्ताक्षर नहीं किए, किन्तु 15 अगस्त 1947 तक जूनागढ़, मंगरोल, मानवादर, हैदराबाद और कश्मीर को छोड़कर भारत से भोगोलिक समीपता वाली सभी रियासतों ने अधिमिलन लेखापत्र पर हस्ताक्षर कर दिए । माउंट बेटन ने 15 अगस्त को संविधान सभा को सूचित किया ।

संयुक्त राजनीतिक संरचना स्थापित हो चुकी है ।

10. मंगरोल, मानवादर तथा जूनागढ़ का अधिमिलन

जूनागढ़ मंगरोल तथा मानवादर के शासक तो मुसलमान थे परन्तु उनकी जनसंख्या में हिन्दुओं का विशाल बहुमत था । जूनागढ़ का. नवाब मंगरोल तथा बाबरियावाड़ के अपनी रियासत का अंग समझता था । मंगरोल का शासक सितम्बर 1947 में स्वेच्छा पूर्वक भरत संघ में शामिल हो गया था । बाद में जूनागढ़ के दबाव के कारण मंगरोल के शेख को संघ प्रवेश का पूर्व निर्णय रद्द करना पड़ा । नवाब जूनागढ़ ने मंगरोल तथा बाबरियावाड़ में सेना भेजकर अधिकार कर लिया, परन्तु भारत सरकार ने 1 नवम्बर 1947 को उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया । मानवादर तथा मंगरोल में आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत सरकार ने दोनों छोटी रियासतों का प्रशासन अक्टूबर नवम्बर 1947 में अपने हाथों मे ले लिया ।

जूनागढ़ का नवाब नवम्बर 1947 में पाकिस्तान भाग गया । वहाँ के दीवान के अनुरोध पर तथा आन्तरिक अशान्ति के कारण 9 नवम्बर, 1947 को भारत सरकार ने जूनागढ़ का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया । जूनागढ़ में फरवरी 1948 में जनमत सग्रन्ह हुआ और 1–90–870 मतों में से केवल 91 मत पाकिस्तान में शामिल होने के पक्ष में पड़े । वास्तव में पाकिस्तान जूनागढ़ का प्रयोग काश्मीर के रूप में करना चाहता था ।

11. हैदराबाद का विलय:

इस बड़ी रियासत का शासक निजाम मुसलमान था परन्तु इसकी 85 प्रतिशत आबादी हिन्दू थी । जून 1947 में हैदराबाद ने स्वतन्त्र राज्य बने रहने की घोषणा की । भारत सरकार ने जुलाई 1947 में निजाम से समझौता वार्ता प्रारम्भ की । माउंटबेटन ने निजाम की इस माँग को अस्वीकृत कर दिया कि हैदराबाद को डोमीनियन स्थिति प्रदान की जाए ।

नवम्बर, 1947 में निजाम ने भारत सरकार के साथ एक वर्ष के लिए यथास्थित अनुबंध किया । अनुबंध के अन्तर्गत गवर्नर जनरल ने के0 एम0 मुंशी को हैदराबाद में भारत का महाअभिकत्ता (एजेंट गवर्नर जनरल) नियुक्त किया ।

निजाम ने यथास्थित अनुबंध का पालन नहीं किया और भारत सरकार के विरूद्व अमैत्रीपूर्ण कदम उठाए । जैसे, पाकिस्तान से सम्पर्क करना, पाकिस्तान को 20 करोड़ रूपये का ऋण देना, सैनिक तैयारी करना और चेकोस्लोवाकिया से शस्त्र खरीदना ।

हैदराबाद राज्य की फौंजों में 42 हजार सैनिकों के अलावा लगभग 2 लाख रजाकार थे जिनका नेता कासिम रिजवी था । रजाकार तथा मुश्लिम साम्प्रदायिक संगठन इत्तेहाद–उल–मुस्लिमीन ने रियासत में हिंसा तथा आंतक का राज्य स्थापित कर लिया तथा हिन्दू जनसंख्या पर धार्मिक अत्याचार करने लगे ।

इसी पृष्ठभूमि में 13 सितम्बर 1948 को भारत ने हैदराबाद के विरूद्व पुलिस कार्यवाही की और 108 घंटों में उस पर अधिकार कर लिया । बाद में निजाम ने नवम्बर, 1948 में भारत की संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान को हैदराबाद का संविधान स्वीकार करने की घोषणा की । इसके साथ ही हैदराबाद समस्या का समाधान पटेल की राजनेतिक सूझबूझ के कारण हो जाता है।

12. कश्मीर का भारत संघ में अधिमिलन

काश्मीर का शासक हिन्दू था और जनसंख्या में मुसलमानों का बहुमत था । भौगोलिक स्थिति के कारण काश्मीर का सामरिक महत्व था । 15 अगस्त, 1947 तक रियासत के महाराजा हरिसिंह ने भारत तथा पकिस्तान दोनों में से किसी एक डोमीनियन में अधिमिलन का निश्चय नहीं किया । अत: तकनीकी दृष्टि से कश्मीर स्वतन्त्र राज्य बन गया ।

14 अगस्त, 1947 को पकिस्तान ने कश्मीर के साथ "यथास्थिति अनुबंध" को स्वीकार करने की घोषणा की । भारत ने कश्मीर सरकार से अनुरोध किया कि वह ''राज्य के लोकप्रिय नेताओं के माध्यम से भेजे । बाद में पाकिस्तान ने यथास्थिति अनुबंध का पालन नहीं किया और काश्मीर पर आर्थिक एवं सैन्य दबाव डालना शुरू किया ।

22 अक्टूबर, 1947 को पाकिस्तान के सैनिक नेतृत्व एवं मार्गदर्शन में कबायलियों ने काश्मीर पर अक्रामण किया तथा सम्पत्ति को लूटते हुए, घरों को आग लगाते हुए एवं लोगों का निर्दयतापूर्वक कत्ल करते हुए 27 अक्टुबर को प्रात: 10 बजे श्रीनगर के नजदीक बारामूला पहुँच गए ।

इस पृष्ठभूमि में महाराजा हरिसिंह ने भारत सरकार से सैन्य सहायता माँगी, परन्तु भारत सरकार ने इस आधार पर काश्मीर को सहायता देने से इंकार कर दिया कि उसका अधिमिलन भारत संघ में नहीं हुआ । 26 अक्टूबर को महाराजा हरिसिंह ने अधिमिलन लेखपत्र पर हस्ताक्षर किए । 27 अक्टूबर को भारत सरकार ने अधिमिलन लेखपत्र को इस उपबंध के अन्तगत स्वीकार किया कि काश्मीर में सामान्य स्थिति स्थापित होने के बाद जनमत संग्रह द्वारा अधिमिलन की पुष्टि कर दी । इस प्रकार काश्मीर का भारत में अधिमिलन संवैधानिक एवं कानून की दृष्टि से पूर्ण होने के कारण वह भारत का अभिन्न अंग बन गया ।

27 अक्टुबर को भारतीय सेनाओं ने काश्मीर प्रवेश किया ओर । जनवरी 1949 को युद्व विराम होने तक रियासत के अधिकांश भू–भाग को हमलावरों सें मुक्त करा लिया । इसी बीच । जनवरी 1948 को नेहरू ने काश्मीर समस्या को सुरक्षा परिषद में प्ररतुत किया ।

13. देशी राज्यों का एकीकरण:

भारत संघ में देशी राज्यों के अधिमिलन से राजनीतिक तया संवैधानिक एकता के औपचारिक ढांचे का तो निर्माण हो गया, परन्तु इससे प्रशासनिक दाति से छोटी रियासतों की समस्या का समाधान नहीं हुआ । अत: अधिमिलन के बाद देशी राज्यों के एकीकरण की प्रक्रिया को प्रारथ किया गया । एकीकरण की प्रक्रिया के निम्नलिखित तीन पक्ष थे–

13.1 भौगोलिक समीपता वाले प्रान्तों मे विलय:

एकीकरण की इस प्रक्रिया के अर्न्तगत छोटे–छोटे देशी राज्यों को भौगोलिक समीपता वाले यानी पड़ोसी प्रान्तों में विलीन कराने का प्रयास किया गया । सबसे छोटी 216 रियासतों को पड़ोसी प्रान्तों (बम्बई, मध्य प्रान्त, उड़ीसा) में अलग–अलग जिलों या प्रशासनिक इकाईयों के रूप में शामिल किया गया । जैसे 1 जनवरी, 1948 को सरदार पटेल के परामर्श पर उड़ीसा के 24 और मध्यप्रान्त के 14 राज्यों ने उड़ीसा प्रान्त में सम्मिलित होना स्वीकार किया । कोल्हापुर को छोड़कर दक्षिण के सभी राज्य बम्बई में शामिल हो गये । गुजरात की रियासतों ने भी बम्बई प्रान्त में शामिल होना स्वीकार किया । इसी प्रकार पूर्व पंजाब, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, कूच बिहार तथा खासी पहाड़ी रियासतों (असम) का विलय पड़ौसी प्रान्तों में कर दिया गया ।

13.2 संघ इकाइयों का निर्माण:

एकीकरण की इस प्रक्रिया के अन्तगत 275 रियासतों को रियासत संघों (युनियन ऑफ स्टेट) मे समेकित किया गया । भौगौलिक, भाषायी, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समानता वाले देशी राज्य के विलय से संघबद्व इकाइयों का निर्माण हुआ । दूसरे शब्दों में, बहुत से छोटे राज्यों ने समूह बनाकर बड़े राज्य का निर्माण किया । जैसे, काठियावाड़ की 30 रियासतों के विलय से 15 फरवरी, 1948 को सौराष्ट्र संघ की स्थापना की गई । 1948 में गठित "मध्यभारत" में मध्यभारत की 20 रियासतों शामिल थी, जिनमें ग्वालियर और इन्दौर की बड़ी–बड़ी रियासते भी शामिल थी । 1948 में ही पड़ोसी (पटियाला तथा पूर्वी पंजाब देशी राज्य संघ) का निर्माण हुआ । त्रावणकोर तथा कोचीन की संयुक्त रियासत 1949 में बनीं । 30 मार्च

1949 का बृहत्त राजस्थान का निर्माण हुआ।15 मई को इसमें मत्स्य संघ का भी विलय हो गया । इस प्रकार राजस्थान का निर्माण कुल 22 देशी राज्यों के विलय से हुआ । हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर तथा मैसूर जैसे बड़े राज्यों, का उनकी मूल सीमाओं में रखा गया तथा उन्हें "ख" श्रेणी के राज्यों में स्थान दिया गया ।

13.3 केन्द्र प्रशासित क्षेत्र:

लगभग 70 छोटे एवं पिछड़े राज्यों को प्रशासनिक दृष्टि से केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में रखा गया । उन्हें चीफ कमिश्नर के प्रान्त अथवा ''ग" वर्ग के राज्यों की स्थिति प्रदान की गई । जैसे, (।) हिमाचल प्रदेश–इसका गठन 1948 में किया गया । इसमें शिमला क्षेत्र (पूर्ब पंजाब) के कई शासकों तथा चीफशिप के भू–भागों को शामिल किया गया । (2) बिलासपुर, (3) कच्छ, (4) त्रिपुरा, (5) भोपाल, (6) मणिपुर (7) विंध्य प्रदेश–बुर्देलखण्ड तथा बधेलखण्ड की रियासतों ने 1948 में विध्याप्रदेश की संयुक्त रियासत का निर्माण किया, परन्तु प्रशासनिक अव्यवस्था के कारण शासकों ने अपने प्राधिकार भारत सरकार को 1950 में सौंप दिये ।

पूर्वकाल के तीन ब्रिटिश भू–भू–भागों–अजमेर, कुर्ग और दिल्ली को भाग ''ग" राज्यों में शामिल किया गया ।

14. लोकतन्त्रीकरण:

भारत संघ में देशी राज्यों के पूर्ण एकीकरण ने उनकी राजनीतिक प्रणाली के लोकतन्त्रीकरण का मार्ग । प्रशस्त किया । 26 जनवरी, 1950 को स्वतंत्र 'भारत के संविधान के क्रियान्वयन के साथ भूतपूर्व देशी राज्यों की जनता वयस्क मताधिकार पर आधारित उत्तरदायी शासन की राजनीतिक व्यवस्था में भागीदार बन गयी । भारत के सभी नागरिको को समान रूप से राजनीतिक एवं मौलिक अधिकार प्राप्त हो गए तथा देशी राज्यों की सामन्तवादी निरंकुश व्यवस्था का सदैव के लिए उन्मूलन हो गया ।

भाग "ख" राज्यों में भाग "क" राजा की तरह वयस्क मताधिकार पर निर्वाचित विधान–मण्डलों तथा उनके प्रति उत्तरदायी मंत्रीमण्डलों की व्यवस्था की । भाग "ख" राज्यों के राजप्रमुख भाग 'क" राज्यों के राज्यपालों की भांति राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष मात्र थे । केंद्र प्रशासित भाग "ग" राज्यों का प्रशासन संसद के प्रति उत्तरदायी था इसके अलावा उनके लिये विधानमण्डलों, परामर्शदात्री परिषदों की स्थापना के लिए प्रावधान था । उच्च न्यायलायों को भाग "क" और भाग "ख" राज्यों के समान अधिकार प्राप्त थे, और भाग "ग" राज्यों में उनके गठन के लिये प्रावधान था ।

राज्य पुनगर्ठन आयोग की सिफारिशों के आधार पर सातवें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1959 के अन्तर्गत भाग "ख" राज्यों से संबन्धित विशेष प्रावधानों का निरसन कर दिया गया ओर भाग "ग" तथा 'घ" राज्यों के स्थान पर "केंद्र शासित क्षेत्र" नाम से नया वर्ग बनाया गया । इस प्रकार विभाजित भारत एकीकरण की नई एकीकरण से गुजरा ।

15. राजस्थान का एकीकरण:

स्वतन्त्रता से पूर्व राजस्थान में निम्नलिखित 22 रियासतें थी: अलवर, धौलपुर, बांसवाड़ा, डुंगरपुर, किशनगढ़, उदयपुर, शाहपुरा, जयपुर, बीकानेर, लावा, नीम का थाना, भरतपुर, करौली, बूँदी, झालावाड़ा, कोटा, प्रतापगढ़, टोंक, जैसलमेर, जोधपुर, कुशलगढ़, सिरोही । इन रियासतों मे प्रजामण्डलों के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु जन–आन्दोलन चल रहे थे ।

15.1 भोपाल की नकारात्मक भूमिका:

कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों के अनुसार देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को संविधान सभा में भाग लेना था, परन्तु नरेन्द्र मण्डल के चांसलर नवाब भोपाल ने इस संदर्भ में असहयोगी दृष्टिकोण अपनाया । भोपाल नवाब की राष्ट्र विरोधी नीति का विरोध करते हुए मार्च 1947 में बीकानेर के महाराजा शार्दूल सिंह ने कहा कि हमें संविधान सभा में भाग लेना चाहिए । उनके वक्तव्य ने न केवल भोपाल नवाब के नेतृत्व को चुनौती दी, बल्कि अप्रैल 1947 के अन्त तक जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा में अपने स्थान भी ग्रहण कर लिया।

15.2 भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम:

भारतीय स्वतत्रता अधिनियम (जुलाई, 1947) के अर्न्तगत अन्य देशी राज्यों की भांति राजस्थान की रियासतों को भी भारत और पकिस्तान दोनों में से किसी एक डोमीनियन में अधिमिलन का निर्णय करना था । इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं कि जोधपुर नरेश ने भोपाल नवाब के साथ 6 अगस्त 1947 के जिन्ना से भेंट की और जिन्ना ने उन्हें पाकिस्तान में एक स्वतन्त्र राज्य का दर्जा देने का वचन दिया । परन्तु जोधपुर नरेश ने बाद में अपना विचार बदल कर 11 अगस्त को नवाब भोपाल को सूचित किया कि वह भारत में अधिमिलन कर रहा है । जोधपुर के भारत–विलय के राजस्थान के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हो गया ।

15.3 राजाओं के प्रयत्न :

राजस्थान की रियासतों के एकीकरण के प्रारंभिक प्रयास मेवाड़ के महाराजा भूपाल सिंह, जयपुर के महाराजा मानसिंह, कोटा के महाराव भीम सिंह और डूंगरपुर के महाराव लक्ष्मण सिंह ने अपने–अपने स्तर पर किए,परन्तु उनके प्रयत्नों को राजस्थान की जनता का सर्मथन नहीं मिला ।

15.4 जनमत की भूमिका:

सर्वप्रथम जयनारायण व्यास ने अपने पत्र "तरूण राजस्थान" में 20 सितम्बर, 1929 के अंक में विभिन्न रियासतों के विलय से एक संयुक्त राजस्थान के निर्माण की संकल्पना प्रस्तुत की थी । अखिल भारतीय देशी राज्य लोकपरिषद की राजपूताना प्रान्तीय सभा ने सितम्बर, 1946 मे प्रस्ताव पास किया कि राजस्थान की रियासतें पृथक–पृथक इकाई के रूप

में भारतीय संघ में शामिल होने के योग्य नहीं हैं । अत: समस्त राजस्थान का विलय एक इकाई के रूप में भारत संघ में होना चाहिए । मार्च, 1948 में पुन: प्रान्तीय सभा की कार्यसमिति ने स्पष्ट रूप से घोषणा की–राजस्थान की राजनैतिक समस्या का सर्वोत्तम विकल्प वृहद राजस्थान का निर्माण के लिये प्रबल जनमत तैयार कर रहे थे । इसके अलावा भारत विभाजन के कारण अलवर और भरतपुर में साम्प्रदायिक हिंसा ने राजस्थान में एकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान की ।

16. एकीकरण के विभिन्न चरण:

राजस्थान के एकीकरण की कहानी के प्रमुख चरण निम्नलिखित है–

16.1 मत्स्य संघ का निर्माण:

देश के विभाजन के समय अलवर और भरतपुर में भीषण साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे । परिणामस्वरूप इन रियासतों में आन्तरिक अशान्ति और प्रशासनिक अराजकता फैल गई । साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति से निपटने तथा कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए भारत सरकार ने अलवर और भरतपुर का प्रशासन अपने हाथों मे ले लिया ।

अलवर और भरतपुर से भौगोलिक समीपता रखने वाली धौलपुर और करौली की छोटी–छोटी रियासतें थी । ये चारों रियासते भारत सरकार द्वारा निर्धारित मापदण्ड के अनुसार पृथक अस्तित्व बनाये रखने योग्य नहीं थी । अत: भारत सरकार ने 27 फरवरी, 1948 को चारों रियासतों के सामने एकीकरण द्वारा एक नए राज्य संघ के निर्णय का प्रस्ताव रखा उनके द्वारा प्रस्ताव स्वीकृत होने पर भारत सरकार ने प्रस्तावित राज्य का नाम मत्स्य संघ रखा ।

मत्स्य संघ का उद्घाटन केन्द्रीय मंत्री एन0 बी0 गाडगिल ने 18 मार्च, 1948 को किया । मत्स्य संघ के चारों घटक राज्यों का कुल क्षेत्रफल लगभग 12000 किमी0, जनसंख्या 1.8 करोड, और वार्षिक आय 2 करोड़ रूपये थी । संघ के राजप्रमुख महाराजा धौलपुर और उपराज्य प्रमुख महाराजा करौली बनाए गए । अलवर प्रजामण्डल के लोकप्रिय नेता शोभाराम कुमावत को मत्स्य संघ का प्रधानमंत्री मनोनीत किया गया ।

16.2 संयुक्त राजस्थान का निर्माण:

महाराव कोटा ने कोटा, बूँदी और झालावाड़ा के विलय द्वारा हडौती संघ और महारावल डूंगरपुर ने डूंगरपुर, बांसवाड़ा एवं प्रतापगढ़ के विलय द्वारा "बागड़ संघ" बनाने के असफल प्रयत्न किए । इसी संदर्भ में भारत सरकार के राज्य विभाग ने 3 मार्च, 1948 को कोटा, बूंदी, झालावाड़, टोंक, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, किशनगढ़, कुशलगढ़ और शाहपुरा की रियासतों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण का प्रस्ताव किया और औपचारिक स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद संयुक्त राजस्थान का उद्घाटन 25 मार्च, 1948 को किया गया । महाराव कोटा को राज प्रमुख और प्रो0 गोकुल लाल असावा को इस राज्य का प्रधानमंत्री मनोनीत किया गया ।

16.3 पुर्नगठित संयुक्त राजस्थान:

मार्च 1948 में महाराणा मेवाड़ और प्रजामण्डल में मतभेद होने के कारण मेवाड़ में राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो गया । मेवाड़ प्रजामण्डल पत्रिका ने 8 और 15 मार्च के संपादकीय लेखों में लिखा कि मेवाड़ एक पृथक् इकाई के रूप में विकास नहीं कर सकता । अत: जन–कल्याण को ध्यान में रखते हुए इसे संयुक्त राजस्थान में शामिल हो जाना चाहिए । समय की माँग और मेवाड़ में उत्तरदायी शासन की स्थापना हेतु आन्दोलन के दबाव के कारण उदयपुर ने संयुक्त राजस्थान में, विलीन होने का निर्णय किया । फलस्वरूप 18 अप्रैल, 1948 को उदयपुर का संयुक्त राजस्थान में विलय हो गया पुनर्गठित संयुक्त राजस्थान की राजधानी उदयपुर थी और महाराणा उदयपुर को राजप्रमुख एवं माणिक्यलाल वर्मा को प्रधान मनोनीत किया गया ।

16.4 वृहत राजस्थान का निर्माण:

14 जनवरी 1949 को असरदार पटेल ने उदयपुर में घोषणा की कि जोधपुर, जयपुर और बीकानेर ने संयुक्त राजस्थान में शामिल होना स्वीकार कर लिया है । 30 मार्च को सरदार पटेल ने वृहत् राजस्थान का उद्घाटन किया । जयपुर को वृहत् राजस्थान की राजधानी बनाया गया तथा महाराणा उदयपुर को महाराज प्रमुख, जयपुर नरेश मानसिंह को राजप्रमुख एवं हीरालाल शास्त्री को प्रधानमंत्री मनोनीत किया गया ।

5. मत्स्य संघ का विलय 15 मई, 1949 को वृहत् राजस्थान में हो गया ।

6. जनवरी, 1950 में सरदार पटेल ने सिरोही राज्य का विभाजन करके माउंटआबू और आबू तहसील के दक्षिण भाग को बम्बई राज्य में विलय कर दिया और शेष सिरोही रियासत का राजस्थान में विलय कर दिया । सिरोही की जनता ने इस निर्णय का विरोध करते हुए आन्दोलन प्रारम्भ किया । एक नवम्बर, 1956 को राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर भूतपूर्व सिरोही राज्य का माउंट आबू आदि इलाका एवं अजमेर–मेरवाड़ा राजस्थान में शामिल हो गये ।

इस प्रकार 6 चरणों में आधुनिक राजस्थान का निर्माण हुआ ।

17. निष्कर्ष:

भारत संघ में लगभग 565 देशी राज्यों का अधिमिलन एक ऐसी रक्तहीन क्रान्ति थी जिसका उदाहरण विश्व इतिहास में नहीं हैं । रियासतों के अधिमिलन एवं एकीकरण का श्रेय सरदार पटेल के सशक्त नेतृत्व एवं राजनीतिक कौशल तथा राज्यविभाग के सचिव वी0 पी0 मेनन की योग्यता को हैं ।

1950 में भारतीय संघ के राज्यों का विवरण निम्नलिखित हैं–

पार्ट "ए" के राज्य असम, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, और पं0 बंगाल (9) राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष राज्यपाल कहलाता था ।

पार्ट "बी" के राज्य–हैदराबाद, जम्मू–काशमीर, मध्यभारत, मैसूर, पैप्सू, राजस्थान, सौराष्ट्र तथा ट्रावनकोर – कोचीन (8) राज्य का संवैधानिक प्रमुख राजप्रमुख होता था ।

पार्ट "सी" के राज्य–अजमेर, बिलासपुर, भोपाल, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा ओर विंध्यप्रदेश (10) इन राज्यों का प्रशासन केंद्र के प्रति उत्तरदायी चीफ कमिश्नर करता था।

पार्ट "डी" के क्षेत्र – अंडमान एवं निकोबार द्वीपसमूह ।

नोट : 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर "बी" श्रेणी के राज्य को समाप्त करके भारत में राज्य का पुनर्गठन किया गया ।

18. सन्दर्भ ग्रन्थ:

1. के0 आर0 आर0 शास्त्री, इंडियसन स्टेट्स (किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1941), पृ0 34)
2. उपर्युक्त, पृ0 34
3. ए0सी0 बनर्जी: भारत का सांविधानिक इतिहास, भाग–3 (नई दिल्ली, मैकमिलन, 1982) पृ0–374
4. एम0 वी0 पायली : भारत का संवैधानिक इतिहास (नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1975), पृ0 28
5. के0 आर0 आर0 शाखा, पूर्ववर्णित, पृ0 16
6. उपर्युक्त, पृ0 129
7. एम0 वी0 पावली, पूर्वर्णित, पृ0 132
8. के0 आर0 आर0 शास्त्री, पूर्ववर्णित, पृ0–29–30
9. उपर्युक्त पृ0 132
10. वी0 पी0 मेनन : दि स्टोरी ऑफ द इंटीग्रेशन आफ इंडियन स्टेट्स (ओरियंएट लौंगमेन्स, कलकत्ता, 1956), पृ0–11
11. वी0 डी0 माथुर स्टेट्स पीपुल्स कॉनफरेंस (जयपुर, पब्लिकेशन स्कीम, 1984), पृ0 29–30
12. ए0 सी0 बनर्जी, पूर्ववर्णित, पृ0 367–68
13. उपर्युक्त, पृ0 372
14. ए0 सी0 बनर्जी, पूर्ववर्णित, पृ0 373
15. ए0 सी0 जॉनसन; भारत विभाजन की कहानी (मिशन विद माउन्टबेटन का हिन्दी रूपान्तरण) नई दिल्ली; सस्ता साहित्य मण्डल, 1954, पृ0 134–36
16. उपर्युक्त, पृ0 141–142
17. वी0 पी0 मेनन, पूर्ववर्णित, पृ0 121
18. वी0 डी0 माथुर, पूर्ववर्णित, पृ0 183

19. अभ्यास प्रश्न:

1. परमोच्च शक्ति से आप क्या समझते है? भारतीय देशी राज्यों ओर ब्रिटिश सरकार के बीच सम्बन्धों का विवेचन कीजिए ।
2. भारत में देशी राज्यों के अधिमिलन, एकीकरण एवं लोकतंत्रीकरण का वर्णन कीजिए।
3. राजस्थान में देशी रियासतों के एकीकरण की विवेचना कीजिए ।

ISBN 13/978-81-8496-347-2